जैन संस्कृत महाकाव्य

(पन्द्रहवीं, सोलहवीं तथा सतरहवीं शताब्दी में रचित)

डॉ० सत्यव्रत
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग;
राजकीय महाविद्यालय,
श्रीगङ्गानगर (राज०)

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रथम संस्करण : १९८९

मूल्य । एक सौ पचास रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं, नागौर (राज०)
मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६ ।

JAINA SAMSKṚTA MAHĀKĀVYA
SATYAVRAT

Rs. 150.00

प्रकाशकीय

जैन विश्व भारती की प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत साध्वी संघमित्रा की सुख्यात कृति "जैन धर्म के प्रभावक आचार्य" के पश्चात् प्रस्तुत कृति "जैन संस्कृत महाकाव्य" है जो अपनी परिधि में एक विशाल क्षितिज को समेटे हुए है। इस कृति में विद्वान् लेखक ने पन्द्रहवी, सोलहवी तथा सतरहवी शताब्दियों में रचित संस्कृत महाकाव्यो की तलस्पर्शी एवं तुलनात्मक आलोचना प्रस्तुत की है। शास्त्रीय महाकाव्य, शास्त्र काव्य, ऐतिहासिक महाकाव्य और पौराणिक महाकाव्य—इन चार वर्गों के अन्तर्गत २२ काव्य-ग्रन्थो पर सूक्ष्म विवेचन इस कृति मे समाविष्ट है।

अपने क्षेत्र की एक अद्वितीय अमूल्य कृति के रूप में इसका समुचित समादर होगा, यह असंदिग्ध है।

श्रीचन्द रामपुरिया
कुलपति

जैन विश्व भारती,
लाडनूं-३४१३०६
दिनांक ३-११-८९

आशीर्वचन

प्रोफेसर सत्यव्रत की पुस्तक मेरे सामने है। इसमे जैन महाकाव्यों का अनुशीलन किया गया है। अनुशीलन में अध्ययन परिलक्षित होता है। आजकल महाप्रबन्ध की परम्परा शिखर की ओर जा रही है, ऐसा नही कहा जा सकता। प्रोफेसर सत्यव्रत ने अवश्य ही आरोहण का प्रयत्न किया है। गम्भीर अध्ययन से जो निकलता है, उसमें ऊंचाई को छूने की अर्हता होती है।

वैदिक, बौद्ध और जैन—तीनो परम्पराओं मे महाकवि हुये है। उन्होंने बड़े-बड़े काव्य लिखे है। महाकवि कालिदास, माघ, भारवि जैसे कवि बहुत प्रसिद्ध हैं। अश्वघोष भी विश्रुत है। जैन कवि बहुत अज्ञात रहे है। इसमे जैन विद्वानो की उदासीनता एक कारण है। इसका दूसरा कारण है—उनके काव्य समीक्षा से वंचित रहे है। कवियो और समीक्षको की धारणा रही—जैन कवियो के काव्यो मे श्रृंगार और वीर रस नही होता। उनके काव्यों में मुख्य चित्रण शान्त रस का होता है। इसलिये उनके काव्य अन्य कवियों जितने आकर्षक और हृदयग्राही नही होते। प्रोफेसर सत्यव्रत ने जैन काव्यों का अनुशीलन प्रस्तुत कर उक्त धारणा को विखंडित किया है। कवि आखिर कवि होता है। विराग अपनी साधना का प्रश्न है। रागात्मक चित्रण सामाजिक या लौकिक परिप्रेक्ष्य है। हिमालयी गुफा में जीने वाला भी लौकिक वृत्त की उपेक्षा नही करता, तव समाज के बीच जीने वाला व्यक्ति उपेक्षा कैसे कर सकता है ? प्रस्तुत अनुशीलन मे हीरविजय काव्य कवि-धर्म की एक नई दिशा है। भरत-बाहुबली महाकाव्य कथावस्तु की अल्पता होने पर भी कवित्व की दृष्टि से काफी प्रौढ़ है। पार्श्वाभ्युदय के विषय मे लेखक की एक टिप्पणी इस प्रकार है—

पार्श्वनाथ काव्य मे समासबहुला भाषा का बहुत कम प्रयोग किया गया है। जहां वह प्रयुक्त हुई है वहां भी शरत् की नदी की भांति वह अपना "प्रसाद" नहीं छोड़ती। मंगलाचरण के दीर्घ-समास अनुप्रास तथा प्रांजलता के कारण अर्थ बोध में बाधक नही है।

पद्मसुन्दर को शब्दचित्र अंकित करने में अद्भुत कौशल प्राप्त है। शब्दचित्र की सार्थकता इस बात में है कि वर्ण्य विषय अथवा प्रसंग को ऐसी शब्दावली मे अंकित किया जाये कि पाठक के मानस चक्षुओं को तत्काल प्रत्यक्ष हो जाए। छठे सर्ग मे पार्श्वप्रभु के विहार के अन्तर्गत प्रभंजन तथा महावृष्टि के वर्णन की यह विशेषता उल्लेखनीय है।

समालोचना का स्तर श्रेष्ठ है। उसमे अध्ययन की गम्भीरता परिलक्षित होती है। जैन विश्व भारती के कुलपति श्रीचन्दजी रामपुरिया तथा अन्य अधिकारी वर्ग ने प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन कर जनता को यथार्थ से परिचित होने का अवसर दिया। संस्कृत काव्य के अनुशीलन ग्रंथो में यह पुस्तक उचित रूप मे समादृत हो पाएगी।

जैन विश्व भारती, लाडनूं
दिनांक ३-११-८९

युवाचार्य महाप्रज्ञ

आमुख

गुण तथा परिमाण मे विपुल होता हुआ भी जैन विद्वानो द्वारा रचित सस्कृत-साहित्य, अधिकांश मे, उपेक्षित है। जहाँ जैनेतर अध्येताओं ने इसे साम्प्रदायिक अथवा प्रचारवादी कह कर इसका अवमूल्यन करने की चेष्टा की है, वहाँ जैन विद्वानो का उत्साह दार्शनिक तथा धार्मिक साहित्य पर ही अधिक केन्द्रित रहा है। ललित साहित्य की ओर उनकी विशेप प्रवृत्ति नही है, यद्यपि जैन लेखको ने काव्य, नाटक, चम्पू, व्याकरण, छन्द, अलंकार, कोप आदि ललित तथा शास्त्रीय साहित्य की सभी विधाओ के मूल्यवान् ग्रन्थो से साहित्यिक निधि को समृद्ध बनाया है। अकेले आचार्य हेमचन्द्र ने उपर्युक्त प्राय सभी विपयो से सम्बन्धित इतने विशाल साहित्य का निर्माण किया है कि वह कई शोध-प्रबन्धो को उपयोगी सामग्री प्रदान कर सकता है। इस वैविध्य, व्यापकता तथा गुणात्मकता के कारण सस्कृत-साहित्य के क्रमबद्ध इतिहास के ज्ञान, विकासमान प्रवृत्तियो के क्रमिक अध्ययन और तथाकथित सुप्त युगो की साहित्यिक गतिविधि से परिचित होने तथा उसकी समग्रता का यथार्थ मूल्यांकन करने के लिये जैन सस्कृत-साहित्य की उपयोगिता स्वतः स्पष्ट है। फिर भी अधिकतर आलोचक जैन ललित साहित्य के अनुसन्धान की ओर प्रवृत्त नही हुए, यह आश्चर्य की बात है। डॉ० नेमिचन्द्र जैन ने सस्कृत-काव्य के विकास मे जैन कवियो के योगदान का मूल्यांकन करने का भगीरथ प्रयत्न किया है, किन्तु पन्द्रह-सोलह शताब्दियो की विराट् काव्यराशि के सभी पक्षो के साथ एक ग्रन्थ के सीमित कलेवर मे न्याय कर पाना सम्भव नही है। इसीलिये प्रतिपाद्य की विशालता के कारण यह ग्रन्थ आलोच्य काल के काव्य का सकल चित्र प्रस्तुत करने की बजाय उसकी रूपरेखा-मात्र बनकर रह गया है। ज्ञात तथा अप्रकाशित जैन साहित्य का सर्वांगीण विमर्श स्वतन्त्र ग्रन्थो के द्वारा ही किया जा सकता है। सौभाग्यवश सुधी विद्वानो ने इस दृष्टि से जैन संस्कृत-साहित्य के अध्ययन मे रुचि प्रदर्शित की है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी द्वारा छह खण्डो मे जैन साहित्य के बृहद् इतिहास का प्रकाशन, इस दिशा मे, परम सराहनीय कार्य है। तेरहवी-चौदहवी शताब्दी के जैन सस्कृत-महाकाव्यो पर रचित डॉ० श्यामशंकर दीक्षित के शोधप्रबन्ध का प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ उस शृखला की दूसरी कड़ी है। यह हमारे शोध-ग्रन्थ का परिष्कृत, वस्तुत. नवप्रणीत, रूप है, जिसे, कभी अतीत मे, राजस्थान विश्वविद्यालय ने पीएच-डी. उपाधि के लिये स्वीकार किया था।

पन्द्रहवी, सोलहवी तथा सतरहवी ईस्वी शताब्दियों में, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ अनुकूल न होने पर भी, जैन साहित्य की गतिविधियाँ—विशेषत काव्य रचना—प्रबल रही है। इस युग मे प्रणीत जैन संस्कृत-महाकाव्यो का पर्यालोचन प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय है। आलोच्य युग के जैन संस्कृत-महाकाव्य चिर-प्रतिष्ठित महाकाव्य-परम्परा का प्रसार है। यह सत्य है कि वे समवर्ती प्रवृत्तियो, अपने रचयिताओ के परिवेश तथा उपजीव्य ग्रन्थो के प्रभाव से अनुप्राणित हैं, किन्तु उनमे क्रमागत परम्परा से तात्त्विक भेद अधिक दिखाई नही देता। फिर भी जैन सस्कृत महाकाव्यो की निजी विशेषताएँ तथा प्रवृत्तियाँ है। अतः विवेच्य महाकाव्यो के स्वरूप के सम्यक् ज्ञान के लिये, प्रथम अध्याय मे, उन प्रेरणाओ तथा प्रवृत्तियो का विश्लेषण किया गया है, जो इन काव्यो की प्रेरक है तथा जिन्होने इनका स्वरूप निर्धारित किया है। एक अर्थ मे, यह अध्याय, विवेचित महाकाव्यो की शिल्प एवं स्वरूपगत विशेषताओ का आकलन है।

अगले चार अध्यायो मे आलोच्य युग के महाकाव्यो का सागोपांग विवेचन किया गया है, जो ग्रन्थ का सर्वस्व है। शैली के आधार पर महाकाव्यो का शास्त्रीय, शास्त्र, ऐतिहासिक तथा पौराणिक इन चार अनुभागो मे वर्गीकरण किया गया है। शास्त्रकाव्यो मे एक ऐसा काव्य (सप्तसन्धान) भी है, जो उक्त शती की कृति न होने पर भी उस कवि की रचना है जिसका अधिकतर जीवन सतरहवी शताब्दी मे बीता है। शास्त्रीय महाकाव्यो के गौरव के अनुकूल उनकी समीक्षा पहले की गयी है, तत्पश्चात् क्रमश. शास्त्र, ऐतिहासिक तथा पौराणिक महाकाव्यों की। इससे विवेचित महाकाव्यो के तिथिक्रम का कुछ व्यतिक्रम होता है। कतिपय पौराणिक महाकाव्य कुछ शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक महाकाव्यो से पूर्व की रचनाये है। किन्तु इस व्यतिक्रम का परिहार किसी भी वैज्ञानिक वर्गीकरण से नही किया जा सकता। अतः महाकाव्यो के महत्त्व के आधार पर वर्गीकरण का उक्त मानदण्ड अनुचित नही है। प्रस्तुत युग मे शास्त्रीय महाकाव्यो की रचना कम नही हुई, यह सुखद आश्चर्य है। ग्रन्थ मे आठ शास्त्रीय महाकाव्यो का विवेचन मिलेगा, यद्यपि उनमे से कुछ के स्वरूप के विषय मे मतभेद सम्भव है। आलोच्य काल के ऐतिहासिक महाकाव्य दो प्रकार के है। प्रथम प्रकार के ऐतिहासिक महाकाव्य इतिहास के प्रसिद्ध शासको अथवा मन्त्रियो के वृत्त पर आधारित है। दूसरी प्रकार के महाकाव्य, परम्परागत अर्थ मे, ऐतिहासिक पात्रो से सम्बद्ध नही हैं। उनमे जैन धर्म के बहुमानित आचार्यो एवं प्रभावको का चरित निरूपित है। सब मिलाकर ग्रन्थ मे २२ महाकाव्यो का पर्यालोचन किया गया है। इनमे आठ शास्त्रीय महाकाव्य है, दो शास्त्रकाव्य, छह ऐतिहासिक तथा शेष पौराणिक रचनाएँ है। कतिपय काव्यो से तो जैन विद्वान् भी, प्रथम बार, इस ग्रन्थ में परिचित होंगे।

महाकाव्य की समीक्षा की हमारी निश्चित प्रणाली है। प्रारम्भिक परिचय के पश्चात् महाकाव्य के स्वरूप-निर्माता तत्त्वो का संकेत करते हुए उन प्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया गया है, जिनके आधार पर अमुक रचना को शास्त्रीय, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक महाकाव्य माना गया है। तदुपरान्त काव्यकर्त्ता का परिचय देकर तथा काव्य का रचनाकाल निश्चित करके कथावस्तु के निर्वाह, रसविधान, प्रकृति-चित्रण, चरित्रचित्रण तथा भाषा-शैली की कसौटी पर महाकाव्यो का मूल्यांकन किया गया है। विभिन्न महाकाव्यों के विवेचन में, इन तत्त्वों के क्रम मे, उनकी महत्ता के अनुरूप, कमवेश परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता हमने अवश्य ली है। जिन महाकाव्यों मे समसामयिक समाज की मान्यताओं अथवा जैन धर्म एवं दर्शन का प्रसगवश निरूपण हुआ है, उनका विश्लेषण भी विवेचन के अन्तर्गत यथास्थान किया गया है। ऐतिहासिक महाकाव्य की सार्थकता उसके इतिहास एवं काव्यत्व की समान सफलता मे निहित है। अत. ऐतिहासिक महाकाव्यों का कवित्व की दृष्टि से मूल्याकन करने के पश्चात् उनकी ऐतिहासिकता की प्रामाणिकता का परीक्षण भी किया गया है। जैनाचार्यो के जीवनवृत्त पर आधारित कतिपय महाकाव्यो की समीक्षा मे भी इसी प्रणाली को अपनाया गया है। इस युग के महाकाव्यों ने पूर्ववर्ती प्रख्यात महाकाव्यों की धरोहर को किस प्रकार आत्मसात् किया है, इसका विशद विवेचन हमने यथाप्रसंग किया है। विवेचित महाकाव्यो के आधार-स्रोतो को खोजकर उनसे, सम्वन्धित काव्य के कथानक के विनियोग तथा भाव एव भाषागत साम्यासाम्य का विमर्श, प्रथम वार इस ग्रन्थ मे मिलेगा। यथाप्रसंग विदित होगा कि महापुराण तथा त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित प्रस्तुत महाकाव्यों के मुख्य स्रोत रहे है। तुलनात्मक अध्ययन रोचक होने पर भी कितना कष्टसाध्य होता है, इसका आभास प्रवन्ध के प्रासगिक अंशो से होगा। इस प्रकार विवेचन को यथाशक्य सम्पूर्ण वनाने का प्रयत्न किया गया है। समीक्षा का कलेवर सर्वत्र कृति की महत्ता तथा विषयसमृद्धि के अनुरूप है। उसमे विभिन्न महाकाव्यो से सम्वन्धित सभी आवश्यक वातें समेटने की तत्परता है। विस्तार के प्रति हमारा आग्रह नही है, किन्तु कतिपय महाकाव्य इतने सुन्दर है कि उन पर विस्तार से लिखना अनिवार्य हो जाता है।

विवेच्य युग मे दो प्रकार के महाकाव्य प्राप्त है। एक तो वे, जो अभी तक अप्रकाशित है और हस्तलिखित प्रतियो के रूप मे, देश के विभिन्न ग्रन्थ-भण्डारों अथवा विद्याव्यसनी व्यक्तियो के निजी संग्रहो मे ही, उपलब्ध है। दूसरे काव्य वे है, जो साहित्यप्रेमी श्रावको अथवा धार्मिक एवं साहित्यिक संस्थाओ की उदारता से प्रकाशित हो चुके है। ग्रन्थ मे जिन महाकाव्यो को अध्ययन का विषय वनाया गया है, उनमे १७ प्रकाशित हैं, शेष अप्रकाशित। हस्तप्रतियों को प्राप्त करने तथा उनके प्राचीन लेख को पढ़ने मे कितनी कठिनाई होती है, यह इस क्षेत्र में काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को विदित है। भण्डारों के अधिपतियो के स्वनिर्मित नियमों की

वेडियो से इस साहित्यिक निधि को मुक्त करवाना प्राय· असम्भव है। इस कठोर वन्धन के कारण ही सुमतिसम्भव के अध्ययन के लिये उसकी फोटोप्रति मे ही संतोप करना पडा है। कुछ प्रकाशित महाकाव्य भी अप्रकाशित जैसे ही है। वे अतीत मे इधर-उधर मुद्रित हुए थे। उन्हे वडी कठिनाई से, विविध स्रोतो से, प्राप्त किया गया।

उपर्युक्त महाकाव्यो का प्रथम वार इस ग्रथ मे समुचित अध्ययन किया गया है। अप्रकाशित रचनाओ के पर्यालोचन की वात तो दूर, उनमे मे सुमतिसम्भव, स्थूलभद्रगुणमाला, यशोधरचरित के अस्तित्व का भी अधिकतर विद्वानो को पता नही था। यदुसुन्दर की एकमात्र उपलब्ध हस्तप्रति की जानकारी स्वय हमे वहुत वाद मे मिली थी। मूल प्रवन्ध मे यदुसुन्दर का विवेचन नही था। प्रकाशित महाकाव्यो मे से भी कुछ का छिट-पुट सकेत मोहनलाल दलीचन्द देसाई के 'जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास' तथा हीरालाल कापडिया के 'जैन सस्कृत साहित्य नो इतिहास' मे किया गया है। किन्तु मात्र उल्लेख सर्वांग अध्ययन का स्थानापन्न नहीं हो सकता। यह भी कतिपय सुज्ञात महाकाव्यो तक सीमित है। डॉ० गुलावचन्द चौधरी ने 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास', भाग ६, मे अपेक्षाकृत अधिक महाकाव्यो का परिचय दिया है, किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उनसे भी छूट गये है। जहाँ तक हमे ज्ञात है, केवल हम्मीरमहाकाव्य का, इतिहास तथा काव्य दोनो दृष्टियो से, विस्तृत मूल्याकन सुधी आलोचको ने किया है। हमने उन सवका यथासम्भव अवलोकन किया है तथा आवश्यकतानुसार अपनी समीक्षा मे उनका साभार प्रयोग किया है।

जैन काव्य-रचनाओ का महाकाव्यत्व निर्णीत करना दुस्साध्य कार्य है। जैन कवियो ने कतिपय ऐसे काव्यो को भी उदारतापूर्वक महाकाव्य घोपित किया है, जिनमे स्थूल लक्षणो के अतिरिक्त महाकाव्य का कोई स्वरूपविधायक तत्त्व नही है। इसके विपरीत कुछ रचनाएँ ऐसी है, जिनकी अन्तरात्मा तो काव्य की है, किन्तु उनमे वाह्य रूढियो का निर्वाह नही हुआ है। इस विपय मे हमे दण्डी का मत— न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदगैः काव्यमत्र न दुष्यति—व्यावहारिक प्रतीत होता है। जिस काव्य मे कथानक महान् है, रसात्मकता है, चरित्र की उदात्तता है, भाषा-शैली में यथेष्ट परिपक्वता है, हमने उसे निस्सकोच महाकाव्य स्वीकार किया है, भले ही उनमे वाह्य नियमो का पालन न किया गया हो। जिनकी आत्मा महाकाव्य के अनुकूल नही है, उन्हे महाकाव्य-क्षेत्र से वहिष्कृत कर दिया गया है। जयानन्द-केवलिचरित, विक्रमचरित तथा करकण्डुचरित को महाकाव्य न मानने का यही कारण है।

इन चार अध्यायो मे आलोच्य महाकाव्यो के सर्वांगीण विमर्श के पश्चात्, उपसहार मे, पूर्वविवेचित महाकाव्यो पर विहंगम दृष्टि डालकर संस्कृत के प्रतिष्ठित महाकाव्यो की पक्ति मे उनके स्थान का सकेत किया गया है।

उन सब हितैषी विद्वानो के प्रति आभार प्रकट करना मेरा नैतिक कर्त्तव्य है, जिनसे मुझे ग्रन्थ-प्रणयन मे सहायता मिली है। प्रस्तुत ग्रन्थ जैन साहित्य के विख्यात विद्वान्, स्मृतिशेष श्रीयुत अगरचन्द नाहटा के पथप्रदर्शन तथा प्रोत्साहन का परिणाम है। मुझे जैन साहित्य मे दीक्षित करने का श्रेय उन्ही को है। अपने प्रति उनके उपकारो के लिये मैं सदैव उनका कृतज्ञ रहूँगा। डॉ० कृष्णवेंकटेश्वर शर्मा, भूतपूर्व निदेशक, विश्वेश्वरानन्द शोध सस्थान, होशियारपुर, ने अनेक साहित्यिक ग्रन्थियो का भेदन कर मेरा मार्ग प्रशस्त किया, इसके लिये मै उनका आभारी हूँ। मुनि श्री नथमलजी (वर्तमान युवाचार्य महाप्रज्ञ), डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्रीयुत दलसुख-भाई मालवणिया, महोपाध्याय विनयसागर तथा स्वर्गीय प्रो० पृथ्वीराज जैन के सहयोग के बिना ग्रन्थ अधूरा रह जाता। इन महानुभावो ने मुझे दुर्लभ ग्रन्थो तथा हस्तप्रतियों के अध्ययन की सुविधा प्रदान की। मैं इन सबके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। मेरे शोध-निदेशक, डा० सुधीरकुमार गुप्त का मार्गदर्शन तथा आशीर्वाद मुझे सदैव सुलभ रहा है। तदर्थ मै उनका ऋणी हू। मै उन सब विद्वानो का भी आभारी हूँ, जिनकी कृतियो का प्रयोग मैने प्रबन्ध मे किया है। सहधर्मिणी विमला ने अपनी अकादमिक तथा पारिवारिक जिम्मेवारियो के साथ-साथ मेरे दायित्वो को भी सहर्ष ओढकर मुझे साहित्यिक कार्यो मे एकाग्रमन से प्रवृत्त होने का वातावरण प्रदान किया, अत. वह भी धन्यवाद की पात्र है।

ग्रन्थ का प्रकाशन परमपूज्य आचार्य श्री तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञजी के आशीर्वाद का फल है। जैन विश्वभारती के कुलपति, साधुमना आदरणीय श्रीचद जी रामपुरिया ने उस आशीर्वाद को मूर्त्त रूप दिया है। मैं इन पूज्यजनो की कृपा की कामना करता हुआ इनकी चरणवन्दना करता हूँ।

यदि जैन संस्कृत-महाकाव्य के प्रकाशन एव मूल्यांकन मे अथवा महाकाव्य-परम्परा के परिप्रेक्ष्य मे जैन साहित्य के योगदान को समझने मे प्रस्तुत ग्रन्थ से तनिक भी सहायता मिली, हमारा श्रम सार्थक होगा।

सत्यव्रत

विषयानुक्रम

पंचम अध्याय

प्रथम अध्याय

आलोच्य महाकाव्यों की प्रवृत्तियाँ तथा विशेषताएँ

प्रथमानुयोग के शिखर से काव्य का जो महानद प्रवाहित हुआ, उसकी मुख्य धारा का नाम जैन ललित साहित्य है। समवायांग के रेखात्मक चरितवर्णन से संकेत पाकर परवर्ती जैन लेखकों तथा कवियो ने अपने सृजन को गौरवान्वित करने के लिये शलाका पुरुषों के जीवनवृत्त को उत्साहपूर्वक उसका विषय बनाया है। धार्मिक आदर्श तथा आचार को जन-जन तक पहुंचाने के लिये काव्य तथा कथा का सरस माध्यम सर्वत्र उपयोगी है। वस्तुत. जैन वाङ्मय मे शास्त्र तथा साहित्य की भेदक रेखा अधिक स्थूल नही है। पांचवी शताब्दी ईस्वी में, वलभी-वाचना के फलस्वरूप जैन आगम के व्यवस्थित रूप मे लिपिबद्ध होने से पूर्व आगमेतर साहित्य का निर्माण आरम्भ हो चुका था जिससे जैन साहित्य की ये दोनों शाखाएं एक-दूसरे के अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण करती दिखाई देती है।

जैन महाकाव्य मे प्राचीन महाकाव्य-परम्परा से तात्त्विक भिन्नता नही पायी जाती। वह उस गौरवशाली परम्परा का उत्तराधिकारी है, जो अश्वघोष से आरम्भ होकर श्रीहर्ष के समय तक, अपने समस्त गुण-दोषो के साथ, प्रतिष्ठित हो चुकी थी। और इसमें सन्देह नही कि जैन कवियों ने, विवेकी दायादो की तरह, उस पूजी का दक्षता से उपयोग किया है। यद्यपि जैन काव्यशास्त्रियो ने महाकाव्य-सम्बन्धी परिभाषाओं की तत्त्वगत विशेषताओं को बहुलांश मे ग्रहण किया है,[1] तथापि जिनसेन के सूत्र—महापुराणसम्बन्धि महानायकगोचरम्[2]—ने जैन कवियों को इस गहराई से प्रभावित किया कि जैन महाकाव्य पुराणोन्मुखी बन गया। वस्तुतः जैन साहित्य मे पुराण महाकाव्य के अग्रगामी तथा प्रेरक है। यह सत्य है कि ब्राह्मण पुराणो के विपरीत जैन पुराणो का काव्यगत मूल्य बहुत ऊंचा है और उनके कई प्रकरण आमूलचूल महाकाव्य का आभास देते है, पर इस तथ्य का भी अपलाप नही किया जा सकता कि इस पुराण-निर्भरता के कारण अधिकतर जैन महाकाव्यो मे, पुराणों की भाति, प्रचारवादी भावना कुछ अधिक मुखरित है और उनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उद्देश्य रत्नत्रय पर आधारित जैन सिद्धान्त तथा अनुशासन को ग्राह्य बनाना है।[3] कतिपय अपवादो को छोड़कर जैन कवियों ने काव्य

१. काव्यानुशासन, ८.६ तथा वृत्ति, पृ० ४४९-४६२

२. आदिपुराण, १.९९

३. पद्मपुराण (रविषेण), १.१

को पंचव्रत, स्याद्वाद, जीवाजीव, कर्म आदि सिद्धान्तो के वाहन के रूप मे प्रयुक्त किया है। रजन तथा उपयोगिता का यह गठवन्धन वही तक अत्याज्य है जहां तक यह काव्य की आत्मा को अभिभूत अथवा विकृत नही करता। जैनेतर काव्यशास्त्रियों ने भी काव्य मे धार्मिक तथा नैतिक उपदेश को सर्वथा नकारा नही है पर इस विषय मे उनके दृष्टिकोण का सच्चा प्रतिनिधित्व विष्णुधर्मोत्तरपुराण की यह उक्ति करती है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां शास्त्रं स्यादुपदेशकम् ।
तदेव काव्यमित्युक्तं चोपदेशं विना कृतम् ॥ १५-१-२

उनके लिये शास्त्र तथा काव्य का विभाजक तत्त्व 'धर्मोपदेश' है। जिस काव्य को तत्त्वज्ञान का क्षेत्र वना दिया जाता है, वह उनकी दृष्टि मे शास्त्र के निकट है और उसे काव्यमय शास्त्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। जैन कवियो के आध्यात्मिक चिन्तन तथा सस्कारगत परिवेश मे इस तात्त्विक अन्तर की अर्थवत्ता अधिक नहीं है।

काव्य की पश्चाद्वर्ती समूची गतिविधियो का स्रोत जैन पुराण हैं। कतिपय पुराणकारो ने अपने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित जैसे विराट्काय ग्रन्थो को महाकाव्य की सज्ञा देकर प्रकारान्तर से, उनके आकर-स्वरूप को रेखांकित किया है। जैन कवियो ने अपनी रचनाओ से यह उदाहृत तथा प्रमाणित किया है कि धर्म-भावना साहित्य के लिए ही नही, समाज के लिये भी स्फूर्ति तथा प्रेरणा की अक्षय संजीवनी हैं। परवर्ती कवियो के लिये जैन पुराण आदर्श के दीपस्तम्भ हैं। जैन कवियो ने मान्य शलाकापुरुषो अथवा अन्य महच्चरित के आधार पर, नाना प्रकार के महाकाव्यो की विशाल राशि का निर्माण किया है, जिनमे से कुछ अपने काव्य-गुणो तथा अन्य विशिष्टताओ के कारण समग्र साहित्य के गौरव है। महाकाव्य के तथाकथित शुष्क युग मे जैन कवियो ने मूल्यवान् महाकाव्यो के द्वारा काव्य-परम्परा को न केवल जारी रखा है वल्कि उसे समृद्ध भी वनाया है। जैनेतर महाकाव्य के पतन का युग जैन महाकाव्य के उत्थान का काल है।

पहले कहा गया है कि जैन कवियो ने पूर्ववर्ती महाकाव्य-परम्परा मे क्रान्तिकारी परिवर्तन नही किये है। आपातत. जैनेतर तथा जैन कवियो द्वारा प्रणीत महाकाव्यो मे आन्तरिक भेद दिखाई भी नही देता। परन्तु जैन मतावलम्वी कवियों ने, जो लगभग शत प्रतिशत दीक्षित साधु थे, अपने उद्देश्यो तथा आवश्यकताओ के अनुरूप, महाकाव्य-परम्परा मे कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन किये है तथा उनकी कुछ निजी प्रवृत्तियाँ है जिनका विश्लेपण जैन महाकाव्यो के स्वरूप के सम्यक् वोध के लिये आवश्यक है।

जैन महाकाव्य-प्रणेताओं ने मंगलाचरण के शास्त्रीय विधान को यथावत् स्वीकार किया है।[४] जैन महाकाव्यों के मंगलाचरण अधिकतर नमस्कारात्मक अथवा आशीर्वादात्मक है। जयशेखर, पुण्यकुशल आदि ने सीधा कथावस्तु का प्रारम्भ कर वस्तुनिर्देश-मंगलाचरण की परम्परा का पालन किया है। साहित्यशास्त्र के नियम के अतिरिक्त उनके सामने कालिदास (कुमारसम्भव), भारवि आदि प्राचीन महाकवियों के आदर्श थे। जैन महाकाव्यों के मगलाचरणो की विशेपता यह है कि वे सदैव एक पद्य तक सीमित नही हैं, न उनमे केवल अभीष्ट देव की स्तुति की रूढि को स्वीकारा गया है। कतिपय महाकाव्यों मे, एकाधिक पद्यों में, जिनेश्वर के अतिरिक्त, सिद्धों, गणधरो, वाग्देवी अथवा रत्नत्रय की स्तुति/वन्दना पायी जाती है। अन्य पक्षो की भांति हम्मीरमहाकाव्य का मंगलाचरण भी क्रान्तिकारी है। इसके सात पद्यो के मंगलाचरण मे 'परम ज्योति' की उपासना, श्लिष्ट विधि से ऋषभ, पार्श्व, महावीर, शान्तिनाथ, नेमिनाथ के साथ-साथ क्रमश. ब्रह्मा, पुरुपोत्तम, शंकर, भास्कर, शशिशेखर महेश तथा सरस्वती की आशीर्वाद-प्राप्ति के लिये उदात्त भावपूर्ण स्तुति की गयी है। यह साम्प्रदायिक आग्रहहीनता नयचन्द्र की उदारता तथा व्यापक दर्शन का संकेत देती है। आकार की दृष्टि से दिग्विजय-महाकाव्य का मगलाचरण सब सीमाओ को पार कर गया है। इसके पूरे चौबीस दीर्घ छन्दों मे क्रमश: चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है। आलोच्य युग के दो महाकाव्य ऐसे भी हैं, जिनके लेखको ने प्रत्येक सर्ग को मंगलाचरण की दृष्टि से स्वतन्त्र इकाई माना है। राजमल्ल के जम्बूस्वामिचरित में यह और अनूठापन है कि इसके सभी बारह सर्ग दो-दो जिनेश्वरों की स्तुति से आरम्भ होते है। इस प्रकार इसमे सभी तीर्थकरों के प्रति मंगलाचरण के रूप मे श्रद्धा व्यक्त की गयी है। जैनेतर महाकाव्यो में इस प्रकार के विस्तृत तथा वैविध्यपूर्ण मगलाचरण अकल्पनीय है। महाकाव्य के इस अति स्थूल तत्त्व मे जैन कवियो ने मूल को स्वीकारते हुए भी इतना परिवर्तन किया है कि वे आचार्य हेमचन्द्र के नियम से भी बहुत दूर चले गये हैं। नेमिनाथ महाकाव्य आलोच्य युग की एक मात्र ऐसी रचना है, जिसके मंगलाचरण में स्वयं काव्यनायक नेमिप्रभु की वन्दना से पुण्यार्जन की बलवती स्पृहा है।[५]

परिभापा के अनुसार जैन महाकाव्यों का कथानक प्रख्यात अथवा सदाश्रित

४. आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।—साहित्यदर्पण, ६.३१९
आशीर्नमस्कारवस्तुनिर्देशोपक्रमत्वम्।—काव्यानुशासन, ८.७ (पृ.४५६)

५. वन्दे तन्नेमिनाथस्य पदद्वन्द्वं श्रियां पदम्।
नाथैरसेवि देवानां यद् भृगैरिव पंकजम्॥—नेमिनाथ महाकाव्य, १.१.

है।[१] जैन कवियो के ऐतिहासिक महाकाव्यो के अतिरिक्त सभी महाकाव्यों के कथानक पुराणो से गृहीत है। इसीलिये उनमे, चाहे वे शास्त्रीय हों अथवा पौराणिक या शास्त्रकाव्य, वहुधा तीर्थकरो आदि शलाकापुरुपो के समन्वित अथवा पृथक् चरित निरूपण करने मे कविकर्म की सार्थकता मानी गयी है। इस पुराणाश्रय के कारण जैन महाकाव्य, तात्त्विक रूप से पुराणो से भिन्न होने पर भी, पुराणापेक्षी हैं। शास्त्रीय महाकाव्यो के रचयिताओ ने पुराण-प्रथित कथानक के अकाव्योचित सन्दर्भो की यथामति काट-छाट की है परन्तु उनकी प्रचारधर्मी अन्तर्वृत्ति उन्हे महाकाव्य मे पौराणिकता का समावेश करने को वाध्य करती है। काव्यनायक के कायकलाप मे देववर्ग का अविच्छिन्न साहचर्य, उसकी विपय-पराङ्मुखता, स्वधर्म का गौरव-गान तथा परधर्म की गर्हा पौराणिक रचना के अधिक अनुकूल है। शास्त्रीय काव्यों मे सुनियोजित देवस्तुति भी उसी वृत्ति से प्रेरित है। कालिदास ने भी अपने दोनो काव्यो मे एक-एक स्तोत्र का समावेश किया है किन्तु उनके स्तोत्र कथावस्तु के स्वाभाविक अवयव है और उनमे प्रवाहित दर्शन की अन्तर्धारा काव्यगुणो को आहत किये विना उन्हे उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। जैन काव्यो मे स्तोत्र-जानवूझ कर आरोपित किये गये प्रतीत होते है। उनका काव्यगत अथवा दार्शनिक महत्त्व भी अधिक नही है। वास्तविकता तो यह है कि जैन कवियो के शास्त्रीय महाकाव्यो से पौराणिकता रह-रह कर झाकती है। पुराणोचित सामग्री को यथा-शक्य छोडकर, जैन कवियो ने, माघ आदि की भाति, अवशिष्ट कथानक को विपयान्तरो से मासल वनाकर, काव्य शैली के अलकरण के साथ प्रस्तुत किया है जिससे वर्ण्य विपय वर्णन-प्रकार की तुलना मे गौण प्रतीत होता है। इस दृष्टि से उनका आदर्श कालिदास नही वल्कि पतनोन्मुख काल के वे कवि हैं, जो काव्य की कलात्मक सजावट को महाकाव्य का सर्वस्व मानते है।

पौराणिक महाकाव्यो मे, पुराण-गृहीत कथानक, आद्योपान्त उसी परिवेश तथा शैली मे निरूपित है। पुराणो के अतिशय प्रभाव के कारण, इन काव्यो मे, कर्मफल की अपरिहार्यता के प्रतिपादन के लिये, काव्यनायक के पूर्वभवो के विस्तृत वर्णन पाये जाते है, जिन्होने दो-दो, तीन-तीन सर्ग, और कभी-कभी काव्य का आधा भाग लील कर कथानक को चकनाचूर कर दिया है। पौराणिक महाकाव्यो मे अलौकिक तथा अति प्राकृतिक घटनाओ की भरमार है। सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर आदि दैवी तथा अर्द्ध दैवी पात्र काव्यनायको को अलौकिक शक्तिया, अमोघ मन्त्र तथा चित्र-विचित्र विद्याए देकर, उनके मानवी रूप को दिव्यता मे परिणत कर देते है। जैन कवियो ने अपने पौराणिक काव्यो मे रोमाचकता का समावेश करने मे भी कजूसी नही की

६ इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।—साहित्यदर्पण, ६.३१८

है। यह स्पष्टतः अपभ्रंश काव्यो के प्रभाव का फल था। इनमे रूप-परिवर्तन, कन्याहरण, पातालगमन आदि लोककथाओ की रूढियों को पर्याप्त स्थान मिला है। पौराणिक काव्यो के मंच के अधिकतर अभिनेता देवता है। वास्तव मे इन काव्यो का संसार अतिशयो, अलौकिकताओं तथा असम्भावनाओं का अविश्वसनीय संसार है।

जैन पौराणिक महाकाव्य मूलतः धार्मिक रचनाए हैं। उनका उद्देश्य कथा के व्याज से धर्म का उपदेश देना है। इसलिये इनमे कथारस गौण और धर्मभाव प्रधान है। जगत् की नश्वरता, भोगों की दु:खमयता, वैराग्यभाव, आत्मज्ञान तथा सदाचार आदि के आदर्शो का निरूपण करना उन काव्यों का मुख्य विषय है।

आलोच्य युग मे दो प्रकार के ऐतिहासिक महाकाव्यो की रचना हुई है। हम्मीरमहाकाव्य, कुमारपालचरित तथा वस्तुपालचरित इतिहास के सुप्रसिद्ध शासकों तथा नीतिकुशल मन्त्रियो से सम्बन्धित है, जो अपने शौर्य, उत्सर्ग तथा कूटनीतिक निपुणता के कारण राष्ट्र के आदर के पात्र है। जहां हम्मीर-महाकाव्य तथा वस्तुपालचरित का इतिहास-पक्ष प्रामाणिक है और नयचन्द्र अपनी अन्वेषणवृत्ति यथा तटस्थता के कारण आधुनिक इतिहासकार के बहुत निकट आ जाते है, वहा कुमारपालचरित मे कवि के धार्मिक आवेश तथा ऐतिहासिक विवेक के अभाव ने इतिहास पर हरताल पोत दी है। दूसरी कोटि के ऐतिहासिक महाकाव्यो मे जैन धर्म के तपस्वी तथा नि:स्पृह आचार्यो का जीवनचरित निबद्ध है। तथ्यात्मक निरूपण के कारण ये काव्य सम्बन्धित आचार्यो के धार्मिक इतिहास की जानकारी के लिये अत्यन्त विश्वसनीय तथा उपयोगी हैं। इन दोनो श्रेणियो के महाकाव्यो मे से कुछ, काव्य की दृष्टि से भी, उच्च पद पर प्रतिष्ठित हैं।[७]

इस युग के शास्त्रकाव्यो का आदर्श, भट्टिकाव्य की तरह व्याकरण के नियमों को उदाहृत करना नही है। सम्बन्धित दो महाकाव्यो मे से एक मे समस्या पूर्ति का चमत्कार है, दूसरे मे श्लेष के द्वारा सात महापुरुषो का जीवन ग्रथित करने का उद्योग है। दोनो भाषा के उत्पीडन तथा बौद्धिक व्यायाम के प्रतीक है।

काव्यशैली के इस चतुर्विध विभाजन के बावजूद जैन महाकाव्यो मे उपर्युक्त शैलियो का सम्मिश्रण दिखाई देता है। कतिपय काव्यो को शैली-विशेष की प्रधानता के कारण उक्त वर्गो मे स्थान दिया गया है। उदाहरणार्थ, माणिक्यचन्द्रसूरि का श्रीधरचरित छन्दशास्त्र के सामान्य विश्लेषण तथा विभिन्न ज्ञाताज्ञात छन्दो को उदाहृत करने के कारण शास्त्रकाव्य की पदवी का और प्रौढ भाषा तथा अभिव्यंजना शैली की प्रबलता के कारण शास्त्रीय काव्य के पद का अधिकारी है, परन्तु अन्तिम

७. स्वादुकारमिमाः पिबन्तु च रसास्वादेषु ये सादराः।

—हम्मीरमहाकाव्य, १४.४५.

दो सर्गों के सिन्धुप्रवाह ने उसके अन्य गुणों को इस प्रकार मज्जित कर दिया है कि उसे पौराणिक काव्यो मे सम्मिलित करने को विवश होना पडता है। सम्राट् अकबर तथा हीरविजयसूरि के धार्मिक तथा आध्यात्मिक सम्बन्धो और आचार्य के साधु-जीवन का प्रामाणिक स्रोत होने के नाते हीरसौभाग्य को ऐतिहासिक काव्य माना जा सकता था पर यह नैषधचरित की परम्परा का अन्तिम समर्थ उत्तराधिकारी तथा विविध काव्यगुणो से भूषित है। अतः इसका विवेचन शास्त्रीय काव्यों मे किया गया है।

जैन महाकाव्यकारो ने नायक से सम्बन्धित शास्त्रीय विधान का[८] आंशिक पालन किया है। देवो तथा क्षत्रिय कुल के महापुरुषो को नायक बनाना शास्त्रीय बन्धन की स्वीकृति है। परन्तु जैन कवियों ने वणिक्वंशोत्पन्न वैराग्यशील तपस्वियो को नायक के गौरवशाली पद पर आसीन कर महाकाव्य-परम्परा मे नवीनता का सूत्रपात किया है और उसे देवी-देवताओ के वायवीय वातावरण से उतार कर यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है, यद्यपि इनके इन काव्यों में भी अलौकिक तथा अद्भुत प्रसंगो की कमी नही है। हीरसौभाग्य, सोमसौभाग्य, सुमति-सम्भव आदि के पूज्य नायक वैश्यवंश की विभूतिया हैं।

रघुवंश आदि की भाति कतिपय जैन महाकाव्य ऐसे भी हैं, जिनमे एकाधिक पात्र नायक की पदवी पर आरूढ हैं, यद्यपि वे सदैव एक वंश के विभूषण नहीं हैं (एकवंशभवा.)। भरत-बाहुबलि-महाकाव्य मे बाहुबलि को, काव्य के कलेवर के रोम-रोम मे व्याप्त होने तथा उसकी उदात्त परिणति के कारण किसी भी प्रकार नायक के पद से च्युत नही किया जा सकता। व्यक्तित्व की गरिमा तथा पवित्रता के कारण हीरविजय भी अपने शिष्य विजयसेन के समान, विजयप्रशस्ति के निर्विवाद नायक हैं। काव्यमण्डन तथा सप्तसन्धान में नायको की संख्या, क्रमशः पाच तथा सात तक पहुंच गयी है। सप्तसंधान के सातो नायक सात विभिन्न कुलो के वंशज हैं। यह संयोग है कि वे सभी जाति से क्षत्रिय हैं।

जैन महाकाव्यो के अधिकतर नायकों मे वे समूचे शास्त्रविहित गुण हैं, जिनके कारण नायक को धीरोदात्त माना जाता है। पर ऐसे काव्य भी कम नही हैं जिनके नायक अपनी निर्लिप्तता तथा स्थितप्रज्ञा के कारण 'धीरप्रशान्त' श्रेणी मे आते हैं। नेमिनाथमहाकाव्य, सोमसौभाग्य तथा जम्बूस्वामिचरित मे नायकों की धीर प्रशान्तता की पावनता है। रत्नचन्द्रकृत प्रद्युम्नचरित के प्रद्युम्न मे धीरोद्धत नायक की विशेषताओ का बाहुल्य है। उधर पद्मनाभ के यशोधरचरित का नायक आत्म-

८. सद्वंश. क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥ —साहित्यदर्पण, ६ ३१६

संयम, विवेक, दूरदर्शिता आदि नायकोचित गुणो से शून्य है।

शास्त्रबाह्य वर्ग से नायक चुनकर धीरोदात्त के अतिरिक्त धीरप्रशान्त और धीरोद्धत व्यक्ति को भी उस पद पर आसीन करना, जैन महाकाव्यो की एक अन्य विशेषता है।

महाकाव्य मे शान्तरस की प्रमुखता सिद्धान्त से अनुमोदित है[९], पर जैनेतर कवि इसकी ओर अधिक आकृष्ट नही हुए है। ऐसे जैनेतर महाकाव्यो की संख्या अत्यल्प है जिनमे शान्तरस को अगी रस की प्रतिष्ठा मिली है। जैन कवियों ने शास्त्र-मान्य शान्तरस की व्यावहारिक निष्पत्ति से उसे अभूतपूर्व गौरव प्रदान किया है। यह पाठक को विषयभोग से विमुख कर निर्वेद की ओर प्रवृत्त करने के उनके लक्ष्य के अनुकूल है। कन्नड कवि रन्न (दसवी शताब्दी) द्वारा अंकित प्राचीन जैन परम्परा में जिनेन्द्र एकमात्र शान्तरस के पोषक है और उसका स्थायी भाव 'तत्त्वज्ञान' है (निनगे रसमोन्दे शान्तमे जिनेन्द्र)[१०]। आचार्य हेमचन्द्र का काव्यानुशासन प्रकारान्तर से इसका समर्थन करता है[११]। आलोच्य युग के जैन कवियों के लिये शान्त रसाधिराज है और काव्य की सार्थकता उसके शान्तरस से परिपूर्ण होने मे[१२] है। जैन पौराणिक महाकाव्यों में तो इस 'रसाधिप' की उच्छलता स्वाभाविक थी। जिन महाकाव्यो का अगी रस शृंगार अथवा वीर है, उनमें से भी अधिकांश की परिणति शान्तरस मे हुई है। श्रीधरचरित तथा भरत-बाहुबलि-महाकाव्य इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। महाकाव्य मे शान्तरस को मुख्य रस के रूप में प्रतिष्ठित करना जैन कवियों की श्लाघ्य उपलब्धि है।

काव्य मे शृंगार रस की स्थिति के सम्बन्ध मे जैन कवियो का दृष्टिकोण अस्पष्ट, वल्कि परस्परविरोधी, है। रत्नचन्द्र के लिये शृगार किंपाक के समान त्याज्य है[१३]। पद्मसुन्दर ने शृंगार को रसराज का पद दिया है और उसकी तुलना मे अन्य रसो को तुच्छ माना है[१४]। यद्यपि नयचन्द्र भी आवेश मे 'रतिरस' को

९. शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गीरस इष्यते।—साहित्यदर्पण, ६।३१७

10, Contribution of Jainism to Indian Culture; Ed. R. C. Dwivedi, P. 43.

११. तथा हि तत्त्वज्ञानस्वभावस्य शमस्य स्थायिनः.......। —काव्यानुशासन, विवरण, पृ० १२१

१२. रसाधिराजं सेवस्व शान्तं शान्तमनाश्चिरम्।—प्रद्युम्नचरित, १२-२४३
शान्तैः रसै. पूरित।—हीरसौभाग्य, ११-६४
भज शान्तरसं तरसा सरसम्।—भ० बा० महाकाव्य, १७-७४

१३. किंपाकसदृशं मुंच शृंगारं विरसं पुरः।—प्रद्युम्नचरित, १२.२४३

१४. अन्यरसातिशायी शृंगारः।—यदुसुन्दर, ६.५३

'परमात्मरस' से श्रेष्ठ घोषित कर गये[१५] तथापि उनका विवेकसम्मत मत यह प्रतीत होता है कि काव्य मे प्रधानता किसी भी रस की हो, शृंगार का पुट काव्यास्वाद को दूना कर देता है।[१६] जैन कवियो की निवृत्तिवादी विचार-धारा और शृंगार रस में स्पष्ट विरोध है किन्तु उन्होने शृंगार को न केवल अपने महाकाव्यो मे प्रमुख स्थान दिया है अपितु कुछ काव्यो में, माघ आदि के अनुकरण पर, उसका इस मुक्तता से चित्रण किया है कि वे 'कामकला'के सिद्धहस्त आचार्य प्रतीत होते हैं। यह भी माघ के अत्यधिक प्रभाव का परिणाम है कि कतिपय वीररसप्रधान काव्यो में किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध के समान शृंगार का कामशास्त्रीय शैली मे इतनी प्रगाढता से निरूपण किया गया है कि उनमे गौणरस (शृगार) ने अंगी रस को रौंद डाला है और ये शृंगारप्रधान रचनाओ का आभास देते हैं। शृगार के चित्रण में खण्डिता, कलहान्तरिता, मुग्धा आदि नायिका-भेदों तथा सम्भोग एवं विपरीत रति (पुश्चेष्टितमाततान—यशोधरचरित, ३.८७) का खुला वर्णन 'आत्मा को जाग्रत करने वाली मनुहार' कैसे है, यह निष्पक्ष समीक्षक की समझ से परे है। पर यह तथ्य है कि शृगार का स्वच्छन्द चित्रण करने वाले जैन कवियो की भी वृत्ति उसमे नही रमती। अश्वघोष की तरह उन्हे भी नारी मलमूत्र का कुत्सित पात्र प्रतीत होने लगती है।[१७]

इतिहास-प्रसिद्ध वृत्तों पर आधारित महाकाव्यो के अतिरिक्त कतिपय शास्त्रीय महाकाव्यो मे भी वीर रस की अंगी रस के रूप मे निष्पत्ति हुई है। शृंगार को ब्रह्मानन्द से श्रेष्ठ मानने वाले नयचन्द्र को अब 'समरसम्भवरस' को 'रतिरस' से उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित करने मे सकोच नही है।[१८] जैन महाकाव्यो मे वीर रस के नाम पर अधिकतर वीररसात्मक रूढियो का निरूपण हुआ है, जिनमे योद्धाओं की वीरता की अपेक्षा युद्ध के पूर्वरंग के रूप मे धनुषो की टकार, कवन्धो के नर्तन,

१५. रतिरसं परमात्मरसाधिकं कथममी कथयन्तु न कामिन.।—हम्मीरमहाकाव्य, ७.१०४

१६. रसोऽस्ति य कोऽपि परं स किंचिन्नास्पृष्टशृंगाररसो रसाय।—वही, १४-३६-

१७. पुरीषमूत्रमूषासु योषासु।—श्रीधरचरित, ६-१४४
यदत्र गर्हितं किंचित्तत्सर्वं स्त्रीकुटीरके।
वर्चोमूत्राद्यसृङ्मांससम्भृते कीकसोच्चये॥—जम्बूस्वामिचरित, १०-१३
तुलना कीजिये—स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरशिरस्स्पर्धि जघनम्।—पुरुषार्थोपदेश, २८

१८. शृंगारतः समरसम्भवो रसो नूनं विशेषमधुरत्वमंचति।—हम्मीरमहाकाव्य, १२.१३

द्वन्द्व युद्ध आदि को वीररस का पर्याय मान लिया जाता है[१९]। वीर रस का सबसे अटपटा चित्रण श्रीधर-चरित मे हुआ है। दैवी शक्तियो के हस्तक्षेप, विविध विद्याओं के प्रयोग तथा नायक की दयालुता के सहसा उद्रेक ने माणिक्यसुन्दर के युद्ध-चित्रण को कल्पनालोक का विषय बना दिया है। परन्तु इसमे सन्देह नही कि जैन कवियों की मूल वृत्ति हिंसा के विरुद्ध है। अतः युद्धवर्णन उनके लिये शास्त्रीय विधान की खानापूर्ति का साधन है अन्यथा उनके लिये संग्राम विष है और शस्त्र की तो बात क्या, पुष्प से भी युद्ध करना पाप है[२०]। राजपूती तथा खिल्जी सेनाओ के घनघोर युद्धो का जम कर वर्णन करने के पश्चात् नयचन्द्र की यह उक्ति—न पुष्पैरपि प्रहर्त्त-व्यविधिर्विधेय.[२१]—एकदम हास्यजनक है।

करुणरस के चित्रण मे जैन कवियो का आदर्श भवभूति का उत्तररामचरित रहा है, जिसमे पाषाण को रुलाने तथा वज्र को विदीर्ण करने मे करुण रस की सफलता मानी गयी है[२२]। जैन महाकाव्यो की करुणा भी चीत्कार-क्रन्दन पर आधारित है। फलतः वह कालिदास की पैनी व्यजना और मार्मिकता से शून्य है। यद्यपि वह कभी-कभी हृदय की गहराई को अवश्य छूती है पर इसमे सन्हेह नही है कि जैन कवि मानवहृदय की करुणा को उभारने की अपेक्षा मृत व्यक्ति के गुणो को स्मरण करने तथा विधि को धिक्कारने मे ही करुण रस की सार्थकता मान लेते है। उसे 'हृदय को विगलित करने वाली करुणा की बरसात'[२३] की संज्ञा देना जैन कवियो के करुण-रसचित्रण का भावुकतापूर्ण मूल्यांकन है।

करुण के समान अन्य रस भी अंग रूप मे जैन महाकाव्यो की रसात्मकता की वृद्धि करते है। संस्कृत साहित्य मे बीभत्स रस का बहुत कम चित्रण हुआ है। काव्य-मण्डन तथा कुमारपालचरित के बीभत्स वर्णन साहित्य के अपवाद रूप स्थलों मे है।

नयचन्द्र आदि कतिपय महान् कवि महाकाव्य मे रस के महत्त्व से सर्वथा अभिज्ञ है[२४]। यदुसुन्दर भ० बा० महाकाव्य, श्रीधरचरित तथा हम्मीर महाकाव्य मे वस्तुत. विभिन्न रसो की इतनी प्रगाढ़ निष्पत्ति है कि उन्हे साहित्य-शास्त्र की भाषा

१९. जम्बूस्वामिचरित, ७. २३१-२४१, यदुसुन्दर, १०.३३-४२ आदि।
२०. संगरो गर इवाकलनीयः।—भ० बा० महाकाव्य, १६.२१; विग्रहो न कुसुमै-रपि कार्यः।—वही, १६.२४
२१. हम्मीरमहाकाव्य, १२.८३
२२. अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।—उत्तररामचरित, १.२८
२३. राजस्थान का जैन साहित्य, भूमिका, पृ० १७
२४. वदन्ति काव्यं रसमेव यस्मिन् निपीयमाने मुदमेति चेतः।—हम्मीरमहाकाव्य, १४-३५

में 'प्रपानक रस' का आकर कहा जा सकता है। इसके विपरीत कतिपय काव्य 'आत्मा' से लगभग शून्य है। उनमे रस के कुछ कण ही हाथ लगते है। वस्तुपाल-चरित, सुमतिसम्भव, विजयप्रशस्ति, देवानन्द महाकाव्य तथा सप्तसन्धान इस दृष्टि से निराशाजनक है।

कथानक को पुष्ट वनाने तथा उसमें विविधता और रोचकता लाने के लिए जैन महाकाव्यो मे वस्तुव्यापार के नाना वर्णन मिलते हैं। इन सब का सिद्धान्त में विधान है[२५]। इन वर्णनो की दोहरी उपयोगिता है। एक ओर इनमे कवियो की काव्यप्रतिभा का भव्य उन्मेप हुआ है, दूसरी ओर ये समसामयिक समाज का चित्र प्रस्तुत करते है। सभी काव्यों में कालिदास जैसा युगचित्रण सम्भव नहीं है किन्तु कुछ जैन महाकाव्यों मे समाज के विभिन्न पक्षो की रोचक झलक दिखाई देती है। इन वस्तुव्यापारों मे से कुछ की वर्णनशैली तथा उनमें प्रयुक्त रूढियो के लिए जैन कवि कालिदास, माघ आदि प्राचीन महाकाव्यो के ऋणी हैं। रघुवंश के प्रभातवर्णन (पचम सर्ग) ने कतिपय जैन महाकाव्यकारो को वहुत प्रभावित किया है। उन्होंने न केवल इसे सर्गान्त मे[२६] स्थान देकर कालिदास की परम्परा का निर्वाह किया है वल्कि उसके अन्तर्गत प्रात काल हाथी के जाग कर भी मस्ती से आखें मूंद कर पड़े रहने तथा करवट वदलकर शृखला रव करने और घोड़ो के नमक चाटने आदि रूढियों का भी रुचिपूर्वक प्रयोग किया है[२७]। वीरतापूर्ण कथानक मे पुष्पावचय, जल-क्रीडा, सुरापान तथा सुरत के कामुकतापूर्ण वर्णनो पर माघ का प्रभाव स्पष्ट है। इनके अन्तर्गत नायिकाभेद के तत्परतापूर्ण निरूपण तथा सम्भोग की विविध मुद्राओं का स्रोत भी शिशुपालवध मे ढूढा जा सकता है। भारवि तथा माघ ने इन प्रसंगो के द्वारा अपनी असन्दिग्ध कामविशारदता प्रकट की है परन्तु वाद में इन प्रकरणों ने रूढि का रूप धारण कर लिया है। इन्हे उन काव्यो मे, जिनमे इन्हे आरोपित करने से उनका उद्देश्य तथा गौरव आहत होता है, ठूसने में पवित्रतावादी जैन कवियो को कोई वैचित्र्य नही दिखाई देता, यह आश्चर्य की वात है। जैन महाकाव्यो के प्रकृति-चित्रण भी वहुधा माघ से प्रभावित है। उसी के अनुकरण पर जैन कवियो ने प्रकृति का अलकृत चित्रण किया है और यमक का जाल वुनने मे प्रकृतिचित्रण की सफलता मानी है। स्वयम्वर और उसके पश्चात् स्वीकृत युवा नरेश तथा तिरस्कृत राजाओं के युद्ध का प्रथम वर्णन रघुवंश के इन्दुमतीस्वयम्वर मे मिलता है, जिसे श्रीहर्प ने

२५. काव्यानुशासन, पृ० ४५८-४५९
साहित्यदर्पण, ६-३२२-३२४

२६. जैनकुमारसम्भव, १०.८०-८४; यदुसुन्दर, ७.७४-८२ आदि।

२७. रघुवंश, ५.७२-७३; माघ, ११.७; नेमिनाथमहाकाव्य, २.५४

अनन्त विस्तार तथा दैवी सहभाग से असम्भावनाओ की परतो में दवा दिया है। काव्यमण्डन और श्रीधरचरित का स्वयम्वर-वर्णन कालिदास से प्रेरित तथा प्रभावित है; पद्मसुन्दर का आदर्श नैषधचरित का स्वयम्वर वर्णन रहा है। पुरसुन्दरियो का सम्भ्रमचित्रण महाकाव्यों की एक ऐसी रूढि है, जिसके विषय में साहित्यशास्त्र मौन है। बुद्धचरित से उद्भूत इस रूढि को पल्लवित करने मे कालिदास, माघ तथा श्रीहर्ष का विशेष योग रहा है। जैनमहाकाव्यकारो का इसके प्रति कुछ ऐसा अनुराग है कि अनेक समर्थ कवियो ने इस प्रसग को अपने काव्यो मे सोत्साह स्थान दिया है। जहा जयशेखर और पद्मसुन्दर ने इसका प्रयोग विवाह के सदर्भ मे किया है, वहा नेमिनाथमहाकव्य, भ. बा. महाकाव्य, हीरसौभाग्य, सुमतिसम्भव तथा विजयप्रशस्ति में प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिये जाते समय कुमार को देखने के प्रसग मे पौरागनाओं की अधीरता का चित्रण किया गया है। कालिदास ने इस सम्भ्रमचित्रण को कवित्व के चरम विन्दु पर पहुँचा दिया था। अत. इस रूढि के प्रति असन्दिग्ध पक्षपात के वावजूद अन्य जैनेतर तथा जैन महाकाव्यों मे कालिदास के भावो की प्रतिगूज ही सुनाई पड़ती है। नायक तथा प्रतिनायक (?) के द्वन्द्व युद्ध से पूर्व विपक्षी सेनाओं की भिड़न्त के वर्णन पर माघ के समानान्तर वर्णन का स्पष्ट प्रभाव है। भारवि के वर्णन भी जैन कवियों के अन्तर्मन मे अवश्य रहे होगे। वस्तुव्यापार के ये वर्णन सभी महाकाव्यो मे कमवेश पाये जाते है, यद्यपि उनका गुणात्मक मूल्य भिन्न-भिन्न है।

साहित्य की अन्य विधाओ के समान जैन महाकाव्य भी प्राचीन लब्धप्रतिष्ठ महाकाव्यो का समानान्तर प्रस्तुत करने की भावना से प्रेरित हैं। माघ की काव्यरूढियों ने कतिपय जैन महाकाव्यो को कितना गहरा प्रभावित किया है, इसका सकेत किया जा चुका है। कुछ काव्य पूर्णतया प्राचीन काव्यो पर आधारित है। भ. बा. महाकाव्य कथानक के विनियोग मे माघ का ऋणी है। घटनाओं के संयोजन, रूढियो के परिपालन तथा रसचित्रण मे पुण्यकुशल माघ के पग-चिह्नों पर चलते दिखाई देते है। देवानन्दमहाकाव्य न केवल कथानक की दृष्टि से शिशुपालवध का अनुगामी है अपितु इसमे माघकाव्य के प्रथम सात सर्गो की समस्यापूर्ति के द्वारा माघ-सदृश पाण्डित्य स्थापित करने का घनघोर उद्योग किया गया है। माघ वस्तुत: कालिदासोत्तर संस्कृत-महाकाव्य के एकच्छत्र सम्राट् है जिनके सर्वव्यापी प्रभाव से नयचन्द्र जैसे इतिहासकार भी नही बच सके। जहां ये काव्य, आंशिक रूप से, माघ से प्रेरित है, जैनकुमारसम्भव की रचना कालिदासकृत कुमारसम्भव का जैन समानान्तर प्रस्तुत करने के उद्देश्य से की गयी है। यदुसुन्दर को श्रीहर्ष के भरकम काव्य का लघु संस्करण कहा जा सकता है। कुछ अन्य काव्यों पर भी, विभिन्न रूपो मे, प्राचीन कवियों का न्यूनाधिक प्रभाव है।

द्वितीय अध्याय

शास्त्रीय महाकाव्य

१. जैनकुमारसम्भव : जयशेखरसूरि

मेघदूत की भाति कालिदास के कुमारसम्भव ने किसी अभिनव साहित्यिक विधा का प्रवर्तन तो नही किया, किन्तु महाकवि के इस काव्य से प्रेरणा ग्रहण कर जिन तीन-चार कुमारसम्भव-संज्ञक कृतियो की रचना हुई है, उनमे, जयशेखरसूरि का जैनकुमारसम्भव (जै. कु. सम्भव)[१], अपने विविध गुणों तथा महाकाव्य-परम्परा के सम्यक् निर्वाह के कारण विशेप उल्लेखनीय है। कालिदासकृत कुमारसम्भव के समान जैन. कु. सम्भव का उद्देश्य कुमार (भरत) के जन्म का वर्णन करना है; किन्तु, जिस प्रकार कुमारसम्भव के प्रामाणिक भाग (प्रथम आठ सर्ग) मे कार्त्तिकेय का जन्म वर्णित नही है, उसी प्रकार जैन कवि ने भी अपने काव्य में भरतकुमार के जन्म का प्रत्यक्ष उल्लेख नही किया है। इस दृप्टि से दोनो काव्यो के शीर्षक उनके प्रतिपादित विपय पर पूर्णतया चरितार्थ नही होते। परन्तु जहा कालिदास ने अप्टम सर्ग मे, पार्वती के गर्भाधान के द्वारा कुमार कार्त्तिकेय के भावी जन्म की व्यंजना करके काव्य को समाप्त कर दिया है, वहां जैनकुमारसम्भव मे सुमगला के गर्भाधान का संकेत करने के पश्चात् भी (६/७४) काव्य को पाच अतिरिक्त सर्गो में घसीटा गया है। यह अवांछनीय विस्तार कवि की वर्णनात्मक प्रकृति के अनुरूप है, पर इससे कथानक की अन्विति छिन्न हो गयी है और काव्य का अन्त अतीव आकस्मिक हुआ है।

जैनकुमारसम्भव का महाकाव्यत्व

भामह से लेकर विश्वनाथ तक, संस्कृत के प्राचीन समीक्षक आचार्यो ने महाकाव्य की अन्तरात्मा की अपेक्षा उसके स्थूल शरीर का अधिक निरूपण किया है। इस स्थूलतावादी दृष्टिकोण के कारण भामह के पश्चात् काव्याचार्यो के महाकाव्य-सम्बन्धी लक्षण उत्तरोत्तर संकलनात्मक होते गये। चौदहवी शताब्दी के प्रसिद्ध साहित्यशास्त्री विश्वनाथ ने अपने लक्षण मे पूर्ववर्ती महाकाव्य-परिभापाओ मे निर्दिप्ट सभी स्थूलास्थूल तत्त्वो का समाहार करने की चेप्टा की है[२]। इन परिभापाओ ने महाकाव्यकारो के लिये एक दुर्भेद्य चारदीवारी निर्मित कर दी है। उस परिधि के वन्धन में ही सस्कृत महाकाव्यों की रचना हुई है। महाकाव्य मे सभी

१. आर्यरक्षित पुस्तकोद्धार संस्था, जामनगर, सम्वत् २०००

२. साहित्यदर्पण, ६/३१५-२४

लक्षणो का यथावत् निर्वाह करना न सम्भव है, न वाछनीय। शास्त्रविहित तत्त्वो मे से कुछ के अभाव मे, कोई महाकाव्य महाकाव्य-पद से च्युत नही हो जाता। दण्डी ने इस वास्तविकता को बहुत पहले स्वीकार किया था[३]।

महाकाव्य की रूढ परम्परा के अनुसार जै. कु. सम्भव का आरम्भ मगलाचरण से हुआ है, जो उसके आदर्शभूत, कालिदास के कुमारसम्भव के समान वस्तुनिर्देशात्मक है। ऋपभचरित का जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आदिपुराण, त्रिपष्टिशलाकापुरुपचरित आदि जैन स्रोतो के अतिरिक्त ब्राह्मणपुराणो, विशेपत भागवतपुराण, मे सविस्तार निरूपण किया गया है। भारतीय समाज की वैदिक तथा श्रमण दोनो धाराओ मे मान्य होने के कारण जैनकुमारसम्भव के कथानक को न्यायपूर्वक 'प्रख्यात' (इतिहासकथोद्भूत) माना जा सकता है। विश्वनाथ ने देवता अथवा धीरोदात्तत्वादि गुणो से सम्पन्न सद्वश क्षत्रिय को महाकाव्य का नायक माना है। ऋपभदेव महान् इक्ष्वाकुकुल के वशज है तथा उनमे वे समग्र विशेपताए निहित है, जो धीरोदात्त नायक मे अपेक्षित है। रस की दृष्टि से जै. कु सम्भव की विचित्र स्थिति है। ऋपभदेव के विवाह तथा भरत के जन्म से सम्बन्धित होने के कारण इसमे शृगार की प्रमुखता अपेक्षित थी, परन्तु जयशेखर ने ऋपभ को मुक्तिकामी वीतराग के रूप मे प्रस्तुत किया है जिससे उसका काव्य शृगार की प्रगाढता से वचित हो गया है। शान्तरस भी सूक्ष्म सकेतो के अतिरिक्त अगी रस के रूप मे परिपक्व नही हो सका है। फलत जै.कु. सम्भव मे कोई भी रस इतना उद्दाम अथवा पुष्ट नही है कि उसे प्रधान रस के पद पर आसीन किया जा सके। सामान्यत. शृगार को जै. कु. सम्भव का अभिलपित अगी रस मानने से परम्परा का निर्वाह हो सकता है। पुरुपार्थचतुष्टय मे से जैनकुमारसम्भव का उद्देश्य एक दृष्टि स धर्मसिद्धि है और दूसरी दृष्टि से अर्थ की साधना। आदिदेव के चरित के माध्यम से जैन धर्म के गौरव का निरूपण करना कवि का परोक्ष प्रयोजन है। जै. कु सम्भव के परिवेश मे अर्थसिद्धि का तात्पर्य लौकिक अभ्युदय है। चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति से पारिवारिक एव राष्ट्रीय जीवन के उत्थान के आदर्श से जै. कु. सम्भव सतत अनुप्राणित है। काव्य का शीर्षक इसके अभीष्ट प्रतिपाद्य पर आधारित है, यद्यपि वह वर्तमान वर्णित विपय पर पूर्णतया घटित नही होता। सुमगला के गर्भाधान को कुमार के जन्म का पूर्वाभाग मानने से सम्भवत इस कठिनाई का निराकरण हो सकता है। अप्टम सर्ग के नाम 'चतुर्दशस्वप्नावधारण' से द्योतित है कि सर्गो के नामकरण मे भी कवि को परम्परागत नियम मान्य था। जयशेखर ने छन्दो के विधान मे शास्त्र का यथावत् पालन किया है। काव्य मे विवाह, रात्रि, चन्द्रोदय, प्रभात, सूर्योदय, मध्याह्न आदि

३. न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदगैः काव्यं न दुष्यति।—काव्यादर्श, १/२०

के कल्पनापूर्ण वर्णन इसकी कथावस्तु को समृद्ध बनाते हैं । इसकी भाषा मे महाकाव्योचित प्रौढता तथा परिष्कार और शैली में काम्य भव्यता है । जैनकुमारसम्भव में युग जीवन, विशेषकर वैवाहिक परम्पराओ का विस्तृत चित्रण कवि के सामयिक बोध तथा सवेदनशीलता का द्योतक है । ये विशेषताएं जै. कु. सम्भव के महाकाव्यत्व की प्रतिष्ठा के आधार है ।

जैनकुमारसम्भव का स्वरूप

जयशेखर ने पुराणवर्णित ऋषभचरित को महाकाव्य का विषय बनाया है । जै. कु. सम्भव मे देवो का काव्य के पात्रो से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इसे निस्सकोच देववेष्टित कहा जा सकता है । सूत्रधार की भाति जो पात्र काव्य के कार्यकलाप का आद्यन्त संचालन करता है, वह देवाधिपति इन्द्र है । किन्तु मर्त्य और अमर्त्य के इस मिलन के कारण जै. कु. सम्भव को पौराणिक काव्य मानना उचित नही है । काव्य के स्वरूप का निर्धारण कथा-परिवेश के आधार पर नही अपितु उसके प्रस्तुतीकरण, काव्य की भाषा-शैली तथा उसके वातावरण की समग्रता के आधार पर होना चाहिये । इस दृष्टि से देखने पर जै. कु. सम्भव के शास्त्रीय शैली की रचना होने मे सन्देह नही रहता । इसकी पुराणगृहीत कथावस्तु को परिमार्जित तथा गरिमापूर्ण भाषा-शैली मे वर्णित किया गया है, जो कवि की बहुश्रुतता को बिम्बित करती है । पौराणिक काव्यो की तरह जै. कु. सम्भव मे प्रत्यक्षत धर्मप्रचार का आग्रह नही है । यह अवान्तर कथाओ तथा पूर्वभवो के पौराणिक वर्णनो से भी मुक्त है । इसके विपरीत शास्त्रीय शैली के महाकाव्य की प्रकृति के अनुरूप जै कु. सम्भव मे वर्ण्य विषय की अपेक्षा अभिव्यंजना शैली अधिक महत्त्वपूर्ण है । स्वल्प कथानक तथा काव्य के आकार मे अन्तर इसी प्रवृत्ति का परिणाम है ।

कविपरिचय तथा रचनाकाल

जैनकुमारसम्भव से इसके यशस्वी प्रणेता जयशेखरसूरि के जीवनवृत्त अथवा काव्य के रचनाकाल का कोई विश्वस्त सूत्र हस्तगत नही होता । काव्य मे प्रान्तप्रशस्ति के अभाव का यह दु.खद परिणाम है । जयशेखर पट्टधर नही थे, अत पट्टावलियों में भी उनका विवरण प्राप्त नही है । जै. कु. सम्भव के प्रत्येक सर्ग की टीका के अन्त में टीकाकार धर्मशेखर ने जयशेखर की साहित्यिक उपलब्धियों का जो सकेत किया है. उससे विदित होता है कि जयशेखर काव्यसरिता के 'उद्गमस्थल' तथा 'कविघटा' के मुकुट थे[४] । जैनकुमारसम्भव के रचयिता की कवित्वशक्ति तथा काव्यकौशल को

४. सूरिः श्रीजयशेखरः कविघटाकोटीरहीरच्छविः—
धम्मिलादिमहाकवित्वकलनाकल्लोलिनीसानुमान् ।

देखते हुए यह शिष्य (टीकाकार) की गुरुभक्ति से उत्प्रेरित श्रद्धाजलि मात्र नही है। धम्मिलकुमारचरित की प्रशस्ति मे जयशेखर ने स्वयं 'कविचक्रधर' विशेषण के द्वारा अपनी प्रबल कवित्वशक्ति को रेखाकित किया है[५]।

धम्मिलचरित की प्रशस्ति मे निरूपित अचलगच्छ की परम्परा मे स्पष्ट है कि जयशेखर, अंचलगच्छ के प्रख्यात पट्टधर, महेन्द्रप्रभसूरि के द्वितीय शिष्य थे[६]। सहस्रगणा गाधी गोविन्द सेठ ने, सम्वत् १४१४ मे, रत्नपुर मे, जो जिनप्रासाद वनवाया था, उसकी प्रतिष्ठा जयशेखर की प्रेरणा से की गयी थी[७]। पेथापुर के जिनालय की धातुमूर्ति पर अकित लेख मे जयशेखरसूरि का उल्लेख है[८], किंतु उसमें निर्दिष्ट वर्ष (सम्वत् १५१७) भ्रामक है। यदि वर्ष शुद्ध है तो जयशेखर का उल्लेख असगत है। स० १५१७ को निर्दोष मानने से, उक्त मूर्ति की प्रतिष्ठा के समय, जयशेखर की दीर्घायु (लगभग १२५ वर्ष) की पुष्टि किसी अन्य साधन से नहीं होती। धम्मिलचरित के रचनाकाल, सम्वत् १४६२, तक उनकी स्थिति असन्दिग्ध है।

जयशेखर शाखाचार्य, वहुश्रुत विद्वान् तथा प्रतिभाशाली कवि थे। सस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओ मे निर्मित उनकी विभिन्न कृतियां, उनकी विद्वत्ता की द्योतक हैं। प्रबोधचिन्तामणि की रचना सम्वत् १४३६ मे सम्पन्न हुई थी। उपदेशचिन्तामणि तथा धम्मिलचरित एक ही वर्ष, सम्वत् १४६२ मे लिखे गये थे[९]। कुमारसम्भव उनकी सर्वोत्तम रचना है। जयशेखर को साहित्य मे जो यश प्राप्त है, उसका आधार यही जैनकुमारसम्भव है। इसकी रचना सम्वत् १४६२ (१४०५ ईस्वी) से पूर्व हो चुकी थी। धम्मिलचरित की प्रशस्ति मे जैनकुमारसम्भव के निर्भ्रान्त नामोल्लेख से यह निश्चित है[१०]। जैनकुमारसम्भव सम्भवत पन्द्रहवी शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भिक वर्षों

५. धम्मिलकुमारचरित, प्रशस्ति, ७.

६ वही, ३-६.

७. पण्डित ही. छ. लालन, जैनगोत्रसंग्रह, पृ. ६५.

८. सं. १५१७ वर्षे सा. श्रीवीरवंशे श्रे. चांपा भार्या जयशेखरसूरीणामुपदेशेन स्वश्रेयसे श्रीसुमतिनाथबिंब का०। बुद्धिसागर : जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह, भाग १, लेखांक ६८८.

९- द्विपद् वारिधिचन्द्रांकवर्षे विक्रमभूपते ।
अकारि तन्मनोहारि पूर्णं गुर्जरमण्डले ।। धम्मिलचरित, प्रशस्ति, १०.
हीरालाल कापडिया : जैन संस्कृत साहित्य नो इतिहास, भाग २, पृ १६३

१० प्रबोधचिन्तामणिरद्भुतस्तथोपदेशचिन्तामणिरर्थपेशल: ।
व्यधायि यैर्जैनकुमारसम्भवाभिधानत. सूक्तिसुधासरोवरम् ।। धम्मिलचरित, प्रशस्ति, ८.

में निर्मित कृति है। जयशेखर के शिष्य धर्मशेखर ने सम्वत् १४८२ (सन् १४२५) मे, इस काव्य पर टीका लिख कर, गुरु के प्रति सारस्वत श्रद्धांजलि अर्पित की है।

देशे सपादलक्षे सुखलक्ष्ये पद्मरे (!) पुरप्रवरे।
नयनवसुवार्धिचन्द्रे वर्षे हर्षेण निर्मिता सेयम् ॥[11]

उपर्युक्त चार ग्रन्थो के अतिरिक्त जयशेखर की कुछ अन्य संस्कृत तथा गुजराती रचनाएँ भी उपलब्ध है। आत्मकुलक, धर्मसर्वस्व, अजितशान्तिस्तव, संबोधसप्तिका, नलदमयन्तीचम्पू, न्यायमजरी तथा कतिपय द्वात्रिंशिकाएँ उनकी मौलिक संस्कृत रचनाएँ है। त्रिभुवनदीपकप्रबन्ध, परमहंसप्रबन्ध, प्रबोधचिन्तामणि चौपाई, अन्तरंग चौपाई की रचना गुजराती मे हुई है[12]।

कथानक

जैनकुमारसम्भव के ग्यारह सर्गों मे आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के विवाह तथा उनके पुत्रजन्म का वर्णन करना कवि का अभीष्ट है। काव्य का आरम्भ अयोध्या के वर्णन से होता है, जिसके अन्तर्गत वहां के वासियों की धनाढ्यता, धर्मनिष्ठा तथा शील-सम्पन्नता का कवित्वपूर्ण निरूपण किया गया है। धनपति कुवेर ने, अपनी प्रिय नगरी अलका की सहचरी के रूप मे, अयोध्या का निर्माण किया था। अयोध्या के निवेश से पूर्व, जब यह देश इक्ष्वाकुभूमि के नाम से ख्यात था, आदिदेव युग्मिपति नाभि के पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुए थे। सर्ग के शेषांश मे ऋषभ के शैशव, यौवन, रूपसम्पदा तथा यश.प्रसार का मनोरम चित्रण है। द्वितीय सर्ग मे देवगायक तुम्वुरु तथा नारद से यह जानकर कि ऋषभदेव अभी अविवाहित है, सुरपति इन्द्र उन्हे वैवाहिक जीवन मे प्रवृत्त करने के लिये तत्काल अयोध्या को प्रस्थान करते है। इस प्रसग मे उनकी यात्रा तथा अष्टापद पर्वत का रोचक वर्णन किया गया है। तृतीय सर्ग में इन्द्र नाना युक्तियां देकर ऋषभ को गार्हस्थ्य जीवन स्वीकार करने के लिये प्रेरित करते है। उनके मौन को स्वीकृति का द्योतक मानकर इन्द्र उनकी सगी बहनो—सुमगला तथा सुनन्दा से उनका विवाह निश्चित करता है[13] और देववृन्द को विवाह के आयोजन का आदेश देता है। यही वधुओ की विवाहपूर्व सज्जा का कवित्वपूर्ण वर्णन है।

११ टीकाप्रशस्ति, ५.

१२. जयशेखर की कतिपय अन्य लघु संस्कृत रचनाएँ अभी प्राप्त हुई है। हस्त-प्रति मुनि कलाप्रभासागर, जैन मन्दिर, माटूगा, वम्बई के संग्रह मे है।

१३ "शाक्यों में भी भगिनी-विवाह प्रचलित था। महावंस में उल्लेख है कि लाट-देश के राजा सीलवाहु ने अपनी भगिनी को पटरानी बनाया। ऋग्वेद का यम-यमी संवाद भी द्रष्टव्य है"। —जगदीशचन्द्र जैन. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५, पृ. ३, पा. टि. २.

स्नान-सज्जा के उपरान्त ऋषभ जंगम प्रासादतुल्य ऐरावत पर आरूढ होकर वधूगृह को प्रस्थान करते हैं। पाणिग्रहणोत्सव मे भाग लेने के लिये समूचा देवसमाज धरा पर उतर आया, मानो स्वर्ग भूमि का अतिथि बन गया हो। चतुर्थ सर्ग के उत्तरार्द्ध तथा पंचम सर्ग के अधिकांश मे तत्कालीन विवाह-परम्पराओ का सजीव चित्रण है। पाणिग्रहण सम्पन्न होने पर ऋषभदेव विजयी सम्राट् की भांति घर लौट आते है। यही, दस पद्यो मे, उन्हे देखने को लालायित पुरसुन्दरियो के सम्भ्रम का रोचक चित्रण है। छठा सर्ग रात्रि, चन्द्रोदय, षड्ऋतु आदि वस्तुव्यापार के वर्णनो से परिपूर्ण है। ऋषभदेव नवोढा वधुओ के साथ शयनगृह मे प्रविष्ट हुए जैसे तत्त्वान्वेषी मति तथा स्मृति के साथ शास्त्र मे प्रवेश करता है। सर्ग के अन्त मे सुमगला के गर्भाधान का सकेत मिलता है। सातवे सर्ग मे सुमगला को चौदह स्वप्न दिखाई देते है। वह उनका फल जानने के लिए पति के वासगृह मे जाती है। अष्टम सर्ग मे ऋषभदेव सुमगला के असामयिक आगमन के विषय मे नाना वितर्क करते है। उनका मनरूपी द्वारपाल उन स्वप्नों को बुद्धिवाह से पकड कर विचारसभा मे ले गया और उनके हृदय के धीवर ने विचार-पयोधि का अवगाहन कर उन्हे फलरूपी मोती भेंट किये। नवे सर्ग मे ऋषभ सुमंगला के गौरव का बखान तथा स्वप्नफल का विस्तारपूर्वक निरूपण करते हैं। यह जानकर कि इन स्वप्नो के दर्शन से मुझे चौदह विद्याओं से सम्पन्न चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होगी, सुमगला आनन्द-विभोर हो जाती है। दसवे सर्ग मे सुमगला अपने वासगृह मे आती है और सखियो को समूचे वृत्तान्त से अवगत कराती है। ग्यारहवे सर्ग मे इन्द्र सुमंगला के सौभाग्य की सराहना करता है तथा उसे विश्वास दिलाता है कि "तुम्हारे पति का वचन कदापि मिथ्या नही हो सकता। अवधि पूर्ण होने पर तुम्हे पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। उसके नाम (भरत) से यह देश 'भारत' तथा वाणी 'भारती' कहलाएगी। मध्याह्न-वर्णन के साथ काव्य सहसा समाप्त हो जाता है।

अधिकाश कालिदासोत्तर महाकाव्यो की भांति जैनकुमारसम्भव को कथावस्तु के निर्वाह की दृष्टि से सफल नही कहा जा सकता। जैनकुमारसम्भव का कथानक, उसके कलेवर के अनुरूप विस्तृत अथवा पुष्ट नही है। मूल कथा तथा वर्ण्य विषयों के बीच जो खाई सर्वप्रथम भारवि के काव्य मे दिखाई देती है, वह उत्तरोत्तर बढती ही गयी। यदि जैनकुमारसम्भव की निरी कथात्मकता को लेकर काव्यरचना की जाये तो वह तीन-चार सर्गो से अधिक की सामग्री सिद्ध नही होगी, किन्तु जयशेखर ने उसे विविध वर्णनो, सम्वादो तथा अन्य तत्त्वो से पुष्ट कर ग्यारह सर्गों का वितान खडा कर दिया है। यह वर्णन-प्रियता की प्रवृत्ति काव्य मे अविच्छिन्न विद्यमान है। प्रथम छह सर्ग अयोध्या, ऋषभ के शैशव तथा यौवन, वर-वधू के अलंकरण तथा

वैवाहिक आचारो और रात्रि, चन्द्रोदय आदि के वर्णनो मे आच्छादित है। छठे सर्ग के बाद भी कवि कथानक का सूक्ष्म संकेत करके, किसी-न-किसी वर्णन मे जुट जाता है। अन्तिम पाँच सर्गो मे से स्वप्नदर्शन तथा उनके फल-कथन का ही मुख्य कथा से सम्बन्ध है। दसवाँ तथा ग्यारहवाँ सर्ग तो सर्वथा अनावश्यक है। काव्य को यदि नौ सर्गो में ही समाप्त कर दिया जाता, तो शायद वह अधिक अन्वितिपूर्ण बन सकता। ऋषभदेव के स्वप्नफल बताने के पश्चात् इन्द्र द्वारा उसकी पुष्टि करना निरर्थक है। उससे देवतुल्य नायक की गरिमा आहत होती है। किन्तु इस विस्तार के लिये जयशेखर को दोषी ठहराना उचित नही है। कालिदासोत्तर महाकाव्यो की परिपाटी ही ऐसी थी कि उसमें वर्ण्य विषय की अपेक्षा वर्णन-शैली के अलंकरण मे कवित्व की सार्थकता मानी जाती थी।

जैनकुमारसम्भव के आधारस्रोत

यद्यपि ऋग्वेद मे 'वृषभ' अथवा 'ऋषभ' के सकेत खोजने का तत्परतापूर्वक प्रयत्न किया गया है[१४], किन्तु ऋषभचरित के कुछ प्रसंगो की स्पष्ट प्रतिध्वनि सर्वप्रथम ब्राह्मण पुराणो मे सुनाई देती है। ऋषभ के अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अभिषिक्त करके प्रव्रज्या ग्रहण करने, पुलहा के आश्रम मे उनकी तपश्चर्या, भरत के नाम के आधार पर देश के नामकरण आदि ऋषभ के जीवनवृत्त की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की आवृत्ति लगभग समान शब्दावली मे कई प्रमुख पुराणों मे हुई है[१५]। भागवतपुराण मे आदि तीर्थंकर का चरित सविस्तार वर्णित है। भागवतपुराण मे (५/३-६) नाभि तथा ऋषभ का जीवनचरित ठेठ वैष्णव परिवेश मे प्रस्तुत किया गया है। भागवत के अनुसार ऋषभ का जन्म भगवान् यज्ञपुरुष के अनुग्रह का फल था जिसके परिणामस्वरूप वे स्वयं सन्तानहीन नाभि के पुत्र के रूप मे अवतीर्ण हुए। आकर्षक शरीर, विपुल कीर्ति, ऐश्वर्य आदि गुणो के कारण वे 'ऋषभ' (श्रेष्ठ) नाम से ख्यात हुए[१६]। गार्हस्थ्य धर्म का प्रवर्तन करने के लिये उन्होने स्वर्गाधिपति इन्द्र की कन्या जयन्ती से विवाह किया और श्रौत तथा स्मार्त कर्मो का अनुष्ठान करते हुए उससे सौ पुत्र उत्पन्न किये। महायोगी भरत उनमे ज्येष्ठ थे। उन्ही के नाम के कारण

१४. आचार्य तुलसी तथा मुनि नथमल . अतीत का अनावरण, भारतीय ज्ञानपीठ; १९६९, पृ ७

१५. मार्कण्डेय पुराण, ५०/३९-४१, कूर्मपुराण, ४१ ३७-३८, वायुपुराण (पूर्वार्द्ध), ३३.५०-५२, अग्नि पुराण, १०.१०-११, ब्रह्माण्डपुराण, १४.५९-६१, लिंगपुराण, ४७.१९-२४.

१६ तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा····चौजसा बलेन श्रिया यशसा····ऋषभं इतीदं नाम चकार। भागवतपुराण, ५.४.२

'अजनाभखण्ड' भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ[१७]। पुराण के वैष्णव परिवेश के अनुरूप भरत को परमभागवत के रूप में प्रस्तुत किया गया है[१८]। भागवत के शेष प्रकरण में ऋषभदेव के यज्ञानुष्ठान, धर्माचरण, लोकोपकार तथा योगविधि से शरीरत्याग का वर्णन है।

जैन साहित्य मे ऋषभचरित का प्राचीनतम निरूपण उपांगसूत्र जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति मे हुआ है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का संक्षिप्त विवरण ऋषभचरित की कतिपय सूक्ष्म रेखाओ का आकलन है। उसमे आदि तीर्थंकर के धार्मिक तथा परोपकारी साधक स्वरूप को रेखाकित करने का प्रयत्न है। ऋषभ के सौ पुत्रो मे भरत की ज्येष्ठता तथा उनके राज्याभिषेक का संकेत जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति मे भी किया गया है[१९]।

तीर्थंकर ऋषभदेव के जीवनवृत्त के दो मुख्य स्रोत हैं—जिनसेन का आदिपुराण (नवी शताब्दी) तथा हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (बारहवीं शताब्दी)। इन उपजीव्य ग्रन्थो के फलक पर, भिन्न-भिन्न शैली मे, समग्र ऋषभचरित अकित किया गया है। जिनसेन ने चार विशाल पर्वों (१२-१५) मे जिनेन्द्र के सम्पूर्ण चरित का मनोयोगपूर्वक निरूपण किया है। आदिपुराण का यह प्रकरण, विद्वत्ताप्रदर्शन तथा काव्यात्मक गुणो के आग्रह के कारण उच्च बिन्दु का स्पर्श करता है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित मे ऋषभचरित का अनुपातहीन किन्तु सरस वर्णन है। हेमचन्द्र ने जिस प्रकार ऋषभचरित का प्रतिपादन किया है, उसमे जिनजन्म के प्रस्तावना-स्वरूप मरुदेवी के स्वप्नदर्शन-सहित ऋषभ के जीवन के पूर्वार्द्ध ने आदिपर्व के द्वितीय सर्ग के लगभग पाँच सौ पद्यों का निगरण कर लिया है तथा संवेगोत्पत्ति तक के शेष भाग का केवल तीन सौ पद्यो मे समाहार करने की चेष्टा की गयी है। जयशेखर ने कथानक के पल्लवन तथा प्रस्तुतीकरण मे, कतिपय अपवादो को छोडकर, बहुधा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित का अनुगमन किया है। दोनो मे इतना आश्चर्यजनक साम्य है कि जैनकुमारसम्भव की रचना त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के आदि पर्व को सामने रख कर की गयी प्रतीत होती है। वस्तुत. जयशेखर ने कथानक का स्थूल स्वरूप ही त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित से ग्रहण नही किया, विभिन्न प्रसंगो मे उसके असंख्य भावों तथा वर्णनो को आत्मसात् करके काव्य की प्रकृति के अनुरूप उन्हे प्रौढ शैली तथा परिष्कृत भाषा मे प्रस्तुत किया है। हेमचन्द्र तथा जयशेखर के मुख्य वृत्त

१७. येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति। वही, ५.४.९

१८ वही, ११.२ ७.

१९. पढमराया पढमजिण पढमकेवली पढमतित्थकरे पढमधम्मवर चक्कवट्टी समुप्पाज्जित्था।—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूत्र ३५.

मे केवल एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित मे सुमंगला के चौदह स्वप्नों तथा उनके फलकथन का क्रमश एक-एक पद्य मे सूक्ष्म संकेत है। जयशेखर ने इस प्रसंग का निरूपण लगभग दो सर्गो में किया है[२०]। जैनकुमारसम्भव के कथानक मे, जिसका फलागम कुमार-जन्म है, यह सम्भवत अनिवार्य था। कितु जयशेखर को इसकी प्रेरणा हेमचन्द्र द्वारा वर्णित मरुदेवी के स्वप्नो तथा फलकथन से मिली थी, इसमे सन्देह नही।

जयशेखर को प्राप्त कालिदास का दाय

जयशेखर का आधारस्रोत कुछ भी रहा हो, कालिदास के महाकाव्यो तथा जैनकुमारसम्भव के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि कथानक की परिकल्पना तथा विनियोग, घटनाओ के संयोजन तथा काव्यरूढियो के पालन मे जयशेखर कालिदास-कृत कुमारसम्भव का अत्यधिक ऋणी है। यह वात भिन्न है कि महाकवि के प्रवल आकर्षण के आवेग में वह अपनी कथावस्तु को नही सम्भाल सका है।

कुमारसम्भव के हृदयग्राही हिमालय-वर्णन के आधार पर जयशेखर ने अपने काव्य का आरम्भ अयोध्या के रोचक चित्रण से किया है[२१]। कालिदास के विम्व-वैविध्य, यथार्थता तथा सरस शैली का अभाव होते हुए भी, अयोध्या-वर्णन कवि की असदिग्ध कवित्वशक्ति का द्योतक है। महाकवि के काव्य तथा जैनकुमार सम्भव के प्रथम सर्ग मे ही क्रमश पार्वती तथा ऋषभ के जन्म से यौवन तक, जीवन के पूर्वार्द्ध का निरूपण है[२२]। पार्वती के सौन्दर्य का यह वर्णन सहजता तथा मधुरता के कारण संस्कृत-काव्य के उत्तमोत्तम अशो मे प्रतिष्ठित है। ऋषभदेव के यौवन का चित्रण यद्यपि उस कोटि का नही है, किन्तु वह रोचकता से शून्य नही है। कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग मे तारक के आतंक से पीड़ित देवताओ का एक प्रतिनिधिमण्डल ब्रह्मा की सेवा मे जाकर उनसे संकट-निवारण की प्रार्थना करता है। जयशेखर के काव्य मे इन्द्र स्वयं ऋषभदेव का विवाहार्थ प्रेरित करने के लिये अयोध्या मे अवतरित होता है। कालिदास के अनुकरण पर जैनकुमारसम्भव के इसी सर्ग मे एक स्तोत्र का समावेश किया गया है[२३]। ब्रह्मा के स्तोत्र मे निहित दर्शन की अन्तर्धारा, उसके कवित्व को आहत किये विना, उसे दर्शन के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। जैनकुमारसम्भव की यह प्रशस्ति ऋषभदेव के पूर्व भवो तथा सुकृत्यों का सकलन मात्र है। फलत कालिदास के स्तोत्र की तुलना मे जयशेखर का

२०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १.२.८८६-८८७, जैन कुमारसम्भव, ७,९.

२१. कुमारसम्भव, १.१-१६; जैनकुमारसम्भव, १.१-१६

२२. कुमारसम्भव, १.२०-४९; जैनकुमारसम्भव, १.१७-६०

२३. कुमारसम्भव, २.३-१५; जैनकुमारसम्भव २.४९-७३

भावो से उच्छ्वसित है[२८]। कालिदास के काव्य मे शकर विवाह के पश्चात् पर्वतराज की कन्या का हाथ पकड़ कर कौतुकागार में प्रविष्ट हो गये। ऋषभदेव वधुओ के साथ मणिहर्म्य मे ऐसे प्रविष्ट हुए जैसे तत्त्वान्वेषी मति और स्मृति के साथ शास्त्र मे प्रवेश करता है[२९]। कालिदास ने शंकर-पार्वती की रतिक्रीडा का अतीव रगीला चित्रण किया है जिसके अन्तर्गत नाना मुद्राओ तथा भगिमाओ को समेटने का प्रयास है। नायक-नायिका के सम्भोग का मुक्त वर्णन पवित्रतावादी जैन कवि को ग्राह्य नही हो सकता था। उसने सुमगला के गर्भाधान से इस ओर इगित मात्र किया है। ऋषभ कौतुकागार मे भी अनासक्त भाव से, उन्हे पूर्वजन्म का भोक्तव्य मान कर, विषयो मे प्रवृत्त होते है[३०]। तीर्थकर की विषय-पराङ्मुखता तथा मोक्षपरायणता का दृढतापूर्वक प्रतिपादन करने के लिये यह चित्रण अनिवार्य था, भले ही उस स्थिति मे वह हास्यास्पद प्रतीत हो।

जैनकुमारसम्भव मे पौर नारियो के सम्भ्रम का चित्रण कालिदास के समानान्तर वर्णन का अनुगामी है, जो कुमारसम्भव तथा रघुवश मे समान शब्दावली मे उपन्यस्त है[३१]। अश्वघोष से आरम्भ होकर यह रूढि माघ, श्रीहर्ष आदि से होती हुई परवर्ती जैन कवियो द्वारा तत्परता से ग्रहण की गयी है। परन्तु इसके प्रति उत्साह के बावजूद उत्तरवर्ती कवियो ने इसमे नवीन उद्भावना नही की है। फलत. जयशेखर का प्रस्तुत वर्णन कालिदास के पद्यो की प्रतिध्वनि मात्र है। कुमारसम्भव के पचम सर्ग से संकेत पाकर जयशेखर ने नायक-नायिका के सवाद की योजना की है। यहा यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि उमा-वटु-सवाद की गणना, उसकी नाटकीयता तथा सजीवता के कारण, सर्वोत्तम काव्याशो मे होती है। ऋषभ तथा सुमगला का वार्तालाप साधारणता के धरातल से ऊपर नही उठ सका है।

जैनकुमारसम्भव मे वस्तुव्यापारो की योजना कालिदास के प्रासगिक वर्णनों से प्रेरित है। कालिदास की तरह जयशेखर ने अपने काव्य मे रात्रि तथा चन्द्रोदय का ललित वर्णन किया है, जो नवदम्पती की विवाहोत्तर चेष्टाओ की समुचित भूमिका निर्मित करता है। ऋतुवर्णन के एकमात्र अपवाद को छोड़कर, जयशेखर के प्रभात, सूर्योदय, मध्याह्न सहित उपर्युक्त वर्णन काव्य के अत्यन्त रोचक तथा

२८ कुमारसम्भव, ७.८३; जैनकुमारसम्भव, ५.५८-८३

२९. कुमारसम्भव, ७.९५; जैनकुमारसम्भव, ६.२३

३०. भोगार्हकर्म ध्रुववेद्यमन्यजन्मार्जितं स्वं स विभुर्विबुध्य। जैनकुमारसम्भव, ६.२६

३१. कुमारसम्भव, ७.५६-६२; जैनकुमारसम्भव, ५.३७-४५

शृंगार के चित्रण में जयशेखर की पवीणता निर्विवाद है। वे शृंगार रस की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित विविध भावों को पृथक्-पृथक् अथवा समन्वित रूप मे चित्रण करने में कुशल हैं। जैन कुमारसम्भव मे दोनों प्रकार के वर्णन मिलते है। ऋषभदेव के विवाह मे आते समय, प्रियतम का स्पर्श पाकर, किसी देवागना की मैथुनेच्छा सहसा जाग्रत हो गई। भावोच्छ्वास से उसकी कंचुकी टूट गयी। वह कामावेग के कारण असहाय हो गयी। फलतः वह अपनी इच्छापूर्ति के लिए प्रियतम की चापलूसी मे जुट गयी।

उपात्तपाणिस्त्रिदशेन वल्लभा श्रमाकुला काचिदुदंचिकंचुका।
वृषस्यया चाटुशतानि तन्वती जगाम तस्यैव गतस्त विघ्नताम् ॥ ४।१०

नवविवाहित ऋषभ को देखने को उत्सुक पुर-युवति की अधबंधी नीवी दौडने के कारण खुल गयी। उसका अधोवस्त्र नीचे खिसक गया पर उसे इसका भान नही हुआ। वह नायक को देखने के लिए अधीरता से दौड़ती गयी और उसी मुद्रा मे जनसमुदाय मे मिल गयी। पौर युवती पर नायक के प्रति रति भाव आरोपित करना तो उचित नही किन्तु शृंगार के संचारी भाव उत्सुकता की तीव्रता, उसकी अधीरता तथा आत्मविस्मृति मे बिम्बित हैं।

कापि नार्धयमितश्लथनीवी प्रसरन्निवसनापि न ललज्जे।
नायकाननिवेशितनेत्रे जन्यलोकनिकरेऽपि समेता ॥ ५.३९.

रुचकाद्रि के लतागृहों की गोपनीयता देवदम्पतियों की रति के लिये आदर्श परिवेश का निर्माण करती है, तो अष्टापद की रजत शिलाएँ तथा सुखद पुष्प-शय्याएँ, सम्भोगकेलि में मानिनियों को मानत्याग के लिए विकल कर देती है। शृंगार के उद्दीपन भावों को, रति के सोपान के रूप में, चित्रित करके कवि ने पर्वतीय नीरवता का समुचित उपयोग किया है।

तरुक्षरत्सूनमृदूत्तरच्छदा व्यधत्त यत्तारशिला विलासिनाम्।
रतिक्षणालम्बितरोषमानिनीस्मयग्रहग्रन्थिभिदे सहायताम् ॥ २.३९.

जयशेखर ने काव्य की रसात्मकता की तीव्रता के लिए वात्सल्य, भयानक; हास्य तथा शान्त रसों का आनुषगिक रूप मे यथेष्ट पल्लवन किया है। ऋषभ के शैशव के चित्रण मे वात्सल्य रस की मधुर छटा दर्शनीय है। शिशु ऋषभ की तुतलाती वाणी, लड़खड़ाती गति, अकारण हास्य आदि केलियाँ सबको आनन्द से अभिभूत करती है। वह दौडकर पिता से चिपट जाता है। पिता उसके अगस्पर्श से विभोर हो जाते हैं। हर्षातिरेक से उनकी आँखे बन्द हो जाती है और वे 'तात-तात' की गुहार लगाते रहते है।

अव्यक्तमुक्तं स्खलदंघ्रियानं निकारणं हास्यमवस्त्रमंगम् ।
जनस्य यद्दोषतयाभिधेयं तच्छैशवे यस्य बभूव भूषा ।। १.२७
दूरात् समाहूय हृदोपपीडं माद्यन्मुदा मीलितनेत्रपत्र. ।
अथांगजं स्नेहविमोहितात्मा यं तात तातेति जगाद नाभिः ।। १.२८

जैनकुमारसम्भव मे हास्य के अवसर अधिक नही हैं। पौर सुन्दरियो के सम्भ्रम-चित्रण के अन्तर्गत, निम्नोक्त पद्य मे, हास्य रस की रोचक अभिव्यक्ति हुई है। नवविवाहित ऋषभ को देखने की लालसा से 'मूढदृष्टि' कोई स्त्री, अपने रोते शिशु को छोडकर बिल्ली का बच्चा गोद मे उठाकर दौड आयी। उसे देखकर सारी बारात हंस पड़ी, किन्तु उसे इसका आभास नही हुआ। उसकी इस अधीरता-जन्य चेष्टा मे हास्य की मधुर रेखा है।

तूर्णमूढदृगपास्य रुदन्तं पोतमोतुमधिरोप्य कटीरे ।
कापि धावितवती नहि जज्ञे हस्यमानापि जन्यजनैः स्वयम् ।। ५.४१

पहले कहा गया है, शृगारचित्रण का अद्भुत अवसर खोकर भी जयशेखर शात रस की तीव्र निष्पत्ति करने मे सफल नही हुए। जैनकुमारसम्भव में ऋषभदेव की अनासक्ति तथा विरक्ति के चित्रण मे शान्तरस की क्षीण अभिव्यक्ति हुई है। काव्यनायक को गार्हस्थ्य जीवन मे प्रवृत्त करने के लिए इन्द्र की उक्तियो मे ऋषभ का निर्वेद मुखर है।

वयस्यनंगस्य वयस्यभूते भूतेश रूपेऽनुपमस्वरूपे ।
पद्मोदिरायां कृतमन्दिरायां को नाम कामे विमनास्त्वदन्य. ।। ३.२४

क्रुद्ध भैंसे के चित्रण मे भयानक रस की प्रभावशाली व्यंजना हुई है (४.६)। वस्तुत. जयशेखर ने विविध मनोभावो के विश्लेषण तथा सरस चित्रण का श्लाघ्य प्रयत्न किया है।

प्रकृति चित्रण

काव्यशास्त्रियो का विधान, जिसके अन्तर्गत उन्होने वर्ण्य विषयो की बृहत् सूचियाँ दी है, काव्य मे प्रकृतिचित्रण की महत्ता तथा उपयोगिता की स्वीकृति है। जैनकुमारसम्भव के वर्णन-बाहुल्य मे प्राकृतिक दृश्यो के चित्रण को विशाल फलक मिला है। जयशेखर की प्रकृति मानव से निरपेक्ष जड़ प्रकृति नही है। उसमे मानवीय भावनाओं का स्पन्दन है तथा वह मानव की तरह ही नाना क्रियाकलापो मे रत है। उसका आधार समासोक्ति अलकार है जिसका मर्म वर्ण्य विषय पर अप्रस्तुत के व्यवहार, कार्य आदि आरोपित करने मे निहित है। जयशेखर के प्रकृति-वर्णन मे समासोक्ति के प्रचुर प्रयोग का यही रहस्य है। प्रभात, सूर्योदय, मध्याह्न, रात्रि, चन्द्रोदय तथा ऋतुओ के वर्णन मे जयशेखर ने समासोक्ति के माध्यम से

प्रकृति का उदारता-पूर्वक मानवीकरण किया है, जिससे सामान्य दृश्य भी अत्यन्त रोचक तथा कवित्वपूर्ण बन गये हैं। दसवे सर्ग का प्रभातवर्णन, कवित्व तथा प्रकृतिचित्रण की दृष्टि से कदाचित् जैनकुमारसम्भव का सर्वोत्तम अंश है। छह पद्यों के इस संक्षिप्त वर्णन मे कवि ने अपनी प्रतिभा की तूलिका से प्रात.कालीन समग्र वातावरण उजागर कर दिया है। इसमे जयशेखर ने बहुधा समासोक्ति के द्वारा प्रकृति की नाना चेष्टाओ के अभिराम चित्र अंकित किये हैं।

चन्द्रमा ने रात भर अपनी प्रिया के साथ रमण किया है। इस स्वच्छन्द कामकेलि से उसकी कान्ति म्लान हो गयी है। प्रतिद्वन्द्वी सूर्य के भय से वह अपना समूचा वैभव तथा परिवार छोड कर नगा भाग गया है। उसकी निष्कामता को देख-कर पुश्चली की तरह यामिनी ने उसे निर्दयता से ठुकरा दिया है। सेनानी के रण-भूमि छोड़ देने पर सैनिकों की क्या बिसात ? जब उनका अधिपति चन्द्रमा ही भाग गया है, तो तारे सूर्य के तेज के सामने कैसे टिक सकते थे ? वे सब एक-एक करके बुझ गये है। समासोक्ति तथा अर्थान्तिरन्यास की संसृष्टि ने चन्द्रमा तथा तारो के अस्त होने की दैनिक घटना को कविकल्पना से तरलित कर दिया है।

लक्ष्मीं तथास्वरमथात्मपरिच्छदं च
मुञ्चन्तमागमितयोगमिवास्तकामम्।
दृष्ट्वेशमल्परुचिमुज्झति कामिनीव
त यामिनी प्रसरमम्बुरुहाक्षि पश्य ॥ १०.८२

अवशमनशद्भीतः शीतद्युतिः स निरम्बरः
खरतरकरे ध्वस्यद्ध्वान्ते रवावुदयोन्मुखे।
विरलविरलास्तज्जायन्ते नभोऽध्वनि तारकाः
परिवृढदृढीकाराभावे वले हि कियद्वलम् ॥ १० ८३

प्रभात वर्णन के अन्तिम पद्य मे कवि ने कमल को मन्त्रसाधक कामी का रूप दिया है। जैसे कामी अपने मनोरथ की पूर्ति के लिए नाना मन्त्र-तन्त्र की साधना करता है, कमल ने भी गहरे पानी मे खडा होकर सारी रात, आकर्पण-मन्त्र का जाप किया है। प्रात: काल उसने सूर्य की किरणो के स्पर्श से स्फूर्ति पा कर प्रति-नायक चन्द्रमा की लक्ष्मी का अपहरण कर लिया है और उसे अपनी 'अंकशय्या' (पत्रशय्या) पर लेटा कर आनन्द लूट रहा है। "चन्द्रमा के अस्त होने पर कमल अपने पूर्ण वैभव तथा ठाट से खिल उठता है," यह प्रतिदिन की सुविज्ञात घटना कमल पर चेतना का आरोप करने से कितनी आकर्षक तथा प्रभावशाली बन सकती है, निम्नोक्त पद्य उसका भव्य निदर्शन है।

गम्भीराम्भ स्थितमथ जपन्मुद्रितास्यं निशाया-
मन्तर्गुञ्जन्मधुकरमिषान्ननमाकृष्टिमन्त्रम्।

प्रातर्जातस्फुरणमरुणस्योदये चन्द्रविम्बा-
दाकृष्याब्जं सपदि कमलां स्वांकतल्पीचकार ।। १०.८४

जयशेखर ने रात्रि का भी वहुधा मानवीरूप मे चित्रण किया है। रात्रि के अन्धकार मे ऋजु-वक्र आदि आकृतियो तथा कृष्ण, पीत आदि रंगो का विवेक स्वतः समाप्त हो जाता है। कवि ने रात्रि पर क्रान्तिकारी योगिनी का कर्म आरोपित किया है, जो 'वर्णव्यवस्था' के कृत्रिम किन्तु वद्धमूल भेद को मिटा कर जग मे अद्वैत की स्थापना के लिये अवतरित हुई है[३४]। रात्रि की कालिमा तथा चन्द्रमा के प्रकाश का अन्तर्मिलन प्राकृतिक सौन्दर्य का हृदयहारी दृश्य है। कवि ने समासोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास के द्वारा रात्रि तथा चन्द्रमा को कलहशील दम्पती के रूप में चित्रित किया है। चन्द्रमा जगत् मे उज्ज्वलता का प्रसार करना चाहता है किन्तु उसकी पत्नी (रात्रि) उसे अन्धकार से पोतने को कटिवद्ध है। कलासम्पन्न पुरुप (चन्द्रमा) को भी स्वानुकूल स्त्री भाग्य से मिलती है[३५]। चन्द्रोदय, सूर्योदय आदि के अन्तर्गत समासोक्ति का उदार प्रयोग, प्रकृति के मानवीकरण के प्रति कवि के पक्षपात का प्रमाण है[३६]।

अधिकाश कालिदासोत्तर कवियों की भाति जयशेखर ने प्रकृति के अलंकृत चित्रण को अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु जैनकुमारसम्भव के प्रकृतिचित्रण की विशेपता यह है कि वह यमक आदि की दुरूहता से आक्रान्त नही है और न उसमे कुरुचिपूर्ण शृगारिकता का समावेश है। इसलिये जयशेखर के विभिन्न प्रकृतिवर्णनों का अपना आकर्षण है। वस्तुतः जयशेखर प्रकृति के ललित कल्पनापूर्ण चित्र अंकित करने मे सिद्धहस्त है।

रात्रि की कालिमा में छिटके तारे मनोरम दृश्य प्रस्तुत करते हैं। कवि का अनुमान है कि रात्रि, गजचर्मावृत तथा मुण्डमालाधारी शकर की विभूति से सम्पन्न है। उसकी कालिमा शंकर का गजचर्म है तथा तारे असंख्य अस्थिखण्ड है, जो श्मशान में उनके चारो तरफ विखरे रहते हैं।

अभुक्त भूतेशतनोर्विभूतिं भौती तमोभि स्फुटतारकौघा।
विभिन्नकालच्छविदन्तिदैत्यचर्मावृतेर्भूरिनरास्थिभाज ।। ६.३.

रात्रि की कालिमा को लेकर कवि ने नाना कमनीय कल्पनाएँ की है।

३४. किं योगिनीयं धृतनीलकन्था तमस्विनी तारकशंखभूषा।
वर्णव्यवस्थामधूय सर्वामभेदवादं जगतस्ततान ।। जैनकुमारसम्भव, ६.८.

३५. तितांसति श्वैत्यमिहेन्दुरस्य जाया निशा दित्सति कालिमानम्।
अहो कलत्रं हृदयानुयायि कलानिधीनामपि भाग्यलभ्यम् ।। ६.९.

३६ जैनकुमारसम्भव, ६.१४, ६.१९, ११ १, ११.४, ११.७, ११.६२, तथा ६.६६, ७१.

उसके विचार मे रात्रि वस्तुतः गौरवर्ण थी। यह अनाथ साध्वियों को सताने का फल है कि उनके शाप की ज्वाला से उसकी काया काली पड़ गयी है। विकल्प रूप में, रात्रि के अन्धकार को चकवों की धुधयाती विरहाग्नि का धुआ माना गया है। उसके स्फुलिंग, जुगनुओ के रूप मे स्पष्ट दिखाई दे रहे है।

हरिद्रयं यदभिन्ननासा बभूव गौर्येव निशा ततः प्राक् ।
सन्तापयन्ती तु सतीरनाथास्तच्छापदग्धाजनि कालकाया ।। ६.७.
यत्कोकयुग्मस्य वियोगवह्निर्जज्वाल मित्रेऽस्तमिते निशादौ ।।
सोद्योतखद्योतकुलस्फुलिंगं तद्धूमराजिः किमिदं तमिस्रम् ।। ६.११.

प्रौढोक्ति के प्रति अधिक प्रवृत्ति होने पर भी जयशेखर प्रकृति के सहज रूप से सर्वथा पराङ्मुख नही है। जैन कुमारसम्भव मे उसने श्लेष द्वारा प्रकृति के स्वाभाविक गुण चित्रित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु यह तथ्य है कि प्रकृति के आलम्बन पक्ष के प्रति उसकी रुचि सतही है। छठे सर्ग में सुमंगला तथा षड् ऋतुओं के सरल मनोरम चित्र दृष्टिगत होते है (६.४०-४५), वसन्त में पुष्प विकसित हो जाते हैं। मलय बयार चलने लगती है। भौरो की गुजन तथा कोकिल की कूक वातावरण को मदसिक्त करती हुई जनमानस को मोहित करती है। वसन्त के इन उपकरणो का रोचक वर्णन श्लेष के झीने आवरण मे स्पष्ट दिखाई देता है।

उल्लासयन्ती सुमन समूहं तेने सदालिप्रियतामुपेता ।
वसन्तलक्ष्मीरिव दक्षिणाहिकान्ले रुचिं सत्परपुष्टघोषा ।। ६.४४

अधिकतर पूर्ववर्ती तथा समवर्ती कवियो के विपरीत जयशेखर ने प्रकृति की उद्दीपक भूमिका को महत्त्व नही दिया। केवल उद्यानप्रकृति के चित्रण मे लता तथा भ्रमरों की परिरम्भक्रीड़ा, कामिनियो की भावनाओ को उद्वेलित करती हुई तथा उनमे चंचलबुद्धि का संचार करती हुई चित्रित की गयी है। प्रकृति यहा उद्दीपन का काम करती है।

वल्ली विलोला मधुपानुषंगं वितन्वती सत्तरुणाश्रितस्य ।
पुरा परागस्थितित. प्ररूढा पुपोष योषित्सु चलत्वबुद्धिम् ।। ६. ५४.

जैनकुमारसम्भव मे पशु-पक्षियो की प्रकृति का भी स्वाभाविक चित्रण किया गया है, जो कवि की पर्यवेक्षण शक्ति का द्योतक है तथा अपनी मार्मिकता और तथ्यपूर्णता के कारण पाठक के हृदय को अनायास आकृष्ट करता है। ग्रीष्म की दोपहरी मे, गर्मी से सतप्त पक्षी, बाल चेष्टाएँ छोड कर योगी की भाँति घने वृक्षों की छाया मे चुपचाप बैठे रहते है। मध्याह्न-वर्णन मे पक्षियो के इस स्वभाव का रम्य चित्रण हुआ है।

अमी निमीलन्नयना विमुक्तबाह्यभ्रमा मौनजुष शकुन्ता. ।
श्रयन्ति सान्द्रद्रुमपर्णशाला अभ्यस्तयोगा इव नीरजाक्षि ।। ११.६६

जयशेखर ने, इस प्रकार, प्रकृति के आलम्बन तथा उद्दीपन पक्षों का कम चित्रण किया है, किन्तु उक्तिवैचित्र्य तथा मानवीकरण में उसकी काव्यकला का उदात्त रूप दृष्टिगोचर होता है। जैनकुमारसम्भव में षड्ऋतुवर्णन ही एक ऐसा प्रसंग है जो साधारणता के धरातल से ऊपर नही उठ सका है। इस वर्णन मे बहुधा ऋतुओं के सेवीरूप को रेखाकित किया गया है[१७]।

सौन्दर्यचित्रण

जैन कुमारसम्भव के फलक पर मानवसौन्दर्य के भी अभिराम चित्र अंकित किये गये है। जयशेखर के सौन्दर्य चित्रण मे दो प्रमुख प्रवृत्तियां लक्षित होती है। एक ओर विविध अप्रस्तुतो के द्वारा, कविकल्पना के आधार पर वर्ण्य पात्र के विभिन्न अवयवो का सौन्दर्य निरूपित करने की चेष्टा है, दूसरी ओर नाना प्रसाधनों से सहज सौन्दर्य को वृद्धिगत करने का प्रयत्न है। जयशेखर के सौन्दर्य चित्रण मे यद्यपि परम्परागत प्रासगिक वर्णनों से अधिक भिन्नता नही हे परन्तु कवि की उक्ति-वैचित्र्य की वृत्ति तथा सादृश्यविधान की कुशलता के कारण ये वर्णन सरसता से सिक्त है। ऋषम के यौवनजन्य सौन्दर्य का वर्णन उपर्युक्त प्रथम कोटि का है, जिसमे यदा-कदा हेमचन्द्र के भावो की प्रतिगूज सुनाई देती है[१८]।

ऋषभ का मुख चन्द्रमा था और चरण कमल थे। परन्तु प्रभु के पास आकर चन्द्रमा तथा कमल ने परम्परागत वैर छोड दिया था। वही शक्तिशाली शासक है, जिसके सान्निध्य मे शत्रु भी शाश्वत विरोध भूल कर सौहार्दपूर्ण आचरण करे।

तस्याननेन्दावुपरि स्थितेऽपि पादाब्जयो. श्रीरभवन्न हीना।
धत्तां स एव प्रभुतामुदीते द्रुह्यन्ति यस्मिन्न मिथोऽरयोऽपि॥ १.३९

उनके ऊरुओ का वर्णन रूपक द्वारा किया गया है। ऋपभ की जंघाओ पर तरकशो का आरोप करने से प्रतीत होता है कि कामिनियों के मानभंजन के लिये काम के पास प्रसिद्ध पॉच बाणो के अतिरिक्त अन्य तीर भी है।

धीरांगनाधैर्यभिदे पृषत्का पंचेषुवीरस्य परेऽपि सन्ति।
तदूरुतूणीरयुगं विशालवृत्तं विलोक्येति बुधैरतर्कि॥ १.४२

युवा ऋपभ के विशाल वक्ष तथा पुष्ट नितम्बो के बीच कृश मध्यभाग, जैन दर्शन सम्मत त्रिलोकी के आकार का प्रतिरूप है।

उपर्युर. प्रौढमधः कटी च व्यूढान्तराभूत्तलिनं विलग्नम्।
किं चिन्मये ऽस्मिन्ननु योजकानां त्रिलोकसंस्थाननिदर्शनाय॥१.४५

३७. जैनकुमारसम्भव, ६.५२-७३

३८. तुलना कीजिए जैनकुमारसम्भव, १.३९,४९,५५ तथा त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित, १.२.७१५,७१४,७१६

सद्यःस्नाता सुमंगला तथा सुनन्दा की रूपराशि के निरूपण में जयशेखर ने अतीव भावपूर्ण तथा नवीन उपमानो का प्रयोग किया है। शुभ्र परिधान से भूषित उनकी कान्तिमती शरीरयष्टि की स्फटिक के म्यान मे स्थित स्वर्णकटारी से तुलना करके तथा उनकी नितम्बस्थली को काम की अश्वशाला कह कर क्रमशः उनकी दीप्ति एवं वेधकता तथा स्थूलता एवं विस्तार का सहज भान करा दिया गया है।

तनूस्तदीया ददृशेऽमरीभिः सवेतशुभ्रामलमंजुवासा ।
परिस्फुटस्फटिककोशवासा हैमकृपाणीव मनोभवस्य ।। ३.६८

त्रिभुवनविजिगीषोर्मारभूपस्य वाह्या-
वनिरजनि विशाला तन्नितम्बस्थलीयम् ।
व्यरचि यदिह कांचीकिंकिणीभिः प्रवल्ग-
च्चतुरंगभूषाघर्घरीघोषशंका ।। ३.७९

प्रसाधन-सामग्री के द्वारा पात्रों का सौन्दर्य उद्घाटित करने की रीति ऋषभ तथा वधुओं की विवाहपूर्व सज्जा में दृष्टिगत होती है। इस सन्दर्भ मे मालिश और स्नान से लेकर विभिन्न प्रसाधनों के प्रयोग तथा अंगों पर नाना आकृतियाँ अंकित करने का विस्तृत वर्णन हुआ है। इन प्रसगों में निस्सन्देह आभूपण आदि अलंकरण अंगविशेष के सौन्दर्य मे वृद्धि करते हैं, किन्तु कवि की कल्पनाशीलता ने उसे दूना कर दिया है।

देवांगनाओ ने वधुओ के कपोलो पर कस्तूरी से जो मकरी अकित की थी उसे देखकर वे स्वयं कामाकुल हो गयी। कवि की कल्पना है कि मकर अपने स्वामी काम को स्त्रीप्रेम के कारण उनके पास ले आया है। उनके स्तनो पर पत्रावलियाँ चित्रित की गयी थी। कवि के विचार में काम ने उनके लावण्य की नदी मे, 'कुच-कुम्भ' लेकर विहार किया था जिससे उन पर पत्रावलियों के रूप मे पत्ते चिपक गये हैं। वधूओं के कर्णकूपो को कवि-कल्पना मे कमलरूपी कर्णाभूषणो से इसलिये जल्दी-जल्दी ढक दिया गया था कि कही युवको का कामान्ध हृदय उनमें न गिर जाए[39]।

चरित्रचित्रण

जैनकुमारसम्भव दैवी तथा मानवी पात्रों का समवाय है। इसकी कथावस्तु में ऋपभदेव, सुमगला, सुनन्दा, इन्द्र तथा शची, केवल ये पाँच पात्र है। इनमे से शची की भूमिका अत्यल्प है और सुनन्दा की चर्चा समूचे काव्य में एक-दो वार ही हुई है।

३९. जै. कु. सम्भव, ३.६६-६७,७२.

ऋषभदेव

जयशेखर ने, प्रकारान्तर से, काव्यनायक में जो गुण अनिवार्य माने हैं, उनके अनुसार उसका दाता, कुलीन, मधुरभाषी, सौन्दर्य सम्पन्न, वैभवशाली, तेजस्वी तथा योगी एवं मोक्षकामी होना अनिवार्य है[40]। काव्यनायक का यह स्वरूप काव्यशास्त्र के विधान से अधिक भिन्न नहीं है[41]। अन्तिम दो गुण (योगी तथा मोक्षकामी) निवृत्तिवादी विचारधारा से प्रेरित है।

युग्मिपति नाभि के पुत्र ऋषभदेव जैनकुमार सम्भव के धीरोदात्त नायक हैं। यद्यपि उनका चरित पौराणिक परिवेश में अंकित किया गया है, किन्तु वह जयशेखर द्वारा विहित गुणों को सर्वांश में बिम्बित करता है। पौराणिक नायक की भांति वे विभूतिमान्, पराक्रमी तथा सौन्दर्य-सम्पन्न हैं। गर्भावस्था में ही ऋषभ त्रिज्ञान से सम्पन्न तथा कैवल्य के अभिलाषी थे। उनके जन्म से जगतीतल के क्लेश इस प्रकार विलीन हो गये जैसे सूर्योदय से चकवों का शोक तत्काल समाप्त हो जाता है। उनकी शैशवकालीन निवृत्ति से काम को अपने अस्त्रों की अमोघता पर सन्देह हो गया (जै० कु० सम्भव, १. १८-२१, ३६)। यौवन में उनके सौन्दर्य तथा शौर्य में विलक्षण निखार आ गया किन्तु उस मादक अवस्था में भी उन्होंने मन को ऐसे वश में कर लिया जैसे कुशल अश्वारोही उच्छृंखल घोड़े को नियन्त्रित करता है। अपनी रूपराशि से काम को जीतकर वे स्वयं काम प्रतीत होते थे। उनकी रूप-सम्पदा का यथार्थ निरूपण करना बृहस्पति के लिये भी सम्भव नहीं था[42]।

काव्यनायक के स्वरूप के अनुसार ऋषभदेव मधुरभाषी थे। उनकी वाणी के माधुर्य के समक्ष 'का सुधा दासी', अमृत नीरस था। प्रतीत होता है, विधाता ने चन्द्रमा का समूचा सार उनकी वाणी में समाहित कर दिया था (१०. ९)। धीरोदात्त नायक होने के नाते वे प्रतिभावान् तथा दानी थे। उनके अविराम औदार्य के कारण कल्पवृक्ष की दानवृत्ति अर्थहीन हो गयी। ऋषभ अनुपम यशस्वी थे। उनके यश का पान करके देवगण अमृत के माधुर्य को भूल जाते थे (१. ६९-७०, २.३)।

ऋषभदेव के चरित की मुख्य विशेषता यह है कि अनुपम वैभव, अतुल रूप तथा मादक यौवन से सम्पन्न होने पर भी वे विषयों से विमुख थे। लोकस्थिति के

४०. दाता कुलीनः सुवचा रुचाढ्यः रत्नं पुमानेव न चाग्रमेद । वही, ११.३४
तथैव योगानुभवेन पूर्वभवे स्वहस्तेऽकृतमोक्षतत्त्वम् । वही, ११.४८

४१. त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान् नेता ॥ साहित्यदर्पण, ३.३०

४२. रूपसिद्धिमपि वर्णयितुं ते लक्षणाकर न वाक्पतिरीशः—जै कु.सम्भव, ५.५६

पालन के लिये उन्होंने विवाह अवश्य किया पर काम उन्हे अभिभूत नही कर सका। वे विपयों को पूर्व जन्म का भोक्तव्य मान कर उन्हे अनासक्ति तथा उचित उपचारो से भोगते है। काम के अमोघ वाण यदि कही विफल हुए है तो ऋषभदेव पर (३.११)। कवि ने उनके चारित्रिक गुणो का समाहार प्रस्तुत पद्य में इस प्रकार किया है।)

वयस्यनंगस्य वयस्यभूते भूतेश रूपेऽनुपमस्वरूपे।
यदींदिरायां कृतमन्दिरायां को नाम कामे विमनास्त्वदन्यः ॥ ३.२४

ऋषभदेव लोकोत्तर ज्ञानवान् नायक है। वे त्रिलोकी के रक्षक, त्रिकाल के ज्ञाता तथा त्रिज्ञान के धारक है (८.१९)। उन्होने ज्ञानवल से मोहराज को धराशायी कर दिया। दम्भ, लोभ आदि उसके सैनिक तो कैसे टिक मकते थे (२.६९)। जैन परम्परा मे ऋषभदेव को प्रथम राजा—पढमरायो—माना गया है। उनके अप्रतिहृत शासन तथा प्रजा को आचार-मार्ग पर प्रवृत्त करने का काव्य मे सूक्ष्म सकेत है (३.५)। वे समस्त कलाओ तथा शिल्पों के स्रोत तथा प्रथम तीर्थंकर हैं। उन्ही के द्वारा आगम का प्रवर्तन किया गया। वे गार्हस्थ्य धर्म के भी आदि प्रवर्तक है (३.९)।

ऋषभदेव के चरित के वहुमुखी पक्ष हैं। उनमें देव, गुरु, तीर्थ, मंगल, सखा, तात का अद्भुत समन्वय है। उनसे श्रेष्ठ कोई देवता नही, उनके नाम से सशक्त कोई जपाक्षर नही, उनकी उपासना से वढ कर कोई पुण्य नही और उनकी प्राप्ति से वडा कोई आनन्द नही[४३]। वस्तुतः कवि के लिये वे मात्र काव्यनायक नही, प्रभु हैं (१.४०)।

सुमंगला

काव्य की नायिका सुमंगला ऋषभदेव की सगी वहिन तथा पत्नी है। उसका चरित्र ऋषभ के गरिमामय व्यक्तित्व से इस प्रकार आक्रान्त है कि वह अधिक विकसित नहीं हो सका है। वह कुलीन, वुद्धिमती तथा रूपवती युवती है। उसके सौन्दर्य के सम्मुख रम्भा निष्प्रभ है और रति म्लान है। उसके मुखमण्डल मे चन्द्रमा तथा कमल की समन्वित रमणीयता निहित है। वह प्रियभाषिणी, पाप से अस्पृष्ट, सद्वृत्त से शोभित तथा मलिनता से मुक्त है। शिव का कण्ठ विप से, चन्द्रमा कलक से तथा गंगा सेवाल से कलुपित है परन्तु सुमंगला का शील निर्मल तथा शुभ्र है (६.३८)। उसे असीम वैभव प्राप्त है। ऋषभदेव के साथ विवाह होने से वह और भी गौरवान्वित हो जाती है। जिन सुरांगनाओ का दर्शन मन्त्र-जाप से भी दुर्लभ है,

४३. स एव देव स गुरु स तीर्थं स मंगलं सैप सखा स तातः। वही, १.७३ तथा २.७१.

वे उसके चरणो की दासता के लिये लालायित रहती हैं (९.११)। कवि के शब्दो में वायु उसका आगन बुहारती है, गगा पानी भरती है और स्वयं सूर्य उसका भोजन पकाता है (८ ३०)। वह भाग्यशाली नारियों में अग्रगण्य है (११.२८)। अपने विविध गुणो के कारण वह पति के हृदयपंजर की सारिका बन गयी है (११ २३)।

सुमगला हीन भावना से ग्रस्त है। स्वप्नफल की अनभिज्ञता उसकी आत्म-हीनता को रेखाकित करती है। काव्य मे उसके द्वारा की गयी नारी-निन्दा उसके अवचेतना मे छिपी हीनता को व्यक्त करती है। उसी के शब्दो में नारी और चिन्तन दो विरोधी ध्रुव हैं (७.६२)।

सुनन्दा

सुनन्दा काव्य की उपेक्षित सहनायिका है। वह यद्यपि काव्य की सहनायिका है किन्तु सुमंगला के प्रति पक्षपात के कारण कवि ने उसके महत्त्व को समाप्त कर दिया है। एक-दो प्रसंगों के अतिरिक्त काव्य मे उसकी चर्चा भी नही हुई है। वह अन्तरिक्ष के जल के समान निर्मल, नीतिनिपुण तथा गुणवती है।

इन्द्र

इन्द्र यद्यपि काव्यकथा का सूत्रधार है परन्तु उसका चरित्र अधिक पल्लवित नही हुआ है। वह व्यवहार-कुशल, दृढनिश्चयी तथा लोकविद् व्यक्ति है। यह उसकी व्यवहार-कुशलता का ज्वलन्त प्रमाण है कि वीतराग ऋषभ, उसकी नीति-पुष्ट युक्तियो से वैवाहिक जीवन मे प्रवेश कर गार्हस्थ्य धर्म का प्रवर्तन करते हैं। विवाह के समय जिस सूक्ष्मता तथा तत्परता से वह समस्त लोकचारों का पालन करता है, वह उसके व्यावहारिक ज्ञान तथा लोकनीति का परिचायक है।

इन्द्र स्वर्ग का अधिपति है। देवो के साम्राज्य मे उसका अप्रतिहत शासन है। उसके सकेत मात्र से समूचा देववृन्द, ऋषभ के विवाह मे धरा पर उतर आता है और उसके आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन करता है। पूज्य जनों के प्रति उसके हृदय मे असीम श्रद्धा है। ऋषभदेव के चरणो में नत होकर तथा उनके पूर्व भवो एवं परोपकारी कार्यों का गौरवगान कर वह गद्गद हो जाता है। वह अपना समस्त वैभव उनके चरणो में न्यौछावर करने को उद्यत है।

उमकी पत्नी शची उसकी छाया है। वह सुनन्दा से भी अधिक उपेक्षित है।

भाषा

जैन कुमारसम्भव की प्रमुख विशेषता इसकी उदात्त एवं प्रौढ़ भाषा है। महाकाव्य की ह्रासकालीन रचना होने पर भी इसकी भाषा, माघ अथवा श्रीहर्ष की भाषा की भाति, विकट समासान्त तथा परवर्ती मेघविजयगणि की तरह कष्टसाध्य

अथवा दुरूह नहीं है। हेमचन्द्र, वाग्भट आदि जैनाचार्यों के विधान का उल्लंघन करके काव्य में चित्रबन्ध की योजना न करना कवि की भाषात्मक सुरुचि का परिचायक है। काव्य में बहुधा प्रसादपूर्ण तथा भावानुकूल पदावली प्रयुक्त हुई है। जैनकुमारसम्भव की भाषा के परिष्कार तथा सौन्दर्य का श्रेय मुख्यत: अनुप्रास तथा गौणत: यमक की विवेक पूर्ण सयत योजना को है। काव्य मे जिस कोटि का अनुप्रास तथा यमक प्रयुक्त हुआ है उसने भाषा मे माधुर्य तथा मनोरम झकृति को जन्म दिया है। भाषा की प्रसंगानुकूलता जयशेखर के भाषाधिकार की द्योतक है।

ऋषभदेव के वाक्कौशल की प्रशंसा में जयशेखर ने काव्य की भाषा के गुणों का अवगुण्ठित मकेत किया है। उसके अनुसार भाषा की सफलता उसकी स्वादुता, मृदुलता, उदारता, सर्वभावपटुता (अर्थात् समर्थता) तथा अकूटता (स्पष्टता) पर आधारित है[४४]। जयशेखर ने इन भाषायी विशेपताओ के द्वारा कदाचित् काव्यशास्त्र में मान्य प्रसाद, माधुर्य तथा ओज गुणो का विवरणात्मक पुनराख्यान किया है। और इसमे सन्देह नही कि जैनकुमारसम्भव की भापा में ये तीनो गुण यथोचित विद्यमान हैं।

भाषा-सौष्ठव तथा मनोरम पदशय्या काव्य मे प्रसादगुण का संचार करते हैं। जैनकुमारसम्भव की भाषा अधिकतर प्राजलता से परिपूर्ण है। अत: इसके अनेक प्रसंगो मे प्रसाद गुणसम्पन्न वैदर्भी रीति का प्रयोग दृष्टिगत होता है, जिसका मूलाधार 'अवृत्ति' अथवा 'अल्पवृत्ति' है। विशेषकर सुमगला के वासगृह का वर्णन तथा पंचम सर्ग में वर-वधू को दिया गया उपदेश प्रसादगुणजन्य सरलता तथा स्वाभाविकता से ओत-प्रोत है। इन दोनो प्रकरणो की भापा यथार्थत सहज है। अतः वह तत्काल हृदयगम हो जाती है। विवाहोत्तर 'शिक्षा' का यह अंश इस दृष्टि से उल्लेखनीय है—

> **अन्तरेण पुरुषं नाहि नारी, तां विना न पुरुषोऽपि विभाति।**
> **पादपेन रुचिमंचति शाखा शाखयैव सकलः किल सोऽपि ॥ ५.६१**
> **या प्रभूष्णुरपि भर्तरि दासीभावमावहति सा खलु कान्ता।**
> **कोपपंककलुषा नृषु शेषा योषितः क्षतजशोषजलूकाः ॥ ५.८१**

मृदुलता तथा सहजता भापा के माधुर्य गुण की सृष्टि करती है। शृंगार के अन्तर्गत भापा-माधुर्य का संकेत शृंगारचित्रण के प्रसंग मे किया जा चुका है। तृतीय सर्ग मे इन्द्र-ऋषभ-संवाद मे भी माधुर्य की छटा है। वीतराग ऋषभदेव को विवाहार्थ प्रेरित करने वाली इन्द्र की युक्तियो का माधुर्य, विषय तथा उद्देश्य के

४४. वही, १०.६.

सर्वथा अनुकूल है तथा ऋषभ की स्वीकृति-प्राप्ति के लिये उपयुक्त वातावरण का निर्माण करता है।

शठौ समेतौ दृढसख्यमेतौ तारुण्यमारौ कृतलोकमारौ।
भेत्तु यतेतां मम जातु चित्तदुर्गं महात्मन्निति मा स्म मंस्याः ।। ३.१६
यया दृशा पश्यसि देव रामा इमा मनोभूतरवारिधाराः।
तां पृच्छ पृथ्वीधरवंशवृद्धौ नैताः किमम्भोधरवारिधाराः ।। ३.१९

कहने की आवश्यकता नही, इन पद्यो का माधुर्य अनुप्रास तथा यमक की झंकृति पर आधारित है।

जैन कुमारसम्भव की भाषा की इस उदाहृत गुणात्मकता से यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि वह सर्वत्र अथवा सरलता से ओतप्रोत है। उसमे एक निश्चित सप्रयत्नता दिखाई देती है। जयशेखर की भाषा उसकी बहुश्रुतता को व्यक्त करती है। व्याकरणसम्मत विद्वत्तापूर्ण प्रयोगो से जयशेखर ने अपने शब्दशास्त्र के पाण्डित्य को बिम्बित करने का नियोजित प्रयत्न किया है। काव्य मे प्रयुक्त दुर्लभ शब्द, लुङ्., कर्मणि लिट्, क्वसु, कानच्, सन्, णमुल प्रत्ययो का प्रचुर साग्रह प्रयोग पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से प्रेरित है[४५]। कर्मणि लुङ्. के प्रति तो कवि का कुछ ऐसा पक्षपात है कि उसने काव्य मे आद्यन्त उसका व्यापक प्रयोग किया है जिससे कही-कही भाषा बोझिल हो गयी है। अप्रचलित धातुओं तथा अन्य रूपो की भी काव्य मे कमी नही है। यह अवश्य है कि विद्वत्ता-प्रदर्शन की यह प्रवृत्ति मर्यादित है। इस संयम के कारण ही जैनकुमारसम्भव की भाषा मे सहजता तथा प्रौढता का मनोरम मिश्रण है।

जयशेखर का शब्दचयन तथा गुम्फन, पर्यवेक्षणशक्ति तथा वर्णन कौशल प्रशंसनीय है। वह प्रत्येक प्रसंग को, यथोचित वातावरण मे, उसकी सम्पूर्ण

४५. लुङ्.—उपासिष्टीष्टताम् (२.६७), संगसीष्ट (३.६३), अजोषिष्ट (३.३५), न्यदिक्षत (३.४०), आयासिषम् (८.३१), मा सदत्पदम् (१०.५६) कर्मणि लुङ्.—दृगध्वनावामि (२.६,) आविरभावि शच्या (३.३९), प्रसन्नत्वमभाजि (४.५५), वज्रिणा द्रुतमयोजि (५.१), युवाक्षिमृगैस्तदरामि (६.२१), हारि मा तदिदमद्य निद्रया (१० ५२), अवेदि नेदीयसि देवराजे (११.५९)
कर्मणिलिट्—वैवधिकीबभूवे (३.५२), फलं जगे (४.२५), शरदोपतस्थे (६.६३,) स्वप्नैर्बभूवे (८ ४०) आदि
प्रत्यय—सिसत्यापयिषु (६.२२), जगन्वान् (८.४७), श्रवः पल्वलप्रम (१०.१४) आदि

विशेषताओ के साथ वर्णित करने मे समर्थ है। उसके कुछ वर्णनो मे भले ही यथार्थता का अभाव हो, वे प्रायः सर्वत्र कवित्व से तरलित है। सुमंगला के वासगृह तथा अष्टापद पर्वत के वर्णन जयशेखर की दो शैलियो के प्रतीक है। पहले मे सहजता का लालित्य है, दूसरे मे प्रौढता की गरिमा। सुमंगला के आवास के इस काल्पनिक वर्णन मे कवित्व की कमनीयता तथा भाषा की मधुरता दर्शनीय है।

यत्र नीलामलोल्लोचामुक्ता मुक्ताफलस्रजः ।
बभुर्नभस्तलाधारतारकालक्षकक्षया ।। ७ ३
सौवर्ण्यपुत्रिका यत्र रत्नस्तम्भेषु रेजिरे ।
अध्येतुमागता लीलां देव्या देवांगना इव ।। ७.४
यन्मणिक्षोणिसक्रान्तमिन्दु कन्दुकशंकया ।
आदित्सवो भग्ननखा न बालाः कमजीहसन् ।। ७.७
व्यालम्बिमालमास्तीर्णकुसुमालि समन्ततः ।
यददृश्यत पुष्पास्त्रशस्त्रागारधिया जनैः ।। ७.८

द्वितीय सर्ग में अष्टापद के वर्णन मे भाषा की प्रौढता तथा शैली की गम्भीरता उसके स्वरूप का व्यक्त करने मे सहायक है। कवि की प्रौढोक्ति ने उसे सशक्तता प्रदान की है। प्रस्तुत श्लेष मे अष्टापद को गजराज का रूप दिया गया है।

ददर्श दूरादथ दीर्घदन्तकं घनालिमाद्यत्कटकान्तमुन्नतम् ।
प्रलम्बकक्षायितनीरनिर्झरं सुरेश्वरोऽष्टापदमद्रिकुंजरम् ।। २.३०

योगीजन जब शरत् की रातो मे अष्टापद की स्फटिक-शिलाओ पर बैठ कर साधना करते है तो उन्हे भीतर और बाहर दोनो स्थानो पर 'परमतेज' के दर्शन होते हैं।

शरन्निशोन्मुद्रितसान्द्रकौमुदीसमुन्मदिष्णुस्फटिकांशुडम्बरे ।
निविश्य यन्मूर्द्धि साधकै रसाधिकैर्महोऽन्तर्बहिरप्यदृश्यत ।। २.३८

जैनकुमारसम्भव 'सूक्तिसुधा का सरोवर' है। उसमे विभिन्न प्रसगों में लगभग सौ भावपूर्ण लोकोक्तियां प्रयुक्त हुई है। वे बहुधा अर्थान्तरन्यास तथा दृष्टान्त के अवयव है। जयशेखर की सूक्तियां उसकी संवेदनशीलता, निरीक्षणशक्ति तथा लोकबोध को द्योतित करती है। कतिपय भावपूर्ण सूक्तिया यहां उद्धृत की जाती हैं।

१. यदुद्भवो यः स तदाभचेष्टित । २.६
२. स्याद् यत्र शक्तेरवकाशनाश. श्रीयेत शूरैरपि तत्र साम । ३ १५
३. न कोऽथवा स्वेऽवसरे प्रभूयते । ४.६६

४. जात्यरत्नपरीक्षायां बाला: किमधिकारिणः । ७.६८

५. अतित्वरा विघ्नकरीष्टसिद्धेः । ८.६२

अलंकारविधान

अलंकार भावाभिव्यक्ति के सशक्त साधन हैं। अलकारो के परिधान में सामान्य भाव भी विलक्षण सौन्दर्य से दीप्त हो जाते है। जयशेखर के अलंकार चमत्कृति के साधन नही हैं। वे काव्यसौन्दर्य को प्रस्फुटित करते हैं तथा भाव प्रकाशन को समृद्ध बनाते हैं। जैनकुमारसम्भव के अलंकार-प्रयोग की सहजता का यह प्रबल प्रमाण है कि उसके यमक और श्लेप भी दुरूह नही हैं। दसवें सर्ग मे सुमंगला की सखियों के नृत्य की मुद्राओ तथा विभिन्न दार्शनिक मतों के श्लिष्ट वर्णन मे श्लेप तथा दार्शनिक सिद्धान्तो की नीरसता ने कवित्व को अवश्य दबोच लिया है। जयशेखर की अलकारयोजना के दिग्दर्शन के लिये कतिपय उदाहरण आवश्यक है।

शब्दालंकरो मे कवि ने अनुप्रास तथा यमक का अत्यधिक प्रयोग किया है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि अनुप्रास तथा यमक काव्य मे किसी-न-किसी रूप मे सर्वत्र व्याप्त है। अनुप्रास तो प्राय' सभी अलंकारो मे अनुस्यूत है। अन्त्यानुप्रास का एक मधुर उदाहरण देखिए—

सम्पन्नकामा नयनाभिरामा' सदैव जीवत्प्रसवा अवामाः ।
यत्रोज्झितान्यप्रमदावलोका अदृष्टशोका न्यविशन्त लोकाः ।। १.२

जैनकुमारसम्भव का यमक भी कवि की सुरुचि का परिचायक है। अन्य कवि जहां यमक को अपनी विद्वता का वाहक बनाकर उससे कविता को अभिभूत कर देते हैं, वहा जयशेखर का यमक क्लिप्टता से मुक्त है। सुनन्दा के गुणो के प्रतिपादक इस पद्य में यमक की सरलता उल्लेखनीय है।

परान्तरिक्षोदकनिष्कलंका नाम्ना सुनन्दा नयनिष्कलंका ।
तस्मै गुणश्रेणिभिरद्वितीया प्रमोदपूरं व्यतरद् द्वितीया ।। ६.४६

जयशेखर ने अपने भापाधिकार के प्रदर्शन केलिये, यमक की भांति श्लेप का भी प्रचुर प्रयोग किया है। परन्तु उसके श्लेप की विशेपता यह है कि दसवे सर्ग के पूर्वोक्त प्रसग को छोड कर वह भी यमक के समान दुरूहता से अस्पृष्ट है। कम से कम वह अधिक कष्टसाध्य नहीं है। प्रस्तुत पद्य मे पावस तथा सुमंगला का श्लिप्ट विधि से एक साथ चित्रण किया गया है।

घनागमप्रीणितसत्कदम्बा सारस्वतं सा रसमुद्गिरन्ती ।
रजोव्रजं मंजुलतोपनीतछाया घ्नती प्रावृषमन्वकार्षीत् ।। ६ ४०

जै. कु. सम्भव मे अर्थालकार भावोद्बोध के साधन है। उपमा कवि का प्रिय

अलंकार है। उपमा वर्ण्य भाव को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर देती है। जयशेखर ने भावपूर्ण तथा अनुभूत उपमानो के द्वारा भावो की समर्थ अभिव्यक्ति की है। सुमंगला तथा सुनन्दा की दृष्टि की चंचलता पति के सामने इस प्रकार विलीन हो गयी जैसे अध्यापक के समक्ष छात्र की चपलता (४.७८)। सखियो ने सहसा उठकर सुमंगला को ऐसे घेर लिया जैसे भ्रमरो की पंक्ति कमलिनी को घेर लेती है (१०.३१)। जयशेखर के दार्शनिक तथा अमूर्त उपमान भी उपमित भाव को सहजता से प्रस्फुटित करते है। ऋषभ के विवाह-प्रसंग की एक उपमा उद्धृत की जाती है जिससे कवि के उपमा-कौशल का सम्यक् परिचय मिलता है। एक स्त्री, ऋषभ के गले में वस्त्र डालकर उन्हे विवाहमण्डप मे ऐसे ले गयी जैसे कर्मरूप पाप-प्रकृति आत्मा को भवसागर मे खीच ले जाती है।

प्रगृह्य कौसुम्भसिचा गलेऽबला बलात्कृषन्त्येनमनैष्ट मंडपम्।
अवाप्तवारा प्रकृतिर्यथेच्छया भवार्णवं चेतनमप्यधीश्वरम् ॥४ ७४

उपमा के अतिरिक्त काव्य मे दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास की भरमार है। इन दोनों अलकारो का आधार कवि का व्यावहारिक ज्ञान, लोकोन्मुखता तथा तीव्र निरीक्षण शक्ति है। जैनकुमारसम्भव को 'सूक्तिसागर' बनाने का श्रेय दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास को ही है। निद्रा-प्रशसा मे दृष्टान्त की मार्मिकता उल्लेखनीय है।

दृष्टनष्टविभवेन वर्ण्यते भाग्यवानिति सदैव दुर्विधः।
जन्मतो विगतलोचनं जनं प्राप्तलुप्तनयनः पनायति ॥ १०.५१

जैनकुमारसम्भव मे अर्थान्तरन्यास का कदाचित् सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। काव्य मे अनेक रोचक तथा भावपूर्ण अर्थान्तरन्यास मिलते है। रात्रि के प्रस्तुत वर्णन मे कवि की कल्पना ने अर्थान्तरन्यास का बाना धारण किया है। यहा पूर्वार्द्ध के विशेष कथन की पुष्टि उत्तरार्द्ध की सामान्य उक्ति से की गयी है।

तितांसति श्वैत्यमिहेन्दुरस्य जाया निशा दित्सति कालिमानम्।
अहो कलत्रं हृदयानुयायि कलानिधीनामपि भाग्यलभ्यम् ॥ ६.६

ऋषभ के सौन्दर्य-वर्णन के अन्तर्गत इस पद्य मे स्त्रियो की दृष्टि का उनके (ऋषभ के) विविध अगो में क्रम से विहार करने का वर्णन होने के कारण 'पर्याय' अलकार है।

भ्रान्त्वाखिलेंऽगेऽस्य दृशो वशानां प्रभापयोऽक्षिप्रपयोर्निपीय।
छायां चिरं भ्रूलतयोरुपास्य भालस्थले संदधुरध्वगत्वम् ॥ १.५९

रूपक, उत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्ग, विरोध, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, असगति, विभावना, अनुमान, तद्गुण, उदात्त, उल्लेख, सदेह, प्रहेलिका, समासोक्ति, स्वभावोक्ति कवि के अन्य प्रिय अलकार है। इनमे कुछ पूर्ववर्ती प्रसगो मे उदाहृत

किये जा चुके है।

छन्दयोजना

जैनकुमारसम्भव का छन्द-विधान शास्त्र के अनुकूल है। इसके प्रत्येक सर्ग मे एक छन्द की प्रधानता है। उपजाति कवि का प्रिय छन्द है। काव्य मे इसीकी प्रधानता है। जैनकुमारसम्भव मे उपजाति, अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रथोद्धता, वशस्थ, शालिनी, वैश्वदेवी, स्वागता, द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, मालिनी, पृथ्वी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, प्रहर्षिणी, हरिणी तथा शार्दूलविक्रीडित ये अठारह छन्द प्रयुक्त है।

समाजचित्रण

जैनकुमारसम्भव का वास्तविक सौन्दर्य इसके वर्णनो मे निहित है। इनमे एक ओर कवि का सच्चा कवित्व मुखरित है और दूसरी ओर जीवन के विभिन्न पक्षो से सम्बन्धित होने के कारण इनमे समसामयिक समाज की चेतना का स्पन्दन है। इन वर्णनो मे तत्कालीन समाज की व्यवस्था, खान-पान, आभूषण-प्रसाधन आदि से सम्बन्धित उपयोगी सामग्री निहित है। विवाह के मुख्य प्रतिपाद्य होने के नाते जैनकुमारसम्भव मे तत्कालीन वैवाहिक परम्पराओ का विस्तृत निरूपण हुआ है। यद्यपि काव्य मे वर्णित ये लोकाचार हेमचन्द्र के प्रासगिक विवरण[४६] पर आधारित है, इन्हे समाज मे प्रचलित विवाह-परम्पराओ का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

वर-वधू के सौन्दर्य को परिष्कृत करने के लिए विवाह से पूर्व उनका प्रसाधन किया जाता था। वरयात्रा के प्रस्थान के समय नारियां मगलगान करती थी। वरपक्ष के कुछ लोग, हाथ मे खुले शस्त्र लेकर, वर की अगवानी करते थे। वर के मण्डपद्वार पर पहुंचने पर एक व्यवहार-कुशल स्त्री, चन्दन, दूब, दही आदि के अर्घ्य से उसका स्वागत करती थी। अवसर-सुलभ हास-परिहास स्वभाविक था। वही दो स्त्रियां मथानी तथा मूसल से उसके भाल का तीन बार स्पर्श करती थी[४७]। तब वर के सामने नमक तथा आग से भरे दो सिकोरे रखे जाते थे, जिन्हे वह पावों से कुचल देता था[४८]। तत्पश्चात् उसे गले मे वस्त्र डाल कर मण्डप मे ले जाते थे, जहां उसे वधू के सम्मुख बैठाया जाता था। वधू घूंघट करती थी। वही पाणिपीडन होता था। तदनन्तर तारामेलपर्व विधि सम्पन्न होती थी, जिसमे वर-वधू एक-दूसरे

४६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १. २. ८२७-८७९

४७. तुलना कीजिए—मथा चुचुम्ब विम्बौष्ठी त्रिर्भालं जगत्पतेः। वही, १.२.८४१

४८. तटत्त्रटिति कुर्वाणं लवणानलगर्भितम्। सरावसम्पुटं द्वारि मुमुचुर्मण्डपस्त्रियः॥ वही, १.२.८३२

को निर्निमेप दृष्टि से देखते थे। हेमचन्द्र की कवित्वपूर्ण भाषा में वे नेत्रों के रास्ते एक-दूसरे हृदय मे उतर जाते थे[४९]। वर-वधू के वस्त्राचलों की गांठ बांध कर उनके अविचल प्रेम की कामना की जाती थी। इसके बाद उन्हे स्वर्णकलशो से सज्जित वेदी पर ले जाया जाता था, जहा वे मन्त्रपूत अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे। विवाह-विधि सम्पन्न होने पर वर हाथ से वधू के मुख का स्पर्श करता था तथा उसे भोजन कराता था, जो इस तथ्य का प्रतीक था कि नारी का निर्वाह पुरुष के अधीन है। वधू वर को भोजन भेट करती थी, जो इस बात का द्योतक था कि प्रतिभासम्पन्न पुरुष भी भोजन के विषय मे नारी पर आश्रित है। भोजन के बाद वस्त्रबन्धन खोल दिया जाता था। समूची विधियां सम्पन्न होने पर बारात को विदा किया जाता था। आजकल की तरह पुरनारियां समस्त गृहकार्य छोड़ कर बारात को देखने के लिए उमड पडती थी[५०]।

दाम्पत्य जीवन के सुखमय यापन के लिए वर पक्ष के वृद्धजन वर तथा वधू को पृथक्-पृथक् उपदेश देते थे। इन्द्र ने ऋषभ को तथा शची ने वधुओं को जो उपदेश दिया था, उसमें पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों एवं कर्त्तव्यों का मार्मिक प्रतिपादन है, जो शाश्वत सत्य की भांति आज भी नवविवाहित प्रेमी युगलों के लिये उपयोगी तथा ग्राह्य है। दाम्पत्य का आनन्द समन्वय तथा समर्पण मे निहित है। पति-पत्नी वृक्ष तथा शाखा के समान अन्योन्याश्रित है। वृक्ष के बिना शाखा निराधार है और शाखा के बिना वृक्ष निरा ठूठ है[५१]।

४९. कनीनिकासु तेऽन्योन्यं रेजिरे प्रतिबिम्बिताः।
प्रविशन्त इवान्योन्यं हृदयेष्वनुरागतः॥ वही, १.२.८५२

५०. जैनकुमारसम्भव, ४.४५-७६; ५.७-४७

५१. वही, ५.६१

२. काव्यमण्डन : मण्डन

काव्यमण्डन[1] आलोच्य युग का कदाचित् एक मात्र ऐसा शास्त्रीय महाकाव्य है, जिसका रचयिता कोई दीक्षित साधु नही अपितु मण्डपदुर्ग का एक श्रावक, मन्त्री मण्डन है। इसीलिये यह साम्प्रदायिक आग्रह अथवा धर्मोत्साह के संकीर्ण उद्देश्य से प्रेरित नही है। तेरह सर्गो के इस काव्य मे महाभारत का एक लघु प्रसंग, महाकाव्योचित विस्तार के साथ, काव्यशैली मे वर्णित है। काव्यमण्डन की विशेपता यह है कि इसमे जैनेतर कथानक को उसके मूल परिवेश मे प्रस्तुत किया गया है। अन्य जैन काव्यकारो की भाँति मण्डन ने उसे जैन धर्म के रंग मे रंगने का प्रयत्न नही किया। काव्य का समूचा वातावरण तथा प्रकृति उसके उपजीव्य ग्रन्थ के अनुकूल है।

काव्यमण्डन का महाकाव्यत्व

काव्यमण्डन की रचना मे परम्परागत शास्त्रीय मानदण्डों का पालन किया गया है, यह कथन तथ्य का मात्र पुनराख्यान है। किन्तु काव्यमण्डन की कुछ तात्त्विक विशेपताएँ उल्लेखनीय हैं क्योकि वे सर्वसुलभ नही है। यह वहुनायक काव्य हैं। धीरोदात्त गुणो से सम्पन्न पाच पाण्डवकुमार इसके महान् तथा तेजस्वी नायक हैं। इस दृष्टि से काव्यमण्डन की तुलना रघुवश से की जा सकती है, जिसमे इक्ष्वाकु-वंश के अनेक शासक नायक के पद पर आसीन हैं। काव्यमण्डन उन अल्पसंख्यक जैन काव्यो मे है, जो अपने कथानक के लिये पंचम वेद (महाभारत) के ऋणी हैं। परम्परागत चतुर्वर्ग मे से मण्डन की रचना का उद्देश्य 'अर्थ' है। प्रस्तुत काव्य के परिवेश मे 'अर्थ' का तात्पर्य लौकिक अभ्युदय है। द्रौपदी को प्राप्त करने के पश्चात् पाण्डव घुमन्तू जीवन छोडकर पुन अपनी राजधानी हस्तिनापुर लौट जाते हैं। वस्तुव्यापार के विविध विस्तृत वर्णन वर्ण्यविपय की अपेक्षा वर्णन-प्रकार को अधिक महत्त्व देने वाली प्रवृत्ति के द्योतक हैं। छन्दो के विधान मे मण्डन को शास्त्रीय लक्षणो की परिधि मान्य नही है। इसके अधिकाश सर्गो मे विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। इससे महाकाव्य के तात्त्विक स्वरूप मे तो कोई अन्तर नही आता किन्तु छन्दवाहुल्य कथा-प्रवाह मे अवांछनीय अवरोध उत्पन्न करता है।

काव्यमण्डन के सीमित इतिवृत्त मे भी नाट्यसन्धियो की सफल योजना हुई है, जिनका लक्षणकारो ने कथानक को सुगठित वनाने के लिये निश्चित विधान किया

१. श्रीहेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली, नं. १७, सम्वत् १९७६.

है। प्रथम सर्ग में अन्य वीरों के साथ पाण्डवकुमारों के विलक्षण शौर्य के वर्णन में मुख सन्धि मानी जा सकती है, क्योकि यहां बीजरूप अर्थ प्रकृति वर्तमान है। द्वितीय से चतुर्थ सर्ग तक परिवर्तनशील ऋतुओ से पाण्डवों के प्रमुदित होने तथा दुर्योधन की ईर्ष्या एवं कपटनीति से उनके लाक्षागृह मे अग्निज्वाला मे फसने किन्तु भूमिविवर से बच निकलने के वर्णन मे बीज का कुछ लक्ष्य तथा कुछ अलक्ष्य रूप में विकास होता है। अतः यहां प्रतिमुख सन्धि है। पांचवे से नवे सर्ग तक गर्भ सन्धि है। क्योकि यहां तीर्थाटन के द्वारा समय-यापन करने से पाण्डवो को फल प्राप्ति की आशा होती है परन्तु दनुज किर्म्मीर द्वारा उन्हे बन्दी बना कर कुलदेवी को उनकी बलि देने के लिये तैयार होने तथा किर्म्मीर एवं बकासुर के साथ भीम के युद्ध की घटनाओ से उन्हे चिन्ता होती है। आशा-निराशा का यह द्वन्द्व गर्भसन्धि की सृष्टि करता है। दसवें से बारहवे सर्ग तक ब्राह्मणवेश मे अर्जुन के द्वारा राधायन्त्र को बीध कर द्रौपदी को प्राप्त करने से फलप्राप्ति की सम्भावना का गर्भसन्धि की अपेक्षा अधिक विकास होता है, किन्तु हताश कौरवो से युद्ध करना अभी शेष है जिससे कुछ सन्देह बना रहता है। अत. यहा विमर्श सन्धि है। तेरहवे सर्ग मे निर्वहण सन्धि विद्यमान है। यहां कृष्णमिलन के पश्चात् पाण्डव द्रौपदी के साथ सहर्ष हस्तिनापुर लौट जाते है, जो इस काव्य का फलागम है। भाषागत प्रौढता, शैली की गम्भीरता, विद्वत्ता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति, युगजीवन का चित्रण आदि तत्त्व काव्यमण्डन के महाकाव्यत्व को पुष्ट करते है।

कविपरिचय तथा रचनाकाल

मण्डन ने काव्यमण्डन तथा अपनी अन्य कृतियों मे अपनी वंशपरम्परा, धार्मिक वृत्ति आदि की पर्याप्त जानकारी दी है तथा स्थितिकाल का भी एक महत्त्वपूर्ण सकेत किया है। उसके जीवनवृत्तपर आधारित महेश्वर के काव्यमनोहर मे भी मण्डन तथा उसके पूर्वजो का विस्तृत एव प्रामाणिक इतिहास निबद्ध है। उक्त स्रोतो के अनुसार काव्यमण्डन का कर्त्ता श्रीमाल वंश का भूषण था। उसका गोत्र सोनगिर था तथा वह खरतरगच्छ का अनुयायी था। उसके पितामह झंझण के छह पुत्र थे —चाहड, बाहड, देहड़, पद्म, पाहुराज तथा कोल। काव्यकार मण्डन वाहड़ का द्वितीय तथा कनिष्ठ पुत्र था[२]। मण्डन को नयकौशल तथा मन्त्रित्व उत्तराधिकार में

२. काव्यमण्डन, १३-५४ तथा

श्रीमद्वाहडनन्दनः समधरोऽभूद्भाग्यवान्सद्गुणोऽ
स्त्येतस्यावरजो रजोविरहितो भूमण्डनं मण्डन.।
श्रीमान्सोनगिरान्वयः खरतरः श्रीमालवंशोद्भवः
सोऽकार्षीत्किल काव्यमण्डनमिदं विद्वत्कवीन्द्रप्रिय ।। १३-५५

चम्पूमण्डन, ७-९, कादम्बरीमण्डन, १.४-८, काव्यमनोहर, ९.२४., शृंगारमण्डन, १०५-१०७.

मिले थे। आभू से लेकर झंझण संघवी तक उसके समस्त पूर्वज देश के विभिन्न शासकों के मन्त्री रह चुके थे[३]।

काव्य के वातावरण को देखते हुए मण्डन की धार्मिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भ्रान्ति हो सकती है तथा पाठक उसे भागवत अथवा शैव धर्म का अनुयायी मान सकता है। काव्य मे जिस तन्मयता से पुराणप्रसिद्ध तीर्थों, नदियों तथा शंकर के विभिन्न रूपों का स्तुतिपरक वर्णन किया गया है, उससे इस धारणा को बल मिलता है। परन्तु मन्डन ने जिनमत मे अपनी दृढ आस्था व्यक्त की है। प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य मे तथा अन्यत्र भी उसने निर्भ्रान्त शब्दो मे जिनेश्वर की वन्दना की है तथा अलकार मण्डन मे स्वयं को 'जिनभक्त' कह कर भ्रम का निवारण किया है[४]। अतः मण्डन के जैन होने मे सन्देह नही रह जाता। उसके सभी पूर्वज निष्ठावान् जैन श्रावक थे जिन्होने तीर्थयात्रा आदि सुकृत्यो से प्रभूत ख्याति अर्जित की थी[५]। काव्यमण्डन के मंगलाचरण मे जिस 'धाम' तथा 'परेश' की स्तुति की गयी है, उससे नयचन्द्र की भाति मण्डन को भी 'परम जिन' अभिप्रेत है। काव्य में अन्यत्र भी प्राणिहिंसा तथा परपीडन का विरोध करके उसने अपनी अहिंसावादी जैन वृत्ति का परिचय दिया है। अत काव्यकार मण्डन को 'कामसमूह' (१४५७ ई. मे रचित) के प्रणेता मन्त्री मण्डन से अभिन्न मानना भ्रामक होगा क्योकि वह जाति से नागर ब्राह्मण था तथा उसके पितामह का नाम नारायण था और वह श्रीमाल वंश मे नही प्रत्युत भामल्लवंश मे उत्पन्न हुआ था।

श्रीमाल कुल ने मालव के साहित्यिक तथा राजनीतिक जीवन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उसमें मण्डन, पुजराज तथा मेघ जैसे साहित्यकार-प्रशासक हुए है। मण्डन नीतिकुशल मन्त्री तथा बहुमुखी विद्वान् था। व्याकरण, अलंकारशास्त्र, काव्य, संगीत आदि साहित्य के विभिन्न अंगो को उसकी प्रतिभा का आलोक प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत काव्य के अतिरिक्त मण्डन की पाच अन्य रचनाएं प्रकाशित हैं। चम्पूमण्डन के सात पटलो मे भगवान् नेमिनाथ का उदात्त चरित वर्णित है। मालव नरेश के अनुरोध पर रचित कादम्बरीमण्डन बाणभट्ट की कादम्बरी का पद्यबद्ध सार है। चन्द्रविजयप्रबन्ध मे चन्द्रोदय से चन्द्रास्त तक चन्द्रमा की विभिन्न अवस्थाओ का चारु चित्रण किया गया है। अलकारमण्डन के पांच परिच्छेदों मे साहित्यशास्त्र का

३. काव्यमनोहर, ६.१-४७

४. काव्यमण्डन, १३.५२,५६ तथा अलंकारमण्डन, ५.७५

इति जिनभक्तेन मण्डनेन विनिर्मिते।
पंचमोऽयं परिच्छेदो जातोऽलंकारमण्डने ॥

५. काव्यमनोहर, ६.२१-३७.

निरूपण हुआ है। शृंगारमण्डन १०८ शृंगारिक पद्यों का संग्रह है। संगीतमण्डन तथा उपसर्गमण्डन मन्त्री मण्डन की दो अन्य कृतियां हैं, जो अभी तक अप्रकाशित है। उसके कविकल्पद्रुम का उल्लेख 'कैटेलोगस कैटेलोगरम' मे हुआ है किन्तु यह उपलब्ध नहीं है।

जिस हस्त प्रति के आधार पर काव्यमण्डन के वर्तमान संस्करण का प्रकाशन हुआ है, वह सम्वत् १५०४ (१४४७-४८ ई०) मे लिखी गयी थी[6]। कादम्बरीमण्डन; चम्पूमण्डन, अलंकारमण्डन तथा शृंगारमण्डन की प्रतियो का लिपिकाल भी यही है[7]। काव्यमण्डन के लेखक ने शृगारमण्डन मे अपने लिये 'सारस्वतकाव्यमण्डनकविः'[8] उपाधि का प्रयोग किया है। इससे प्रतीत होता है कि मण्डन ने सारस्वतमण्डन ग्रन्थ की भी रचना की थी। सारस्वतमण्डन की दो प्रतिया भण्डारकर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान में सुरक्षित है, जिनमें से एक सम्वत् १६३२ (१५७६ ई.) मे लिखी गयी थी। उक्त पाण्डुलिपि के आदि तथा अन्त से स्पष्ट है कि सारस्वतमण्डन का लेखक तथा काव्यकार मण्डन दोनो एक ही व्यक्ति है। इस प्रकार मण्डन की छह कृतियो की पाण्डुलिपियो का प्रतिलिपिकाल ज्ञात है। काव्यमण्डन तथा पूर्वोक्त चार प्रकाशित ग्रन्थो की प्रतिलिपियां एक ही वर्ष, सन् १४४८, मे की गयी थी। स्पष्टतः काव्यमण्डन की रचना सन् १४४८ से पूर्व हो चुकी थी। स्वयं कवि के कथनानुसार काव्यमण्डन की रचना उस समय हुई थी जब मण्डपदुर्ग पर यवननरेश आलमसाहि का शासन था। यह यवन शासक अतीव प्रतापी तथा शत्रुओ के लिये साक्षात् आतक था।

अस्त्येतन्मण्डपाख्यं प्रथितमरिचमूदुर्ग्रहं दुर्गमुच्चै-
र्यस्मिन्नालमसाहिर्निवसति बलवान्दुःसहः पार्थिवानाम्।
यच्छौर्येरमन्दः प्रबलधरणिभृत्सैन्यवन्याभिपाती
शत्रुस्त्रीवाष्पवृष्ट्याप्यधिकतरमहो दीप्यते सिच्यमानः॥[9]

श्री परशुराम कृष्ण गोडे के विचार मे मालव के यवन शासको के कालानुक्रम को देखते हुए अलपखान अपरनाम होशगगोरी (१४०५—१४३२ ई.) ही एकमात्र ऐसा शासक है जिसे मण्डन का आश्रयदाता आलमसाहि माना जा सकता है[10]। सन्

६. सम्वत् १५०४ वर्षे शाके १३६९ प्रवर्तमाने.......भाद्रशुदि पंचम्यां तिथौ बुधदिने पुस्तकमलेखि। काव्यमण्डन के अन्त में लिपिकार की टिप्पणी।

७. द्रष्टव्य—इन ग्रन्थों की लिपिकार की अन्त्य टिप्पणियां।

८. य सारस्वतकाव्यमण्डनकविर्दारिद्र्यभूभृत्पविः। शृंगारमण्डन, १.७.

९. काव्यमण्डन, १३-५३. शृंगारमण्डन की रचना भी आलमसाहि (अलपखान) के शासनकाल में हुई थी। द्रष्टव्य—पद्य १०३-१०४।

१०. जैन एण्टीक्वेरी, ११.२, पृ २५-२६, पादटिप्पणी १।

१४०८ के करीब अलपखान अपने पिता दिलावरखान को विष देकर मालव की गद्दी पर आसीन हुआ था। सन् १४११ तथा १४१८ मे होशंग (अलपखान) ने निकटवर्ती गुजरात पर दो बार आक्रमण किया किन्तु अहमदशाह के रणकौशल ने उसे भग्नमनोरथ कर दिया। १४१९ ई मे अहमदशाह से पुनः पराजित होकर उसे मण्डपदुर्ग में शरण लेनी पडी थी। यदि आलमसाहि की उक्त पहचान ठीक है तो १४१९ तथा १४३२ ई० की मध्यवर्ती अवधि को काव्यमण्डन का रचनाकाल माना जा सकता है[११]।

कथानक

काव्यमण्डन का कथानक महाभारत के एक प्रारम्भिक प्रसग पर आधारित है, जिसे कवि ने तेरह सर्गो मे प्रस्तुत किया है। प्रथम सर्ग मे मंगलाचरण के पश्चात् भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कौरव वीरों तथा पाण्डव कुमारो के शौर्य एव यश का वर्णन है। यही पाण्डवो के प्रति धृतराष्ट्र के पुत्रो की ईर्ष्या का प्रथम संकेत मिलता है। द्वितीय तथा तृतीय सर्ग का मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नही है। इनमे परम्परागत ऋतुओ का वर्णन किया गया है। चतुर्थ सर्ग मे वीर पाण्डवो के गुणो को सहन करने मे असमर्थ दुर्वुद्धि कौरव उन्हे लाक्षागृह मे भस्मीभूत करने का षड्यन्त्र वनाते है। सरलहृदय पाण्डव, माता सहित, जतुगृह मे रहने का निमन्त्रण स्वीकार कर लेते है। देखते-देखते, रात्रि को लाक्षागृह धू-धू करके जल उठता है, किन्तु पाण्डव भूमि-मार्ग से सकुशल निकल जाते है। भीम कौरवो को अपने क्रोध की अग्नि मे शलभो की तरह भस्म करने का सकल्प करता है परन्तु युधिष्ठिर की शान्ति का मेघ उसे प्रज्वलित होने से पूर्व ही शान्त कर देता है। धर्मराज के अनुरोध पर वे प्रतीकार की भावना छोड कर, समय-यापन करने के लिये तीर्थयात्रा को चले जाते है। पांचवे से आठवे सर्ग तक चार सर्गों मे पाण्डवो के तीर्थाटन का विस्तृत वर्णन है। इन सगो मे गंगा, यमुना, शिप्रा, नर्मदा, कावेरी आदि विभिन्न नदियो, काशी, प्रयाग, महाकाल, अमरकण्टक, गया, नृसिहक्षेत्र आदि तीर्थो तथा उनके अधिष्ठाता देवो—अष्टमूर्ति, जटाम, विश्वनाथ शिव का पुराणो की तरह किन्तु अलकृत शैली में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक वर्णन किया गया है। छठे सर्ग मे मायावी दनुज किर्म्मीर भीम की अनुपस्थिति मे पाण्डवो तथा उनकी माता कुन्ती को महाभिचार से अचेत वना कर उन्हे कुलदेवता को वलि देने के लिये वाध ले जाता है। हिडिम्वा भीम को तत्काल कुलदेवी के आयतन मे पहुँचा देती है, जहा वह किर्म्मीर को मार कर अपने

११. मण्डन के स्थितिकाल के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये—पी.के. गोडे—द प्राइममिनिस्टर ऑफ मालव एण्ड हिज वर्क्स, जैन एण्टीक्वेरी, ११.२, पृ २५-३४।

मरणासन्न भाइयों तथा माता को मुक्त कर देता है। नवे सर्ग मे पाण्डव एकचक्रा नगरी मे जाकर प्रच्छन्न वेश मे एक दरिद्र ब्राह्मण के घर में निवास करते है। वहाँ भीम माता की प्ररेणा से नरभक्षी बकासुर को मार कर दीन ब्राह्मणी के इकलौते पुत्र की रक्षा करता है तथा नगरवासियों को सदा के लिये उस क्रूर असुर के आतंक से मुक्त कर देता है। द्रौपदी के स्वयंवर का समाचार पाकर पाण्डव पचाल देश को चल पड़ते है। दसवे सर्ग में स्वयम्वर-मण्डप, आगन्तुक राजाओं तथा सूर्यास्त, रात्रि आदि का वर्णन है। द्रुपद कृष्ण को सूचित करता है कि मैं अपनी रूपसी कन्या वाणी से पहले ही वीर अर्जुन को दे चुका हूं। यदि तुम्हारी कृपा से वे जीवित हों तो स्वयम्वर मे वे अवश्य आयेगे[१२]। श्रीकृष्ण द्रुपदराज को विश्वास दिलाते है कि पाण्डव सुरक्षित है। ग्यारहवे सर्ग में द्रौपदी स्वयंवर सभा मे प्रवेश करती है। यहां उसके सौन्दर्य का सविस्तार वर्णन किया गया है। बारहवे सर्ग मे पाण्डव ब्राह्मणवेश मे मण्डप मे प्रवेश करते है। अभ्यागत राजा पहले उन्हे स्वयम्वर देखने को लालायित कुतूहली ब्राह्मण समझते हैं किन्तु उनके वर्चस्व को देख कर उनकी वास्तविकता पर सन्देह करने लगते है। धृष्टद्युम्न औपचारिक रूप से स्वयम्वर की शर्त की घोषणा करता है। जहा तथाकथित प्रतापी राजा शर्त की पूर्ति मे असफल रहते है, वहां अर्जुन लक्ष्य को बींध कर सबको विस्मित कर देता है। दुर्योधन ब्राह्मणकुमार को अर्जुन समझ कर द्रुपद को उसके विरुद्ध भडकाता है और उसे द्रौपदी को किसी अन्य उपयुक्त वर को देने को प्रेरित करता है। इस बात को लेकर तेरहवे सर्ग मे दोनो मे युद्ध ठन जाता है। अर्जुन अकेला ही भुजबल से शत्रुपक्ष को परास्त करता है। अपने अभिन्न सखा तथा मार्गदर्शक कृष्ण से चिरकाल बाद मिलकर पाण्डवो को अपार हर्ष हुआ। वासुदेव पाण्डवों को द्रुपदराज से मिलाते है तथा उसे ब्राह्मण कुमारो की वास्तविकता से अवगत करते है। पाण्डव, पत्नी तथा माता के साथ हस्तिनापुर लौट आते हैं। यही काव्य समाप्त हो जाता है।

इस संक्षिप्त कथानक को मण्डन ने अपने वर्णन कौशल से तेरह सर्गो का विशाल आकार दिया है। इस दृष्टि से ऋतुओ, तीर्थो, नदियो, युद्धो आदि के विपुल वर्णन विशेष उपयोगी सिद्ध हुए हैं। ऐसी स्थिति में मूल कथावस्तु स्वभावत· गौण बन गयी है। काव्यमण्डन मे कथानक का सहज प्रवाह दृष्टिगत नही होता। द्वितीय तथा तृतीय सर्ग परम्परागत ऋतुओ के वर्णन पर व्यय कर दिये गये है। चतुर्थ सर्ग

१२. मया दत्ताऽनवद्यांगी द्रौपदीयं सुमध्यमा।
पार्थाय सत्यया वाचा पूर्वं विक्रमशालिने ॥ १०.३३
त्वत्कृपात· कथंचिच्च जीवेयुर्यदि तेऽनघाः।
कुतश्चिच्च समेष्यन्ति राधायन्त्रं तत· कृतम् ॥ १०.३६।

मे कथावस्तु एक पग आगे वढती है, किन्तु उसे तुरन्त चार सर्गों के सेतुवन्ध से जूझना पडता है। नवे सर्ग से कथानक मन्थर गति से आगे वढने लगता है पर वह पुन स्वयम्वर तथा युद्ध के व्यूह मे उलझ जाता है। वस्तुत. मण्डन वर्ण्य विषय की अपेक्षा वर्णन-शैली को महत्त्व देने वाली तत्कालीन काव्य-परम्परा का वन्दी है। उससे मुक्त होना शायद सम्भव भी नही था। सचाई तो यह है कि कालिदासोत्तर महाकाव्य कथाप्रवाह की दृष्टि से वहुत कच्चे है। मण्डन के लिए कथानक एक सूक्ष्म ततु है जिसके चारो ओर उसने अपना शिल्पकौशल प्रदर्शित करने के लिए वर्णनो का जाल वुन दिया है।

काव्यमण्डन का आधारस्रोत

जैन मतावलम्बी कवि मण्डन ने महाभारत के एक प्रकरण को काव्य का विषय वना कर तथा उसे उसके मूल परिवेश मे निरूपित करके निस्संदेह साहस का काम किया है। काव्यमण्डन के इतिवृत्त का आधार महाभारत का आदिपर्व (१ १४०-५०, १५६-६३, १९२-९८, २०५) है। किर्मीरवध की घटना वनपर्व मे वर्णित है। मण्डन ने महाभारत के इतिवृत्त को अपने काव्य के कलेवर तथा सीमाओ के अनुसार काट-छांट कर ग्रहण किया है, यद्यपि इस प्रक्रिया मे कुछ सार्थक तथ्यो तथा घटनाओ की उपेक्षा हो गयी है। लाक्षागृह के निर्माता पुरोचन तथा वारणावत का उल्लेख न करना इसी कोटि की चूक है। काव्य मे पुरोचन तथा छह अन्य स्थानापन्न व्यक्तियो के जलने के वर्णन का भी अभाव है,[13] हालांकि कौरवों को पाण्डवकुमारो के नष्ट होने का विश्वास दिलाने के लिए यह अनिवार्य था। यह वात भिन्न है कि काव्य मे कौरवो को फिर भी अपने षड्यन्त्र की सफलता पर पूरा विश्वास है।[14] पाण्डवो का तीर्थाटन तथा विभिन्न तीर्थो का क्रमवद्ध वर्णन महाभारत मे उपलव्ध नही है। आदि पर्व मे, इस प्रसंग मे, केवल अर्जुन के तीर्थविहार का सक्षिप्त वर्णन है।[15] महाभारत की भाँति काव्यमण्डन मे भी पाण्डव एकचक्रा नगरी मे विपन्न व्राह्मण के घर मे निवास करते है और कुन्ती व्राह्मण के इकलौते पुत्र को वकासुर से वचाने के लिए अपने पाच पुत्रो मे से एक की वलि देने का प्रस्ताव

१३. आयुधागारमादीप्य दग्ध्वा चैव पुरोचनम्।
षट् प्राणिनो निधायेह द्रवामोऽनभिलक्षिताः॥ महाभारत (मूल, गीता प्रेस), १.१४७.४

१४. पंचैव दग्धा. किल पाण्डवास्ते लाक्षालये कर्मवशादवश्यम्।
प्रत्यक्षमस्माभिरपीक्षितानि ज्वालार्धदग्धानि वपूषि तेषाम्॥ काव्यमण्डन, १२.३५

१५. महाभारत (पूर्वोक्त), १.२१२-२१६

करती है। महाभारत मे यह प्रस्ताव ब्राह्मण से किया गया है जबकि काव्यमण्डन में यही प्रस्ताव पुत्र के भावी वध से विकल ब्राह्मणी को किया जाता है।[16] महाभारत मे पाण्डव द्रुपद की राजधानी मे कुम्भकार की शाला मे ठहरते है। काव्यमण्डन मे इसका प्रत्यक्ष उल्लेख नही है। मण्डन के अनुसार द्रौपदी-स्वयम्वर की शर्त तैल में छवि देखकर राधायन्त्र को बीधना था। स्पष्टत. मण्डन ने महाभारत की कठिन शर्त को सरल बनाने का प्रयत्न किया है क्योकि महाभारत मे पांच तीरों से यन्त्र बीधने का उल्लेख है।[17] प्राप्त वस्तु (द्रौपदी) को बिना देखे उसे पांचों भाइयो मे बांटने के कुन्ती के आदेश की चर्चा महाभारत तथा काव्यमण्डन दोनो में हुई है।[18] महाभारत मे द्रुपदराज व्यास की प्रेरणा से द्रौपदी का पांच पाण्डव कुमारो से विधिवत् विवाह करते है। काव्यमण्डन मे व्यास की भूमिका का निर्वाह वासुदेव कृष्ण करते है।[19] काव्यमण्डन मे श्रीकृष्ण की कृपा से ही पाण्डव लाक्षागृह से सकुशल बच निकलने में सफल होते हैं। महाभारत मे इसका श्रेय महात्मा विदुर की दूरदर्शिता को दिया गया है।[20]

काव्यमण्डन के इतिवृत्त मे किर्म्मीर-वध की घटना को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। महाभारत मे इसका मूल कथा से कोई सम्बन्ध नही है। इसीलिए इसका वर्णन आदिपर्व से पृथक् वन पर्व मे किया गया है। दनुज किर्म्मीर अपने भाई बक तथा मित्र हिडिम्ब के वध तथा हिडिम्बा के अपहरण से क्रुद्ध होकर भीम पर आक्रमण करता है और मारा जाता है।[21] काव्यमण्डन मे भीम अपने अपहृत भाइयो तथा माता को किर्म्मीर के चंगुल से बचाने के लिये उसका वध करता है।[22] संभवतः भीम की प्रचण्डता तथा दुर्द्धर्षता को कथानक में सविशेष रेखांकित करने के लिए मण्डन ने इस प्रसंग को अपने इतिवृत्त मे आरोपित किया है। काव्य मे वस्तुतः 'किर्म्मीरान्तक' (१२.७१) संबोधन के द्वारा भीम के इस कृत्य तथा शौर्य का अभिनन्दन किया गया है।

१६. महाभारत, १.१६०.३, काव्यमण्डन, ६.८।

१७. राधायन्त्रोपरिष्टात्सुघटितशफरीं तैलपूर्णे कटाहे।
……हन्याद्धनुषि कृतगुरुश्चक्षुषैकेषुणालं। काव्यमण्डन, १२.१८
छिद्रेण यन्त्रस्य समर्पयध्वं शरै. शितैर्व्योमचरैर्दशार्धैः। महाभारत, १.१८४.३५

१८. काव्यमण्डन, १३.१६, महाभारत, १.१६२.२।

१६. महाभारत, १.१६७.४, काव्यमण्डन, १६.३७,३६।

२०. काव्यमण्डन, ४.१३, महाभारत, १.१४६.१७।

२१ महाभारत, ३.११.३०,३२।

२२. काव्यमण्डन, ७.३७।

रसचित्रण

पाण्डवों का जीवन मानव के उत्थान-पतन की दर्पपूर्ण किन्तु करुण कहानी है। अपने वैविध्यपूर्ण जीवन मे उन्हे अनेक चित्र-विचित्र परिस्थितियों से गुजरना पडता है। परन्तु उनके शौर्य तथा साधन-सम्पन्नता का स्वर सर्वत्र गुंजित रहता है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि काव्य मे पाण्डवो की सुरक्षा तथा प्रतिष्ठा की धुरी भीम है। उसकी दुर्द्धर्ष तेजस्विता से काव्य आद्यन्त स्पन्दित है। मृत्युकुण्ड लाक्षागृह से अपने भाइयो तथा माता को अक्षत निकालने, उन्हें वर्वर किम्मीर के लौह पाश से मुक्त करने तथा वकासुर के आतक को समाप्त करने का श्रेय उसी को है। उमके इन युद्धो मे वीररस की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है जिसे अर्जुन की वीरता पुष्टि प्रदान करती है। वैसे भी काव्य मे सर्वत्र भीम का आचरण वीरोचित साहस तथा दृढता से तरलित है। फलत: काव्यमण्डन मे अंगी रस के रूप मे वीर रस की निष्पत्ति हुई है। चतुर्थ सर्ग मे लाक्षागृह से सकुशल निकलने के पश्चात् धर्मराज की शान्तिवादिता की खिल्ली उड़ाने वाली भीम की उक्तियां वीरोचित दर्प तथा असहनशीलता से भरपूर है। उसके विचार मे कौरवो से हित की आशा करना मृग-छलना है। वे दुर्जन सत्सगति मे रहकर भी अपनी स्वाभाविक दुष्टता नही छोड़ सकते। क्या मगरमच्छ गंगाजल मे रहने से दयालु वन जाता है? यदि धर्मराज की दया की मेघमाला विघ्न न वने, वह कौरवो को शलभ की भाति अपनी क्रोधाग्नि मे भस्मसात् कर देगा।

> **मत्क्रोधवह्नावयकारदीप्ते पापाः पतिष्यन्ति पतंगवत्ते।**
> **न चेत्तवोद्दामदयाम्बुदाली तच्छान्तिकर्त्री भवितान्तरायः ॥४.३९**

काव्यमण्डन मे भीम और अर्जुन के युद्धो को पर्याप्त स्थान मिला है जिनके वर्णन में वीररस का प्रवल उद्रेक हुआ है। द्रौपदी को स्वयम्वर मे प्राप्त करने में हताश हुआ दुर्योधन ईर्ष्यावश ब्राह्मणवेशधारी अर्जुन पर आक्रमण कर देता है जिससे दोनो मे जम कर युद्ध होता है। अर्जुन के पराक्रम के वर्णन मे वीररस—विशेपकर उसके अनुभवो—का सफल चित्रण हुआ है (१३.१)।

भीम को देखते ही दनुज किम्मीर के योद्धा उस पर टूट पडते है। उनका यह दुस्साहस भीम की क्रोधाग्नि मे घी का काम करता है। वह उन्हे तत्काल गदा से चूर-चूर कर देता है तथा किम्मीर और उसके नगर को ध्वस्त करके अपने भाइयों को वन्धन से मुक्त करता है। भीम तथा किम्मीर के युद्ध के इस प्रसग मे वीर रस की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।

> **प्रारब्धोद्धुरसंगरं तमवधीत्किर्मीरमम्बासुरं**
> **भ्राम्यद्घोरगदाविशीर्णवपुषं वीराननेकानपि।**

आच्छेत्सीदपि बन्धनान्यपहसन्धर्मादिकानां ततो
ऽधाक्षीत्तन्नगरं चकर्ष परुषं केशेषु शत्रुस्त्रियः ॥७।३८।

प्रमुख वीर रस के अतिरिक्त काव्यमण्डन मे करुण, भयानक, रौद्र, शान्त, शृंगार तथा अद्भुत रस अंग रूप मे विद्यमान है। ये अगभूत रस अंगी रस को परिपुष्ट करके काव्य की रसवत्ता को तीव्र बनाते है तथा उसमे इन्द्रधनुषी सौन्दर्य की सृष्टि करते है। गौण रसो मे करुण रस की प्रधानता है। जतुगृह मे पाण्डवो के दहन से आशकित पौरवासियों के विलाप में और किर्म्मीर द्वारा बन्दी बनाए गये पाण्डवो को बलि देने के लिए कुलदेवी के मन्दिर मे ले जाने पर कुन्ती के मातृसुलभ चीत्कार मे करुण रस की तीव्रता प्रगट हुई है। वारणावत के निवासियो के शोक मे करुणा की मार्मिकता है।

वृथा पृथायास्तनया नयाढ्या दग्धा विदग्धा जतुमन्दिरस्थाः।
विद्वेषवद्भिः कुरुराजपुत्रैः पापात्मभिर्धर्मभृतो हहाऽमी ॥
दीनानुकम्पां च करिष्यते कः को मानयिष्यत्यपि मानयोग्यान्।
वर्त्तिष्यते सम्प्रति क. प्रजासु भृशानुरागात्त्विह बन्धुवच्च ॥४.१५-१६

दैत्य किर्म्मीर पाण्डवो को वशीभूत करने के निमित्त सिद्धि प्राप्त करने के लिए श्मशान मे महाभिचार होम का अनुष्ठान करता है। श्मशान की भयंकरता के वर्णन में भयानक रस का परिपाक है। किर्म्मीर की साधनास्थली कही भूत-पिशाचों की हुंकार से गुंजित है, कही कराल वेतालो तथा डाकिनियो का जमघट है, कही प्रेत भैरव अट्टहास कर रहे है, कही योगिनियों का चक्रवाल अपनी किलकिलाहट से हृदय को कंपा रहा है और कही डमरुओं का विकट नाद और महिषों, मेढों आदि का चीत्कार त्रास पैदा कर रहा है। इस भयावह परिवेश मे किर्म्मीर का महाभिचार किसे भीत नही कर देता ?

हिंसाकरं सत्वरसिद्धिदं च श्मशानवाटे वटसन्निकृष्टे।
हुंकारवद्भूतपिशाचचक्रे सदक्षिणीराक्षसशाकिनीके ॥६.२६
उत्तालवेतालकरालकालकंकालकूष्माण्डकडाकिनीके।
प्रहासवत्प्रेतकरंकरंके प्रहर्षवद्भैरवभैरवे च ॥ ६.२७
उदितकिलिकिलाके योगिनीचक्रवाले विकटडमरुनादक्षेत्रपालाकुले च।
मनुषमहिषमेषैः कुक्कुटैरारटद्भिः कलितकुसुममालैर्वध्यमानैः सुरौद्रैः ॥६.२८

कुन्ती अपने एक पुत्र के बलिदान से ब्राह्मणी के इकलौते पुत्र के प्राणो की रक्षा करने का प्रस्ताव करती है। पवित्रहृदया ब्राह्मणी इसे प्राणिहिंसा मान कर अस्वीकार कर देती है। उसकी इस धारणा का प्रतिवाद करती हुई कुन्ती उसे जगत् की विभूतियो तथा पदार्थो की नश्वरता और विषयों की विरसता से अवगत कराती

है । माता-पिता, वन्धु-वान्धव आदि समूचे सम्वन्ध मरुमरीचिका की तरह आभास मात्र है । उनकी स्थिति बुद्बुद, इन्द्रधनुप, इन्द्रजाल आदि से श्रेष्ठ नही । अत इस असार ससार मे मनुष्य को प्राणो की वाजी लगाकर भी निर्मल यश का संचय करना चाहिए। शिवि ने अपना मास तथा दधीचि ने अस्थिया देकर यही किया । वैभव तथा विपयो की क्षणभगुरता के इस चित्रण मे शान्त रस की पावन धारा प्रवाहित है ।

स्वं शिविः पलमदाद्दधीचिरप्यस्थिसंचयमसारसंसृतौ ।
सद्यशः कुमुदकुन्दनिर्मलं स्थास्नु च प्रविदधेऽधिविष्टपम् ।। ६.१५
भ्रातृमातृपितृपुत्रवान्धवप्रेयसीप्रभूतयो विभूतयः ।
स्वादवश्च विषया हया गजा भूरयो निमिषभंगुरा इमे ।। ६.१६.

अपने प्राणप्रिय भाइयो को कुलदेवता के मन्दिर मे वन्दी अवस्था मे तथा दैत्य किम्मीर को उन्हे वलि देने को तैयार देख कर भीम क्रोध से पागल हो जाता है। उसकी भृकुटि तन जाती है, गदा घूमने लगती है, उसकी सिहगर्जना से पर्वत गूज उठते हैं और लोगों का हृदय दरक जाता है । उसकी इन चेष्टाओ के चित्रण मे रौद्र रस की अवतारणा हुई है ।

इति श्रुत्वा माद्रीतनुजवचनं वत्सलतया
गदां भ्रामं भ्रामं भृकुटिकुटिलास्योऽनिलसुत· ।
महासिहध्वानोन्मुखरगिरिविद्रावितजनो
वदन्संतिष्ठस्वेत्यसुरपतिमत्युद्धतरुषा ।। ७.३५.

काव्यमण्डन मे श्रृंगाररस के पल्लवन के लिये अधिक स्थान नहीं है । द्रौपदी के सौन्दर्य-वर्णन मे अधिकतर श्रृगार के आलम्वन विभाव का निरूपण है । काम की कटारी के समान द्रौपदी के स्वयम्वर-मण्डप मे प्रविष्ट होते ही उपस्थित राजाओ के समुद्र मे कामजन्य क्षोभ का ज्वार आ जाता है । यहा श्रृंगार के उद्दीपन विभाव का भी चित्रण हुआ है ।

जगज्जयायास्त्रमिवासमेषोः सा द्रौपदी संसदमाससाद ।
विक्षोभयन्ती वदनेन्दुनाथ नानावनीनाथसमूहवार्द्धिम् ।। ११ १.

मण्डन ने इस प्रकार विविध प्रसंगो मे मनोभावो के मार्मिक चित्रण के द्वारा काव्य को रसात्मकता से सिक्त वनाया है । यह तीव्र रसवत्ता काव्य की विभूति है ।

प्रकृति-चित्रण

काव्यमण्डन में प्रकृति का चित्रण शास्त्रीय विधान की खानापूर्ति के लिये किया गया है । प्रथम सर्ग के तुरन्त वाद दो सर्गो मे ऋतु-वर्णन तथा दसवें सर्ग में स्वयम्वरमण्डप आदि के पश्चात् सूर्यास्त और चन्द्रोदय का वर्णन परम्परा के निर्वाह के लिये जवरदस्ती फिट किया गया प्रतीत होता है । ऋतुवर्णन के अन्तर्गत पाण्डवों

के आखेट, दीपावली तथा दोलाक्रीडा के अपेक्षाकृत विस्तृत एवं अनावश्यक वर्णनों से कवि की प्रकृतिचित्रण के प्रति वास्तविक भावना तथा दृष्टिकोण स्पष्ट है। यह बात भिन्न है कि इन प्रसंगों मे प्रकृति के कतिपय अतीव मनोरम चित्र अकित हुए है और वे कवि के प्रकृति-प्रेम के परिचायक हैं। प्रकृति-वर्णन की कालिदासोत्तर परम्परा के अनुरूप मण्डन के प्रकृति-चित्रण मे स्वाभाविकता की कमी है। उसने अधिकतर उक्तिवैचित्र्य को प्रकृति-वर्णन का आधार बनाया है। इसीलिये भारवि, हर्ष आदि की कृतियो की भाँति काव्यमण्डन मे प्रकृति के अलकृत वर्णनो का बाहुल्य है। अलकृत वर्णनो के अन्तर्गत कही विविध अलंकारो के आधार पर प्रकृति का कल्पना-पूर्ण वर्णन किया जाता है, कही उसे मानवी रूप मे प्रस्तुत किया जाता है और कही उसके उद्दीपन पक्ष को उभारा जाता है। काव्यमण्डन मे प्रकृति-चित्रण की उक्त सभी श्रेणियाँ दृष्टिगत होती है। द्वितीय सर्ग का पावसवर्णन आद्यन्त यमक से आच्छादित है। दसवे सर्ग का सूर्यास्त तथा चन्द्रोदय का वर्णन कवि-कल्पना से तरलित है। इस बात का अपलाप नही किया जा सकता कि इन अलकृत वर्णनो के आवरण के नीचे कही-कही प्रकृति के स्वाभाविक उपादानो का भी चित्रण हुआ है। काव्यमण्डन के इन सहज अलंकृत चित्रो का निजी सौन्दर्य है।

सुकृती धर्मराज तथा शरत् के इस श्लिष्ट वर्णन मे शरत्काल के सहजात गुणो का चित्रण निहित है। धर्मपुत्र की सद्वृत्ति से लोको मे लक्ष्मी का उदय होता है, मूढ व्यक्ति जडता छोडकर निर्मल बुद्धि प्राप्त करते है और वह सर्वत्र पवित्रता का संचार करती है। शरत् मे कमल खिल उठते है, जलाशयो का जल निर्मल हो जाता है और मार्ग आदि का कीचड सूख जाता है। श्लेष के महीन आवरण मे शरद् ऋतु की स्वाभाविकता स्पष्ट दिखाई दे रही है।

पद्मोदयं निदधती भुवनेष्वथोच्चै-
रातन्वती विमलतां च जडाशयेऽपि।
निष्पंकतां विदधती भुवि धर्मसूनो-
र्वृत्तिर्यथा सुकृतिनः शरदाविरासीत् ॥ ३.१.

मण्डन के कतिपय अलकृत वर्णन बहुत अनूठे है। उनसे उसकी कमनीय कल्पना तथा शिल्पकौशल का परिचय मिलता है। सूर्यास्त के साधारण दृश्य को कवि ने सन्ध्याकाल पर स्वर्णकार के कर्म का आरोप करके रोचकता से भर दिया है। जैसे स्वर्णकार सोने को आग मे तपा कर पहले पानी मे बुझाता है, फिर उससे नाना प्रकार के आकर्षक आभूषण बनाता है, उसी प्रकार सन्ध्या के स्वर्णकार ने स्वर्णपिण्ड के समान सूर्य को आकाश की मूषा मे तपाया है और ससार को चाद, तारो आदि के भूषणों से सुशोभित करने के लिये उसे पश्चिम सागर के पानी मे फेंक

दिया है।

ताम्ररोचिरतितप्तमुपाभ्रं हेमगोलमिव कालकलादः ।
अक्षिपज्जलनिधौ रविबिम्बं निर्मिमासुरथ विश्वविभूषाम् ।। १०-५३

नवोदित चन्द्रमा क्षीण क्यों होता है ? इस सम्बन्ध मे मण्डन की कल्पना देखिये। चन्द्रमा स्वामिद्रोह का दोषी है। उसके स्वामी भगवान् शकर ने अपने तृतीय नेत्र की ज्वाला से जिस काम को भस्म किया था, चन्द्रमा उसे अपनी अमृतवर्षी किरणों से पुनः जीवित करने की चपलता करता है। प्रभुद्रोह के उस अपराध के दण्ड के रूप मे उसे क्षीणता भोगनी पड़ती है।

त्रिनयननयनार्चिर्दग्धदेहं यदि
दुर्मदनममृतवर्षैर्जीवयन्त्यंशुभिः स्वैः ।
तदनुभवति नूनं स्वप्रभुद्रोहजांह-
श्फलममितमजस्रं क्षीणतां विभ्रदंगे ।। १०.६८

मण्डन ने प्रकृति को मानवी रूप देने मे भी अपनी निपुणता का परिचय दिया है। काव्यमण्डन मे प्रकृति के मानवीकरण के अनेक अभिराम चित्र अंकित किये गये है। मण्डन का पावस शक्तिशाली सम्राट् के समान अपने शत्रु, ग्रीष्म, का उच्छेद करके, राजसी ठाट से गगनागन मे प्रवेश करता है। घनघोर गर्जना करता हुआ मेघ उसका मदमस्त हाथी है, विजली ध्वजा है, इन्द्र-धनुष उसका चाप है, वगुले चंवर हैं तथा खुम्ब श्वेत छत्र है। प्रमुदित मयूर, वदियों की तरह, उसका उल्लासपूर्वक अभिनन्दन करते हैं।

अथ घनाघनमत्तमतंगजो निमिषरोचिरुदंचितकेतनः ।
रुचिरशक्रशरासननिष्पतच्छरचयं रचयन्भुवि संभवम् ।। २.१
वहलगर्जितकृज्जजलागम. प्रमदवच्छिखिवन्दिभिरीडितः ।
अतनुभूतिरिवोद्धतभूपतिः सनतपंनतपंतमहन्नरिम् ।। २.२
रुचिरचामरचारुवलाक उच्छ्रितशिलिन्ध्रसितातपवारण ।
प्रकटयन्सुतरामृतुराजतां प्रमुदिरो मुदिरोदय आवभौ ।। २.४.

वसन्त-वर्णन के निम्नोक्त पद्य मे लता पर रजस्वला नारी का आरोप किया गया है, जो लज्जित होकर पल्लवो के वस्त्र से रजधर्म के सभी चिह्न छिपाने का प्रयास कर रही है।

लता पुष्पवती जाता मधो. संगाद् वधूरिव ।
लसत्पल्लववस्त्रेण लज्जितात्मानमावृणोत् ।। ३.२०

पहले कहा गया है कि प्रकृति के आलम्बन पक्ष के चित्रण मे कवि को अधिक रुचि नही है। काव्यमण्डन मे प्रकृति के स्वाभाविक सौन्दर्य के कतिपय चित्र ही

दृष्टिगत होते हैं। ये कवि के निश्छल प्रकृति-प्रेम के प्रतीक है और अपनी यथार्थता तथा मनोरमता के कारण वर्ण्य विषय को मूर्त रूप देने मे समर्थ है। शरद् ऋतु में बर्षाकाल की मलिनता दूर हो जाती है, हंस मानस से लौट आते है, चारो ओर उनका मधुर कलरव सुनाई पड़ता है, दिशाएँ स्वच्छ हो जाती हैं, पृथ्वी काश-कुसुमो से भर जाती है धान पक कर फल के भार से झुक जाते है तथा विभिन्न पुष्पों की मादक गन्ध से भरी समीर जनमन को आनन्दित करती है। शरद् के इन उपकरणों का सहज चित्र निम्नाकित पंक्तियो मे किया गया है।

नात्याक्षुर्न रजस्वलात्वमखिलाः स्वच्छोदका. सिन्धव
प्रोद्दामप्रमदं दधुः कलगिरः काष्ठासु हंसालय. ।
दिग्वध्वोऽबिभरुः प्रसादमभितो वक्त्रेष्वमू. साम्वरा
बभ्राजे सुविकाशकाशकुसुमैर्भूमण्डली मण्डिता ॥ ३.३
आवापेषु सरोजसौरभभरभ्रान्तालयः शालयः
पाकोद्रेकफलौघभारनमिता बभ्राजिरे भूरिशः ।
मन्दं मन्दममी समीरनिवहा वान्ति स्म सप्तच्छदो—
न्निद्रत्कोकनदारविन्दकुमुदामोदच्छटामेदुराः ॥ ३ ४

प्रस्तुत पद्य मे ग्रीष्म की प्रचण्डता साकार हो गयी है।

ग्रीष्मे धूम्यान्धकारा· ककुभ उदभवन्दावदग्धा वनान्ता
वात्या सोल्कोरुरेणुर्धरणिरनलवन्मुर्मुरीभूतपांसु' ।
नद्य. पर्णै. कषायक्वथिततनुजला वह्निवर्षी विवस्वा-
न्पान्था· श्वासोष्णभाजो धिगुदयमसतां जातविश्वोपतापम् ॥ ३.३६

इन पंक्तियों को पढ़ कर गर्मी की चिलचिलाती धूप, आंधी-झक्खड़, खौलते पानी, सूर्य की अग्निवर्षा, तप्त भूमि और दहकती धूल का यथार्थ चित्र अनायास मानस-पटल पर अंकित हो जाता है। कहना न होगा, इन स्वभावोक्तियों मे मण्डन का कवित्व उत्कृष्ट रूप मे प्रकट हुआ है। निस्सन्देह ये पद्य साहित्य की उत्तमोत्तम स्वभावोक्ति-यों से टक्कर ले सकते है।

प्रकृति के प्रति मण्डन का दृष्टिकोण रूढिवादी है। प्रकृतिवर्णन के अन्तर्गत पूरे एक सर्ग मे यमक का प्रयोग करना तत्कालीन काव्यशैली के प्रभाव का परिणाम है। परम्परा से प्रभावित होता हुआ भी मण्डन प्रकृति का कुशल चित्रकार है।

सौदर्यचित्रण

मण्डन प्राकृतिक सौन्दर्य की भाँति मानव-सौन्दर्य का भी चतुर चितेरा है। कवि ने संस्कृत-साहित्य मे प्रचलित सौन्दर्य-वर्णन की दोनो शैलियो के द्वारा अपने पात्रो के शारीरिक सौन्दर्य की व्यंजना की है। उसने परम्परागत तथा चिर-प्रचलित

नखशिखप्रणाली का आश्रय लेकर पात्रो के अगों-प्रत्यंगों के सौन्दर्य का क्रमवद्ध वर्णन किया है और वर्ण्य व्यक्तियो के समग्र सौन्दर्य के समन्वित चित्र भी प्रस्तुत किये है। ग्यारहवे सर्ग मे द्रौपदी के विस्तृत वर्णन मे नारी-सौन्दर्य का सांगोपांग चित्रण हुआ है। वस्तुत. काव्य मे नारी-सौन्दर्य का ही प्राधान्य है। आरम्भ में मण्डन ने दर्शक के मन पर पडने वाले द्रौपदी के सौन्दर्य के समग्र प्रभाव का सामान्य वर्णन किया है[२३], तत्पश्चात् उसने नखशिखविधि से द्रौपदी के विभिन्न अवयवो के लावण्य का विस्तृत वर्णन किया है। नवीन उपमानो की योजना के कारण उसके सौन्दर्य-चित्र सहजता तथा सजीवता से ओतप्रोत है। निम्नलिखित पद्यों मे कृष्णा के स्तनो, कटाक्ष, तिलक, केशपाश तथा दृष्टि की तुलना क्रमश· काम के निधि-कुम्भों, कूटयन्त्र, चन्द्र-कलंक, गगा-यमुना की मिश्रित जलराशि तथा मदिरा एव त्रिपुरविद्या से की गयी है।

> कण्ठस्थलीलोलमहेन्द्रनीलहाराहिराजेन सुरक्ष्यमाणौ।
> निधानकुम्भाविव गोपनीयौ स्तनावमुष्याः स्मरपार्थिवस्य ॥ ११.३४
> कूटयन्त्रं कटाक्षोऽस्या मृगाक्ष्या दृश्यते स्फुटम्।
> युववातायवो येन पात्यन्ते निकटस्थिताः ॥ ११.३६
> कस्तूरीतिलको भाति भालेऽस्या रुचिराकृतौ।
> शारदे पार्वणे चन्द्रे कलंक इव मंजुलः ॥ ११.४१
> एतस्या हरिणीदृशस्त्रिभुवनोन्मादाय कादम्बरी
> कामं कामुककामकन्दलसमुल्लासाय कादम्बिनी।
> विश्वाकर्षणमोहनस्ववशतः प्रोद्भावयन्ती क्षणाद्
> दृष्टिर्भाति महाप्रभावगहना विद्येव सा त्रैपुरी ॥ ११.४२
> भास्ते केशपाशोऽस्या मुक्ताजालकलापभृत्।
> वंहीयान्काष्र्ण्यवानोघो गंगायमुनयोरिव ॥ ११.४८

द्रौपदी के नखशिख के अन्तर्गत उसके सर्वातिशायी सौन्दर्य को साकार करने के लिए मण्डन ने व्यतिरेक का भी आश्रय लिया है। प्रस्तुत पद्य मे उसके पाव, गति तथा जघाए चिर-प्रतिष्ठित उपमानो—हंस तथा कदलीस्तम्भ के सौन्दर्य को पराजित करती हुई चित्रित की गयी है।

> अस्या. पदारविन्दे ध्रुवमुपहसतो राजहंसान्प्रयाते
> माधुर्ये शिंजितानां कलकलविलसद्रत्नमंजीरदम्भात्।

२३. निर्दग्धं स्मरभूरुहं हररुषा ह्यंकूरयन्ती पुन.
प्रौढं राजकदम्बकं प्रपुलकं स्वालोकत कुर्वती।
श्यामा कामिमनोमयूरनिकरं प्रोन्मादयन्ती मुहुः
सेयं भाति नितम्बिनी नयनयोर्दृश्येव कादम्बिनी ॥ काव्यमण्डन, ११.१०

ऊरूभ्यां कोमलाभ्यां म्रदिमभरलसत्स्तम्भगर्भाश्च रम्भाः

कम्पन्तेऽस्याः जिताः किं तपहिमसमयोद्भूतशैत्योष्णिमभ्याम् ॥ ११.२६

पुरुष सौन्दर्य का चित्रण कौरव तथा पाण्डव कुमारों के वर्णन में देखा जा सकता है। किन्तु कवि ने यहां उपर्युक्त दोनो प्रणालियों को छोड़कर भूषणो तथा सामान्य सज्जा से उत्पन्न सौन्दर्य का वर्णन किया है[२४]।

चरित्रचित्रण

काव्यमण्डन के कर्त्ता ने अपने पात्रो को उनके मूल परिवेश मे प्रस्तुत किया है। अतः उसके लिए पाण्डव सद्गुणो के आगार है, कौरव दुर्गुणो के भण्डार। काव्य में पाण्डवो कथा कौरवो का चित्रण, समष्टि तथा व्यष्टि दोनों रूपों मे, चित्रित किया गया है। सामूहिक रूप मे पाण्डव उद्धत शौर्य से सम्पन्न, महाबाहु, प्रतापी तथा धर्मानुरागी हैं। श्रीकृष्ण के प्रति उनकी अटल भक्ति है। वे धनुर्धारियों मे अग्रणी हैं। उनका यश समूचे भूमण्डल मे व्याप्त है। वे प्रसन्नमुख तथा सत्यवादी है। उन्हे प्रजा का अटूट विश्वास प्राप्त है। नीतिमत्ता उनके जीवन की धुरी है। दानशीलता में वे कल्पवृक्षों को भी मात करते है। वे साम्राज्यलक्ष्मी के पात्र है। उनका हृदय दया तथा परोपकार की भावना से ओत-प्रोत है। वे समरांगण मे सिंह की भाँति निर्भय विचरण करते हैं। वास्तव मे पाण्डव अमूल्य गुणो की विशाल निधि है[२५]।

व्यष्टि रूप मे धर्मराज युधिष्ठिर शान्ति की साक्षात् प्रतिमा है। घोर विपत्तियाँ भी उनके समत्व को विचलित नही कर सकती। लाक्षागृह में यम के मुख से निकलने के पश्चात् वे कौरवो के प्रति किये गये अपने उपकारों तथा उनके अपकारो को याद करके ही सन्तोष कर लेते है। वे अपने वीर अनुजो को भी प्रतिशोध का मार्ग छोड़ कर तीर्थयात्रा मे समय व्यतीत करने का परामर्श देते है[२६]। उनका विरुद 'धर्मराज' उनके व्यक्तित्व की पवित्रता तथा उदात्तता का द्योतक है, जिसे काव्य में विशेषतः रेखांकित किया गया है। अपने गरिमापूर्ण व्यक्तित्व के कारण वे समस्त पृथ्वीमण्डल पर प्रतिष्ठित तथा समादृत है[२७]। उनकी वृत्ति जगत् के अभ्युदय की विधाता है। भगवान् कृष्ण भी उनके गुणो तथा व्यक्तित्व से अभिभूत हैं। द्रौपदी-स्वयम्वर के बाद श्रीकृष्ण स्वयं युधिष्ठिर से मिलने के लिये आते हैं और पादवन्दना से उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करते है[२८]।

२४. काव्यमण्डन, १.२६-२७, ३०-३१.

२५. वही, ४ १-५.

२६. अहानि हानिप्रचुराणि यावत्तावद्धि तीर्थाटनमाश्रयामः। वही, ४.३३.

२७. धर्मोऽधिक्षितिलब्धकीर्त्तिः। वही, १ २३

२८. तेनाभिवन्दितपदः प्रथमं ततोऽजं। वही, १३.२७

भीम मूर्तिमान् दर्प तथा शौर्य है। वह दुर्द्धर्ष योद्धा तथा अद्वितीय ओजस्वी है। वह भ्रातृस्नेह के कारण धर्मराज के तीर्थाटन के परामर्श को मान तो लेता है किन्तु उसकी थोथी आदर्शवादिता पर वह अपने क्रोध तथा हंसी को नही रोक सकता। वह अपनी क्रोधाग्नि से दुष्ट कौरवो को भस्म करने को तैयार है, किन्तु उसे आशका है कि धर्मराज की दया का मेघ उसे तुरन्त शान्त कर देगा[२९]। भीम के भुजवल, शौर्य तथा प्रचण्डता का कोई ओर-छोर नही है। वही हर विपत्ति मे अपने भाइयो की रक्षा करता है। लाक्षागृह मे, मृत्युमुख मे फंसे अपने भाइयो और माता को सकुशल निकालने का श्रेय काव्य मे उसे ही दिया गया है[३०]। किर्म्मीर के चंगुल से उन्हे छुडाना केवल भीम जैसे अप्रतिहत तथा साधन-सम्पन्न व्यक्ति के लिए ही सम्भव था। वह किर्म्मीर तथा वकासुर को क्षण भर मे धराशायी कर देता है। पाण्डवो के लिए किर्म्मीर के वध का कितना महत्त्व था, यह इसी से स्पष्ट है कि अर्जुन जैसा धनुर्धर भी उसे 'किर्म्मीरान्तक' कहकर सम्वोधित करता है तथा गाढे समय मे द्रौपदी की सुरक्षा का भार उसे सौंपता है[३१]।

अर्जुन अद्वितीय धनुर्धारी है। वह कृष्ण का परम मित्र तथा प्रतापी योद्धा है। वह अकेला ही प्रतिद्वन्द्वियो को पराजित करने मे समर्थ है जैसे अकेला सिंह हाथियो को पछाड देता है और सूर्य नक्षत्रो का तेज नष्ट कर देता है[३२]। उसने अपने भुजवल और रणकौशल से द्रुपद को भी वन्दी वना लिया था। उसके गुणो और वीरता से अभिभूत होकर द्रुपदराज ने अपनी रूपवती पुत्री उसे देने का पहले ही निश्चय कर लिया था[३३]। पंचालनरेश की यह कामना कि अर्जुन लाक्षागृह से किसी प्रकार वच कर स्वयम्वर मे आ जाए, उसके सद्गुणों एवं शौर्य की स्वीकृति है। अर्जुन सौन्दर्यसम्पन्न युवक है। स्वयम्वर मण्डप मे लक्ष्य वीधने को उद्यत ब्राह्मण कुमार को अर्जुन समझने मात्र से द्रौपदी मे काम का उद्रेक हो जाता है। अर्जुन अचूक निशानची है। दिग्दिगन्तो से आए हुए राजाओ मे केवल वही घूमती शफरी के प्रतिविम्व को देख कर उसकी आँख वीधने मे सफल होता है। कौरवो तथा उनके पक्षपोपको की मगठित सेनाएँ भी उनके सामने नही टिक सकी।

कौरवो का चरित्र ईर्ष्या तथा घृणा से कलंकित है। समष्टिरूप में वे क्रूर-

२९. वही, ४.३९.

३०. लाक्षागृहे प्रवलधूमहुताशदीप्ते संरक्षिता हि भवता वत भीमसेन ! वही, ७.१७.

३१. किर्म्मीरान्तक रक्ष राजतनयां यावद्द्विषः शास्म्यहम्। वही, १२.७१

३२. वही, १०.३४

३३. मया दत्ताऽनवद्यांगी द्रौपदीयं सुमध्यमा।
पार्थाय सत्यया वाचा पूर्वं विक्रमशालिने॥ वही, १०.३३

हृदय, पापात्मा, दुर्बुद्धि, राज्यलोलुप तथा विपयासक्त हैं। पाण्डवों के प्रति उनकी ईर्ष्या इस सीमा तक पहुंच गई है कि वे उन्हे जीवित भी नही देख सकते। पाण्डवों को जतुगृह मे जीवित जलाकर मारने का उनका षड्यन्त्र इसी ईर्ष्या तथा द्वेष से प्रसूत है। पाण्डवो की ओर उनकी यह घृणा काव्य मे पग-पग पर प्रकट हुई है। स्वयम्वर मे राधायन्त्र को बीधने वाले ब्राह्मणकुमार की वास्तविकता को जान कर कौरवराज दुर्योधन द्रुपद को उस विपन्न ब्राह्मण को कन्या न देने के लिए भड़काता है। इस कूटनीति मे असफल होकर वह पाण्डवो से युद्ध ठान लेता है, किन्तु अर्जुन का वाहुवल उसका दर्प चूर कर देता है।

द्रौपदी काव्य की नायिका है। वह परम सुन्दरी है। उसके स्वयम्वर-मण्डप मे पदार्पण करते ही आगन्तुक राजा कामाकुल हो जाते है तथा उसे प्राप्त करने को अधीर हो उठते है। यद्यपि उसे अर्जुन ने ही जीता था किन्तु विधि की विडम्वना है कि उसे पाचो भाइयो की पत्नी वनना पड़ता है। श्रीकृष्ण के अनुसार यह धर्म से अनुमोदित है[३४]।

इनके अतिरिक्त काव्य मे एक और पात्र है, जो वहुधा पर्दे के पीछे से ही सूत्रसंचालन करता है। वह है कृष्ण वासुदेव। वे पाण्डवो के विश्वस्त सखा तथा सच्चे मार्गदर्शक है। अर्जुन के साथ तो उनकी मैत्री इतनी प्रगाढ है कि काव्य मे उसे 'कृष्णसखा' इस साभिप्राय विशेपण से सम्वोधित किया गया है। श्रीकृष्ण त्रिकालज्ञ हैं। भूत, वर्तमान तथा भविष्य उन्हे हस्तामलकवत् स्पष्ट हैं[३५]। वस्तुत. वे ईश्वर है। गाढे समय मे पाण्डव नियमित रूप से उन्हे याद करते है और वे भक्तवत्सल उन्हे सदैव विपत्तियों से उवारते है। वास्तव मे, पाण्डव सोते-जागते, उठते-वैठते, खाते-पीते कभी भी उन्हे नही भूलते। उन्ही की कृपा से पाण्डव समस्त कठिनाइयो पर विजय पाते हैं[३६]। वे पाण्डवो के जीवन मे इस प्रकार घुले-मिले हुए है कि उनके विना पाण्डवों के अस्तित्व की कल्पना करना भी सम्भव नही है। तीर्थयात्रा आरम्भ करते समय पाण्डव सर्वप्रथम द्वारिका जाकर उनके दर्शन करते है। द्रौपदी के स्वयम्वर मे जहाँ अन्य उपस्थित राजा, यहाँ तक कि कौरव भी, ब्राह्मणकुमार को पहचानने मे भूल करते है, वे अपने मित्रों को तुरन्त पहचान लेते हैं और गुप्त रूप से अर्जुन की प्रणति स्वीकार करते हैं। वे ही द्रुपदराज को उन द्विजवेशधारी युवको की वास्तविकता वता कर उसका संदेह दूर करते है। श्रीकृष्ण भक्तवत्सल हैं।

३४. वही, १३.३७

३५. भूतं भवच्च किल भावि च वेद्मि सर्वम्। वही, १३.३८, सर्वज्ञोऽसि जगन्नाथ। वही, १०.३२

३६. हंसि त्वमेव सकलानहितव्रजान्नः। वही, १३ ३५

द्रौपदी के स्वयम्वर के पश्चात् वे स्वत. अपने प्राणप्रिय भक्त तथा मित्र पाण्डवकुमारों से मिलने आते है। उनके भक्तो को त्रिकाल मे भी भय नही सता सकता।

न कदाचित्त्रिकालतोऽपि मद्भक्ता बिभ्रते भयम्।
संकटेषु हि सर्वेषु जाग्रद् रक्षामि तानहम्॥ १०.४१.

भाषा

भाषा की दृष्टि से काव्यमण्डन जैनाजैन संस्कृत काव्यो मे उच्च पद का अधिकारी है। कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। वस्तुतः वह वाग्वश्या की भाँति उसका अनुसरण करती है। काव्यमण्डन की भाषा महाकाव्य के अनुरूप धीर-गम्भीर है। उसमे सहजता तथा अलंकरण का मजुल मिश्रण है। समर्थ होते हुए भी मण्डन ने अपने भाषा-पाण्डित्य का अनावश्यक प्रदर्शन नही किया है। वह भली-भाँति जानता है कि भाषा का सौन्दर्य क्लिष्टता मे नही, सहजता मे निहित है। अत: उसने यथोचित भाषा के द्वारा पात्रो के हृद्गत भावो तथा कथावस्तु की विभिन्न परिस्थितियो को वाणी प्रदान करने का प्रयास किया है। इसीलिए काव्यमण्डन की भाषा मे एक ओर पारदर्शी विशदता है तो दूसरी ओर वह समाससंकुल तथा दुर्बोध है यद्यपि यह मानने मे आपत्ति नही कि यह भाषात्मक दुर्भेद्यता काव्यमण्डन का मात्र एक ध्रुव है। सामान्यत वह प्रसादपूर्ण तथा सुबोध है। अपने इस भाषात्मक कौशल के कारण मण्डन प्रत्येक वर्ण्य विषय का यथार्थ चित्रण करने मे समर्थ है। धधकता लाक्षागृह हो अथवा भयानक महाभिचार होम, कुन्ती की हृदयद्रावक विकलता हो या प्राणलेवा युद्ध, नारी-सौन्दर्य हो अथवा पुरुष का पौरुष, भगवान् शंकर का ताण्डव हो या गगा की पावन धारा, ये सब प्रसग मण्डन की तूलिका का स्पर्श पाकर मुखरित हो गये हैं। अपने प्राणप्रिय पुत्रो की सम्भावित बलि से विकल कुन्ती के शोक के वर्णन की पदावली मे मानव की विवशता तथा दीनता की कसक है जिससे हतबुद्धि होकर वह विधि के प्रति आक्रोश प्रकट करके हृदय को सान्त्वना देता है।

हा हा विधे ! प्रलयमारुतवन्मदीया
भग्नास्त्वया किमु सुता सुरभूरुहो वा।
पञ्चैव मुक्तकरुणेन यदीयदोर्णां
छायाश्रया सुखमगां जगतीतलेऽस्मिन्॥ ७.१५.

लाक्षागृह से बचकर धर्मराज अपने भाइयो को आश्वस्त करने के लिए जो शब्द कहते है, वे उनकी शान्तिवादी नीति के सर्वथा अनुकूल हैं। प्रतिकार का मार्ग उस अजातशत्रु को वरणीय नही है। उस विधिनिर्मित 'विषाद' को भूलना ही अच्छा है।

वीरा: सुधीरा जहिताहितैस्तैः कृतं विपादं विधिनिर्मितं तम् ।
अत्यन्तपापस्य फलानुभूतिरिहैव लभ्येति वदन्ति सन्त. ।।

इसी सर्ग मे युधिष्ठिर की शान्तिवादिता का प्रतिवाद करने वाली भीम की वीरोचित उक्तियाँ उसके दर्प तथा प्रचण्डता को व्यक्त करती है । उसका स्पष्ट मत है कि धर्मराज ने कौरवो पर विश्वास करके नीतिविरुद्ध कार्य किया है । हिंसक जन्तु के समान दुर्जन कभी अपना स्वभाव नही छोड सकता । अनुकूल पदावली ने इन उक्तियों की प्रभावशालिता को दूना कर दिया है ।

ते दुर्जनाः सज्जनसन्निधाने हिंस्रा वसन्तो जनपावनेऽपि ।
जहत्यहो नैव निजस्वभावं गंगाजले नक्रगणा इवामी ।। ४.३७
रणैकवीरोऽपि सहायमेत्य महामृधे मां प्रबलानिलं वा ।
धनंजयो धक्ष्यति दीप्ततेजाः सुबाधवो नः परसैन्यवन्याम् ।।४.३३

युद्ध आदि कठोर प्रसगो मे मण्डन की भाषा, यथोचित वातावरण के निर्माण के लिए, सरलता तथा सहजता को छोड कर, प्रयत्नसाध्य बन जाती है । उसमें ओजगुण व्यजक चुने-चुनिन्दे शब्दों की झडी लग जाती है, विशालकाय समासो की लडी बनती जाती है और फलतः वर्ण्य दृश्य पाठक के मानस चक्षुओं के सामने मूर्त हो जाता है । श्मशान की भीषणता का कर्कश वर्णन पहले उद्धृत किया जा चुका है । स्वयम्वर मे निराश होकर दुर्योधन अपने वीरों को ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन पर आक्रमण करने का आदेश देता है । इससे मण्डप में खलबली मच जाती है तथा वह सागर का रूप धारण कर लेता है । इस सम्भ्रम के चित्रण मे प्रयुक्त समाससंकुल ओजपूर्ण भाषा परिस्थिति के सर्वथा अनुरूप है । •

परिस्फूर्जत्खड्गस्फुरदुरगसंचार विषमः
परिप्रेंखत्खेटकमठकूटोऽतिरटितः ।
प्रतापौर्वज्वालोऽस्तमितरिपुशौर्योज्ज्वलकिरणः
ततोऽभाक्षीत्क्षोभं प्रबलबलराजन्यजलधिः ।। १२. ६८

मण्डन ने अपने काव्य मे समासबहुला भाषा का बहुत प्रयोग किया है । तीर्थाटन के समय विभिन्न नदियों तथा तीर्थो के अधिष्ठाता देवो की स्तुति मे भाषा का विकट रूप दिखाई देता है । यमक के अबाध गुम्फन तथा स्रग्धरा जैसे दीर्घ छन्दो के प्रयोग ने भाषा को, कही-कही तो, अतीव दुरूह बना दिया है । अष्टमूर्ति की स्तुति मे जो भाषा प्रयुक्त की गयी है, उसे सुनकर भगवान् आशुतोष की बुद्धि भी चकरा गयी होगी । ताण्डव के वर्णन मे तो विकट समासान्त भाषा नृत्य की उद्धतता तथा प्रचण्डता के अनुकूल मानी जाएगी परन्तु हृदय के सहज निश्छल भावों को व्यक्त करने वाले स्तोत्रो मे यह क्षम्य नही । स्पष्टत. काव्यमण्डन के ये प्रसंग प्राचीन

शिवताण्डव आदि स्तोत्रों के अतिशय प्रभाव के द्योतक है। मण्डन ने निस्सन्देह यहाँ अपने भाषा-पाण्डित्य से पाठक को अभिभूत करने का प्रयास किया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

वश्याऽवश्यायभूभृद्दुहितुरहितुरापाद्विलासाविलासा
ऽनीहाहानीहारहारप्रकरकरकोर्ज्जप्रकाशाप्रकाशा।
स्तुत्याऽस्तु त्यागशीला शुभललितललितभ्राजमानाऽजमाना
नित्याऽनित्यानभक्त्या तनुरतनुरसौभाग्यदाभाग्यदेशी ॥ ८.६१

इसके विपरीत काव्यमण्डन की भाषा में कहीं-कहीं हृदयग्राही सहजता तथा सुमधुर नादसौन्दर्य विद्यमान है। अनुप्रास तथा यमक की कुशल योजना से वह और वृद्धिगत हो गया है। द्वारिकाधीश के वर्णन में भाषा का यह गुण दृष्टिगम्य होता है।

अजरममरमाद्यं वेदवाचामवेद्यं
सगुणमगुणमेकं नैकरूपं महिष्ठम्।
अणुतरमविदूरं चातिदूरं दुरन्तं
दुरितचयमदन्तं योगिचित्ते वसन्तम् ॥५.४

काव्यमण्डन की भाषा में सरलता तथा प्रौढता का सम्मिश्रण है। वह सर्वत्र उदात्त है, किन्तु कहीं-कहीं कवि ने उसे अधिक अलकृत कर दिया है, जो तत्कालीन काव्य-परिपाटी को देखते हुए अक्षम्य नहीं है।

अलंकारविधान

काव्यमण्डन में अधिक अलकारों का प्रयोग नहीं हुआ है। यमक के अतिरिक्त अन्य किसी अलकार को काव्य में बलात् ठूसने का प्रयत्न कवि ने नहीं किया है। समूचे दूसरे सर्ग में तथा अन्यत्र भी यमक की जानबूझ कर विस्तृत योजना की गयी है जिससे काव्य में, इन स्थलों पर, क्लिष्टता आ गयी है। ऋतुवर्णन में यमक के प्रयोग की परम्परा कालिदास के रघुवंश तक जाती है। शकर की स्तुति में यमक को श्रद्धालु हृदय की निश्छल अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना हास्यास्पद है। इसी प्रसंग के यमक का एक विकट उदाहरण देखिये—

लोलोल्लोलौघनृत्यज्जलजलजविभ्रामरालीमराली,
मालामालानगंगाविलसिललसितोत्कप्रवाहं प्रवाहम्। ८.६५

यमक के अतिरिक्त अनुप्रास कवि का प्रिय अलकार है। इसे भी काव्य में व्यापक स्थान मिला है। अनुप्रास की मधुरता तथा झकृति काव्य में मनोरम सौन्दर्य को जन्म देती है। भगवान् शकर की स्तुति के इस पद्य में अन्त्यानुप्रास की विवेक पूर्ण योजना की गयी है।

नमोऽनन्तरूपाय मूर्च्छन्महिम्ने सुधाधामवद्विस्फुरद्दीप्तिभूम्ने ।
जगत्पापविध्वंसकृद्भूरिनाम्ने लसत्कण्ठलोठत्सुमन्दारदाम्ने । ८.१४

अर्थालंकारो मे उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, रूपक, यथासंख्य, सहोक्ति, स्वभावोक्ति, अर्थान्तरन्यास, विरोध आदि अलकारो का प्रयोग काव्य मे हुआ है। मंडन उपमा का मर्मज्ञ है। काव्यमण्डन में अनेक हृदयग्राही उपमाएँ दृष्टिगोचर होती है। वर्ण्य विपय के स्पष्टीकरण के लिये कवि ने मूर्त तथा अमूर्त दोनो प्रकार के उपमानों को ग्रहण किया है। निम्नोक्त पद्य मे याज्ञसेनी की तुलना अमूर्त कुण्डलिनी शक्ति से तथा पांच पाण्डवो की पांच ज्ञानेन्द्रियो से की गयी है।

तैः पंचभिर्भर्तृभिरायताक्षी सा याज्ञसेनी सुतरां विरेजे ।
बुद्धीन्द्रियैर्वर्ष्मणि विस्फुरद्भि. समन्विता कुण्डलिनीव शक्तिः ।। १३.४४.

काव्यमण्डन में अनूठी स्वभावोक्तियां मिलती हैं, जो कवि की निरीक्षण शक्ति तथा व्यापक अनुभव की प्रतीक है। इन स्वभावोक्तियो मे कवि का सच्चा कवित्व प्रकट हुआ है। हेमन्त मे, ऊँचे मचान पर बैठ कर तथा गोपिये (भिण्डिमाल) से पक्षियों को उडाकर खेतो की रखवाली करने वाले किसानो का यह वर्णन कितना स्वाभाविक है। इस शब्दचित्र में ग्राम्य जीवन का उक्त दृश्य साकार हो उठा है।

यत्र क्षेत्रसुरक्षणक्षणनभूत्तुगाद्रुमारुह्य त—
रत्सत्कौतूहलवत्कृषीवलकुलं कोलाहलव्याकुलम् ।
उद्भ्राम्यद्भुजभिण्डिमालविगलच्चण्डोपलप्रस्फुट—
त्सूत्रप्रान्तपरित्रसत्खगगणव्यग्राग्रहस्तद्वयम् ।। ३.१४.

कृष्ण, कृष्णा तथा कुरुनन्दन का क्रमशः 'स्नेहार्द्रभावा', 'घनरागपूर्णा' तथा 'रोपारुणा' से सम्बन्ध होने के कारण, निम्नोक्त पद्य मे यथासंख्य अलंकार है।

कृष्णेऽधिकृष्णं कुरुनन्दने च पाण्डोः सुतानां सममापतन्ती ।
स्नेहार्द्रभावा घनरागपूर्णा रोषारुणा च प्रबभूव दृष्टिः ।। १२.९

काव्यमण्डन मे अनेकत्र विविध अलंकारो का मकर दिखाई देता है। प्रस्तुत पद्य मे व्यतिरेक तथा यथासंख्य मिल कर संकर की सृष्टि करते है ।।

धनुष्मतामाजिमुखेऽग्रगत्वान्निजेच्छया मृत्युवशंवदत्वात् ।
जितेन्द्रियत्वाच्च जिगाय योऽपि रामं यमं काममवार्यवीर्यम् ।। १.६.

मण्डन ने भावाभिव्यक्ति को समर्थ बनाने के लिये काव्य मे कतिपय अन्य अलकारो का भी प्रयोग किया है।

छन्दयोजना

छन्दों के प्रयोग मे मण्डन ने पूर्ण स्वछन्दता से काम लिया है। प्रत्येक सर्ग में एक छंद की प्रधानता का शास्त्रीय बन्धन उसे सदैव मान्य नही है। इसीलिये

काव्यमण्डन के तेरह मे से आठ सर्गो मे नाना छदों का प्रयोग किया गया है। तीसरे आठवे, दसवे, ग्यारहवे, वारहवे तथा तेरहवे सर्ग मे क्रमश. ग्यारह, पन्द्रह, दस, ग्यारह, ग्यारह तथा बारह छन्द प्रयुक्त हुए है। पाचवे तथा छठे सर्ग दोनो मे नौ-नौ छन्दो का उपयोग किया गया है। तृतीय सर्ग मे जिन ग्यारह छन्दो की योजना हुई है, उनके नाम इस प्रकार हैं—वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, इन्द्रवज्रा, शालिनी, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, अनुष्टुप्, उपजाति, हरिणी तथा वशस्थ। इन छन्दो की अपेक्षा पाचवे सर्ग मे मालिनी, छठे मे उपेन्द्रवज्रा, आठवे मे भुजंगप्रयात, रथोद्धता, मन्दाक्रान्ता, मजुभाषिणी, तथा स्वागता, दसवे में पृथ्वी तथा पुष्पिताग्रा, वारहवे मे स्रग्विणी, और तेरहवे मे एक अज्ञात विषमछन्द (१-त त ज ज, २-र भ र, ३-त त ज ग ग, ४-ज त ज ग ग) के अतिरिक्त प्रहर्षिणी नये छद हैं। ग्यारहवें सर्ग मे कोई नया छन्द नही है। शेष पाच सर्गों मे से प्रथम सर्ग की रचना मे मुख्यतः उपजाति का आश्रय लिया गया है। प्रथम दो तथा अन्तिम पद्य क्रमश· स्रग्धरा, मालिनी तथा शार्दूलविक्रीडित मे है। द्वितीय सर्ग मे द्रुतविलम्बित का प्राधान्य है। सर्गान्त के पद्यो मे शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग किया गया है। चतुर्थ सर्ग मे उपजाति, अनुष्टुप् स्रग्धरा, वसन्ततिलका तथा द्रुतविलम्बित, ये पाच छन्द प्रयुक्त हुए हैं। सप्तम सर्ग मे वसन्ततलिका को अपनाया गया है। सर्ग के अन्त मे शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित तथा प्रहर्षिणी को स्थान मिला है। नवम सर्ग मुख्यत रथोद्धता मे रचित है। सर्गान्त के तीन पद्य अनुष्टुप् तथा शार्दूलविक्रीडित मे है। सब मिला कर काव्यमण्डन मे उक्त अज्ञात विषम छन्द के अतिरिक्त बाईस छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

समाज-चित्रण

काव्यमण्डन के सीमित परिवेश मे युगजीवन का व्यापक चित्रण तो सम्भव नही था किन्तु उसमे कुछ तत्कालीन मान्यताओ तथा विश्वासो की प्रतिच्छाया दिखाई देती है। भारत मे शुभाशुभ मुहूर्त के विचार की परम्परा अति प्राचीन है। आजकल की भाति मण्डन के समकालीन समाज मे भी प्रत्येक कार्य मूहूर्त की अनुकूलता-प्रतिकूलता का विचार करके किया जाता था। इसके लिये समाज को ज्योतिर्विदो का मार्गदर्शन प्राप्त था। द्रुपदराज ने अपनी पुत्री के स्वयम्वर का आयोजन, ज्योतिषियों द्वारा निश्चित किये गये मूहूर्त मे ही किया था[३७]॥

शकुनो की फलवत्ता पर विश्वास का इतिहास भी बहुत पुराना है। मण्डन-कालीन समाज मे नाना प्रकार के शकुन प्रचलित थे तथा उनके फलीभूत होने में लोगो की दृढ आस्था थी। छीक तत्काल मृत्यु की सूचक मानी जाती थी।[३८] कुलदेवी

३७. वही, १०.४७.

३८. क्षुतमथक्षणमृत्युदायि। वही, ७.२८

के मन्दिर मे प्रवेश करते समय दनुजराज किम्मीर को छीक आई थी जिसके फलस्वरूप भीम ने उसे गदा से चूर-चूर कर दिया[३९]। आजकल की भांति उस समय भी गीदड, उल्लू आदि का शब्द विपत्तिजनक माना जाता था। कृष्णमृग का बाई ओर से गुजरना, गीदड़ की फेकार, उल्लू का दाई ओर शब्द करना भयावह था; सूर्य के परिवेश का प्रकट होना भी अशुभ था।[४०] वन से लौटते समय भीम के समक्ष ये सभी अपशकुन उपस्थित हुए थे, जो उसके भाइयो की विपत्ति के पूर्वसूचक थे। समाज मे एक अन्य विश्वास यह था कि चारपाई पर मरने वाले व्यक्ति की मुक्ति नही होती। पवित्र नदी मे स्नान मोक्षदायक माना जाता था।[४१]

काव्य मे वध्य पुरुष की भूपा के वर्णन से संकेत मिलता हैं कि तत्कालीन समाज मे प्राणदण्ड का प्रचलन था। दण्डित पुरुप को लाल माला पहना कर और सिन्दूर से उसका सिर रग कर वध्य स्थल पर ले जाया जाता था। वह मुँह झुका कर चलता था और दर्शक उनकी खिल्ली उडाया करते थे[४२]। प्राणदण्ड का दूसरा ध्रुव आत्महत्या है। आत्महत्या उद्देश्य मे असफल होकर अथवा जीवन से निराश होकर की जाती थी। भीम अपने भाइयो को खोजने मे असफल होकर तथा कुन्ती अपने पुत्रो के सम्भावित वध के दु:ख को न सह सकने के कारण चिता मे जल कर मरने को तैयार हो गये थे।[४३] गिरिपतन तथा प्रयाग मे शरीर-दाह आत्महत्या के अन्य प्रकार थे। कभी-कभी अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिये भी लोग आत्महत्या कर लेते थे। स्वयम्वर मे उपस्थित कतिपय राजा द्रौपदी के लिये प्राण देने को उद्यत थे। अभीष्ट सिद्धि के लिये यज्ञ-होम तथा इष्ट देव की आराधना की जाती थी।[४४] अथर्ववेद के मन्त्रो से यज्ञ करने तथा महाभिचार होम का काव्य मे उल्लेख हुआ है।

वर्णाश्रम प्रणाली भारतीय समाज-व्यवस्था की निजी विशेपता है, किंतु जैन कवियो मे इस का समर्थन करने वाला कदाचित् मण्डन ही एकमात्र कवि है। लाक्षागृह मे पाण्डवों के सम्भावित दहन पर विलाप करते हुए प्रजाजन चिन्तित थे

३९. तमवधीत्किर्म्मीरमम्बासुरम्। वही, ७.३८
४०. वही, ६.३२-३४
४१. मंचकमृतोऽपि पातकी मुच्यते। वही, ८.२२
४२. गलरक्तमाला:। सिन्दूरशोणितशिरसस्त्रपया नतास्या, हास्याश्रया. परिवृता: पुरलोकसंघै ।। वही, ७.३.
४३. वही, ६.३६, ७.२१-२२
४४. वही, ११. १७-१८

हैं कि अब वर्णाश्रम व्यवस्था का कौन पालन करेगा[४५] ?

धर्म

जैन धर्म का अनुयायी होता हुआ भी काव्यमण्डन का लेखक साम्प्रदायिक कदाग्रह तथा सकीर्णता से मुक्त समन्वयवादी व्यक्ति था। काव्य मे भागवत धर्म तथा शैव मत का मनोयोगपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। कथानक के परोक्ष सूत्रधार कृष्ण वासुदेव के स्वरूप का वर्णन तो अप्रत्याशित नही था किन्तु जिस तन्मयता, निष्ठा तथा श्रद्धा से कवि ने भगवान् शंकर की विस्तृत स्तुति की है, वह शैव धर्म के प्रति उसके निश्चित पक्षपात की परिचायक है। पाण्डवो की तीर्थयात्रा के सन्दर्भ मे पुराण-प्रसिद्ध नदियो तथा भगवान् शिव का पौराणिक शैली किन्तु अलकृत भाषा मे वर्णन एक ओर मण्डन की धार्मिक उदारता को व्यक्त करता है और दूसरी ओर उसे प्राचीन स्तोत्रकारो की पक्ति मे प्रतिष्ठित करता है।

भागवत मत के अनुरूप श्रीकृष्ण को मित्रो के रक्षक तथा भक्तवत्सल के रूप मे चित्रित किया गया है। वे पाण्डवो के अभिन्न मित्र, पथप्रदर्शक तथा सहायक हैं। कृष्ण दीनो तथा अनाथो के उद्धारक है।[४६] वे नियमित रूप से अपने भक्तो की हर विपत्ति का निवारण करते हैं। वास्तव मे उनके भक्तो का कोई बाल भी बाका नही कर सकता।[४७] वासुदेव भूत, वर्तमान तथा भविष्य, तीनो कालो के ज्ञाता है।[४८] उनकी भक्ति से निर्विघ्न सिद्धि प्राप्त होती है।[४९] वे वस्तुत: 'भगवान्' हैं।[५०] उनकी मैत्री मे छोटे-बड़े का विवेक नही है। उसमे भक्त और भगवान् एक हैं। इस तादात्म्य के कारण ही वे पाडवो से मिलने के लिये उनके आवास पर जाते हैं।

वासुदेव के भागवत धर्म-सम्मत रूप के अतिरिक्त काव्यकार ने उनके स्वरूप का उपनिषदो की विरोधाभासात्मक शैली मे भी वर्णन किया है। उसके अनुसार वे आदि देव तथा अजर-अमर है। वे सगुण भी हैं, निर्गुण भी। एक होते हुए भी उनके नाना रूप है, वे महान् भी हैं, सूक्ष्म भी। निकटवर्ती होते हुए भी वे दूरवर्ती है। उनके वास्तविक स्वरूप को वेद के द्वारा भी नही जाना जा सकता।[५१]

विभिन्न तीर्थो के अधिष्ठाता देव के रूप मे, शकर के सर्वेश्वर, अष्टमूर्ति, जटाम आदि विविध रूपो का जो भक्तिपूर्ण विस्तृत वर्णन काव्य मे हुआ है, उसमे भगवान् शकर के दो पक्ष उभर कर आए हैं, जिन्हे क्रमश. उनका पौराणिक तथा

४५. वर्णाश्रमान्क खलु पालयिष्यत्यलं च षष्ठांशहर: सुधर्मा। वही, ४.१७
४६. अनाथदीनोद्धरणेन। वही, ४.२१
४७. वही, १०.४१
४८-५०. क्रमश वही, १३.३८, १२.४,१३.३४
५१. तुलना कीजिए—ईशावास्योपनिषद्, ४-५.

औपनिषदिक स्वरूप कहा जा सकता है। पौराणिक रूप मे वे जगत् की उत्पत्ति, रक्षा तथा संहार के कारण है। वे नित्य है। उनका न आदि है, न अन्त। वे भुक्ति तथा मुक्ति के दाता है। उनकी पूजा मुख्य देवता के रूप में की जाती थी। पीठ के मध्य मे स्थापित शकर के चारो ओर गणेश, ग्रहपति, गिरिजा तथा कृष्ण की स्थापना, गौण देवो के रूप मे की जाती थी।[५२] हृदय से की गयी शकर की भक्ति से अभीष्ट की प्राप्ति होती है।[५३] अघोरपंचाक्षरी मन्त्रराज से उनकी स्तुति मोक्षदायक मानी गयी है।[५४] उनके अन्य पौराणिक तत्वो मे चद्रकला, भस्म, गंगा, जटाजूट, प्रचंड अट्टहास, अन्धकवध, त्रिशूल, पचवक्त्र, यज्ञध्वस मदनदाह, ताण्डव आदि का भी काव्य मे उल्लेख आया है (८ ११-१९)। उनके ताण्डव का तो कवि ने अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है।

चंचच्चन्द्रकलं चलत्फणिगणं बलाद्बृहत्कुण्डल-
क्षुभ्यन्मूर्द्धधुनीमहोर्मिपटलीप्रक्षालिताभ्रान्तरम्।
वेल्लत्कृत्तिरणत्कपालवलयं प्रेंखज्जटान्तं मुहु
गौरीहर्षकरं चिरं पुररिपोर्नृत्यं शिवं पातु वः।। ८.४३

दूसरे रूप मे शंकर का स्वरूप उपनिषदो के ब्रह्म के समान है। ब्रह्म की भाँति उन्हे 'अक्षर' कहा गया है। वास्तव में वे परब्रह्म है। शकर ही उपनिषदो मे ब्रह्म नाम से ख्यात हैं। उन्हे ऊँकार तथा ओकार पदो से ही प्राप्त किया जा सकता है।[५५] वेद तथा उपनिषद् उनके स्वरूप के ज्ञान के माध्यम है।[५६]

पौराणिक नदियो मे गंगा के प्रति कवि की विशेष श्रद्धा है। काव्य मे गगा का निष्ठापूर्वक वर्णन किया गया है, जो युग-युगों मे उसके गौरव का सूचक है।

चलद्वीचीहस्तैर्बहलतमपंकाविलतनु
जनं माता बाल सुतमिव दयाधीनहृदया।
त्वदुत्संगे गंगे विलुठितपरं पापदमनैः
सुधाशुभ्रैः प्रक्षालयति भवती निर्मलजलैः।। ५.३०.

काव्यमण्डन मण्डन की काव्यप्रतिभा का कीर्तिस्तम्भ है। उसने एक जैनेतर

५२ काव्यमण्डन, ६.१९

५३. हृदि दधे रूपं पर शांकरम्। वही, ५.१८
धार्मिका धूर्जटौ विदधते मनो दृढम्। वही, ६.२२

५४. वही, ८.१५

५५. ऊंकारमोंकारपदैकगम्यं तमक्षरं मोक्षरसंषिचिन्त्यम्।
वन्दामहे चोपनिषत्सुगीतं ब्रह्मेति यं प्राहुरमी मुनीन्द्राः।। वही, ८.३९

५६ वेदवेदान्तवेद्याय। वही, ८.१३.

कथानक को लेकर उसे उसके मूल परिवेश तथा वातावरण मे प्रस्तुत किया है। मण्डन ने अलंकरण-प्रधान समवर्ती महाकाव्य-शैली का आत्मसात् करके अपनी सुरुचि से उसे सयम के वृत्त में रखा है। उसने कुछ स्थलो पर विकट समासान्त शैली मे अपने कौशल का मनोयोगपूर्वक प्रकाशन किया है, किंतु सब मिला कर उसका काव्य अधिक अलकृत नही है।

३. नेमिनाथमहाकाव्य : कीर्त्तिराज उपाध्याय

कविचक्रवर्ती कीर्त्तिराज उपाध्याय-कृत नेमिनाथमहाकाव्य[1] मे जिनेश्वर नेमिनाथ का प्रेरक चरित्र, महाकाव्योचित विस्तार के साथ निबद्ध है। कीर्त्तिराज कालिदास के पश्चाद्वर्ती उन इने-गिने कवियो मे है, जिन्होने माघ, श्रीहर्ष आदि की कृत्रिम शैली के एकछत्र शासन से मुक्त होकर, सुरुचिपूर्ण काव्य-मार्ग ग्रहण किया है। नेमिनाथमहाकाव्य मे भावपक्ष तथा कलापक्ष का जो काम्य सन्तुलन है, वह तत्कालीन कवियो की रचनाओ मे कम मिलता है। पाण्डित्य-प्रदर्शन के उस युग मे नेमिनाथमहाकाव्य जैसी प्राजल कृति की रचना करना कीर्त्तिराज की बहुत बडी उपलब्धि है, यद्यपि वह भी विद्वत्ता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से पूर्णतया अस्पृष्ट नही है।

नेमिनाथ काव्य का महाकाव्यत्व

प्राचीन आलंकारिको ने महाकाव्य के जो मानदण्ड निश्चित किये है, नेमिनाथकाव्य मे उनका मनोयोगपूर्वक पालन किया गया है। शास्त्रीय नियम के अनुसार महाकाव्य मे शृगार, वीर तथा शान्त मे से किसी एक रस की प्रधानता अपेक्षित है। नेमिनाथमहाकाव्य के उद्देश्य तथा वातावरण के परिप्रेक्ष्य मे शान्त रस को इसका अगीरस माना जाएगा, यद्यपि काव्य मे इसकी अंगी रसोचित तीव्र व्यजना नही हुई है। करुण, शृंगार, रौद्र, वीर आदि का गौण रूप मे यथोचित परिपाक हुआ है। क्षत्रिय कुल-प्रसूत देवतुल्य नेमिनाथ इसके धीर प्रशान्त नायक है। इसकी रचना धर्म तथा मोक्ष की प्राप्ति के उदात्त उद्देश्य से प्रेरित है। धर्म का अभिप्राय यहा नैतिक उत्थान तथा मोक्ष का तात्पर्य आमुष्मिक अभ्युदय है। विषयो तथा अन्य सासारिक आकर्षणो को तृणवत् त्याग कर मानव को परम पद की ओर उन्मुख करना इसकी रचना का प्रेरणा-बिन्दु है। नेमिनाथमहाकाव्य का कथानक नेमिप्रभु के लोकविख्यात चरित पर आश्रित है। इसका आधार मुख्यत. त्रिषष्टि-शलाकापुरुपचरित आदि जैन पुराण है, यद्यपि प्राकृत तथा अपभ्रश के अनेक कवि भी इसे अपने काव्यो का विपय बना चुके थे। इसके संक्षिप्त कथानक मे पॉचो नाटचसन्धियो का निर्वाह हुआ है। प्रथम सर्ग मे शिवादेवी के गर्भ से जिनेश्वर के अवतरित होने मे मुख सन्धि है। इसमे काव्य के फलागम का बीज निहित है तथा

१. सम्पादक . डॉ० सत्यव्रत, अभय जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ३२, बीकानेर, १९७५.

उसके प्रति पाठक की उत्सुकता जाग्रत होती है। द्वितीय सर्ग मे स्वप्न-दर्शन से लेकर तृतीय सर्ग मे पुत्रजन्म तक प्रतिमुख सन्धि स्वीकार की जा सकती है, क्योकि मुख-सन्धि में जिस कथाबीज का वपन हुआ था, वह यहाँ अलक्ष्य रहकर पुत्रजन्म से लक्ष्य हो जाता है। चतुर्थ से अष्टम सर्ग तक गर्भसन्धि मानी जा सकती है। सूतिकर्म, स्नात्रोत्सव तथा जन्माभिषेक मे फलागम काव्य के गर्भ मे गुप्त रहता है। नवें से ग्यारहवें सर्ग तक, एक ओर, नेमिनाथ के विवाह-प्रस्ताव स्वीकार करने से मुख्य फल की प्राप्ति मे बाधा आती होती है, किन्तु, दूसरी ओर, वधूगृह मे वध्य पशुओं का करुण-क्रन्दन सुनकर उनके निर्वेदग्रस्त होने तथा दीक्षा ग्रहण करने से फल प्राप्ति निश्चित हो जाती है। यहाँ विमर्श सन्धि है। ग्यारहवे सर्ग के अन्त मे नेमि के केवलज्ञान तथा बारहवें सर्ग मे उनकी शिवत्व-प्राप्ति के वर्णन मे निर्वहण सन्धि विद्यमान है।

महाकाव्य-परिपाटी के अनुसार नेमिनाथ-महाकाव्य मे नगर, पर्वत, वन, दूत-प्रेषण, सैन्य-प्रयाण, युद्ध (प्रतीकात्मक), पुत्रजन्म, षड् ऋतु आदि के विस्तृत वर्णन पाये जाते हैं, जो इसमे जीवन के विभिन्न पक्षो की अभिव्यक्ति तथा रोचकता संक्रान्त करते हैं। इसका आरम्भ नमस्कारात्मक मंगलाचरण से हुआ है, जिसमे स्वयं काव्यनायक नेमिनाथ की चरणवन्दना की गयी है। इसकी भाषा मे महाकाव्योचित भव्यता तथा शैली मे अपेक्षित उदात्तता है। अन्तिम सर्ग के एक अंश मे चित्रकाव्य की योजना करके कवि ने चमत्कृति उत्पन्न करने तथा अपना भाषाधिकार प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। काव्य के आरम्भ मे सज्जन-प्रशंसा, खलनिन्दा तथा नगरवर्णन की रूढियों का पालन किया गया है। छन्दप्रयोग-सम्बन्धी परम्परागत बन्धन कवि को सदा स्वीकार्य नही। इस प्रकार नेमिनाथकाव्य मे महाकाव्य के सभी अनिवार्य स्थूल तत्त्व विद्यमान है, जो इसकी सफलता के निश्चित प्रमाण है।

नेमिनाथमहाकाव्य की शास्त्रीयता

नेमिनाथमहाकाव्य पौराणिक कृति है अथवा इसकी गणना शास्त्रीय महाकाव्यो में की जानी चाहिए, इसका निश्चित निर्णय करना कठिन है। इसमें पौराणिक तत्त्वो तथा शास्त्रीय महाकाव्य के गुणो का विचित्र गठबन्धन है। नेमिनाथकाव्य का कथानक शुद्धत. पौराणिक है। पौराणिक महाकाव्यो की भाँति इसका आरम्भ जम्बूद्वीप तथा उसके अन्तर्वर्ती भारत देश के वर्णन से किया गया है। शिवादेवी के गर्भ मे जिनेश्वर का अवतरण होता है जिसके फलस्वरूप उसे भावी तीर्थंकर के जन्म के सूचक चौदह परम्परागत स्वप्न दिखाई देते है। दिक्कुमारियाँ नवजात शिशु का सूतिकर्म करती हैं। देवराज इन्द्र माता शिवा को अवस्वापिनी विद्या से सुलाकर शिशु को स्नात्रोत्सव के लिए मेरु पर्वत पर ले जाता

है, जहाँ पौराणिक रीति से उसका अभिषेक सम्पन्न होता है। काव्य-नायक के दीक्षा-पूर्व अभिषेक का भी अनुष्ठान इन्द्र द्वारा किया जाता है। काव्य मे समाविष्ट जिनेश्वर के दो स्तोत्र तथा प्रशस्ति गान भी इसकी पौराणिकता को इगित करते है। पौराणिक महाकाव्यो की परिपाटी के अनुसार इसमे नारी को जीवन-पथ की बाधा माना गया है तथा इसका पर्यवसान शान्त रस मे होता है। काव्यनायक दीक्षित होकर केवलज्ञान और अन्ततः शिवत्व प्राप्त करते है। उनकी देशना का समावेश भी काव्य में किया गया है। सुरसंघ द्वारा समवसरण की रचना, देवांगनाओ के नृत्य-गान, पुष्पवृष्टि आदि पुराण-सुलभ तत्त्वो का भी इसमे अभाव नहीं है।

इन पौराणिक विशेषताओ के विद्यमान होने पर भी नेमिनाथकाव्य को पौराणिक महाकाव्य नही माना जा सकता। इसमें शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षण इतने स्पष्ट तथा प्रचुर है कि इसकी पौराणिकता उनके सिन्धु-प्रवाह मे पूर्णतया मज्जित हो जाती है। वर्ण्य वस्तु तथा अभिव्यजना-शैली मे वैपम्य, जो ह्रासकालीन संस्कृत-महाकाव्य की मुख्य विशेषता है, नेमिनाथमहाकाव्य मे भरपूर विद्यमान है। शास्त्रीय महाकाव्यो की भाँति इसमे वस्तु-व्यापार के विविध वर्णनो की विस्तृत योजना की गयी है। वस्तुतः काव्य मे इन्ही का प्राधान्य है और इन्ही के माध्यम से कवि-प्रतिभा की अभिव्यक्ति हुई है। इसकी भाषा-शैलीगत प्रौढता तथा गरिमा और चित्रकाव्य के द्वारा रचना-कौशल के प्रदर्शन की प्रवृत्ति इसकी शास्त्रीयता का निर्भ्रान्त उद्घोप है। इनके अतिरिक्त अलकारो का भावपूण विधान, काव्य-रूढ़ियों का निष्ठापूर्वक विनियोग, तीव्र रसव्यजना, सुमधुर छन्दो का प्रयोग, प्रकृति तथा मानव-सौन्दर्य का हृदयग्राही चित्रण आदि शास्त्रीय काव्यो की ऐसी विशेपताएँ इस काव्य मे हैं कि इसकी शास्त्रीयता मे सन्देह नही रह जाता। अत. इसका विवेचन शास्त्रीय महाकाव्यो के अन्तर्गत किया जा रहा है।

कवि परिचय तथा रचनाकाल

अधिकाश जैन काव्यो की रचना-पद्धति के विपरीत नेमिनाथमहाकाव्य मे प्रान्त-प्रशस्ति का अभाव है। काव्य मे भी कीर्त्तिराज के जीवन अथवा स्थितिकाल का कोई सकेत नही मिलता। अन्य ऐतिहासिक लेखो के आधार पर उनके जीवन-वृत्त का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न किया गया है। उनके अनुसार कीर्त्तिराज अपने समय के प्रख्यात तथा प्रभावशाली खरतरगच्छीय आचार्य थे। वे सखवाल गोत्रीय शाह कोचर के वशज दीपा के कनिष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म सम्वत् १४४९ मे दीपा की पत्नी देवलदे की कुक्षि से हुआ था। उनका जन्म का नाम देल्हाकुवर था। देल्हाकुवर ने चौदह वर्ष की अल्पावस्था मे, सम्वत् १४६३ की आपाढ़ कृष्णा एकादशी को, आचार्य जिनवर्धनसूरि से दीक्षा ग्रहण की। आचार्य ने नवदीक्षित कुमार

का नाम कीर्त्तिराज रखा। कीर्त्तिराज के साहित्य-गुरु भी जिनवर्द्धनसूरि ही थे। उनकी प्रतिभा तथा विद्वत्ता से प्रभावित होकर जिनवर्द्धनसूरि ने उन्हे सम्वत् १४७० मे वाचनाचार्य पद पर और दस वर्ष पश्चात् जिनभद्रसूरि ने उन्हे, मेहव मे, उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किया। पूर्व-देशो का विहार करते समय जब कीर्त्तिराज का जैसलमेर मे आगमन हुआ तो गच्छनायक जिनभद्रसूरि ने उन्हे सम्वत् १४९७ मे आचार्य पद प्रदान किया। तत्पश्चात् वे कीर्त्तिरत्नसूरि नाम से प्रख्यात हुए। उन्होने पच्चीस दिन की अनशन-आराधना के पश्चात् सम्वत् १५२५ मे, ७६ वर्ष की प्रौढ़ावस्था मे, वीरमपुर मे देहोत्सर्ग किया। संघ ने वहाँ एक स्तूप का निर्माण कराया, जो अब भी विद्यमान है। जयकीर्त्ति तथा अभयविलासकृत गीतो से ज्ञात होता है कि सम्वत् १८७९ मे गड़ाले (बीकानेर का समीपवर्ती ग्राम नाल) मे उनका प्रासाद बनवाया गया था। नेमिनाथ काव्य के अतिरिक्त उनके कतिपय स्तवनादि भी उपलब्ध हैं।[2]

नेमिनाथमहाकाव्य उपाध्याय कीर्त्तिराज की रचना है। कीर्त्तिराज को उपाध्याय पद सम्वत् १४८० मे प्राप्त हुआ था और सं० १४९७ मे वे आचार्य पद पर आसीन होकर कीर्त्तिरत्न सूरि बन चुके थे। नेमिनाथकाव्य स्पष्टत. सं० १४८० तथा १४९७ के मध्य लिखा गया होगा। सम्वत् १४९५ मे लिखित इसकी प्राचीनतम प्रति के आधार पर नेमिनाथकाव्य को उक्त सम्वत् की रचना मानने की कल्पना की गई है।[3] यह हस्तप्रति काव्य का प्रथम आदर्श प्रतीत होता है, अत. उक्त कल्पना तथ्य के बहुत निकट है।

कथानक

नेमिनाथमहाकाव्य के बारह सर्गो मे तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन-चरित निबद्ध करने का उपक्रम है। कवि ने जिस परिवेश मे जिन-चरित प्रस्तुत किया है, उसमे उसकी कतिपय प्रमुख घटनाओं का ही निरूपण हो सका है।

प्रथम सर्ग मे यादवराज समुद्रविजय की पत्नी शिवादेवी के गर्भ में जिनेश्वर के अवतरण का वर्णन है। अलंकारो की विवेकपूर्ण योजना तथा बिम्बवैविध्य के द्वारा कवि राजधानी सूर्यपुर तथा समुद्रविजय के विविध गुणो का रोचक कवित्वपूर्ण चित्र अंकित करने मे सफल हुआ है। द्वितीय सर्ग मे शिवदेवी परम्परागत चौदह स्वप्न देखती है। समुद्रविजय स्वप्नफल बतलाते हैं कि इन स्वप्नो के दर्शन से तुम्हे प्रतापी पुत्र प्राप्त होगा, जो अपने भुजबल से चारो दिशाओ को जीतकर चौदह भुवनो का अधि-

२. विस्तृत परिचय के लिए देखिये—सर्वश्री अगरचन्द नाहटा तथा भंवरलाल नाहटा द्वारा संपादित 'ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह', पृ० ३९-४०.

३. जिनरत्नकोश, विभाग, १ पृ० २१७.

पति बनेगा। प्रभात वर्णन नामक इस सर्ग के शेषांश मे प्रभात का मार्मिक वर्णन है। तृतीय सर्ग में ज्योतिषी उक्त स्वप्नफल की पुष्टि करते हैं। समय पर शिवा ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। चतुर्थ सर्ग में दिक्कुमारियां नवजात शिशु का सूतिकर्म करती है। पंचम सर्ग मे इन्द्र शिशु को जन्माभिषेक के लिए मेरु पर्वत पर ले जाता है। इस प्रसंग मे मेरु का प्रौढ़ वर्णन किया गया है। छठे सर्ग मे शिशु के स्नात्रोत्सव का अनुष्ठान किया जाता है। सातवे सर्ग मे चेटियो से पुत्र-जन्म का समाचार पाकर समुद्रविजय आनन्दविभोर हो जाता है। शिशु का नाम अरिष्टनेमि रखा गया। आठवें सर्ग मे अरिष्टनेमि के शारीरिक सौन्दर्य एवं शक्तिमत्ता का तथा परम्परागत छह ऋतुओ का हृदयग्राही वर्णन है। एक दिन नेमिनाथ ने पांचजन्य को कौतुकवश इस वेग से फूँका कि तीनों लोक भय से कम्पित हो गये। नवे सर्ग में नेमिनाथ के माता-पिता के आग्रह से श्रीकृष्ण की पत्नियां नाना युक्तिया देकर उन्हे वैवाहिक जीवन में प्रवृत्त करने का प्रयास करती है। मोक्ष का लक्ष्य सुख-प्राप्ति है, किन्तु यदि वह विषयो के भोग से ही मिल जाये, तो कष्टदायक तप की क्या आवश्यकता ? नेमिनाथ उनकी युक्तियों का दृढतापूर्वक खण्डन करते हैं। उनके लिए मोक्ष-जन्य आनन्द तथा विषय-सुख मे उतना ही अन्तर है जितना गाय तथा स्नुही के दूध मे। किन्तु माता-पिता के अत्यधिक आग्रह से वे, केवल उनकी इच्छापूर्ति के लिए, गार्हस्थ्य जीवन मे प्रवेश करना स्वीकार कर लेते है। उग्रसेन की लावण्यवती पुत्री राजीमती के साथ उनका विवाह निश्चित होता है। दशवे सर्ग मे नेमिनाथ वधूगृह को प्रस्थान करते हैं। यही उन्हे देखने को लालायित पुरसुन्दरियो के सम्भ्रम तथा तज्जन्य चेष्टाओ का रोचक वर्णन है। वधूगृह में बारात के भोजन के लिए बधे हुए, मरणासन्न निरीह पशुओ का चीत्कार सुनकर, उन्हे आत्मग्लानि होती है, और वे विवाह को बीच में ही छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। ग्यारहवे सर्ग के पूर्वार्द्ध मे अप्रत्याशित प्रत्याख्यान से अपमानित राजीमती का करुण विलाप है। मोह-संयम-युद्ध-वर्णन नामक इस सर्ग के उत्तरार्द्ध मे मोह और संयम के प्रतीकात्मक युद्ध का अतीव रोचक वर्णन है। पराजित होकर मोह नेमिनाथ के हृदय-दुर्ग को छोड देता है जिससे उन्हें केवल-ज्ञान की प्राप्ति होती है। बारहवे सर्ग मे श्रीकृष्ण आदि यादव केवलज्ञानी प्रभु की वन्दना के लिये उज्जयन्त पर्वत पर जाते हैं। जिनेश्वर की देशना के प्रभाव से उनमें से कुछ दीक्षा ग्रहण करते हैं और कुछ श्रावक धर्म स्वीकार करते है। जिनेन्द्र राजीमती को चरित्र-रथ पर बैठाकर मोक्षपुरी भेज देते है और कुछ समय पश्चात् अपनी प्राणप्रिया से मिलने के लिए स्वयं भी परम पद को प्रस्थान करते हैं।

कथानक के निर्वाह की दृष्टि से नेमिनाथमहाकाव्य को निर्दोष नही कहा जा सकता। कीर्त्तिराज का कथानक अत्यल्प है, किन्तु कवि ने उसे विविध वस्तु-वर्णनों,

से मांसल बनाकर बारह सर्गों का रूप दे दिया है । यह विस्तार महाकाव्य की कलेवर-पूर्ति के लिये भले ही उपयुक्त हो, इससे कथाप्रवाह की सहजता नष्ट हो गयी है । समूचा काव्य सूर्यपुर, प्रभात, जन्माभिषेक, मेरु, षड्ऋतु, पौर नारियों की चेष्टाओं, प्रतीकात्मक युद्ध, वन आदि की लम्बी शृंखला है । इन सेतुओं से टकराती हुई कथावस्तु की धारा रुक-रुक कर मन्द गति से आगे बढती है । कथानक की गत्यात्मकता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि तृतीय सर्ग मे हुए पुत्र-जन्म की सूचना समुद्रविजय को, सातवे सर्ग मे मिलती है । मध्यवर्ती तीन सर्ग शिशु के सूतिकर्म, स्नात्रोत्सव आदि के वर्णनो पर खपा दिए गए हैं । तुलनात्मक दृष्टि से यहां यह जानना रोचक होगा कि रघुवश मे, द्वितीय सर्ग मे जन्म लेकर रघु, चतुर्थ सर्ग मे, दिग्विजय से लौट भी आता है । काव्य के अधिकाश का मूल कथावस्तु के साथ सूक्ष्म सम्बन्ध है । इसलिए काव्य का कथानक लंगड़ाता हुआ ही चलता है । किन्तु यह स्मरणीय है कि तत्कालीन महाकाव्य-परिपाटी ही ऐसी थी कि मूलकथा के सफल विनियोग की अपेक्षा विषयान्तरो को पल्लवित करने मे ही काव्यकला की सार्थकता मानी जाती थी । अत कीर्त्तिराज को इसका सारा दोष देना न्याय्य नही । वस्तुत., उन्होने इन वर्णनो को अपनी बहुश्रुतता का क्रीडांगन न बनाकर तत्कालीन काव्यरूढि के लौहपाश से बचने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है ।

नेमिनाथमहाकाव्य के आधारस्रोत

नेमिचरित का आधारभूत प्राचीनतम आप्त ग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र[४] है । इसमे निरूपित नेमिचरित मे रथनेमि तथा राजीमती के प्रसंग की प्रधानता है जिससे नेमिनाथ के जीवन की कतिपय प्रमुख रेखाएँ ही प्रस्फुटित हो सकी है । उत्तराध्ययन के अतिरिक्त जैन साहित्य मे नेमिप्रभु के जीवनवृत्त के तीन मुख्य स्रोत है—जिनसेन प्रथम का हरिवंश पुराण (७८३ ई०), गुणभद्र का उत्तरपुराण (८९७ ई०) तथा हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (बारहवी शताब्दी) । इन उपजीव्य ग्रन्थो मे नेमिचरित की प्रमुख रेखाओ के आधार पर, भिन्न-भिन्न शैली मे, उनके जीवनचित्र का निर्माण किया गया है । हरिवंश मे यह प्रकरण बहुत विस्तृत है । जिनसेन ने नौ विशाल सर्गो मे जितेन्द्र के सम्पूर्ण चरित का मनोयोगपूर्वक निरूपण किया है । कवि की धीर-गम्भीर शैली, अलकृत एव प्रौढ भाषा तथा समर्थ कल्पना के कारण यह पौराणिक प्रसंग महाकाव्य का आभास देता है और उसकी भाँति तीव्र रसवत्ता का आस्वादन कराता है । उत्तरपुराण मे नेमिचरित का सरसरा-सा वर्णन है । जिस प्रकार गुणभद्र ने उसका प्रतिपादन किया है, उससे नेमिनाथ का विवाह और प्रव्रज्या,

४ उत्तराध्ययनसूत्र, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६७, २२.१-४९

श्रीकृष्ण के कपटपूर्ण षड्यन्त्र के परिणाम प्रतीत होते है । माधव नेमि से अपना राज्य सुरक्षित रखने के लिए पहले विवाह द्वारा उनका तेज जर्जर करने का प्रयत्न करते हैं और फिर वध्य पशुओ के हृदयद्रावक चीत्कार से उनके वैराग्य को दीप्त कर उन्हे संसार से विरक्त कर देते हैं (७१।१४३-१४४, १५३-१६८) । त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित मे नेमिचरित को सम्पूर्ण आठवे पर्व का विषय बनाने का उपक्रम किया गया है किन्तु उसका अधिकांश श्रीकृष्ण तथा उनके अभिन्न सखा पाण्डवो के इतिवृत ने हड़प लिया है जिसके फलस्वरूप मूल कथानक दो सर्गों (१,९) मे सिमट कर रह गया है और यह पर्व त्रिपष्टिशलाकापुरुपचरित का हरिवंश बन गया है ।

नेमिप्रभु के चरित के आधार पर जैन-संस्कृत-साहित्य मे दो महाकाव्यों की रचना हुई है । कीर्त्तिराज के प्रस्तुत काव्य के अतिरिक्त वाग्भट का नेमिनिर्वाण (१२ वी शताब्दी) इस विपय पर आधारित एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है । दोनों काव्यों में प्रमुख घटनाएँ समान है, किन्तु उनके प्रस्तुतीकरण तथा अलकरण मे बहुत अन्तर है । वाग्भट ने कथावस्तु के स्वरूप और पल्लवन मे बहुधा हरिवंशपुराण का अनुगमन किया है । नेमिनिर्वाण मे वर्णित जिन-जन्म से पूर्व समुद्रविजय के भवन मे रत्न-वृष्टि, नेमिनाथ की पूर्वभवावलि, तपश्चर्या, केवलज्ञान प्राप्ति, धर्मोपदेश तथा निर्वाणप्राप्ति आदि घटनाएँ जिनसेन के विवरण पर आधारित है । नेमिनाथ महाकाव्य का आधार-स्रोत हेमचन्द्राचार्य का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित है । कीर्त्तिराज ने त्रि० श० पु० चरित के अकाव्योचित प्रसंगों को छोडकर उसमे वर्णित नेमिचरित को यथावत् ग्रहण किया है । दोनो मे शिवा के स्वप्नो की सख्या (१४) तथा क्रम समान है ।[५] अपराजित विमान से च्युत होकर जिनेश्वर, दोनो काव्यों के अनुसार' कार्तिक कृष्णा द्वादशी को माता के गर्भ में अवतरित होते है । जिन-माता को अस्वापिनी विद्या से सुलाने का उल्लेख हेमचन्द्र के काव्य में उपलब्ध नही है । अपने कथानक को पुराण-कथा की भाँति विशृंखलित होने से बचाने के लिये कीर्त्तिराज ने नेमिप्रभु के पूर्वभवो के अनुपातहीन नीरस वर्णनो को काव्य में स्थान नही दिया । उनके तप, समवसरण तथा धर्मोपदेश का भी चलता-सा उल्लेख किया है जिससे उसका कथानक नेमिनिर्वाण जैसे विस्तृत वर्णनों से मुक्त है । नेमिनाथ के विवाह से विमुख होने तथा राजीमती के तज्जन्य करुण विलाप का मार्मिक प्रकरण भी हेमचंद्र

५. नेमिनाथमहाकाव्य, २.१-१४, १.६०-६१, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (अंग्रेजी अनुवाद), गायकवाड ओरियेण्टल सीरीज, संख्या १३९, जिल्द ५, पृ० १६४

के काव्य पर आधारित है।[६] किन्तु नेमिचरित का एक प्रसंग ऐसा है, जिसमे वाग्भट तथा कीर्त्तिराज दोनों ने परम्परागत कथा-रूप मे नयी उद्भावना की है। पौराणिक स्रोतो के अनुसार श्रीकृष्ण यह जानकर कि मेरी पत्नियो के साथ जलविहार करते समय नेमिकुमार के हृदय मे काम का अंकुर फूट चुका है, उनका सम्बन्ध भोजसुता राजीमती से निश्चित कर देते है। किन्तु नेमि भावी हिंसा से उद्विग्न होकर विवाह को अधर मे छोड देते हैं और परमार्थसिद्धि की साधना मे लीन हो जाते है।[७] नेमिनाथ वीतराग होकर भी अपनी मातृतुल्या भाभी के प्रति आकृष्ट हो, यह क्षुद्र आचरण उनके लिये असम्भाव्य है। इस विसगति को दूर करने के लिये वाग्भट ने प्रस्तुत सन्दर्भ को नया रूप दिया है, जो पौराणिक प्रसग की अपेक्षा अधिक संगत है। उनके काव्य मे (१-१-१०) स्वयं राजीमती रैवतक पर्वत पर युवा नेमिकुमार को देखकर, उनके रूप पर मोहित हो जाती है और उसमे पूर्वराग का उदय होता है। उधर श्रीकृष्ण नेमिकुमार के माता-पिता के अनुरोध से ही उग्रसेन से विवाह-प्रस्ताव करते है। कीर्त्तिराज इस परिवर्तन से भी सन्तुष्ट नही हुए। उन्हे राजीमती जैसी सती का साधारण नायिका की भाँति नायक को देखकर कामाकुल होना औचित्यपूर्ण प्रतीत नही होता। फलतः नेमिनाथमहाकाव्य मे कृष्ण की पत्निया विविध तर्को तथा प्रलोभनो से नेमि को कामोन्मुख करने की चेष्टा करती है। उनके विफल होने पर माता शिवा उन्हे विवाह के लिए प्रेरित करती है, जिनके आग्रह को नेमिनाथ अस्वीकार नही कर सके (९.४-४१)। नेमि की स्वीकृति से उनके विवाह का प्रबन्ध करना निस्सन्देह अधिक विचारपूर्ण तथा उनके उदात्त चरित्र की गरिमा के अनुकूल है। इससे राजीमती के शील पर भी आच नही आती। कीर्त्तिराज ने प्रस्तुत सन्दर्भ के गठन मे अवश्य ही अधिक कौशल का परिचय दिया है।[८]

६. नेमिनाथमहाकाव्य, १०.२८-३७, ११.१-१९, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (पूर्वोक्त), पृ० २६१-२६२
तुलना कीजिए—सो ऊण रायकन्ना पव्वज्जं सा जिणस्स उ।
नीहासा य निराणन्दा सोगेण उ समुत्थया॥
उत्तराध्ययनसूत्र, २२.२८

७. हरिवंशपुराण, ५५.७१-७२,८४-१००, उत्तरपुराण, ७१.१४३-१७०
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में भी कृष्णपत्नियो तथा नेमिकुमार की जलक्रीडा का वर्णन है, किन्तु उसमें नेमि, श्रीकृष्ण की पत्नियों के अनुनय से, विवाह की स्वीकृति देते हैं। पूर्वोक्त अंग्रेजी अनुवाद, पृ. २५३-२५५

८. नेमिनाथमहाकाव्य के आधार स्रोतों के विस्तृत विवेचन के लिये देखिए काव्य के हमारे संस्करण की भूमिका, पृ. ३३-३८

नेमिनाथ महाकाव्य में प्रयुक्त कतिपय काव्यरूढियाँ

संस्कृत महाकाव्यों की रचना एक निश्चित ढर्रे पर हुई है जिससे उनमें अनेक शिल्पगत समानताएँ दृष्टिगम्य होती है। शास्त्रीय मानदण्डो के निर्वाह के अतिरिक्त उनमे कतिपय काव्यरूढियो का तत्परता से पालन किया गया है। यहा नेमिनाथ महाकाव्य मे प्रयुक्त दो रूढियों की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है, क्योंकि काव्य मे इनका विशिष्ट स्थान है तथा ये इन रूढियो के तुलनात्मक अध्ययन के लिये रोचक सामग्री प्रस्तुत करती है। प्रथम रूढि का संबंध प्रभात-वर्णन से है। प्रभात-वर्णन की परम्परा कालिदास तथा उनके परवर्ती अनेक महाकाव्यो मे उपलब्ध है। कालिदास का प्रभात-वर्णन (रघुवंश, ५.६६-७५), आकार मे छोटा होता हुआ भी, मार्मिकता मे वेजोड है। माघ का प्रभात-वर्णन बहुत विस्तृत है, यद्यपि प्रात.काल का इस कोटि का अलंकृत वर्णन समूचे साहित्य मे अन्यत्र दुर्लभ है। अन्य काव्यो मे प्रभात-वर्णन के नाम पर पिष्टपेषण अधिक हुआ है। कीर्त्तिराज का यह वर्णन कुछ लम्बा अवश्य है, किन्तु वह यथार्थता तथा सरसता से परिपूर्ण है। माघ की भांति उसने न तो दूर की कौडी फेंकी है और न वह ज्ञान-प्रदर्शन के फेर मे पडा है। उसने कुशल चित्रकार की भाति, अपनी प्राजल शैली मे, प्रातःकालीन प्रकृति के मनोरम चित्र अकित करके तत्कालीन वातावरण को उजागर कर दिया है।[९] मागधो द्वारा राजस्तुति, हाथी के जाग कर भी, मस्ती के कारण, आखे न खोलने तथा करवट बदल कर शृंखला-रव करने[१०] और घोडों द्वारा नमक चाटने की रूढि का भी, इस प्रसग में, प्रयोग किया गया है। अपनी स्वाभाविकता तथा मार्मिकता के कारण कीर्त्तिराज का यह वर्णन उत्तम प्रभात-वर्णनो से होड़ कर सकता है।

नायक को देखने को उत्सुक पौर युवतियो की आकुलता तथा तज्जन्य चेष्टाओं का वर्णन करना संस्कृत-महाकाव्यो की एक अन्य बहु-प्रचलित रूढि है, जिसका प्रयोग नेमिनाथ महाकाव्य मे भी हुआ है। बौद्ध कवि अश्वघोष से आरम्भ होकर कालिदास, माघ, श्रीहर्ष आदि से होती हुई यह रूढि कतिपय जैन महाकाव्यो का अनिवार्य-सा अंग बन गया है। अश्वघोष और कालिदास का यह वर्णन अपने सहज लावण्य से चमत्कृत है। परवर्ती कवियो के वर्णनो मे इन्हीं के भावो की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। माघ के वर्णन मे, उनके अन्य अधिकाश वर्णनो के समान, विलासिता की प्रधानता है। कीर्त्तिराज का सम्भ्रम-चित्रण यथार्थता से ओत-प्रोत है, जिससे पाठक के

९. ध्याने मन. स्वं मुनिभिर्विलम्बितं विलम्बितं कर्कशरोचिषा तमः।
सुष्वाप यस्मिन् कुमुदं प्रभासितं प्रभासितं पंकजबान्धवोपलं.॥
नेमिनाथकाव्य, २.४१.

१०. वही, २.५४

हृदय मे पुरसुन्दरियों की त्वरा सहसा प्रतिबिम्बित हो जाती है। नारी के नीवी-स्खलन अथवा अधोवस्त्र के गिरने का वर्णन, इस सन्दर्भ मे, प्रायः सभी कवियो ने किया है। कालिदास ने अधीरता को नीवी-स्खलन का कारण बता कर मर्यादा की रक्षा की है।[११] माघ ने इसका कोई कारण नही दिया जिससे उसका विलासी रूप अधिक मुखर हो गया है।[१२] नग्न नारी को जनसमूह मे प्रदर्शित करना जैन यति की पवित्रतावादी वृत्ति के प्रतिकूल था। अतः उसने इस रूढि को काव्य में स्थान नही दिया। इसके विपरीत काव्य मे उत्तरीय के गिरने का वर्णन किया गया है। शुद्ध नैतिकतावादी दृष्टि से तो शायद यह भी औचित्यपूर्ण नहो है किन्तु नीवी स्खलन की तुलना मे यह अवश्य क्षम्य है और कवि ने इसका जो कारण दिया है उससे तो पुरसुन्दरी पर कामुकता का दोष आरोपित ही नही किया जा सकता। कीर्त्तिराज की नायिका हाथ के आर्द्र प्रसाधन के मिटने के भय से, गिरते उत्तरीय को नही पकड़ती और उसी अवस्था मे वह गवाक्ष की ओर दौड जाती है।[१३]

प्रकृति-चित्रण

नेमिनाथ-महाकाव्य की भावसमृद्धि तथा काव्यमत्ता का प्रमुख कारण इसका मनोरम प्रकृति-चित्रण है, जिसके अन्तर्गत कवि की काव्य-प्रतिभा का भव्य उन्मेष हुआ है। कीर्त्तिराज का प्रकृति-वर्णन प्राकृतिक तथ्यो का कोरा आकलन नहीं अपितु सरसता से ओत-प्रोत तथा कविकल्पना से उद्भासित काव्यांश है। महाकाव्य के अन्य पक्षो की भाँति कवि ने प्रकृति-चित्रण मे भी अपनी सुरुचि का परिचय दिया है। कालिदासोत्तर महाकाव्य मे प्रकृति के उद्दीपन पक्ष की पार्श्वभूमि मे, उक्तिवैचित्र्य के द्वारा नायक-नायिकाओ के विलासितापूर्ण चित्र अंकित करने की परिपाटी है। प्रकृति के आलम्बन-पक्ष के प्रति उत्तरवर्ती कवियो का अनुराग नही है। कीर्त्तिराज ने भी प्रकृति-चित्रण मे वक्रोक्ति का आश्रय लिया है और पूर्ववर्ती कवियो की तरह ऋतु-वर्णन आदि प्रसंगो मे यमक का मुक्तता से प्रयोग किया है, किन्तु प्रकृति के स्वाभाविक रूप का अंकन करने मे उसका मन अधिक रमा है और इसमे ही उसकी काव्य-कला का उत्कृष्ट रूप व्यक्त हुआ है। उसके उन वर्णनों मे भी, जिन्हे आलंकारिक कहा जा सकता है, प्रकृति के स्वाभाविक रूप का चित्रण किया गया है।

११. जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्। रघुवंश, ७.६.

१२. अभिवीक्ष्य सामिकृतमण्डनं यती: कररुद्धनीवीगलदंशुका: स्त्रियः। शिशुपालवध, १३.३१

१३. काचित्कराद्र॑प्रतिकर्मभंगमयेन हित्वा पतदुत्तरीयम्।
मंजीरवाचालपदारविन्दा द्रुतं गवाक्षाभिमुखं चचाल॥ नेमिनाथमहाकाव्य, १०.१३

प्रकृति के आलम्बन पक्ष का चित्रण कीर्त्तिराज के सूक्ष्म पर्य्यवेक्षण का द्योतक है। वर्ण्य विषय के साथ तादात्म्य स्थापित करने के पश्चात् अंकित किये गये ये चित्र सजीवता से स्पन्दित है। अपने वर्णन को हृदयंगम तथा कल्पना से तरलित वनाने के लिए कवि ने विविध अलंकारों का सुरुचिपूर्ण प्रयोग किया है, परन्तु अलंकृति का यह झीना आवरण प्रकृति के सहज रूप का गोपन नही कर सकता। द्वितीय सर्ग के प्रभात-वर्णन के लिए यह उक्ति विशेष सार्थक है।[१४] हेमन्त में दिन क्रमशः छोटे होते जाते है और कुहासा उत्तरोत्तर बढता जाता है। सुपरिचित तथा सुरुचिपूर्ण उपमानों से कवि ने इस हेमन्तकालीन तथ्य का ऐसा मार्मिक निरूपण किया है कि उपमित विषय तुरन्त प्रस्फुटित हो गया है।

उपययौ शनकैरिह लाघवं दिनगणो खलराग इवानिशम्।
ववृधिरे च तुषारसमृद्धयोऽनुसमयं सुजनप्रणया इव ।।८.४४

पावस में दामिनी की दमक, वर्षा की अविराम फुहार तथा शीतल वयार मादक वातावरण की सृष्टि करती है। पवन-झकोरे खाकर मेघमाला मधुर-मन्द्र गर्जना करती हुई गगनागन में घूमती फिरती है। कवि ने वर्षाकाल के इस सहज दृश्य को पुनः उपमा के द्वारा अंकित किया है, जिससे अभिव्यक्ति को स्पष्टता तथा सम्पन्नता मिली है।

क्षरदभ्रजला कलगर्जिता सचपला चपलानिलनोदिता।
दिवि चचाल नवाम्बुदमण्डली गजघटेव मनोभवभूपतेः ।।८.३८

कवि की इस निरीक्षण शक्ति तथा ग्रहणशीलता के कारण प्रस्तुत पद्य में शरत् के समूचे प्रमुख गुण साकार हो गये हैं।

आपः प्रसेदुः कलमा विपेचुर्हंसाश्चुकूजुर्जहसु कजानि।
सम्भूय सानन्दमिवावतेरुः शरद्गुणाः सर्वजलाशयेषु ।।८ ८२

प्रकृति के आलम्बन पक्ष का सर्वोत्तम चित्रण वारहवे सर्ग मे, वन-वर्णन के अन्तर्गत, हुआ है। पक्षियो के कलरव से गुजित तथा विविध फल-फूलों से लदी वनराजि[१५], गीत की मधुर तान से मोहित मृगो के अपनी प्रियाओं के साथ चौकड़ी भरने[१६] तथा फलभार से झुके धान के खेतों की पक्षियो से रखवाली करने वाले भोले किसानो का स्वभावोक्ति द्वारा अनलंकृत वर्णन कवि के प्रकृति-प्रेम का प्रतीक है। इन

१४. द्रष्टव्य : यत्रेन्दुरस्ताचलचूलिकाश्रयी वभूव यावद् गलदंशुमण्डलः।
म्लानना तावदभूत्कुमुदवती कुलांगनानां चरितं ह्यदः स्फुटम्।।
वही, २.३२ तथा २.३४,४०,४१,४३,४७.

१५. वही, १२.४

१६. वही, १२.११

स्वभावोक्तियो मे कीर्त्तिराज का सच्चा कवित्व प्रकट हुआ है ।

शुकशारिकाद्विकपिकादिपक्षितः परिरक्ष्यमाणमभितः कृषीवलैः ।
प्रसमीक्ष्यतां स्वफलभारभंगुरं परिपक्वशालि वनमायतेक्षणि ।।१२.८

ह्रासकालीन महाकाव्य की प्रवृत्ति के अनुसार कीर्त्तिराज ने प्रकृति के उद्दीपन रूप का भी पल्लवन किया है। उद्दीपन रूप मे प्रकृति मानव की भावनाओं एवं मनोरागों को झकझोर कर उसे अधीर वना देती है ! ऋतु-वर्णन मे प्रकृति के उद्दीपन पक्ष के अनेक मनोहर चित्र अंकित हुए हैं । वसन्त के मोहक वातावरण में कामी जनो की विलासपूर्ण चेष्टाएं देखकर विरही पथिको के संयम का वांध टूट जाता है और वे अपनी प्रियाओ से मिलने को आतुर हो जाते हैं[१७] । हेमन्त का शीत वीतराग योगियो के मन को भी विचलित कर देता है[१८] । प्रस्तुत पंक्तियो में स्मरपटह के सदृश घनगर्जना विलासी जनो की कामाग्नि को प्रज्वलित कर रही है जिससे वे रणशूर, कामरण मे पराजित होकर, प्राणवल्लभाओ की मनुहार करने को विवश हो जाते है ।

स्मरपतेः पटहानिव वारिदान् निनदतोऽथ निशम्य विलासिनः ।
समदना न्यपतन्नवकामिनीचरणयो रणयोगविदोऽपि हि ।।८.३७

उद्दीपन पक्ष के इस वर्णन मे प्रकृति पृष्ठभूमि मे चली गयी है और प्रेमी युगलो का भोग-विलास प्रमुख हो गया है, किंतु इसकी गणना उद्दीपन के अन्तर्गत ही की जाएगी।

प्रियकरः कठिनस्तनकुम्भयोः प्रियकरः सरसार्तवपल्लवैः ।
प्रियतमां समवीजयदाकुलां नवरतां वरतान्तलतागृहे ।।८.२३

नेमिनाथ महाकाव्य मे प्रकृति का मानवीकरण भी किया गया है। प्रकृति पर मानवीय भावनाओ तथा कार्यकलापो का आरोप करने से उसमें प्राणो का स्पन्दन होता है और वह मानव की तरह आचरण करने लगती है। प्रकृति के मानवीकरण से कीर्त्तिराज ने मानव तथा प्रकृति के सहज साहचर्य को रेखांकित किया है। प्रातःकाल, सूर्य के उदित होते ही, कमलिनी विकसित हो जाती है और भौंरे उसका रसपान करने लगते है। कवि ने इसका चित्रण सूर्य पर नायक और भ्रमरो पर परपुरुष का आरोप करके किया है। अपनी प्रेयसी को पर पुरुषो से चुम्बित देखकर सूर्य (पति) क्रोध से लाल हो गया है और कठोर पादप्रहार से उस व्यभिचारिणी को दण्डित कर रहा है ।

१७ वही, ८.२०
१८. वही, ८ ५२

यत्र भ्रमद्भ्रमराननामवेक्ष्य कोपादिव मूध्नि पद्मिनीम् ।
स्वप्रेयसीं लोहितमूर्तिमावहन् कठोरपादैर्निजघान तापन. ।।२.४२

निम्नोक्त पद्य मे लताओ को प्रगल्भा नायिकाओ के रूप मे चित्रित किया गया है, जो पुष्पवती होती हुई तरुणों के साथ बाह्य रति मे लीन है ।

कोमलांग्योऽपि लताकान्ता: प्रवृत्ता यस्य कानने ।
पुष्पवत्योऽप्यहो चित्रं तरुणालिंगनं व्यधु: ।।१.४१

काव्य मे प्रकृति का अलंकृत चित्रण कवि-कल्पना से दीपित है । विविध अलंकारो का आश्रय लेकर कीर्त्तिराज ने प्रकृति का जो वर्णन किया है वह उसकी काव्य-प्रतिभा का परिचायक है । इस कल्पनाशीलता के कारण सामान्य प्राकृतिक पदार्थो का वर्णन भी काव्य-सुषमा के उच्च धरातल का स्पर्श करता है । मेरु की उपत्यका का श्यामल वन ऐसा प्रतीत होता है मानो कटिप्रदेश से गिरा उसका नील परिधान हो (५.२६) । सरोवरो मे खिले कमलो की पक्तियां, जिन पर भौरे बैठे थे, ऐसी शोभित हुई मानो जलदेवता ने शरत् के नवीन सौन्दर्य देखने के लिये नाना प्रकार से अपनी आखे उघाडी हो ।

समधुपा' स्मितपंकजपंक्तयो रुरुचिरे रुचिरेषु सर.स्वथ ।
नवशरच्छ्रियमीक्षितुमातनोदिव दृश. शतधा जलदेवता ।।८.४१

अलकृत वर्णन के अन्तर्गत कीर्त्तिराज ने कही-कही दूर की कौडी फेंकी है । मेरुपर्वत को खलिहान के मध्यवर्ती खूटे का रूप देने की आतुरता के कारण, रूपक की पूर्ति के लिये, ज्योतिश्चक्र, अन्धकार तथा आकाश पर क्रमश: बैलों, अन्न तथा खलिहान का आरोप करना दूरारूढ़ कल्पना है ।

ज्योतिष्कचक्रोक्षकदम्बकेन दिने रजन्यां ज विगाह्यमाने ।
तमोऽन्नभृद्व्योमखले विशाले दधाति यश्चान्तरकीलकत्वम् ।।५.४६

इस प्रकार कीर्त्तिराज ने प्रकृति के विविध रूपों का विविध शैलियों मे वर्णन किया है । पूर्ववर्ती संस्कृत महाकाव्यकारो की भाँति उसने प्रकृतिचित्रण मे यमक की व्यापक योजना की है, किन्तु उसका यमक न केवल दुरूहता से मुक्त है अपितु इससे प्रकृति-वर्णन की प्रभावशालिता मे वृद्धि हुई है ।

सौन्दर्य-चित्रण

नेमिनाथ-महाकाव्य मे कतिपय पात्रो के कायिक सौन्दर्य का हृदयग्राही चित्रण किया गया है, किन्तु कवि की कला की विभूति राजीमती तथा देवांगनाओ के चित्रों को ही मिली है । चिर-प्रतिष्ठित परम्परा के अनुरूप कीर्त्तिराज ने नखशिखविधि से अपने पात्रो के अंगो-प्रत्यगो के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है । वर्णन-प्रणाली की भाँति उसके अधिकतर उपमान भी चिरपरिचित तथा रूढ़ है, किन्तु उसकी काव्य-

प्रतिभा के कारण उसके सभी सौन्दर्य-वर्णनों मे वरावर रोचकता वनी रहती है। नवीन उपमान उसकी काव्यकला को हृदयंगम वनाने मे सहायक सिद्ध हुए हैं। निम्नोक्त पद्य में देवागनाओं की जघनस्थली की तुलना कामदेव की आसनगद्दी से की गयी है, जिससे उसकी पुष्टता तथा विस्तार का तुरन्त भान हो जाता है।

वृता दुकूलेन सुकोमलेन विलग्नकांचीगुणजात्यरत्ना।
विभाति यासां जघनस्थली सा मनोभवस्यासनगद्दिकेव ॥६.४७

इसी प्रकार राजीमती की जघाओ को कदलीस्तम्भ तथा कामगज के आलान के रूप मे चित्रित करके एक ओर उनकी सुडौलता तथा शीतलता को व्यक्त किया गया है, दूसरी ओर उनकी वशीकरण-क्षमता का सकेत कर दिया गया है।

वभावुरुयुगं यस्या' कदलीस्तम्भकोमलम् ।
आलान इव दुर्दन्त-मीनकेतन-हस्तिनः ॥ ६.५५

नेमिनाथ महाकाव्य मे उपमान की अपेक्षा उपमेय अंगों का वैशिष्ट्य वता कर व्यतिरेक के द्वारा पात्रो का सौन्दर्य चित्रित करने की विधि भी अपनायी गयी है। नवयौवना राजीमती के लोकोत्तर सुख-सौन्दर्य को कवि ने इसी पद्धति से संकेतित किया है। उसकी मुख-माधुरी से परास्त होकर लावण्यनिधि चन्द्रमा मुह छिपाने के लिये आकाश मे मारा-मारा फिर रहा है।

यस्या वक्त्रजितः शंके लाघवं प्राप्य चन्द्रमाः ।
तूलवद् वायुनोत्क्षिप्तो वम्भ्रमीति नभस्तले ॥ ६.५२

रसयोजना

परिवर्तनशील मनोरागो का यथातथ्य चित्रण करने मे कीर्त्तिराज की सिद्धिहस्तता निर्विवाद है। उसकी तूलिका का स्पर्श पाकर साधारण से साधारण प्रसग भी रससिक्त हो गया है। कवि के इस कौशल के कारण, धार्मिक वृत्त पर आधारित होता हुआ भी, नेमिनाथमहाकाव्य पाठक को तीव्र रसानुभूति कराता है। शास्त्रीय नियम तथा काव्य के उद्देश्य एवं प्रकृति के अनुरूप इसमे शान्तरस की प्रधानता मानना न्यायोचित होगा, यद्यपि इसमे अंगीरस-सुलभ तीव्रता का अभाव है। करुण, शृंगार, रौद्र आदि का भी काव्य में यथोचित परिपाक हुआ है। अधिकांश जैन काव्यों की भाँति नेमिनाथमहाकाव्य का पर्यवसान शान्त रस मे होता है। शान्तरस का आधारभूत तत्त्व (स्थायी भाव) निर्वेद है, जो काव्य-नायक के जीवन मे आद्यन्त अनुस्यूत है। और अन्ततः वे केवलज्ञान के सोपान से ही परम पद की अट्टालिका मे प्रवेश करते हैं। वधूगृह के ग्लानिपूर्ण हिंसक दृश्य को देखकर तथा कृष्ण-पत्नियों की कामुकतापूर्ण युक्तियां सुनकर उनकी वैराग्यशीलता का प्रवल होना स्वाभाविक था। इन प्रसंगो मे शान्त रस की यथेष्ट अभिव्यक्ति हुई है। नेमिप्रभु की देशना का प्रस्तुत अंश

मनुष्य को विषय-आकर्षणों तथा सम्बन्धों की क्षणिकता का भान करा कर उसे मोक्ष की ओर उन्मुख करता है।

> **दिवसो यथा नहि विना दिनेश्वरं सुकृतं विना न च भवेत्तथा सुखम् ।**
> **तदवश्यमेव विदुषा सुखार्थिना सुकृतं सदैव करणीयमादरात् ।। १२.४४**
> **विघटते स्वजनश्च सुहृज्जनो विघटते च वपुर्विभवोऽपि च ।**
> **विघटते नहि केवलमात्मनः सुकृतमत्र परत्र च संचितम् ।। १२.४७**

नेमिनाथमहाकाव्य के कथानक की मूल प्रकृति शृंगार रस से असम्पृक्त है। वह आमूल-चूल निर्वेद से अनुप्राणित है। काव्य के केवल एक-दो प्रसगों मे शृंगार की आभा दिखाई देती है। देवागनाओ तथा राजीमती के सौन्दर्य-वर्णन मे शृंगार के आलम्बन विभाव की प्रतिष्ठा है। श्रीकृष्ण की पत्नियो की प्रलोभनकारी उक्तियो में नारी को संसार का सार तथा यौवन की सार्थकता के लिये उसका भोग आवश्यक माना गया है[१९]। ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत शृगार के अनेक रमणीक चित्र अंकित हुए हैं। प्रकृति के उद्दीपन रूप से विचलित होकर प्रेमी युगलो के कामकेलियों मे प्रवृत्त होने का संकेत प्रकृति-चित्रण के प्रकरण मे किया गया है। वसन्त-वर्णन के निम्नलिखित पद्य मे शृगार रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। उपवन के मादक वातावरण मे कामाकुल नायिका नए छैल पर रीझ गयी है। उसने उसे पुष्पचयन से विमुख कर तत्काल अपने मोहजाल मे बांध लिया है।

> **उपवने पवनेरितपादपे नवतरं बत रंतुमना' परा ।**
> **सकरुणा करुणावचये प्रियं प्रियतमा यतमानमवारयत् ।। ८.२२**

नेमिनाथमहाकाव्य में गौण रसों मे, शृंगार के पश्चात् करुणरस का स्थान है। अप्रत्याशित प्रत्याख्यान से शोकतप्त राजीमती के विलाप में करुण रस की सृष्टि हुई है। कुमारसम्भव के रतिविलाप की भांति यद्यपि इसमें उपालम्भ तथा क्रन्दन अधिक है तथापि यह हृदय की गहराई को छूने में समर्थ है।

> **अथ भोजनरेन्द्र पुत्रिका प्रवियुक्ता प्रभुणा तपस्विनी ।**
> **व्यलपद् गलदश्रुलोचना शिथिलांगा लुठिता महीतले ।। ११.१**
> **मयि कोऽयमधीश ! निष्ठुरो व्यवसायस्तव विश्ववत्सल !**
> **विरहय्य निजा· स्वधर्मिणीर्नहि तिष्ठन्ति विहंगमा अपि ।। ११.२**
> **अपराधमृते विहाय मां यदि तामाद्रियसे व्रतस्त्रियम् ।**
> **बहुभि· पुरुषै· पुरा धृतां नहि तन्नाथ ! कुलोचितं तव ।। ११.४**

रौद्र रस का परिपाक पाचवें सर्ग मे, इन्द्र के क्रोध के वर्णन मे, हुआ है।

१९ **फलं यौवनवृक्षस्य द्राग् गृहाण विचक्षण ।** वही, ९.११
संसारे सारभूतो य· किलायं प्रमदाजनः । वही, ९.१५

सहसा सिंहासन हिलने से देवराज क्रोध से उन्मत्त हो जाता है। उसकी कोप-जन्य चेष्टाओ मे रौद्ररस के अनुभावो की भव्य अभिव्यक्ति हुई है। क्रोध से उसके माथे पर तेवड़ पड़ जाते है, भौहे सांप-सी भीषण हो जाती हैं, आंखे आग बरसाने लगती हैं और दाँत किटकिटा उठते है।

> ललाटपट्टं भ्रकुटीभयानकं भ्रुवौ भुजंगाविव दारुणाकृती।
> दृश करालाः ज्वलिताग्निकुण्डवच्चण्डार्यमाभं मुखमादधेऽसौ ॥
> ददंश दन्तै रुषया हरिर्निजौ रसेन शच्या अधराविवाधरौ।
> प्रस्फोरयामास करावितस्ततः क्रोधद्रुमस्योल्बणपल्लवाविव ॥ ५.३-४

प्रतीकात्मक सम्राट् मोह के दूत तथा सयमराज के नीतिनिपुण मन्त्री विवेक की उक्तियो मे ग्यारहवे सर्ग मे, वीर रस की कमनीय झाँकी देखने को मिलती है।

> यदि शक्तिरिहास्ति ते प्रभोः प्रतिगृह्णातु तदा तु तान्यपि।
> परमेष विलोलजिह्वया कपटी भापयते जगज्जनम् ॥ ११.४४

चरित्रचित्रण

नेमिनाथमहाकाव्य के सक्षिप्त कथानक मे पात्रों की सख्या भी सीमित है। कथानायक नेमिनाथ के अतिरिक्त उनके पिता समुद्रविजय, माता शिवादेवी, राजीमती, उग्रसेन, प्रतीकात्मक सम्राट् मोह तथा सयम और दूत कैतव एवं मन्त्री विवेक काव्य के पात्र है। परन्तु इन सब की चरित्रगत विशेषताओ का निरूपण करने मे कवि को समान सफलता नही मिली है।

नेमिनाथ

जिनेश्वर नेमिनाथ काव्य के नायक हैं। उनका चरित्र मूल पौराणिक परिवेश मे प्रस्तुत किया गया है। वे देवोचित विभूति तथा शक्ति से सम्पन्न है। उनके धरा पर अवतीर्ण होने से ही समुद्रविजय के समस्त शत्रु निस्तेज हो जाते है। दिक्कुमारियां उनका सूतिकर्म करती हैं तथा उनके जन्माभिषेक के लिये स्वयं सुरपति इन्द्र जिनगृह मे आता है। पाँचजन्य को फूकना तथा शक्तिपरीक्षा मे षोडशकला सम्पन्न श्रीकृष्ण को पराजित करना उनकी दिव्य शक्तिमत्ता के प्रमाण है।

नेमिनाथ का समूचा चरित्र विरक्ति के केन्द्रविन्दु के चारो ओर घूमता है। वे वीतराग नायक हैं। यौवन की मादक अवस्था मे भी वैषयिक सुख उन्हे अभिभूत नही कर पाते। कृष्ण-पत्नियाँ नाना प्रलोभन तथा तर्क देकर उन्हे विवाह करने को प्रेरित करती है, किन्तु वे हिमालय की भांति अडिग तथा अडोल रहते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि वैषयिक सुख परमार्थ के शत्रु हैं। उनसे आत्मा उसी प्रकार तृप्त नही होती जैसे जलराशि से सागर और काठ से अग्नि। उनके विचार मे कामातुर मूढ ही धर्मौपधि को छोड़ कर नारी रूपी औपध का सेवन करता है। वास्तविक

सुख ब्रह्मलोक में विद्यमान है।

हितं धर्मौषधं हित्वा मूढाः कामज्वरार्दिताः।
मुखप्रियमपथ्यन्तु सेवन्ते ललनौषधम् ॥ ६.२४

माता-पिता के प्रेम ने, उन्हे उस सुख की प्राप्ति के मार्ग से एक पग ही हटाया था कि उनकी वैराग्यशीलता तुरन्त फुफकार उठती है। वधूगृह मे भोजनार्थ वध्य पशुओ का आर्त्त क्रन्दन सुनकर उनका निर्वेद प्रबल हो जाता है और वे विवाह को बीच मे ही छोड कर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते है। उनकी साधना की परिणति शिवत्व-प्राप्ति मे होती है। अदम्य काम को पराजित करना उनकी धीरप्रशान्तता की प्रतिष्ठा है।

समुद्रविजय

यदुपति समुद्रविजय कथानायक के पिता है। उनमे समूचे राजोचित गुण विद्यमान है। वे रूपवान्, शक्तिशाली, ऐश्वर्यसम्पन्न तथा प्रखर मेधावी है। उनके गुण अलंकरणमात्र नही है। वे व्यावहारिक जीवन मे उनका उपयोग करते हे। (शक्तेरनुगुणाः क्रियाः १.३९)। समुद्रविजय तेजस्वी शासक हैं। उनके बन्दी के शब्दों में अग्नि तथा सूर्य का तेज भले ही शान्त हो जाए, उनका पराक्रम अप्रतिहत है (७.२५)। उनके सिंहासनारूढ होते ही उनके शत्रु म्लान हो जाते है। फलतः शत्रु-लक्ष्मी ने उनका इस प्रकार वरण किया जैसे नवयौवना बाला विवाहवेला मे पति का। उनका राज्य पाशविक बल पर आश्रित नहीं है। वे केवल क्षमा को नपुसकता और निर्बाध प्रचण्डता को अविवेक मान कर, इन दोनों के समन्वय के आधार पर ही राज्य का संचालन करते हैं (१.४३)। 'न खरो न भूयसा मृदु' उनकी नीति का मूल मन्त्र है। प्रशासन के चारु सचालन के लिये उन्होंने न्यायप्रिय तथा शास्त्रवेत्ता मन्त्री नियुक्त किये है (१.४७)। उनके स्मितकान्त ओष्ठ मित्रो के लिये अक्षय कोश लुटाते हैं, तो उनकी भ्रूभगिमा शत्रुओ पर वज्रपात करती है। (१.५२)। प्रजाप्रेम समुद्रविजय के चरित्र का विशिष्ट गुण है। यथोचित करव्यवस्था से उसने सहज ही प्रजा का विश्वास प्राप्त कर लिया (आकाराय ललौ लोकाद् भागधेय न तृष्णया—१ ४५)

समुद्रविजय पुत्रवत्सल पिता हैं। पुत्रजन्म का समाचार सुनकर उनकी बाछें खिल जाती है। पुत्रप्राप्ति के उपलक्ष्य मे वे मुक्तहस्त से धन वितरित करते है, बन्दियो को मुक्त कर देते हैं तथा जन्मोत्सव का ठाटदार आयोजन करते है, जो निरन्तर बारह दिन चलता है। समुद्रविजय अन्तस् से धार्मिक व्यक्ति है। उनका धर्म सर्वोपरि है। आर्हत धर्म उन्हे पुत्र, पत्नी, राज्य तथा प्राणो से भी अधिक प्रिय है (१.४२)।

इस प्रकार समुद्रविजय त्रिवर्गसाधन मे रत हैं। सुव्यवस्था तथा न्यायपरा-

ग्रणता के कारण उनके राज्य मे समय पर वर्षा होती है, पृथ्वी रत्न उपजाती है और प्रजा चिरजीवी है। और वे स्वयं राज्य को इस प्रकार निश्चिन्त होकर भोगते हैं जैसे कामी कामिनी की कचन-काया को।

समृद्धमभजद्राज्यं स समस्तनयामलम्।
कामीव कामिनीकायं ससम-स्तन-यामलम्॥ १.५४

राजीमती

राजमती काव्य की दृढनिश्चयी सती नायिका है। वह शील-सम्पन्न तथा अतुल रूपवती है। उसे नेमिनाथ की पत्नी बनने का सौभाग्य मिलने लगा था, किंतु क्रूर विधि ने, पलक झपकते ही, उसकी नवोदित आशाओं पर पानी फेर दिया। विवाह मे भावी व्यापक हिंसा से उद्विग्न होकर नेमिनाथ दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। इस अकारण निराकरण से राजीमती स्तब्ध रह जाती है। बन्धुजनों के समझाने बुझाने से उसके तप्त हृदय को सान्त्वना तो मिलती है, किन्तु उसका जीवन कोश रीत चुका है। वह मन से नेमिनाथ को सर्वस्व अर्पित कर चुकी थी, अत: उसे ससार मे अन्य कुछ भी ग्राह्य नही। जीवन की सुख-सुविधाओ तथा प्रलोभनो का तृणवत् परित्याग कर वह तप का कंटीला मार्ग ग्रहण करती है और केवलज्ञानी नेमिप्रभु से पूर्व परम पद पाकर अद्भुत सौभाग्य प्राप्त करती है।

उग्रसेन

भोजपुत्र उग्रसेन का चरित्र मानवीय गुणो से भूपित है। वह उच्चकुल-प्रसूत तथा नीतिकुशल शासक है। वह शरणागतवत्सल, गुणरत्नों की निधि तथा कीर्त्तिलता का कानन है। लक्ष्मी तथा सरस्वती, अपना परम्परागत वैर छोड़ कर, उसके पास एक-साथ रहती हैं। विपक्षी नृपगण उसके तेज से भीत होकर कन्याओं के उपहारों से उसका रोष शान्त करते है।

अन्य पात्र

शिवादेवी नेमिनाथ की माता है। काव्य मे उसके चरित्र का विकास नही हुआ है। प्रतीकात्मक सम्राट् मोह तथा संयम राजनीतिकुशल शासको की भाँति आचरण करते है। मोहराज दूत कैतव को भेज कर संयम-नृपति को नेमिनाथ का हृदय-दुर्ग छोड़ने का आदेश देता है। दूत पूर्ण निपुणता से अपने स्वामी का पक्ष प्रस्तुत करता है। संयमराज का मन्त्री विवेक दूत की उक्तियो का मुँह तोड़ उत्तर देता है।

भाषा

नेमिनाथमहाकाव्य की सफलता का अधिकांश श्रेय इसकी प्रसादपूर्ण तथा प्राजल भापा को है। उक्तिवैचित्र्य, अलकरणप्रियता आदि समकालीन प्रवृत्तियों के

प्रबल आकर्षण के समक्ष आत्म-समर्पण न करना कीर्त्तिराज की भाषात्मक सुरुचि का द्योतक है। नेमिनाथमहाकाव्य की भाषा महाकाव्योचित गरिमा तथा प्राणवत्ता से मण्डित है। कवि का भाषा पर यथेष्ट अधिकार है किन्तु अनावश्यक अलंकरण की ओर उसकी प्रवृत्ति नही है। इसीलिये उसके काव्य मे भावपक्ष और कलापक्ष का मनोरम समन्वय है। नेमिनाथमहाकाव्य की भाषा की मुख्य विशेषता उसका सन्तुलन है। वह प्रत्येक भाव अथवा परिस्थिति को तदनुकूल शब्दावली मे व्यक्त करने मे समर्थ है किन्तु प्रांजलता की अन्तर्धारा उसमे सर्वत्र प्रवाहित है। श्लेप तथा यमक जैसे शब्दालंकार भी उसकी प्रांजलता को आहत नही कर सके। भावानुकूल शब्दो के विवेकपूर्ण चयन तथा कुशल गुम्फन से ध्वनिसौन्दर्य की सृष्टि करने मे कवि सिद्ध-हस्त है। अनुप्रास तथा यमक के विवेकपूर्ण प्रयोग से काव्य मे मधुर झंकृति का समावेश हो गया है। प्रस्तुत पद्य मे यह विशेषता देखी जा सकती है।

गुरुणा च यत्र तरुणाऽगुरुणा वसुधा क्रियते सुरभिर्वसुधा।
कमनातुरैति रमणैकमना रमणी सुरस्य शुचिहारमणी ॥ ५.५१

यद्यपि समूचा काव्य प्रसाद-गुण की माधुरी से ओत-प्रोत है, किन्तु सातवे तथा नवें सर्ग मे प्रसाद का सर्वोत्तम रूप दीख पड़ता है। इनमे जिस सहज, सरल तथा सुवोध भाषा का प्रयोग हुआ है, उस पर साहित्यदर्पणकार की यह उक्ति 'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः' अक्षरशः चरितार्थ होती है। कोमल भावो के चित्रण मे वैदर्भी का उदात्त रूप विद्यमान है जिसमे माधुर्यव्यजक समासहीन अथवा अल्पसमास युक्त पदावली का प्रयोग विहित है। नेमिनाथकाव्य के शृगार आदि प्रसंग वस्तुत अल्पसमास वाली पदावली मे निबद्ध है। युवा नेमिनाथ को विषय भोगो की ओर आकृष्ट करने के लिये भापा की सरलता के साथ कोमलता भी आव-श्यक थी।

विवाहय कुमारेन्द्र ! बालाश्चंचललोचनाः।
भुक्ष्व भोगान् समं ताभिरप्सरोभिरिवामरः॥ ९,१२
हेमाब्जगर्भगौरांगीं मृगाक्षीं कुलबालिकाम्।
ये नोपभुजते लोका वेधसा वंचिता हि ते॥ ९.१४

कठोर प्रसगो की भापा ओज से परिपूर्ण है। ओजव्यंजक शब्दो के द्वारा यथेष्ट वातावरण का निर्माण करके कवि ने भावव्यंजना को अतीव समर्थ वनाया है। पांचवे सर्ग मे, इन्द्र के क्रोध-वर्णन मे, जिस पदावली की योजना की गयी है, वह अपने वेग तथा नाद से हृदय मे स्फूर्ति का सचार करती है। इस दृष्टि से यह पद्य विशेप दर्शनीय है।

विपक्षपक्षक्षयवद्धकक्षः विद्युल्लतानामिव संचयं तत्।
स्फुरत्स्फुलिगं कुलिशं करालं ध्यात्वेति यावत्स जिघृक्षति स्म॥ ५.६

कीर्त्तिराज की भापा मे विम्ब-निर्माण की पूर्ण क्षमता है। सम्भ्रम के चित्रण की भापा त्वरा तथा वेग से पूर्ण है। अपने इस कौशल के कारण कवि, दसवें सर्ग मे, पौर स्त्रियो की अधीरता तथा नायक को देखने की उत्सुकता को मूर्त रूप देने मे समर्थ हुआ है। देवसभा के इस वर्णन मे, इन्द्र के सहसा प्रयाण से उत्पन्न सभासदों की आकुलता, उपयुक्त शब्दावली के प्रयोग से, साकार हो गयी है।

दृष्टिं ददाना सकलासु दिक्षु किमेतदित्याकुलितं ब्रुवाणा।
उत्थानतो देवपतेरकस्मात् सर्वापि चुक्षोभ सभा सुधर्मा ॥ ५.१८

नेमिनाथमहाकाव्य सूक्तियो और लोकोक्तियो का विशाल कोश है। ये कवि के लोक ज्ञान की द्योतक है तथा काव्य की प्रभावकारिता मे वृद्धि करती है। कतिपय रोचक सूक्तिया यहां उद्धृत की जाती हैं।

१. ही प्रेम तद्यद्वशवर्त्तिचित्तः प्रेत्यति दु खं सुखरूपमेव। २.४३
२. उच्चै स्थितिर्वा क्व भवेज्जडानाम्। ६.१३
३. काले रिपुमप्याश्रयेत्सुधी। ८.४६
४. शुद्धिर्न तपो विनात्मन। ११. २३
५. सुकृतैर्यशो नियतमाप्यते। १२.७

इन गुणो से भूपित होती हुई भी नेमिनाथकाव्य की भापा मे कतिपय दोप हैं, जिनकी ओर संकेत न करना अन्यायपूर्ण होगा। काव्य मे कतिपय ऐसे स्थलो पर विकट समासान्त पदावली का प्रयोग किया गया है, जहां उसका कोई औचित्य नही है। युद्धादि के वर्णन में तो समास-वहुला भापा अभीप्ट वातावरण के निर्माण में सहायक होती है, किन्तु मेरु-वर्णन के प्रसंग मे क्या सार्थकता है (५.५२)? इसके अतिरिक्त कवि ने यत्र-तत्र छन्द पूर्ति के लिए अतिरिक्त पद ठूंस दिये हैं, 'स्वकान्त-रक्ता' के पश्चात्' पतिव्रता' का (२.३७), 'शुक' के साथ 'वि' का (२.५८), 'मराल' के साथ 'खग' का (२.५९), 'विशारद' के साथ 'विशेप्यजन' का (११.१९) तथा 'वदन्ति' के साथ 'वाचम्, का (३.१८) का प्रयोग सर्वथा आवश्यक नही है। इनसे एक ओर, इन स्थलो पर, छन्दप्रयोग मे कवि की असमर्थता प्रकट होती हैं, दूसरी ओर यहां वह काव्य दोप आ गया है, जो साहित्यशास्त्र मे 'अधिक' नाम से ख्यात है। उदग्रसाधनम् (२.३८) मे अश्लीलता व्यग्य है। वारिजलाशये (८.३१), प्रमदवारिवारिधि. (९.६५) तथा ध्वनिनादवाचाल (१०.४६) में व्यग्य का शब्द द्वारा कथन किया गया है। 'अथ यत्तव रोचतेतराम्' (११.३९) में पष्ठी के व्याकरण विरुद्ध होने से च्युतिसंस्कृति दोप है। १२-३५ मे उपमेय के वहुवचन तथा उपमान के एकवचन मे होने से भग्नप्रक्रमता दोप से दूपित है।

विद्वता-प्रदर्शन

नेमिनाथकाव्य की भापा का दूसरा पक्ष उन कलावाजियो मे दृष्टिगत होता

है, जो भारवि से आरम्भ होकर उत्तरवर्ती कवियों द्वारा सोत्साह ग्रहण की गयी है। शैली मे अधिकतर कालिदास के पदचिह्नो पर चलते हुए भी कीर्त्तिराज ने, अन्तिम सर्ग मे, चित्रकाव्य के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने तथा अपने पाण्डित्य की प्रतिष्ठा करने का साग्रह प्रयत्न किया है। सौभाग्यवश ऐसे पदों की संख्या अधिक नही है। सम्भवतः, वे इनके द्वारा सूचित कर देना चाहते है कि मैं समवर्ती काव्यशैली से अनभिज्ञ अथवा चित्रकाव्य-रचना मे असमर्थ नही हूं किन्तु सुरुचि के कारण वह मुझे ग्राह्य नही है। आश्चर्य यह है कि नेमिनाथ महाकाव्य मे इस शाब्दिक क्रीड़ा की योजना केवलज्ञानी नेमिप्रभु की वन्दना के अन्तर्गत की गयी है। इस साहित्यिक जादूगरी मे अपनी निपुणता का प्रदर्शन करने के लिए कवि ने भाषा का निर्मम उत्पीड़न किया है, जिससे इस प्रसग मे वह दुरूहता से आक्रान्त हो गयी है।

कीर्त्तिराज का चित्रकाव्य बहुधा पादयमक की नीव पर आधारित है, जिसमे समूचे चरण की आवृत्ति की है; यद्यपि उसके अन्य रूपो का समावेश करने के प्रलोभन का भी वह सवरण नही कर सका। प्रस्तुत जिनस्तुति का आधार पादयमक है।

पुण्य ! कोपचयदं न तावकं पुण्यकोपचयदं न तावकम्।
दर्शनं जिनप ! यावदीक्ष्यते तावदेव गदड्.स्थतादिकम् ॥ १२.३३

निम्नोक्त पद्य मे एकाक्षरानुप्रास है। इसकी रचना केवल एक व्यजन 'त' पर आश्रित है, यद्यपि इसमे तीन स्वर भी प्रयुक्त हुए है।

अतीतान्तेत एतां ते तन्तन्तु तततातततिम्।
ऋततां तां तु तोतोत्तू तातोऽततां ततोन्ततुत् ॥ ११.३७

प्रस्तुत पद्य की रचना अर्ध प्रतिलोमविधि से हुई है। अतः इसके पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध को, आरम्भ तथा अन्त से एक समान पढ़ा जा सकता है।

तुद मे ततदम्भत्वं त्वं भदन्ततमेद तु।
रक्ष तात ! विशामीश ! शमीशावितताक्षर ॥ १२.३८

इन दो पद्यो की पदावली मे पूर्ण साम्य है, किन्तु पद योजना तथा विग्रह के वैभिन्न्य के आधार पर इनसे दो स्वतन्त्र अर्थ निकलते है। साहित्यशास्त्र की शब्दावली मे इसे महायमक कहा जायेगा।

महामदं भवारागहारिं विग्रहहारिणम्।
प्रमोदजाततारेनं श्रेयस्करं महाप्तकम् ॥
महाम दम्भवारागहारिं विग्रहहारिणम्।
प्रमोदजाततारेनं श्रेयस्करं महाप्तकम् ॥ १२.४१-४२

इस कोटि के पद्य कवि के पाण्डित्य, रचना-कौशल तथा भाषाधिकार को

सूचित अवश्य करते है, किन्तु इनसे रसचर्वणा मे अवांछनीय बाधा आती है। टीका के विना इनका वास्तविक अर्थ समझना प्राय. असम्भव है। संतोष यह है माघ, वस्तुपाल आदि की भाति, इन प्रहेलिकाओ का पूरे सर्ग मे सन्निवेश न करके, कीर्त्तिराज ने अपने पाठको को बौद्धिक व्यायाम से बचा लिया है।

अलंकारविधान

प्रकृति-चित्रण आदि के समान अलंकारों के प्रयोग मे भी कीर्तिराज ने सुरुचि तथा सूझबूझ का परिचय दिया है। अलंकार भावाभिव्यक्ति में कितने सहायक हो सकते हैं, नेमिनाथकाव्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है। कीर्त्तिराज की इस सफलता का रहस्य यह है कि उसने अलंकारो का सन्निवेश अपने ज्ञान-प्रदर्शन अथवा काव्य को अलकृत करने के लिए नही अपितु भावो को सम्पन्नता प्रदान करने के लिए किया है। उसे ज्ञात है कि अनावश्यक अलकरण काव्यरत्न मे अवांछनीय बाधा उत्पन्न करता है—(अतिभूषणाद् भवति नीरसो यत: १२.१०)। नेमिनाथ-महाकाव्य के अलंकारो का सौन्दर्य इसके अप्रस्तुतो पर आधारित है। उपयुक्त अप्रस्तुतो का चयन कवि की पैनी दृष्टि, अनुभव, मानव-प्रकृति के ज्ञान, संवेदन-शीलता तथा सजगता पर निर्भर है। कीर्तिराज ने जीवन के विविध पक्षो से उपमान ग्रहण किये हैं। उसके अप्रस्तुत अधिकतर उपमा तथा उत्प्रेक्षा के रूप मे प्रकट हुए हैं। उनसे वर्णित भाव तथा विषय किस प्रकार स्पष्ट तथा समृद्ध हुए है, इसके दिग्दर्शन के लिये कतिपय उदाहरण आवश्यक हैं।

प्रभु के दर्शन मे इन्द्र का क्रोध ऐसे शान्त हो गया जैसे अमृतपान से ज्वरपीड़ा और वर्षा से दावाग्नि (५.१४)। जहाँ ज्वरार्ति और दावाग्नि देवराज के क्रोध की प्रचण्डता का बोध कराती हैं वहाँ अमृतपान तथा वर्षा उपमानो से उसके सहसा शान्त होने का भाव स्पष्ट हो गया है। नेमिप्रभु ने अपनी सुधा-शीतल वाणी से यादवो को इस प्रकार प्रबोध दिया जैसे चन्द्रमा कुमुदों को विकसित करता हैं (१०.३५)। कुमुदो को खिलते देख कर भलीभांति अनुमान किया जा सकता है कि यादवों को कैसे बोध मिला होगा! नेमि को अचानक वधूगृह से लौटते देखकर यादव उनके पीछे ऐसे दौड़े जैसे व्याध से भीत हरिण यूथ के नेता के पीछे भागते है (१०.३४)। त्रस्त हरिणो के उपमान से यादवो की चिन्ता, आकुलता आदि तुरन्त व्यक्त हो जाती है। काव्य में इस प्रकार की मार्मिक उपमाओ की भरमार है।

भावाभिव्यक्ति के लिये कवि ने मूर्त तथा अमूर्त दोनों प्रकार के उपमानों का समान सफलता से प्रयोग किया है। राजा ने जिस-जिस पर कृपा-दृष्टि डाली उसका हर्षलक्ष्मी ने ऐसे आलिगन किया जैसे कामातुर युवती अपने प्रेमी का

(३.६)। यहाँ कवि ने अमूर्त भाव की अभिव्यक्ति के लिये मूर्त उपमान का आश्रय लिया है। निम्नाकित पद्य में मूर्त रथ की तुलना अमूर्त मन से की गयी है। नेमि के आँदेश से सूत ने वधूगृह से रथ इस प्रकार मोड़ लिया जैसे योगी ज्ञान के बल से अपना मन बुरे विचार से हटा लेता है।

सूतो रथं स्वामिनिदेशतोऽथ निवर्तयामास विवाहगेहात् ।
यथा गुरुज्ञानबलेन मंक्षु दुर्ध्यानतो योगिजनो मनः स्वम् ।। १०.३३

उत्प्रेक्षा के प्रयोग मे भी कवि का यही कौशल दृष्टिगोचर होता है। भावपूर्ण सटीक अप्रस्तुतो से कवि के वर्णन चमत्कृत है। छठे सर्ग मे देवागनाओ के तथा नवे सर्ग में राजमती के सौन्दर्य-वर्णन के प्रसग मे अनेक अनूठी उत्प्रेक्षाओ का प्रयोग हुआ है। राजीमती के नवोदित स्तन ऐसे लगते थे मानो उसके वक्ष को भेद कर निकले हुए काम के दो कन्द हो -

सलावण्यरसौ यस्याः स्तनकुम्भौ स्म राजतः ।
वक्षःस्थलं समुद्भिद्य कामकन्दाविवोत्थितौ ।। ९.५४

प्रभात का निम्नोक्त वर्णन रूपक का परिधान पहन कर आया है। यहां रात्रि, तिमिर, दिशाओ तथा किरणो पर क्रमश. स्त्री, अजन, पुत्री तथा जल का आरोप किया गया है।

रात्रिस्त्रिया मुग्धतया तमोंऽजनैर्दिग्धानि काष्ठातनयामुखान्यथ ।
प्रक्षालयत्पूषमयूखपाथसा देव्या विभातं ददृशे स्वतातवत् ।। २.३०

समुद्रविजय के शौर्य-वर्णन के अन्तर्गत प्रस्तुत पक्तियो मे शत्रुओ के वध का प्रकारान्तर से निरूपण किया गया है। अत. यहां पर्यायोक्त अलकार है।

रणरात्रौ महीनाथ चन्द्रहासो विलोक्यते ।
वियुज्यते स्वकान्ताभ्यश्चक्रवाकैरिवारिभिः ।। ७.२७

जिनेश्वर की लोकोत्तर विलक्षणता का चित्रण करते समय कवि की कल्पना अतिशयोक्ति के रूप मे प्रकट हुई है। यहा 'यदि' शब्द के बल से असम्भव अर्थ की कल्पना की गयी है।

यद्यर्कदुग्धं शुचिगोरसस्य प्राप्नोति साम्यं च विषं सुधायाः ।
देवान्तरं देव ! तदा त्वदीयां तुल्यां दधाति त्रिजगत्प्रदीप ।। ६.३५

नेमिनाथ के स्नात्रोत्सव के निम्नोक्त पद्य के कारण तथा कार्य के भिन्न-भिन्न स्थानों पर होने के कारण असंगति अलंकार है।

गन्धसार-घनसार-विलेपं कन्यका विदधिरे तदंगे ।
कौतुकं महदिदं यदमूषामप्यनश्यदखिलो खलु तापः ।। ४.४४

नेमिनाथमहाकाव्य में कुछ हृदयग्राही स्वभावोक्तियां भी प्रयुक्त हुई हैं।

कुन्तक स्वभावोक्ति को अलंकार मानने के पक्ष मे नहीं है, किन्तु अन्य अधिकतर साहित्यशास्त्रियो ने इसे अलंकार के पद पर प्रतिष्ठित किया है। बारहवें सर्ग मे वन-वर्णन के अन्तर्गत प्रयुक्त कीर्त्तिराज की स्वभावोक्तियो का संकेत पहले किया जा चुका है। द्वितीय सर्ग मे गज-प्रकृति का चित्रण स्वभावोक्ति के द्वारा किया गया है। हाथी का यह स्वभाव है कि वह रात भर गहरी नीद सोता है। प्रातःकाल जागकर भी वह अलसाई आंखो को मूदे पडा रहता है, किन्तु बार-बार करवटें बदल कर पांव की वेड़ी से शब्द करता है जिससे उसके जागने की सूचना गजपालों को मिल जाती है।

निद्रासुखं समनुभूय चिराय रात्रावुद्भूतशृंखलारवं परिवर्त्य पार्श्वम् ।
प्राप्य प्रबोधमपि देव ! गजेन्द्र एष नोन्मीलयत्यलसनेत्रयुगं मदान्ध. ॥२.५४

प्रभात-वर्णन के प्रस्तुत पद्य मे भ्रमर, पद्मिनी तथा सूर्य पर क्रमशः पर-पुरुष, व्यभिचारिणी तथा पति के व्यवहार का आरोप किया गया है। अतः यह समासोक्ति है।

यत्र भ्रमद्भ्रमरचुम्बिताननामवेक्ष्य कोपादिव मूर्ध्नि पद्मिनीम् ।
स्वप्रेयसीं लोहितमूर्तिमावहन् कठोरपादैर्निजघान तापनः ॥ २.४२

शब्दालंकारों मे अनुप्रास तथा यमक के अतिरिक्त श्लेष के प्रति कवि का विशेष मोह है। नेमिनाथमहाकाव्य मे अनुप्रास का स्वर, किसी-न-किसी रूप में, सर्वत्र ध्वनित है। यमक के प्रायः सभी भेद काव्य मे प्रयुक्त हुए हैं। पादयमक तथा महा-यमक का दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। इन्हे छोडकर कीर्तिराज ने यमक की ऐसी सुरुचिपूर्ण योजना की है कि उसमें क्लिष्टता नही आने पाई। ऋतु-वर्णन वाला अष्टम सर्ग आद्यन्त यमक से भरपूर है। श्लेष कवि को इतना प्रिय है कि उसने श्लिष्ट काव्य के प्रणेता को मुनिवत् वन्दनीय माना है[20]। काव्य मे श्लेष का व्यापक प्रयोग किया गया है। नेमिनाथमहाकाव्य में स्वतन्त्र प्रयोग के अतिरिक्त उपमा, विरोध, परिसंख्या, आदि अन्य अलंकार भी श्लेष की भित्ति पर आधारित हैं[21]।

२०. नानाश्लेषरसप्रौढां हित्वा कान्तां मुनीश्वराः ।
ये चाहुस्तादृशीं वाचं वन्दनीयाः कथं न ते । वही १.३.

२१. श्लेषोपमा—बाणभाषितगोभर्त्ता यो वशेप्सितदर्शन. ।
रंगकुशलताहारी चण्डपण्ड इवावमौ ॥ वही, १.३७

विरोध—मन्दाक्षसंवृतांगोऽपि न मन्दाक्षकुरूपभाक् ।
सदापीडोऽपि यत्रासीद् विपीडो मानिनीजन. । वही, १.१६

परिसंख्या—न मन्दोऽपि जनः कोऽपि परं मन्दो यदि ग्रहः ।
वियोगो नापि दम्पत्योर्वियोगस्तु परं वने ॥ वही, १.१७

समुद्रविजय तथा शिवा के इस वार्तालाप में वृषभ, गौ, वृषांक तथा शंकर की भिन्नार्थ में योजना करने से वक्रोक्ति का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

देवः प्रिये ! को वृषभोऽयि ! किं गौः ! नैव वृषांकः ! किमु शंकरो, न।
जिनो नु चक्रीति वधूवराभ्यां यो वक्रमुक्तः स मुदे जिनेन्द्रः ॥ ३.१२

इनके अतिरिक्त दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, सन्देह, विरोधाभास, व्यतिरेक, विभावना, काव्यलिंग, निदर्शना, सहोक्ति, विषम आदि अलंकार भी नेमिनाथकाव्य के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं।

छन्दयोजना

नेमिनाथमहाकाव्य मे छन्दों के विधान मे शास्त्र का आशिक पालन किया गया है। इसके बारह मे से पांच सर्गों की रचना विविध छन्दो मे हुई है। शेष सात सर्गो मे एक छन्द की प्रधानता है तथा सर्गान्त में छन्द वदल जाता है। नेमिनाथ-काव्य में पच्चीस छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जो इस प्रकार हैं—अनुष्टुप्, उपजाति, मालिनी, उपगीति, नन्दिनी, वैतालीय, मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवंशा, वंशस्थ, इद्रवज्रा, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, शालिनी, स्वागता, रथोद्धता, उपजाति (वंशस्थ+इन्द्रवंशा), प्रमिताक्षरा, शार्दूलविक्रीडित, विभावरी, तोटक, वियोगिनी, उपेन्द्रवज्रा, आर्या, औपच्छन्दसिक तथा स्रग्धरा। इनमें उपजाति का प्रयोग सवसे अधिक है।

नेमिनाथमहाकाव्य की रचना कालिदास की परम्परा में हुई है। धार्मिक कथानक चुन कर भी कीर्त्तिराज ने अपनी कवित्वशक्ति, सुरुचि तथा सन्तुलित दृष्टि-कोण के कारण साहित्य को ऐसा रोचक महाकाव्य दिया है, जिसका संस्कृत-महा-काव्यों मे सम्मानित स्थान है।

४. यदुसुन्दरमहाकाव्य : पद्मसुन्दर

तपागच्छ के सुविज्ञात आचार्य तथा सम्राट् अकबर के आध्यात्मिक मित्र, उपाध्याय पद्मसुन्दर का यदुसुन्दरमहाकाव्य अनूठी रचना है। विवेच्य शताब्दियों में कालिदास, माघ आदि प्राचीन अग्रगण्य कवियों के अनुकरण पर अथवा उनकी समस्या पूर्ति के रूप में तो कुछ काव्य लिखे गये पर यदुसुन्दर एक मात्र ऐसा महाकाव्य है, जिसमें संस्कृत-महाकाव्य-परम्परा की महानता एवं तुच्छता के समन्वित प्रतीक, श्रीहर्ष के नैषध चरित को रूपान्तरित (एडेप्ट) करने का दुस्साध्य कार्य किया गया है। रूपान्तरण विष के समान है, जिससे आहत मौलिकता को पाण्डित्यपूर्ण टीकाओं की संजीवनी से भी पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता। पद्मसुन्दर ने श्रीहर्ष की दृप्त बहुश्रुतता, कृत्रिम भाषा तथा जटिल शैली के कारण वज्रवत् दुर्भेद्य नैषधचरित का उपयोगी रूपान्तर प्रस्तुत करने का प्रशंसनीय कार्य किया है किन्तु उसे अनेकशः अपनी असाहयता अथवा नैषध के दुर्धर्ष आकर्षण के कारण काव्य का संक्षेप करने को बाध्य होना पड़ा है जिससे यदुसुन्दर कहीं-कहीं रूपान्तर की अपेक्षा नैषधचरित के लघु संस्करण का आभास देता है। यदुसुन्दर की दूसरी विशेषता यह है कि हम्मीरमहाकाव्य के अतिरिक्त यही ऐसा जैन काव्य है जिसे साहित्येतर उद्देश्य की पूर्ति के साधन के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया है। इसकी रचना विशुद्ध साहित्यिक भावना से प्रेरित है। इसमें मथुराधिपति यदुराज समुद्रविजय के अनुज वसुदेव तथा विद्याधर-सुन्दरी कनका के विवाह तथा विवाहोत्तर केलियों का वर्णन है, जो प्रायः सर्वत्र श्रीहर्ष का अनुगामी है।

यदुसुन्दरमहाकाव्य अभी तक अमुद्रित है। बारह सर्गों के इस महत्त्वपूर्ण काव्य की एकमात्र उपलब्ध हस्तलिखित प्रति (संख्या २८५८, पुण्य), लालपतभाई दलपतभाई भारतीविद्या संस्थान, अहमदाबाद में सुरक्षित है। प्रस्तुत अध्ययन ५४ पत्रों के इस हस्तलेख की प्रतिलिपि पर आधारित है, जो मैंने स्वयं सावधानी से तैयार की थी। संस्थान के तत्कालीन निदेशक, पण्डित दलसुख भाई मलवणिया हार्दिक कृतज्ञता के पात्र हैं, जिन्होंने यह दुर्लभ प्रति भेज कर अद्भुत साहित्यनिष्ठा तथा उदारता का परिचय दिया।

कविपरिचय तथा रचनाकाल

यदुसुन्दरमहाकाव्य के प्रणेता उपाध्याय पद्मसुन्दर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अंशभूत तपागच्छ के विश्रुत विद्वान् थे। यदुसुन्दर की पुष्पिका में उन्हें 'पण्डितेश'

विशेषण से अभिहित किया गया है। पद्मसुन्दर वस्तुतः तपागच्छ की नागपुरीय (नागोरी) शाखा के अनुयायी थे[1]। पार्श्वनाथकाव्य और रायमल्लाभ्युदय से तथा यदुसुन्दर और सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव की पुष्पिकाओ से विदित होता है कि उन्हें विद्वत्-शिरोमणि पद्ममेरु का शिष्य होने का गौरव प्राप्त था। उनके प्रगुरु आनन्दमेरु आनन्दरूपी उदयाचल के साक्षात् सूर्य थे[2]। पद्मसुन्दर उन जैन साधुओं मे अग्रणी थे, जिनका मुगल सम्राट् अकबर से घनिष्ठ सम्बन्ध था। धर्मगोष्ठी के समय सम्राट् अकबर ने अपने पुस्तकालय का एक विशिष्ट ग्रन्थसग्रह आचार्य हीरविजय को भेंट देने का प्रस्ताव किया था। हीरसूरि के उसका प्राप्तिस्रोत पूछने पर अकबर ने सूचित किया था कि यह ग्रन्थराशि तपागच्छीय विद्वान् पद्मसुन्दर की है जो ज्योतिष, वैद्यक तथा सिद्धान्तशास्त्र के कुशल पण्डित थे। उनके दिवंगत होने पर हमने उसे सुरक्षित रखा है[3]। पद्मसुन्दर के परवर्ती कवि देवविमलगणि ने अपने हीरसौभाग्य मे इस घटना तथा उक्त ग्रन्थराशि मे सम्मिलित प्रस्तुत यदुसुन्दर सहित नाना ग्रन्थो का आदरपूर्वक उल्लेख किया है[4]। हीरविजय अकबर से सम्वत् १६३९ मे, फतेहपुर

१. इति श्रीमन्नागपुरीयतपागच्छनभोमणिपण्डितोत्तमश्रीपद्ममेरुशिष्यपण्डितश्री पद्मसुन्दरविरचिते। सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव की पुष्पिका।
इति श्रीमत्तपोगच्छनभोमणिपण्डितोत्तमश्रीपद्ममेरुविनेयपण्डितेशश्रीपद्मसुन्दर विरचिते यदुसुन्दरनाम्नि महाकाव्ये····द्वितीयः सर्गः।

२. पार्श्वनाथकाव्य, पुष्पिका तथा ७।६४
आनन्दोदयपर्वतकतरणेरानन्दमेरोर्गुरोः
शिष्यः पण्डितमौलिमण्डनमणिः श्रीपद्ममेरुर्गुरुः।
तच्छिष्योत्तमपद्मसुन्दरकविः श्रीरायमल्लोदयं
काव्यं नव्यमिदं चकार सकलार्हद्वृत्तभव्यांकितम्॥
रायमल्लाभ्युदय, अन्तिम प्रशस्ति, १००

३. सूरीश्वर अने सम्राट्, पृ० १२०, "जैन साहित्य और इतिहास" मे उद्धृत, पृ. ३९६, पा० टि० ३

४. (अ) पुराभवत्प्रीतिपदं वयस्यवद्विशारदेन्दुर्मम पद्मसुन्दरः।
ने येन सेहेऽम्बुरुहामिवावलीं हिमर्तुना पण्डितराजगर्विताम्॥
हीरसौभाग्य १४.९१
जगाम स स्वर्गिमृगीदृशां दृशामथातिथेयीं परिणामतो विधे.।
मुहुर्मयाशोचि स वातपातिताजिरप्ररूढामरसालवद्विभो॥ वही, १४.९२
इदं तदात्तसमस्तपुस्तकं मुनीश्वरा मामनुगृह्य शिष्यवत्।
यदत्र पात्रप्रतिपादनं नृणां भवाम्बुराशौ कलशीसुतीयते॥ वही, १४.९६

सीकरी मे, मिले थे। निश्चय ही पद्मसुन्दर का निधन इससे पूर्व हो चुका होगा। पद्मसुन्दर का प्रमाणसुन्दर शायद सम्वत् १६३२ की रचना है। इसी आधार पर पण्डित नाथूराम प्रेमी ने उनकी मृत्यु सम्वत् १६३२ तथा १६३९ के बीच मानी है[५]। परन्तु यदुसुन्दर की प्रौढता को देखते हुए यह पद्मसुन्दर की अन्तिम कृति प्रतीत होती है। हीरसौभाग्य मे जिस मार्मिकता से सम्राट् के भावोच्छ्वास का निरूपण किया है उससे भी संकेत मिलता है कि पद्मसुन्दर का निधन एक-दो वर्ष पूर्व अर्थात् सम्वत् १६३७-३८ (सन् १५८०-१५८१) के आसपास हुआ था।

अकबर तथा पद्मसुन्दर की मैत्री की पुष्टि जैन कवि के अन्य ग्रन्थों से भी होती है। अकबरशाहि-शृंगारदर्पण से पता चलता है कि अकबर की सभा मे पद्म-सुन्दर को उसी प्रकार प्रतिष्ठित पद प्राप्त था, जैसे जयराज बाबर को मान्य था और आनन्दराय (सम्भवतः आनन्दमेरु) हुमाऊं को[६]। हर्षकीर्तिरचित धातुपाठवृत्ति—धातुतरंगिणी—की प्रशस्ति से संकेत मिलता है कि पद्मसुन्दर न केवल अकबर की सभा मे समादृत थे अपितु उन्हे जोधपुरनरेश मालदेव से भी यथेष्ट सम्मान प्राप्त था[७]। अकबर की राजसभा मे किसी महापण्डित को पराजित करने के उपलक्ष्य में पद्मसुन्दर को सम्राट् द्वारा कम्बल, ग्राम तथा पालकी से पुरस्कृत करने का भी प्रशस्ति मे उल्लेख किया गया है।

> साहेः संसदि पद्मसुन्दरगणिर्जित्वा महापण्डितं
> क्षौम-ग्राम-सुखासनाद्यकबरसाहितो लब्धवान्।
> हिन्दूकाधिपमालदेवनृपतेर्मान्यो वदान्योऽधिकं
> श्रीमद्योधपुरे सुरेप्सितवचाः पद्माह्वयः पाठकः ॥१०॥

सवत् १६२५ मे, तपागच्छीय बुद्धिसागर से, खरतर साधुकीर्ति की, सम्राट अकबर की सभा मे, पौषध की चर्चा हुई थी, जिसमे साधुकीर्त्ति विजयी हुए थे। उस

(आ) हीरसौभाग्य, १४। ६६, स्वोपज्ञटीकाकाव्यानि रघुवंश-मेघदूत-कुमार-सम्भव-किरात-माघ-नैषध-चम्पू-कादम्बरी-पद्मनन्द-यदुसुन्दराद्यानि।

५. नाथूराम प्रेमी. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३९६

६. शृंगारदर्पण, प्रशस्ति, २.

७. यह वही मालदेव (सन् १५३९-६२) है, जो अपनी असीम महत्त्वाकांक्षा, अधिनायकवादी वृत्ति तथा धोखेबाजी के कारण कुख्यात था और जिसने सन् १५३९ मे बीकानेर के शासक जैतसिंह का वध किया था। Herman Goetz : Art and Architecture of Bikaner State, Oxford, 1950, P. 39-40.

समय पद्मसुन्दर आगरा में ही थे, यह जइतपदेवलि से स्पष्ट है[८]।

यदुसुन्दर में इसके रचनाकाल का कोई सकेत उपलब्ध नही है। कवि के अन्य कतिपय ग्रन्थो के विपरीत इसमे प्रान्तप्रशस्ति का भी अभाव है। अभी तक सम्वत् १६३२ में रचित प्रमाणसुन्दर को पद्मसुन्दर की अन्तिम रचना माना जाता रहा है। परन्तु यदुसुन्दर की प्रौढता से इसके कवि की अन्तिम कृति होने मे सन्देह नही रह जाता। यदि पूर्वोक्त युक्ति से पद्मसुन्दर का देहान्त सम्वत् १६३७-३८ में माना जाए तो यदुसुन्दर को १६३२ तथा १६३८ के मध्यवर्ती काल की रचना मानना न्यायोचित होगा।

उपाध्याय पद्मसुन्दर बहुमुखी विद्वान् तथा आशुकवि थे। उन्होने सम्वत् १६१४ की कार्त्तिक शुक्ला पचमी को भविष्यदत्तचरित की रचना सम्पन्न की, सम्वत् १६१५ ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को रायमल्लाभ्युदय का निर्माण हुआ और उसी वर्ष मार्गशीर्ष की कृष्णा चतुर्दशी को पार्श्वनाथकाव्य पूर्ण हुआ[९] अर्थात् लगभग एक वर्ष मे ही उन्होने तीन ग्रन्थो की रचना करके अपनी कवित्व शक्ति का परिचय दिया। ये तीनो ग्रन्थ रायमल्ल की प्रेरणा तथा अभ्यर्थना से लिखे गये[१०]। पद्मसुन्दर का साहित्य उनके रुचिवैविध्य का द्योतक है। उन्होने काव्य, ज्योतिष, दर्शन, कोश आदि ग्रन्थो से साहित्यिक निधि को समृद्ध बनाया है। यदुसुन्दर तथा पार्श्वनाथकाव्य[११] उनके दो महाकाव्य है। रायमल्लाभ्युदय मे चौबीस तीर्थकरो का वृत्त निरूपित है। ज्योतिष-ग्रन्थ हायनसुन्दर, परमतव्यवच्छेदस्याद्वादसुन्दरद्वात्रिंशिका, वरमंगलमालिकास्तोत्र तथा राजप्रश्नीयनाटचपदभजिका की हस्तप्रतियाँ, स्टेट लायब्रेरी बीकानेर मे सुरक्षित है। षट्भाषागर्भित नेमिस्तवगाथा की रचना छह भाषाओ मे हुई है। इसकी एक प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर मे उपलब्ध है।

८ श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा सम्पादित 'ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह' में प्रकाशित, पृ. १४०.

९ अब्दे विक्रमराज्यत शरकलाभृत्तर्कसमिते (?)।
मार्गे मास्यसिते चतुर्दशदिने सत्सौम्यवारांकिते ।। पार्श्वनाथकाव्य, ७/४४
तथा जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ३९६-३९७.

१०. शुश्रूषुस्तदकारयत्सुकवितः श्रीपार्श्वनाथाह्वयं।
काव्यं नव्यमिदं श्रुतिप्रमददं श्रीरायमल्लाह्वयः ।। पार्श्वनाथकाव्य, १/३
काव्यं कारितवानपूर्वरसवद्यो रायमल्लोदयं
जीयादारविचन्द्रतारकमयं श्रीरायमल्लाह्वयः ।। रायमल्लाभ्युदय, ४०.

११. पार्श्वनाथकाव्य का विवेचन आगे यथास्थान किया जायेगा।

सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव कोशग्रन्थ है। इसमे पाच तरंगें तथा २६६८ पद्य है।[12] जम्बूस्वामिचरित (प्राकृत), भारती स्तोत्र, अकबरशाहिशृंगारदर्पण तथा कतिपय स्तोत्र आदि उनकी अन्य ज्ञात रचनाएँ है। देवविमल ने स्वोपज्ञ टीका मे भारती स्तवन के अतिरिक्त पद्मसुन्दर के 'मालवरागजिनध्रुवपद' से उद्धरण दिए हैं।[13] शृगार-दर्पण के अतिरिक्त उनकी प्रायः अन्य सभी कृतिया अप्रकाशित है।

कथानक

यदुसुन्दर की कथावस्तु यदुवंशीय वसुदेव तथा विद्याधर राजकुमारी कनका के विवाह तथा विवाहोपरान्त क्रीडाओ के दुर्बल आधार तन्तु पर अवलम्बित है। प्रथम सर्ग का आरम्भ यदुकुल की राजधानी मथुरा के वर्णन से होता है, जिसमे उसे स्वर्ग से श्रेष्ठ प्रमाणित करने का गम्भीर प्रयत्न किया गया है। यादवकुल के प्रवर्तक यदु के उत्तराधिकारियो मे कस साक्षात् राक्षस था।[14] नगरवासी, पौरागनाओ के प्रति वसुदेव के उच्छृखल व्यवहार की शिकायत उसके अग्रज समुद्रविजय से करते हैं (पुरांगनाशीलपरासनोद्धतस्तवानुजः संप्रति साम्प्रत न तत्—१.४५)। अग्रज की भर्त्सना से रुष्ट होकर वसुदेव देश छोडकर विद्याधरो की नगरी मे शरण लेता है। द्वितीय सर्ग मे एक हस, कनका के महल मे आकर 'यदुकुल के गगन के सूर्य' वसुदेव के गुणो का वखान करता है। 'वसुदेव पुरुषो मे नाहर है, तू युवतियो का शृंगार; अतः तुम्हारा युगल अनुपम होगा' (२.६५)। वसुदेव का चित्र देखकर कनका अधीर हो जाती है। हंस उसकी मनोरथपूर्ति का वचन देकर उड़ जाता है। विरह-व्याकुल कनका को, सच्चिदानन्द से सान्द्र ब्रह्म के अद्वैत रूप की तरह सर्वत्र वसुदेव दिखाई देता है। वसुदेव भी कनका की अनुरक्ति का समाचार पाकर पुलकित हो जाता है। तृतीय सर्ग के प्रारम्भिक तेतीस पद्यो मे कनका के विप्रलम्भ का वर्णन है। काम के स्वर्णकार ने उसे वियोग की कसौटी पर इस निर्ममता से रगडा कि वह सोने की रेखा के समान क्षीण वन गई। वसुदेव नगर द्वार पर आकर निकटवर्ती उद्यान का वर्णन करता है। तभी धनपति कुवेर वहां आकर वसुदेव को कनका के पास, उसका प्रणयनिवेदन करने के लिए दूत वनकर जाने को प्रेरित करता है। वसुदेव असमजस मे पड जाता है। 'जो मेरे मे अनुरक्त है, उस कनका को यह मेरे द्वारा ही प्राप्त करना चाहता है। जिसका स्मरण मात्र मुझे उद्भ्रान्त और मूर्च्छित कर देता है, उसके सामने भावो को छिपाना कैसे सम्भव होगा'? कुवेर के प्रभाव

१२. अनेकान्त, वर्ष ४, अंक ८.

१३. हीरसौभाग्य, ११.१३५, टीका- 'जिनवचनपद्धतिरुक्तिचंगिममालिनी' इति पद्मसुन्दरकृतमालवरागजिनध्रुवपदे।

१४. स्ववंशविध्वंसनृशंसकौणपः। यदुसुन्दर १.३२

से वह, अदृश्य रूप मे, बेरोक अन्तःपुर मे पहुंच जाता है (भवतु तनुः परैरलक्ष्या—-३ ७२)। वहां वह वास्तविक रूप मे प्रकट होकर कुवेर के पूर्वराग की वेदना का हृदयस्पर्शी वर्णन करता है और कनका को उसका वरण करने के लिए प्रेरित करता है (श्रीद पतिं ननु वृणुष्व पतिंवरे त्वम्—३ १४७)। वह उसके वाग्छल से खिन्न हो जाती है जिससे उसने अपना परिचय न देकर धनपति के दौत्य का निर्वाह किया है। कनका की सखी दूत को बताती है कि इसे वसुदेव के सिवाय कोई पुरुप पसन्द नही है, भले ही वह देवराज इन्द्र हो।[15] दूत उसे देवो की शक्ति तथा स्वर्ग के सुखो का लालच देकर, कुवेर की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न करता है। कनका अडिग रहती है। दूत धनाधिपति को छोड कर साधारण पुरुष का वरण करने के उसके निश्चय की बालिशता की कडी भर्त्सना करता है। कनका व्यथित होकर अपने भाग्य को धिक्कारती है और रोने लग जाती है। उसकी अविचल निष्ठा[16] और करुणालाप से दूत द्रवित हो जाता है और वह दौत्य को भूल कर सम्भ्रमवश अपना यथार्थ परिचय दे दता है। भ्रम मिटने पर उसे पश्चात्ताप अवश्य होता है पर उसे अपने हृदय की शुद्धता पर विश्वास है। पति को साक्षात् देखकर कनका 'लज्जा के सिन्धु' मे डूब गयी। वसुदेव वापिस आकर कुवेर को वास्तविकता से अवगत कर देता है। चतुर्थ सर्ग मे देवता, विभिन्न द्वीपो के अधिपति और पृथ्वी के दृप्त एव प्रतापी शासक कनका के स्वयवर मे आते है। कुवेर की अगूठी पहनने से वसुदेव भी कुवेर के समान प्रतीत होने लगा और सभा को दो कुवेरो का भ्रम हो गया। वेत्रधारिणी कनका को सर्वप्रथम देवताओ की सभा मे ले गई, किन्तु वह उन्हे छोड कर तत्काल आगे बढ गई। सर्ग के शेष भाग तथा पंचम सर्ग मे वेत्रधारिणी दस आगन्तुक राजाओ का क्रमिक परिचय देती है जिसमे उनके गुणों और पराक्रम को अधिक महत्त्व दिया गया है। छठे सर्ग मे वास्तविक कुवेर तथा कुवेर रूपधारी वसुदेव का वर्णन है। रूपसाम्य के कारण कनका उलझन मे पड जाती है। अंगूठी उतारने से वसुदेव का यथार्थ रूप प्रकट हो जाता है। कनका माला डाल कर उसका वरण करती है। सप्तम सर्ग मे क्रमशः कनका तथा वसुदेव की विवाहपूर्व सज्जा का वर्णन है। वसुदेव सूर्य की तरह अश्व पर बैठकर वधूगृह को प्रस्थान करता है। यही नौ पद्यो मे (७४—८२) उसे देखने को लालायित पौरांगनाओ के सम्भ्रम का चित्रण है। कनका का पाणिग्रहण, विवाहोत्तर भोज तथा नववधू की विदाई अष्टम सर्ग का विषय है। षड्ऋतु वर्णन पर आधारित नवम

१५. एषा नृदेव वसुदेवपतिं विनान्यं नाशंसते हि मघवंतमपि प्रतीहि। वही, ३.१५६.
१६. सौरेऽवधूय सकलं तव पादपद्मकोशेऽलिनीव कृपणा किल तस्थुषीयम्। वही, ३.१८२.

(६ ५८-११०) पर व्यय कर दिया है, पद्मसुन्दर ने समान प्रभाव तथा अधिक स्पष्टता के साथ उसे मात्र चौवीस पद्यो मे निवद्ध किया है। अगले ४७ पद्यो से परिवेष्टित तृतीय सर्ग का अश नैषध के आठवे सर्ग का प्रतिरूप है। दूत का आगमन, कनका द्वारा उसकी स्तुति, अपने परिचय के विपय मे उसका वाग्छल तथा उसका राजकुमारी को कुवेर का वरण करने को प्रेरित करना नैपध का अनुगामी है। कुवेर के पूर्वराग का वर्णन (३.१२२-४१) नैपध के आठवें सर्ग मे दिक्पालो की विरह वेदना की प्रतिध्वनि मात्र है (८ ६४-१०८)। अन्तिम साठ पद्य नैपध के नवम सर्ग का लघु सस्करण प्रस्तुत करते है। उनमे विपयवस्तु की भिन्नता नही हैं और भापा तथा शैली मे पर्याप्त साम्य है। दूत का अपना भेद सुरक्षित रखने का प्रयत्न, नायिका का उसका नाम-धाम जानने का आग्रह तथा दूत के प्रस्ताव को ठुकराना, नायिका के करुण विलाप से द्रवित होकर दूत का आत्म-परिचय देना—ये समूची घटनाएं दोनों काव्यो मे पढी जा सकती है। श्रीहर्प को इस सवाद की प्रेरणा कुमारसम्भव के पंचम सर्ग से मिली होगी। वहां भी शिव भेस वदल कर आते हैं और अन्त मे अपना वास्तविक रूप प्रकट करते है। नैपधचरित तथा यदुसुन्दर मे दमयन्ती और कनका दूत की उक्तियों का मुह-तोड जवाव देती है[१८] जवकि पार्वती के पास वटु के तर्को का समर्थ उत्तर केवल यही है—न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते (कुमार० ५.८२)। कालिदास के उमा-वटु-संवाद मे मनोवैज्ञानिक मार्मिकता है। श्रीहर्प और पद्मसुन्दर इस कोमल प्रसंग मे भी चित्रकाव्य के गोरख-धन्धे मे फसे रहते है। उन्हे रोती हुई दमयन्ती तथा कनका ऐसी दिखाई देती हैं, जैसे वे आंसू गिरा कर 'ससार' को 'ससार' तथा 'दात' को 'दात' वनाती हुई विन्दुच्युतक काव्य की रचना कर रही हो[१९]। पद्मसुन्दर के स्वयम्वर-वर्णन पर नैपध का प्रभाव स्पप्ट है। श्रीहर्ष का स्वयम्वर-वर्णन अलौकिकता की पर्तो मे दवा हुआ है। उसमे पृथ्वीतल के शासको के अतिरिक्त देवों, नागों, यक्षो, गन्धर्वों आदि का विशाल जमघट है। आगन्तुक प्रत्याशियो का विवरण देने के लिये वहां वाग्देवी की नियुक्ति वर्णन की काल्पनिकता का सकेत है। श्रीहर्प ने पूरे पांच सर्गो (१०-१४) मे जमकर स्वयंवर का वर्णन किया है। यदुसुन्दर का वर्णन भी इसके समान ही कथानक के प्रवाह मे अवरोध पैदा करता है। पद्मसुन्दर ने नैषध मे वर्णित वारह राजाओ मे से दस को यथावत् ग्रहण किया है, पर वह नैषध की भाँति अतिमानवीय

१८. यदुसुन्दर, ३.१५०-१५७; नैपधचरित, ६.२७-३२।

१९. ससारमात्मना तनोषि संसारमसंशयं यतः। नैपध०, ६-१०४।
तद्विन्दुच्युतकमश्रुजविन्दुपातान्मां दांतमेव किमु दातमलंकरोषि।
यदुसुन्दर, ३.१६०।

कर्म नही है यद्यपि उसमें भी देवो, गन्धर्वो आदि का निर्भ्रान्त संकेत मिलता है। वर्णन की लौकिक प्रकृति के अनुरूप पद्मसुन्दर ने अभ्यागत राजाओ का परिचय देने का कार्य कनका की सखी को सौपा है, जो कालिदास की सुनन्दा के अधिक निकट है। श्रीहर्ष ने रघुवंश के छठे सर्ग के इन्दुमती-स्वयम्वर की सजीवता को विकृत बना कर उसे एक रूढि का रूप दे दिया है। सातवे सर्ग मे वरवधू का विवाह पूर्व आहार्य-प्रसाधन नैषध के पन्द्रहवे सर्ग का, भाव, भाषा तथा घटनाक्रम मे, इतना ऋणी है कि उसे श्रीहर्ष के प्रासगिक वर्णन की प्रतिमूर्ति कहना सर्वथा उचित होगा। कहना न होगा, नैषध का यह वर्णन स्वय कुमारसम्भव के सप्तम सर्ग पर आधारित है जहां इसी प्रकार वरवधू को सजाया जा रहा है। विवाह-सस्कार तथा विवाहोत्तर सहभोज के वर्णन (अष्टम सर्ग) मे पद्मसुन्दर ने अपने शब्दो मे नैषध के सोलहवें सर्ग की आवृत्ति मात्र कर दी है। नैषध के समान इसमे भी वारातियो और परिवेपिकाओ का हास-परिहास बहुधा अमर्यादित है। खेद है, पद्मसुन्दर ने अपनी पवित्रतावादी वृत्ति को भूल कर इन अश्लीलताओ को भी काव्य मे स्थान दिया है। अगले दो सर्ग नैषध से स्वतन्त्र है। अन्तिम दो सर्ग, जिनमे क्रमश· रति-क्रीडा और सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि के वर्णन है, नैपध के अत्यधिक ऋणी है। कालिदास, कुमारदास तथा श्रीहर्ष के अतिरिक्त पद्मसुन्दर ही ऐसा कवि है जिसने वरवधू के प्रथम समागम का वर्णन किया है। स्वयं श्रीहर्ष का वर्णन कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग से प्रभावित है। श्रीहर्ष ने कालिदास के भावो को ही नही, रथोद्धता छन्द को भी ग्रहण किया है। यदुसुन्दर के ग्यारहवे सर्ग मे भी यही छन्द प्रयुक्त किया गया है। बारहवे सर्ग का चन्द्रोदय आदि का वर्णन, नैपध की तरह (सर्ग २१) नवदम्पती के सम्भोग के लिये समुचित वातावरण निर्मित करता है। इसमें भी श्रीहर्ष के भावो तथा शब्दावली की कमी नहीं है। वस्तुतः काव्य मे मौलिकता के नाम पर भाषा है, यद्यपि उसमे भी श्रीहर्ष की भापा का गहरा पुट है।

पद्मसुन्दर की काव्यप्रतिमा

नैषधचरित के इस सर्वव्यापी प्रभाव के कारण पद्मसुन्दर को मौलिकता का श्रेय देना अन्याय होगा। यदुसुन्दर मे जो कुछ है, वह प्राय. सब श्रीहर्ष की पूँजी है। फिर भी इसे सामान्यतः पद्मसुन्दर की 'मौलिक' रचना मान कर कवि की काव्यप्रतिभा का मूल्याङ्कन किया जा सकता है।

पद्मसुन्दर के पार्श्वनाथकाव्य मे प्रचारवादी स्वर मुखर है पर यदुसुन्दर मे कवि का जो विम्ब उभरता है, वह चमत्कारवादी आलकारिक का विम्ब है। यह स्पष्टत. नैषध के अतिशय प्रभाव का परिणाम है। पद्मसुन्दर का उद्देश्य 'ग्रन्थ ग्रन्थि' से काव्य को जटिल बनाना नही है परन्तु उसका काव्य नैषध की मूलवृत्ति

तथा काव्यरूढियो से शून्य नही है। पद्मसुन्दर को श्रीहर्ष की तरह शृंगारकला का कवि मानना तो उचित नही है, न ही वह कामशास्त्र का अध्ययन करने के बाद काव्य-रचना मे प्रवृत्त हुआ है पर जिस मुक्तता से उसने विवाहोत्तर भोज मे बारातियो के हास-परिहास और नवदम्पती की सम्भोगकेलि का वर्णन किया है, वह उसकी रतिविशारदता का निश्चित संकेत है। कनका का नख-शिख-वर्णन (२-१-४७) भी उसकी कामशास्त्र मे प्रवीणता को बिम्बित करता है। अष्टम सर्ग का ज्यौनार-वर्णन तो खुल्लमखुल्ला मर्यादा का उल्लंघन है। उसके अन्तर्गत बारातियो और परिवेषिकाओ की कुछ चेष्टाएँ बहुत फूहड और अश्लील है।[२०] श्रीहर्ष के समान इन अश्लीलताओ को पद्मसुन्दर की विलासिता का द्योतक मानना तो शायद उचित नही पर ये उसकी पवित्रतावादी धार्मिक वृत्ति पर करारा व्यंग्य है, इसमे दो मत नही हो सकते।

रसचित्रण

आदर्शभूत नैषधचरित की भाँति यदुसुन्दर का अंगी रस शृंगार है। पद्मसुन्दर को नव रसों का परम्परागत विधान मान्य है (नवरसनिलयैः को नु सौहित्यमेति—२-८३) पर वह शृंगार की सर्वोच्चता पर मुग्ध है। उसकी परिभाषा मे शृंगार की तुलना मे अन्य रस तुच्छ है (अन्यरसातिशायी शृंगारः ६-५३)। शान्त रस को तो उसने जड़ता का जनक मानकर उसकी खिल्ली उडायी है (शान्तरसैकमन्दधी ४-४१)। यदुसुन्दर मे यद्यपि शृंगार के सयोग तथा विप्रयोग दोनो पक्षो का व्यापक चित्रण मिलता है किन्तु कथानक की प्रकृति के अनुरूप इसमे विप्रलम्भ को अधिक महत्त्व दिया गया है। तृतीय सर्ग मे कनका और कुबेर के पूर्वराग का वर्णन है, जो क्रमश नैषध के चतुर्थ तथा अष्टम सर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। निराश कनका की विप्रलम्भोक्तियाँ भी इसी सर्ग मे समाहित है। इस प्रकार यद्यपि यदुसुन्दर मे विप्रयोग शृगार का कई स्थलो पर चित्रण है किन्तु कवि ने, श्रीहर्ष के पगचिह्नो पर चल कर उस पर कल्पनाशीलता की इतनी मोटी

२०. अन्यः स्फुटस्फटिकचत्वरसंस्थितायास्तन्व्या वरांगमनुबिम्बितमीक्षमाणः।
सामाजिकेषु नयनांचलसूचनेन सांहासिनं स्फुटमचीकरदच्छहासः॥

यदुसुन्दर, ८.३७

वृत्तं निधाय निजभोजनेऽसौ (?) सन्मोदकद्वयमतीव पुरःस्थितायाः।
संधाय वक्षसि दृशं करमर्दनानि चक्रे त्रपानतमुखी सुमुखी बभूव॥ वही, ८.५२
प्रागर्थयन्निकृत एष विलासवत्या तत्संमुखं विटपतिः स भुजिक्रियायाम्।
क्षिप्त्वांगुलीः स्ववदने ननु मार्जितावलेहापदेशत इयं परितोऽनुनीता॥

वही, ८.५४

पर्ते चढ़ा दी हैं कि विप्रलम्भ की वेदना का आभास तक नही होता। समूचा विप्रलम्भ-वर्णन ऊहोक्तियों का सकलन-सा प्रतीत होता है। ऐसे कोमल प्रसगो मे कालिदास तीव्र भावोद्रेक करता है पर पद्मसुन्दर सवेदना से शून्य प्रतीत होता है। उस पर अपनी नायिका की विरह वेदना का कोई प्रभाव नही पडता। उसे रोती कनका आंसू गिरा कर 'दान्त' को 'दात' वनाती तथा प्रेम काव्य की रचना करती प्रतीत होती है।[२१] निस्सन्देह यह नैषध का रूपान्तरण करने की विवशता का परिणाम है पर इन क्लिष्ट कल्पनाओ और हथकण्डो के कारण ही उसका विप्रलम्भ-चित्रण निष्प्राण तथा प्रभावशून्य वना है। उसमे सहृदय भावुक के मानस को छूने की क्षमता नही है, भले ही कनका क्रन्दन करती रहे या अपने भाग्य को कोसती रहे। एक-दो उदाहरणो से पद्मसुन्दर के विप्रलम्भ-चित्रण की पद्धति का आभास मिल सकेगा।

कनका की विरहजन्य क्षीणता का वर्णन करने के लिये कवि ने कई कल्पनाएँ की है पर वे इतनी दूरारूढ तथा नीरस है कि पाठक को उसकी व्यथा का लेशमात्र भी अनुभव नही होता। शिल्पी काम ने कनका के शरीर को प्रिय-वियोग की कसौटी पर तीव्र व्यथा से ऐसे रगडा कि वह सोने की क्षीण रेखा वन गयी है। रूपक और उत्प्रेक्षा के जाल मे फस कर वर्ण्य भाव अदृश्य-सा हो गया है।

विषमवाणकलादकलावता प्रियवियोगकषस्फुटसाक्षिणी।
कनकराजिरियं कनकातनुः किमुदपादि महाधिनिघर्षणैः॥ ३-२

उस सुन्दरी के शरीर की नगरी अनेक शासको के अधिकार मे है। काम, यौवन और वसुदेव सब उस पर राज्य कर रहे है। वे सभी कर वसूलने मे कठोर हैं। बेचारी कनका ने अंगलावण्य देकर राजकीय विधान की पालना की है। फलतः उसकी अपनी पूँजी बहुत कम रह गयी है। वह कृशोदरी और कृश वन गयी।

मदनयौवनवृष्णिजशासनां वहुनृपां सुतनोर्नु तनूपुरीम्।
तनुरुचा करदानतया जहुः किमजनिष्ट कृशा नु कृशोदरी॥ ३.२२.

कुछ कल्पनाएँ वहुत अनूठी है। यदि शरीर मे छोटा-सा वाल भी चुभ जाए, उससे भी पीडा होती है। कनका की वेदना का अनुमान करना कठिन है क्योकि उसके कोमल हृदय मे छोटा-मोटा वाल नही, विशालकाय पहाड (भूभृत्—राजा-वसुदेव) घुस गया है। इस कल्पना का सारा सौन्दर्य श्लेष पर आधारित है। पद्मसुन्दर की यह कल्पना नैषध के एक पद्य[२२] की प्रतिच्छाया है। पर पद्मसुन्दर ने

२१. यदुसुन्दर, क्रमशः ३.१९० तथा १७४
२२. निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु प्रविश्य हृदि स्थितः॥ नैषध०, ४.११

'भूभृत्' को समस्त पद मे डालकर कल्पना के सौन्दर्य और काव्यात्मक प्रभाव को नष्ट कर दिया है। अतः मूल की भाँति यह नायिका की व्यथा की व्यंजना नही करा सकती।

तनुतनूरुहजव्यधतो व्यथा भवति तत्र विलासवतीहृदि।
यदुजभूभृदसौ स्थितिमाश्रयद्यदुत बाधत एव किमद्भुतम् ॥३.१२

नैषधचरित मे विरहतप्त दमयन्ती मलयानिल से प्रार्थना करती है कि तू मेरे मरने के बाद मेरी भस्म उस दिशा मे बिखेर देना जहां मेरा प्रियतम रहता है। मलयानिल भी सताप देने के कारण उसकी शत्रु है पर सारा वैर मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है। वैसे भी वह सभ्य है क्योकि वह दक्षिण दिशा से बह कर आ रही है।[23] पद्मसुन्दर ने इस कल्पना को भी अपने साचे मे ढालने का प्रयत्न किया है पर पूर्वोद्धृत पद्य की तरह इसका भी प्रभाव समाप्त हो गया है।

प्राणा वियोगदहनज्वलदूषरेऽस्मिन्मान्मानसे धृतिरहो प्रतिभाति किं वः।
मत्प्राणनाथदिशमप्यनिला भवन्तः संश्लिष्य तन्मम जनुः फलिनं विधद्ध्वम् ॥३.१७८

अरी मेरी प्राणवायु ! तुम विरहाग्नि से सतप्त मेरे मानस के ऊसर मे क्यों दुःख झेल रही हो। यदि तुम उस दिशा को छू सको, जहां मेरा प्रियतम रहता है तो मैं कृतार्थ हो जाऊगी। प्रिय के वियोग मे जीने की अपेक्षा मौत कही अच्छी है।

निम्नोक्त पद्य कनका के विरह की तीव्रता को अधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करता है। वह हृदय मे धधकती विरह की ज्वाला को शान्त करने के लिये वक्ष पर सरस कमल रखना चाहती है, पर इससे पूर्व कि वह कमल उसके अंगो का स्पर्श करे, उसकी गर्म आहो से जलकर बीच मे ही राख हो जाता और वह उसे परे फेंक देती है। कल्पना सचमुच बहुत मनोरम है। यह असाहयता की पराकाष्ठा है। कहना न होगा, यह कल्पना भी नैषधचरित से ली गयी है।[24]

२३. न काकुवाक्यैरतिवाममंगजं द्विषत्सु याचे पवनं तु दक्षिणम्।
दिशापि मद्भस्म किरत्वयं तया प्रियो यया वैरविधिर्वधावधिः॥ वही, ६.६३
तुलना कीजिये : यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उडाय।
मकु तेहि मारग उडि परै, कंत धरै जेहि पाय ॥ पद्मावत

२४. स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहुः सरसं सरसीरुहम्।
श्रयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम् ॥ नैषध, ४.२६

विरहदाहशमाय गृहाण निजकरेण सरोजमुरोजयोः ।
द्रुतमपि श्वसितोष्मसमीरणादजनि मुर्म्मुर इत्यजहात्ततः ॥३.२१

यदुसुन्दर के ग्यारहवें सर्ग मे सम्भोग शृंगार का मधुर चित्र दिखाई देता है । यद्यपि यह वर्णन कालिदास तथा श्रीहर्ष के प्रासगिक वर्णनों से प्रेरित है, पर इसमें उन्ही की भाँति सम्भोगक्रीड़ा का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है । लजीली नववधू समय बीतने के साथ-साथ रतिकेलि मे कैसे अनुकूल बनती जाती है, पद्मसुन्दर ने इसका हृदयग्राही अंकन किया है । भावसन्धि का यह चित्र नवोढा के लज्जा तथा काम के द्वन्द्व की सशक्त अभिव्यक्ति है ।

स्थातुमेनमनिरीक्ष्य नाददात्सुभ्रुवो रतिपतिर्न च त्रपा ।
वीक्षितुं वरयितर्य्यनारतं तद्दृशौ विदधतुर्गतागतम् ॥ ११.४५

निम्नोक्त पद्य रतिकेलि का दूसरा ध्रुव प्रस्तुत करता है । प्रातःकाल वसुदेव के अधर पर दन्तचिह्न देखकर नवोढा कनका हंस पडी । हंसी का कारण पूछने पर उसने पति के सामने दर्पण रख दिया । इस तरह चुप रह कर भी उसने रात का सारा दृश्य उजागर कर दिया ।

तं च कोकनदचुम्बिषट्पदश्रीधरं तदधरं विलोक्य सा ।
सिस्मिये स्मितनिदानपृच्छकं प्रत्युवाच मुकुरार्पणात्करे ॥ ११.७५

काव्य मे अन्यत्र सात्त्विक भावो (६.६३-६६) तथा पशु-पक्षियो की कामक्रीडाओ (६.८.११) का भी निरूपण है । पशु-पक्षियो की शृंगार-चेष्टाएँ रसाभास की कोटि मे आती है ।

यदुसुन्दर मे वीररस की भी कई स्थलो पर निष्पत्ति हुई है । दसवे सर्ग का युद्ध-वर्णन दो कौडी का है । यह वीररसचित्रण मे कवि की कुशलता की अपेक्षा उसके चित्रकाव्यप्रेम को अधिक व्यक्त करता है । माघ आदि से सकेत पाकर उसने चित्रकाव्य का ऐसा चक्रव्यूह खडा किया है कि वीररस का योद्धा उसमे फंस कर खेत रह गया है । वैसे भी इस वर्णन मे वीररस के नाम पर वीररसात्मक रूढियो का निरूपण किया गया है, जो तब तक साहित्य मे गहरी जम चुकी थी । इसमे द्वन्द्वयुद्धों, सिंहगर्जनाओं तथा कवन्धो के भयजनक नृत्यों, स्वर्ग से पुष्पवृष्टि, दुन्दुभिनाद आदि को (१०.३५.३८,५८ आदि) ही वीररस का स्थानापन्न मान लिया गया है । इन रूढ़ियो की अपनी परम्परा है पर ये युद्ध के स्थूल, लगभग उपेक्षणीय, अंग है । ये योद्धाओ के पराक्रम की मार्मिक व्यंजना करने मे असमर्थ है, जो वीररस का प्राण है । चतुर्थ तथा पचम सर्ग मे अभ्यागत राजाओं के पराक्रम के वर्णन मे वीररस के कुछ चित्र सुन्दर तथा प्रभावशाली है । वे बहुधा श्रीहर्ष के वर्णनो पर आधारित है । श्रीहर्ष की तरह पद्मसुन्दर का वीररस दरबारी कवियों का 'टिपिकल वीररस' है

जिसमे अतिशयोक्ति और शब्दच्छटा का आडम्बर दिखाई देता है। हालांकि पद्म-सुन्दर स्वयं दरबारी कवि नही थे किन्तु वे सम्भवतः राजदरबारो से सम्पर्क के कारण उस रूढि के प्रभाव से नही बच सके। साकेतनरेश की वीरता के वर्णन वाले इस पद्य मे वीररस की यही प्रवृत्ति मिलती है।

एतद्दोर्दण्डचण्डद्युतिकरनिकरत्रासितारातिराज-
स्तस्थौ यावद्विशंको द्रुमकुसुमलताकुंजपुंजे निलीय।
वीक्ष्यैतन्नामधेयांकितनिशितशरध्वस्तपंचाननास्यो-
द्भूताशंकं करंकं व्रजतु विवशधीः कां दिशं कांदिशीकः ॥४.६२

इसी प्रसग का निम्नाकित पद्य नैषधचरित्र पर आधारित है, परन्तु उपर्युक्त रूपक के प्रभाव के कारण इसमे मूल की मार्मिकता सुरक्षित नही रह सकी। इसमे साकेतराज की कीर्त्ति को गंगा माना गया है, जो गंगा और यश की उज्ज्वलता की दृष्टि से उपयुक्त है। किन्तु तलवार को यमुना का प्रतिनिधि मानना विचित्र-सा लगता है। दोनों में यद्यपि वर्णसाम्य है पर इससे अभीष्ट भाव की अभिव्यक्ति नही होती। श्रीहर्ष की भांति शत्रु की अकीर्त्ति पर यमुना का आरोप करना काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से अधिक विवेकपूर्ण होता। गगा और यमुना के इस संगम मे स्नान करके (मरकर) शत्रु उसी प्रकार स्वर्ग मे सुरांगनाओं का भोग करते है जैसे पुण्यात्मा सगम-स्नान के फलस्वरूप स्वर्गिक सुख प्राप्त करते है। यहां साकेतनरेश की वीरता के सचारी रूप मे राजन्यवीरों का देवागनाओ के साथ सुरतक्रीडा का शृगारी चित्र प्रयुक्त हुआ है।

एतद्दोर्द्वयकीर्तिदेवसरिताधारा जलश्यामला
कालिंदीकरवालिका समगमद्वेणीत्रये तत्र च।
दीनद्वेषिसरस्वतीमिलितया राजन्यवीरव्रजैः
स्नात्वाकारि सुरांगनासुरतक्रीडारसोद्वेलनम् ॥ ४.६१

हास्यरस के एक-दो उदाहरण अष्टम सर्ग मे वारातियो के हास-परिहास मे मिलते हैं। विद्याधरराज ने वारातियो से ठिठोली करने के लिए उनके आगे कुछ नकली रत्न रखे। एक वाराती के स्फूर्ति से उन्हे उठाते ही दर्शकों की हंसी का फव्वारा छूट गया।

सत्येतराणि पृथगप्युपदाकृतानि रत्नानि लांतु गदिता इति कूकुदेन।
ते तेष्वथैक इह कूटमणिग्रहीता पश्यै रहस्यत स इत्यहहास्य दाक्ष्यम् ॥ ८.६४.

प्रकृतिचित्रण

यदुसुन्दर मे मुख्यतः दो स्थलों पर प्रकृति का चित्रण किया गया है। बारहवे सर्ग का सन्ध्या एवं चन्द्रोदय और प्रभात का वर्णन नैषधचरित के क्रमशः बाईसवें

तथा उन्नीसवे सर्गों से इतना प्रभावित है कि इसे श्रीहर्ष के पूर्वोक्त सर्गों का सार कहा जा सकता है। नवें सर्ग का षड्ऋतु वर्णन नैषध से स्वतंत्र है पर इस पर माघ का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। पद्मसुन्दर की प्रकृति, नैषध की तरह, वियोग या सयोग की उद्दीपनगत प्रकृति है। तृतीय सर्ग का उपवन-वर्णन (३५-४४), जो नैषध के प्रथम सर्ग के उपवनचित्रण (७६-११९) का समानान्तर है, वसुदेव की विरहवेदना को भड़काता है। विरही वसुदेव को चम्पे की कलियां काम की सेना की दीपिकाएं दिखाई पडती है (३.३६)। आम का विशाल वृक्ष, मजरी की अंगुली से तर्जना करता हुआ, भ्रमरो की हुंकार से उसे धमकाता है (३.३९)। केतकी वियोगियो के हृदयो को चीरने वाली आरी है (३.४१) और उसे पलाश काम के अर्द्धचन्द्राकार वाण प्रतीत होते है, जो विरहीजनों का खून पीकर लाल हो गए हैं (३.४२)।

नवें तथा वारहवें सर्ग के प्रकृति-वर्णन सयोग के उद्दीपन का काम देते हैं। ये सर्ग क्रमश. वसुदेव तथा रोहिणी और कनका की सम्भोग-क्रीडाओ के लिए समुचित पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं। नवें सर्ग में ऋतुवर्णन के द्वारा शास्त्रीय नियमों की खानापूर्ति करने का प्रयत्न किया गया है। यह पद्मसुन्दर के सहज प्रकृतिप्रेम का द्योतक नही है। चित्रकाव्य से भरपूर होने के कारण इस वर्णन में प्रकृति गौण हो गई है। इसमे कवि ने विभिन्न यमकभेदो तथा चित्रकाव्य की रचना में अपना कौशल प्रदर्शित किया है।[२५] स्पष्टत. यह माघ के प्रकृति वर्णन से प्रेरित तथा प्रभावित है, जो प्रकृतिवर्णन के नाम पर इसी प्रकार चित्रकाव्य के जाल मे फंस कर रह गए है। चित्रकाव्य पर समूचा ध्यान केन्द्रित होने के कारण पद्मसुन्दर प्रकृति का विम्वचित्र प्रस्तुत करने मे सफल नही हुए। शरद् और शिशिर के कुछ चित्र सुन्दर वन पड़े है, भले ही ये पूर्ववर्ती कवियो से लिए गए हो। शरद् ऋतु का यह मानवी रूप, साहित्य मे सुविज्ञात होता हुआ भी, आकर्षक है। अपने वैभव के कारण शरत् साम्राज्ञी प्रतीत होती है। पूर्ण चन्द्रमण्डल उसका छत्र है, उस पर काश को मात करने वाली चवरिया डुलाई जा रही है और वह शुभ्र आकाश का परिधान पहन कर राजसी ठाट से कमल के सिंहासन पर विराजमान है (९.५४)। धान की वालियां चोच मे लेकर उपवन की वीथियो मे वैठी शुकराजि इन्द्रधनुप की रचना करती है (९.५५)। यह वर्णन शिशिरकालीन दृश्य का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है, यद्यपि ऐसे चित्र अत्यन्त विरले है।

> इह नहि मिहिकांशुर्दृश्यते छादितेऽस्मिन्नन्भसि मिहिकयाभ्रभ्रान्तिवाधां दधत्या।
> अहनि मिहिरविम्वोद्दामधामापि लुप्तं भज निजभुजवन्धं शिशिरा वान्ति वाताः॥
> ९.६७

२५ यदुसुन्दर, ९. १५, २९, ४९, ५८, ६५ आदि.

उपजीव्य नैषध के समान यदुसुन्दर के बारहवे सर्ग का प्रकृति-वर्णन दूरारूढ कल्पनाओ और अप्रस्तुतो के दुर्वह बोझ से आक्रात है। श्रीहर्ष के काव्य मे पाण्डित्य-पूर्ण उडान की कमी नही है पर प्रकृति-वर्णन के उन्नीसवे और बाईसवें सर्गो में वह सब सीमाओ को लाघ गया है। इन वर्णनो मे उसने ऐसी विकट कल्पनाएँ की है जो वर्ण्य विषय को स्पष्ट करने की अपेक्षा उसे धूमिल कर देती है। स्थानाभाव के कारण यदुसुन्दर में उन सबको आरोपित करना सम्भव नही था, फिर भी पद्मसुन्दर ने श्री हर्ष के अप्रस्तुतों को उदारता से ग्रहण किया है। ये अप्रस्तुत नाना स्रोतो से लिये गये है। 'सन्ध्या के समय लालिमा धीरे-धीरे मिटती जाती है और तारे आकाश मे छिटक जाते है;' इस दृश्य के चित्रण मे पद्मसुन्दर ने श्रीहर्ष के कई भावो की आवृत्ति की है। उसने पहले रूपक द्वारा इसका वर्णन किया है। सन्ध्या की सिंही ने दिन के हाथी को अपने नखो से फाड दिया है। उसकी विशाल काया से बहता रक्त, सान्ध्य राग के रूप मे, आकाश मे फैल गया है और उसके विदीर्ण मस्तक से झरते मोती तारे बन कर छिटक गये है (१२.६)। श्रीहर्ष ने आकाश को मूर्ख के रूप मे प्रस्तुत किया है, जिसने सूर्य का स्वर्णपिण्ड बेच कर बदले मे, कौडिया खरीद ली है। पद्मसुन्दर ने इसके विपरीत अस्ताचल को व्यवहारकुशल क्रेता का रूप दिया है। उसने सन्ध्या की आग मे शुद्ध सूर्य रूपी स्वर्णपिण्ड हथिया लिया है और उसके बदले मे आकाश को निरर्थक कौडिया (तारे) बेच दी है।[२६] सूर्य के अस्त होने पर चारो ओर अधेरा घिरने लगा है। कवि की कल्पना है कि काजल बनाने के लिये सूर्य रूपी दीपक पर आकाश का सिकोरा औधा रखा गया था। काजल इतना भारी हो गया है कि वह विशाल सिकोरा भी उसके भार से दब कर नीचे गिर गया है। उसने दीपक (सूर्य) को बुझा दिया है। वह स्वय अधकार बन कर चारो तरफ बिखर गया है।[२७] चन्द्रमा की उदयकालीन लालिमा ऐसी लगती है मानो वह अग्रज ऐरावत द्वारा उसे अपने सिन्दूर से लाल मस्तक पर उठाने से लग गयी हो अथवा देवागनाओ ने उसे अपने अधरो के चुम्बनो से लाल बना दिया हो (१२.३३)। प्रभातवर्णन मे और भी दूर की कौडी फेंकी गयी है। प्रात. काल तारे अस्त हो जाते

२६. अस्ताचलेऽस्मिन्निकषोपलाभे सन्ध्याकषोल्लेखपरीक्षितो यः।
विक्रीय तं हेलिहिरण्यपिण्डं तारावराटानियमादित द्यौः ॥ नैषध २२.१३
निकषमिषतां बिभ्रत्यस्ताचलस्तु शिलातले द्रुतकनकजं पिण्डं क्रीत्वा विकर्त्तन-मण्डलम्।
जलनिधिरये दत्ते साक्षात्परीक्ष्य पितृप्रसूहुतभुजि नभोहस्ते तारावराटकोटिताम् ॥
यदु. १२.८

२७. यदुसुन्दर, १२. १५, नैषधचरित, २२.३२.

है, कवि की कल्पना है कि सूर्य ने अपनी किरणो के झाडू से देवदम्पतियो की विलासशय्याओ से गिरे मोतियो को एकवारगी बुहार दिया है (१२.६५)। श्रीहर्ष के अनुकरण पर पद्मसुन्दर ने सूर्य को बाज का रूप देकर सन्तुलन की सब सीमाओं को लाघ दिया है। प्रभात के बहेलिये ने आकाश में सूर्य का बाज छोड दिया है। अपने आश्रित शश को बाज के झपट्टे से बचाने के लिये चन्द्रमा ने समुद्र की शरण ली है। अंधकार के कव्वे पहले ही भाग चुके है। तारागण रूपी कबूतर उसके घातक पंजो से बचने के लिये नाना प्रकार की कलाबाजियाँ कर रहे है (१२.७४)। इन क्लिष्ट कल्पनाओं ने पद्मसुन्दर के प्रकृतिवर्णन को ऊहात्मक बना बना दिया है।

चरित्रचित्रण

यदुसुन्दर मे वसुदेव तया कनका दो ही मुख्य पात्र है। वे क्रमश· नैपध के नल और दमयन्ती के प्रतिरूप है।

मथुराधिपति समुद्रविजय का अनुज वसुदेव यदुसुन्दर का नायक है। वह विविध बहुमूल्य गुणो का भण्डार है। उसके अधिकतर गुण उसकी कुलीनता से प्रसूत है। उसमे गम्भीरता, उदारता तथा वाक्पटुता का समन्वय है। उसका वाक्कौशल वृहस्पति को मात करता है, गम्भीरता मे समुद्र उसके सम्मुख तुच्छ है और इतिहास प्रसिद्ध कर्ण आदि भी उदारता में उसकी तुलना नही कर सकते (३.११३)। वसुदेव के सौन्दर्य से ऐसा आभास होता था मानो काम उसके रूप मे पुन· जीवित हो गया हो (पुनर्नव इवास मनोभवस्त्वम्-३.१११)। वह अपने ऐश्वर्य तथा पराक्रम से इन्द्र की श्रेष्ठता को भी मन्द करता है (३.११५)। सिंहसंहनन (३.१०५) विशेपण उसकी शारीरिक पुष्टता तथा निर्भीकता का संकेत देता है। इन प्रशंसनीय गुणो के विपरीत उसके चरित्र का एक वह पक्ष है, जिससे यौवन के आरम्भ मे, पौरागनाओ के प्रति दुर्व्यवहार के कारण उसे अपने अग्रज के कोप का भाजन बनना पडता है। यह स्वयं स्वीकृत देशनिष्कासन उसकी जीवनधारा के परिवर्तन की प्रस्तावना है। अग्रज की भर्त्सना से अपमानित होकर स्वय देश छोडकर चला जाना उसके स्वाभिमान और दृढ निश्चय का द्योतक है। वैसे अपनी विनम्रता, सौहार्दपूर्ण प्रीति तथा गुणग्राहिता के कारण वह पृथ्वी का आभूषण है (१० ६७)। इसीलिये कनका हस से उसके गुण सुनने मात्र से उस पर अनुरक्त हो जाती है।

वसुदेव अत्यन्त व्यवहारकुशल व्यक्ति है। कुबेर के दौत्य का आग्रह उसकी पात्रता को प्रकट करता है। उसके कारण जो आशंकाएँ उसे सालती है, वे उस द्वन्द्व से प्रसूत है, जो ऐसी स्थिति मे प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति को मथता है। परन्तु दौत्य स्वीकारने के बाद वह उसे पूर्ण निष्ठा से निभाता है। राजमहल मे कनका की स्थूल जिज्ञासाओ को बुत्ता देकर वह उसे पूरी तत्परता से कुबेर को पति रूप मे स्वीकार

करने को प्रेरित करता है। कनका के उस प्रस्ताव को अस्वीकार करने पर, उसकी सत्यनिष्ठा से प्रसन्न होता हुआ भी, वह उसे उसकी तथाकथित विवेकहीनता के कारण धमकाने से भी नही चूकता (३.१६३)। किन्तु उसके इस रूक्ष वाह्य के पीछे कोमल हृदय छिपा हुआ है। कनका के क्रन्दन से उसका हृदय पसीज जाता है और वह अपने कर्म की गोपनीयता को भूलकर अपना परिचय दे बैठता है। कुवेर को स्थिति से अवगत करने मे भी उसे सकोच नही। उसके इन गुणो के कारण ही कनका स्वयम्वर मे देवताओ, गन्धर्वो आदि को छोड़कर उसका वरण करती है। रोहिणी का उसे वरण करना वसुदेव के गुणो की दोहरी स्वीकृति है। वह समर्पित प्रेमी है और प्रिया की प्रसन्नता को अपनी प्रसन्नता समझता है (३.१६१)।

काव्यनायक का प्रमुख गुण वीरता वसुदेव के चरित्र की विशेषता है। वस्तुत दसवे सर्ग का युद्धवर्णन उसके पराक्रम और युद्धकौशल को उजागर करने के लिये ही आयोजित किया गया है। वह, प्रच्छन्न रूप मे, न केवल स्वयम्वर मे अस्वीकृत राजाओ की सामूहिक सेना को पछाड़ देता है, उसके सामने समुद्रविजय के भी छक्के छूट जाते है। उसके वन्दी की यह उक्ति कि 'वसुदेव अपनी भुजाओ की अरणियो से उद्भूत प्रतापाग्नि से शत्रु की स्त्रियो के हृदय-कानन को क्षण भर मे भस्म कर देता है' कवित्वपूर्ण होती हुई भी केवल प्रशस्ति नही है।

इन गुणो से वासुदेव विश्व के मुकुट का रत्न वन गया है (विश्वविश्वजन-मौलिकिरीटरत्नम्-३.११४)। उसका चरित सर्वातिशायी है (सर्वातिशायि चरित तव चारुमूर्ते-३.११३)।

कनका

यदुसुन्दर के नायक के समान नायिका कनका भी अनेक गुणों की खान है। विद्याधरी होने के नाते वह सौन्दर्य की चरम सीमा है (सुरूप-सीमा कनकेति विश्रुता-२.१)। उसके अनवद्य रूप को देख कर ऐसा लगता है कि उसका निर्माण शांतरस से जड़वुद्धि ब्रह्मा ने नही वल्कि कामदेव ने अपने शिल्प के समस्त कौशल से किया है। इसीलिये वह शृंगारसुधा की सरिता से किसी प्रकार कम नही है (४.४१)। कवि की शब्दावली मे, उसने सौन्दर्य मे मेनका को, स्वरमाधुर्य में वीणा को, मुख-कान्ति से चन्द्रमा को और स्मिति से कमलिनी को जीत कर तीन लोको मे विजय-ध्वजा फहराई है (४.४३)। अपने रूप की समग्रता में वह काम की वृक्षवाटिका है (२.२६)। कनका सौन्दर्य मे रति है तो वुद्धि मे सरस्वती है (वभूव धिया रुचा वा ननु भारती रतिः-२.४७)। वह प्रमाण-शास्त्र मे सुपठित, गद्य-पद्य की तत्त्वज्ञ, वस्तुतः समस्त विद्याओ की विदुषी है। राजकुमारी होने के कारण वह अत्यन्त शिष्ट तथा सुसस्कृत है। वह दूत का परिचय पूछने मे जिस पदावली का प्रयोग करती है, उसके

एक-एक अक्षर से मधुर शिष्टता टपकती है। वह राजदरबारों मे व्यवहृत भाषा की मृदुता तथा स्निग्धता से परिपूर्ण है (३.१०४-१०५)। विधाता ने उसकी वाणी को सुधावर्षी बनाया है (३.११६)।

कुवेर उसके इन गुणो पर मुग्ध है। वह वसुदेव को पहले ही परोक्ष में हृदय समर्पित कर चुकी है। कुवेर दूत के द्वारा प्रणय-निवेदन करता है और दूत उसे नाना प्रलोभन देकर धनपति का वरण करने का औचित्य रेखांकित करता है (मद्वाचमंच न च मुंच-३.११७)। 'देवों के साहचर्य से मर्त्य भी देव बन जाता है (३.१६६) और देवता को छोड कर एक साधारण मर्त्य को पति चुनना विवेकहीनता है (३.१६४) दूत के इन तर्को तथा इस धमकी का कि अस्वीकार करने पर कुवेर स्वयम्वर को तहस-नहस कर देगा (३.१७०), उस पर कोई असर नही पडता। वह दूत को स्पष्ट शब्दों मे कह देती है कि मेरे शरीर को वसुदेव और सूर्य के अतिरिक्त कोई नही छू सकता (ड.१६०)। एक स्त्री का देवता के साथ दाम्पत्य न सम्भव है न उपयुक्त (३.१५५)। उसकी अविचल निष्ठा के कारण ही दूत अपना भेद प्रकट करता है। वैभवशाली तथा पराक्रमी सम्राटो और देवताओ को छोड कर वसुदेव का वरण करना उसकी निष्ठा तथा प्रेम की सत्यता का प्रमाण है। वसुदेव उस गुणवती युवती को पाकर ऐसे उल्लसित हुआ जैसे पूर्णिमा की रात्रि मे चन्द्रमा, नलिनी से मिल कर सूर्य, अभ्रमु को पाकर ऐरावत तथा प्रफुल्ल पुष्प पर वैठ कर भ्रमर (६ ६८)।

भाषा आदि

पहले संकेत किया गया है कि पद्मसुन्दर की भाषा पर भी श्रीहर्ष का गहरा प्रभाव है। जहां उसने उपजीव्य काव्य का स्वतत्र रूपान्तर किया है, वहा उसकी भाषा, उसके पार्श्वनाथ काव्य की भांति, विशद तथा सरल है; परन्तु जहा उसे नैषध का लगभग उसी की पदावली मे पुनराख्यान करने को विवश होना पडा है, वहां उसकी भाषा मे प्रौढ़ता सक्रान्त हो गयी है, यद्यपि वहा भी वह उसे क्लिष्टता से वचाने के लिये प्रयत्नशील है। अन्तिम सर्ग के प्रकृति वर्णन तथा स्वयम्वर-वर्णन के कुछ भागों मे भाषा का यह गुण लक्षित होता है। स्वयम्वर के प्रतिभागी राजाओं के पराक्रम के वर्णन की भाषा दीर्घ समासावली से युक्त है। पद्मसुन्दर को इस बात का श्रेय देना होगा कि नैषध से प्रेरित होने पर भी उसने भाषा को, अपनी वहुज्ञता का अखाड़ा बना कर दुरूह अथवा कष्टसाध्य नही वनने दिया है। एक उदाहरण देखिये जिसमे महेन्द्राधिपति की वीरता से प्रसूत कीर्त्ति का वर्णन है। समासवहुल होता हुआ भी यह क्लिष्टता से मुक्त है।

एतत्संयुगसांयुगीनविलसद्दोर्वल्लिभल्लाहत-
द्वेषिस्त्रीकरकम्वुकंकणविसछेदाशनैकस्पृहा।
अस्यामित्रकलत्रनेत्ररुदिताम्भोनिर्झरे खेलति
क्षोणीमण्डलमण्डनं किल यशोहंसालिरिन्दूज्वला ॥ ५.१८

नैपध की पदावली से वच कर पद्मसुन्दर ने नैपध के जिन भावो को अपनी भापा में व्यक्त किया है, वह अपनी सुवोधता से भावो की अभिव्यक्ति मे सहायक वनी है। दूत के प्रति कनका की यह प्रश्नोक्ति तथा काव्य में अन्य कतिपय स्थल, नैषध की भाषा का विरोधी ध्रुव प्रस्तुत करते है। अपनी सहजता के कारण यह उस गुण से व्याप्त है, जिसे साहित्यशास्त्र मे 'प्रसाद' कहा गया है।

तत्सिहसंहनन मे चरितार्थयेदं सिंहासनं निजपदाम्वुजविश्रमेण।
नो दूयते तव मनो नलिनम्रदिम्नो विद्वेषिणः पदयुगस्य विहारचारैः ॥ ३.१०५
निःश्रीकेमेव कृतवान् कतमं व्यतीत्य देशं पुरस्य यदिहाभरणीवभूव।
कामं स्वनाम मयि च प्रकृते निवेद्यं प्रायो हि नामपदमेव मुखं क्रियासु ॥ ३.१०६

सामान्यत यद्रुसुन्दर की भापा को सुवोध कहा जायेगा पर काव्य मे, नैषध के प्रभाव से मुक्त दो ऐसे स्थल है, जिनमे पद्मसुन्दर अपने उद्देश्य से भटक कर, चित्रकाव्य मे अपना रचनाकौशल प्रदर्शित करने के फेर मे फंस गये है। इन सर्गो मे यदुसुन्दर का कर्त्ता स्पप्टत. माघ के आकर्पण से अभिभूत है, जिसने इसी प्रकार ऋतुओ तथा युद्ध के वर्णनो को वौद्धिक व्यायाम का अखाडा वनाया है। पद्मसुन्दर का पड्ऋतु वर्णन वाला नवां सर्ग आद्यन्त यमक से भरपूर है। इसमे पद, पाद, अर्द्ध तथा महायमक आदि यमक भेदो के अतिरिक्त कवि ने अनुलोम-प्रतिलोम, पोडशदलकमल, गोमूत्रिकावन्ध आदि साहित्यिक हथकण्डों पर हाथ चलाया है। शिशुपालवध की तरह पद्मसुन्दर का युद्धवर्णन एकव्यंजनात्मक, द्व्यक्षरात्मक तथा वर्ण, मात्रा, विन्दुच्युतक आदि चित्रकाव्य से जटिल तया वोझिल है, यद्यपि ऋतुवर्णन की अपेक्षा इसकी मात्रा यहा कम है। इनसे कवि के पाण्डित्य का सकेत अवश्य मिलता है पर ये इन स्थलो पर काव्य की ग्राह्यता मे वाधक है, इसमे सन्देह नही। निम्मांकित महायमक से कवि के यमक की करालता का अनुमान किया जा सकता है।

सारं गता तरलतारतरंगसारा सारंगता तरलतारतरंगसारा।
सारं गता तरलतारतरंगसारा सारं गता तरलतारतरंग सारा ॥ ९.२९

शरद्वर्णन का यह पद्य आरम्भ तथा अन्त से एकसमान पढा जा सकता है। शरत् के इस अधम वर्णन से कितने पाठक ऋतु-सौन्दर्य का रस ले सकते हैं ?

सारसारवसारा सा रुचा तानवकारिका।
कारिकावनता चारुसारा सा वरसारसा ॥ ९.५८

चित्रकाव्य का विकटतम रूप प्रस्तुत पद्य मे मिलता है। इसमे केवल एक व्यंजन —क — के आधार पर रचना के द्वारा कवि ने अपना पाण्डित्य बघारा है।

कुः कां ककंक कैका किकाककु कैकिका।
कां कां कककका काक ककाकुः कंकका कका ॥ १०.४४

श्रीहर्ष ने यद्यपि अपनी रीति को वैदर्भी कहा है, किन्तु उसमे पांचाली और गौडी का घना मिश्रण है। पद्मसुन्दर की भाषा मे समासबाहुल्य की कमी नही है पर उसकी सरलता को देखते हुए उसे वैदर्भी-प्रधान कहना उचित होगा। वैदर्भी की सुबोधता पद्मसुन्दर की भाषा की विशेषता है। अपनी क्लिष्टता के बावजूद नैषध की भाषा पदलालित्य से इतनी विभूषित है कि 'नैषधे पदलालित्यम्' उक्ति साहित्य में श्रीहर्ष के भाषागुण की परिचायक बन गयी। यदुसुन्दर के अधिकतर पद्यो मे पद-लालित्य मिलेगा जो उसकी भाषा को नयी आभा देता है। कहना न होगा, पाद-लालित्य अनुप्रास पर आधारित है, जिसका काव्य मे व्यापक प्रयोग किया गया है। पदलालित्य ने किस प्रकार भाषा की मधुरता को वृद्धिगत किया है, यह प्रस्तुत उदाहरण से स्पष्ट होगा।

एतस्योद्धुरसिन्धुरैरपि मृधे क्रान्ता पुनर्जंगमै—
र्जानानो धरणीधरैः स्म धरणीं धीरः पृथुः पार्थिवः।
एतत्संगरसंगतामरसमज्यामध्यमध्यासितो
भूयो भूधरभूरिभारहरणे मेधां विधत्तेतराम् ॥५.१४

नैषधचरित वक्रोक्ति-प्रधान काव्य है। यदुसुन्दर भी नैषध की इस विशेषता से अप्रभावित नही है। उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, समासोक्ति का स्वतन्त्र अथवा मिश्रित प्रयोग यदुसुन्दर की वक्रोक्ति का आधार है। सापह्नवोत्प्रेक्षा तथा सापह्नवा-तिशयोक्ति के प्रति पद्मसुन्दर का प्रेम नैषध से प्रेरित है। कनका के विरहवर्णन के प्रसंग मे, इस पद्य मे, मलयानिल मे वायव्यास्त्र की सम्भावना करने से उत्प्रेक्षा है और वक्ष पर स्थित बिस का अपह्नव कर नागास्त्र की स्थापना किये जाने से अपह्नुति है।

मलयजैरनिलैरनिलास्त्रतामिव किमु प्रजिघाय मनोभवः।
हृदि कृतैर्नु बिसैरियमप्यहो पवनभुक्प्रतिशस्त्रमुपाददे ॥ ३.२५

पाचवे सर्ग मे राजाओ के पराक्रम आदि गुणो के बखान मे कई स्थलो पर पद्मसुन्दर ने सटीक अतिशयोक्तियो का प्रयोग किया है (५.१६,१८,४४,६।३५) है। वसुदेव तथा कनका की सम्भोगोत्तर स्थिति के चित्रण का आधार अतिशयोक्ति है।

विद्रुमस्य ललितैर्नु विद्रुतं मंदितं मलयमंदमारुतैः।
कोकिलस्य किल काकलीरवैर्मुद्रितं समभवद्रतं हि तत् ॥ ११.५७

अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, दृष्टात, पर्यायोक्त आदि वक्रोक्ति के पोपक अन्य अलंकार है, जिनका पद्मसुन्दर ने रुचिपूर्वक प्रयोग किया है। तृतीय सर्ग मे अर्थान्तरन्यास को सबसे अधिक स्थान मिला है (३.११,८४,११७,१३६,१५३,१५५,१५६, २०१)। विषयों के बीच वसुदेव की निष्पापता के प्रतिपादक इस पद्य मे पूर्वार्द्ध के विशेष कथन का उत्तरार्द्ध की सामान्य उक्ति से समर्थन करने के कारण अर्थान्तरन्यास है।

तां रिरंसुरथ सोऽप्यहर्निशं पापमाप किमु तत्त्ववित् क्वचित्।
ज्ञानिनां किल कलंकपंकता लिम्पते न विपयस्पृशामपि ॥ ११.३०

अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त से ही वे मधुर सूक्तियां उद्भूत है, जो काव्य की निधि है।[२८]

काव्य मे प्रयुक्त उपमाएँ कवि की कुशलता की परिचायक है। पद्मसुन्दर ने अन्य अलंकारों के संकर के रूप मे भी उपमा का प्रयोग किया है (३।१६५,४।७ आदि)। पद्मसुन्दर के उपमान अनेक क्षेत्रो से लिये गये है। कुछ अप्रस्तुत शास्त्रीय (१०.६६) अथवा दार्शनिक (१०.२०) है। स्वयम्वर वर्णन मे प्रयुक्त उपमान बहुत मार्मिक है। शिविकाधारी कनका को मिथिलापति से हटा कर 'धनदयुग्म' के पास ले गये जैसे सूर्य की किरणे चक्रवाकमिथुन के पास प्रसन्नता ले जाते है।

तां निन्यिरे धनदयुग्ममिवावशिष्टं प्रीतिं रथांगमिथुनं हरिदश्वपादाः। ६.१

रूपक, परिसख्या, व्याजोक्ति, व्यतिरेक, विरोधाभास, सार, एकावली, काव्यलिग, असंगति, अनुमान, उल्लेख, उदात्त, पद्मसुन्दर के अन्य मुख्य अलंकार है। नैषध के समान यदुसुन्दर मे स्वभावोक्ति के लिये स्थान नही है। काव्य मे इनी-गिनी स्वभावोक्तियां मिलेगी। दूत के अन्त.पुर मे प्रवेश की यह स्वभावोक्ति उसकी चेष्टाओ का यथातथ्य चित्र प्रस्तुत करती है।

दौवारिकस्य परविप्रतिषेधवाचा त्वं कोऽस्यरेऽपसर सोऽपि विशंकमानः।
ग्रीवां विभुज्य चकितः क्षणमित्यपास्तशंकः परामथ विवेश निशान्तकक्षाम् ॥ ३.७९

२८. कुछ सूक्तियों बहुत रोचक है—

(i) तृणाग्रनीरैः शममेति किं तृषा। १.३४
(ii) औचित्यं निकृतिपरेषु वक्रतैव। ३.६१
(iii) प्रायो हि नामपदमेव मुखं क्रियासु। ३.१०६
(iv) दुःस्थे चेतस्यशेषमविषह्यम्। ३.१२७
(v) न मानमान्द्यं गणयन्त्यभीप्सवः। ४.६
(vi) गरीयसितरा नियतेः समीहा। ४.७२
(vii) समयवशाः स्युः संपदोऽसंपदः। ६.६१

यदुसुन्दर मे चौबीस छन्द प्रयुक्त हुए है। उनके नाम इस प्रकार है—वंशस्थ, वसन्ततिलका, मालिनी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, द्रुतविलम्वित, शालिनी, प्रहर्षिणी, हरिणी, मत्तमयूरी, पुष्पिताग्रा, पृथ्वी, मन्दाक्रांता, रुचिरा, जलधरमाला, स्वागता, तोटक, मजुभाषिणी, प्रमिताक्षरा, इन्द्रवज्रा, रथोद्धता, इन्द्रवंशा और अनुष्टुप्। छह पद्यो के छन्द ज्ञात नही हो सके (४.८१, ६.३२, ३४,३८-४०)। प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ सर्गो का प्रधान छन्द 'वंशस्थ' है। पांचवे, छठे तथा नवें सर्गो मे छन्दो का वाहुल्य है। इन सर्गो मे वार-बार छंद वदलता है। पंचम सर्ग में नौ तथा नवे सर्ग मे वारह छन्द प्रयुक्त हुए है। दसवें सर्ग के प्रथम चालीस पद्य स्वागता छद मे निबद्ध है। शेष इकतीस पद्यो मे अनुष्टुप्, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा रचना के आधार वने है।

यदुसुन्दर का समूचा महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि इसमे नवीन पात्रो के माध्यम से नैषधचरित का संक्षिप्त रूपान्तर प्रस्तुत किया गया है। मौलिकता के अभाव के कारण यदुसुन्दर ख्याति प्राप्त नही कर सका। सम्भवतः यही कारण है कि इसकी केवल एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।

हीरसौभाग्य । देवविमलगणि

माघ कालिदासोत्तर काव्यसाहित्य का सार्वभौम सम्राट् है। उसने जिस अलंकृत शैली का चरम विकास किया तथा जिन काव्यरूढियो को मायास प्रतिष्ठित किया, उनसे संस्कृत-महाकाव्य दूर तक प्रभावित हुआ है। माघ की तुलना मे श्रीहर्ष का साहित्य पर अल्प प्रभाव पडा है। इसका मुख्य कारण उनकी 'ग्रन्थग्रन्थि' की विवेकहीन वृत्ति है। जिन परवर्ती महाकाव्यों की रचना नैपधचरित के अनुकरण पर हुई है, उनमे देवविमलगणि का हीरसौभाग्य[1], अपने विविध गुणो के कारण, अत्युच्च पद अधिकारी है। सतरह सर्गो के इस विशाल काव्य मे तपागच्छ के प्रख्यात आचार्य, हीरविजयसूरि का उदात्त चरित वर्णित है। अकवर तथा हीरविजयसूरि की आध्यात्मिक गोष्ठी, मुगल-सम्राट् के हृदय मे अपूर्व परिवर्तन का सूत्रपात करती है जिससे उसका दृप्त वैभव संयमघन साधु की निरीहता के समक्ष नत हो जाता है। यही मर्मस्पर्शी प्रसग देवविमल के काव्य का हृदयस्थल है। तत्कालीन प्रणाली के अनुरूप, हीरसौभाग्य में जैनाचार्य का चरित काव्य-शैली मे निरूपित किया गया है। कवि की निष्पक्षता के कारण यह हीरसूरि के जीवन का प्रामाणिक स्रोत भी है और देवविमल की काव्यप्रतिभा, कवित्व की दृष्टि से भी इसे उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। हीरसौभाग्य पर, एक ओर, सिद्धिचन्द्र की यह उक्ति—यथार्थमेव यज्जातं तत्तथैव निगद्यते[2]—अक्षरशः चरितार्थ होती है; दूसरी ओर श्रीहर्ष की परम्परा के सम्यक् पालन के कारण इसे न्यायपूर्वक जैन साहित्य का नैषध कहा जा सकता है।

हीरसौभाग्य का स्वरूप

चरित के तथ्यात्मक निरूपण के कारण हीरसौभाग्य ऐतिहासिक काव्य का आभास देता है। आधुनिक शब्दावली मे इसे चरितात्मक (बॉयग्रेफिक) भी कह सकते है, पर इसका शास्त्रीय स्वरूप सर्वोपरि है। शास्त्रीय शैली के महाकाव्य की रचना-विधि के अनुरूप हीरसौभाग्य का प्रतिपाद्य आधार मात्र है, जिस पर कवि ने अपनी अभिव्यंजना शैली के द्वारा काव्य का विशाल प्रासाद खड़ा किया है। काव्य का शिल्प शास्त्रीय महाकाव्य की प्रकृति का पोपक है। वैदुष्यपूर्ण भाषा,

१. काव्य माला, गुच्छक ६७, बम्बई, सन् १९००

२. भानुचन्द्रचरित्र, सिंघी जैन ग्रंथमाला, बम्बई, १.२

गम्भीर शैली, काव्यरूढ़ियो के परिपालन की तत्परता, प्रौढोक्ति के प्रति पक्षपात आदि तत्त्व काव्य की शास्त्रीयता की निर्णायक विशेषताएं है। वस्तुतः देवविमल का उद्देश्य ऐसे महाकाव्य की रचना करना था, जो महाकाव्य की तत्कालीन समृद्ध परम्परा को, उसके गुण-दोषो के साथ, समग्रता से बिम्बित कर सके। इसके कथानक मे नाट्य सन्धियो का विनियोग भी इसी दृष्टि से प्रेरित है।

हीरसौभाग्य मे पौराणिक महाकाव्यो के भी कतिपय तत्त्व विकीर्ण है। पौराणिक रचना की भाति इसमे यशस्वी पुत्रो की प्राप्ति माताओ के स्वप्नदर्शन का फल है। काव्य मे देशनाओ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विजयदान सूरि के धर्मोपदेशो से प्रेरित होकर ही हीर तथा जयसिंह प्रव्रज्या ग्रहण करते है। आर्हत धर्म का गौरवगान[3] पौराणिक प्रवृत्ति का सूचक है। वस्तुत· यदि काव्य का आवरण हटा कर देखा जाये, काव्य का प्रमुख प्रयोजन जैनधर्म का उन्नयन करना है, जिसके बिना जीवन उसी तरह निरर्थक है, जैसे फल से शून्य वृक्ष—**अपार्थतामुद्वहते परं जनुर्विना फलौघैरवकेशिनामिव** (हीरसौभाग्य, १४.१८)। हीरसौभाग्य मे पौराणिक काव्यो के समान स्तोत्रो तथा माहात्म्यो की भरमार तो नही है, किन्तु शत्रुजय का विस्तृत वर्णन, उसके माहात्म्य का निष्ठापूर्वक प्रतिपादन, स्वतन्त्र ऋषभ-स्तोत्र का समावेश तथा अन्तिम सर्ग मे विविध व्रतो, नियमो तथा धार्मिक क्रियाओ का निरूपण काव्य की पौराणिकता को मुखर करते है। परन्तु यह ज्ञातव्य है कि हीरसौभाग्य की शास्त्रीय शैली के सागर मे ये पौराणिक तत्त्व विन्दु के समान है। वास्तव मे, ये तथाकथित पौराणिक विशेषताएँ अधिकतर जैन काव्यो के अनिवार्य-से अंग है, चाहे उनमे किसी शैली की प्रधानता हो।

कवि परिचय तथा रचनाकाल

हीरसौभाग्य के रचयिता देवविमल के व्यक्तिगत जीवन के विषय मे, सर्गान्त के पद्य से, केवल इतना ज्ञात होता है कि उनके पिता शिवा धनवान् व्यापारी थे (साधु मघवा) और उनकी माता का नाम सौभाग्यदेवी था। काव्य की प्रान्त-प्रशस्ति उनकी गुरु-परम्परा का विश्वसनीय स्रोत है। उससे पता चलता है कि देवविमल को महान् संयमी तथा मनीषी आचार्यो की परम्परा की थाती मिली थी। उनके प्रगुरु जगर्षि तपागच्छ के उदात्तचरित प्रभावक आचार्य थे। उन्होने तमोगुण-तुल्य लुम्पाकवर्ग से आक्रान्त सौराष्ट्र जनपद को अपने ज्ञान के प्रकाश से आलोकित किया था।[4] जगर्षि के विद्वान् तथा वाग्मी शिष्य सीहविमल देवविमल के गुरु थे। सीहविमल ने वादिराज गौतम को वाक्कला मे सभा के समक्ष उसी तरह पराजित

३. **धर्ममार्हतमतो जनिमन्तो यानपात्रमिव संग्रहयध्वम्।** हीरसौभाग्य ५.१९

४. प्रशस्ति सूत्र, ७-८

किया था जैसे देवसूरि ने दिगम्बर कुमुदचन्द्र को।[५] उनके चरण-कमल का भृंग देवविमल प्रस्तुत काव्य का प्रणेता है। देवविमल ने मूलकाव्य की रचना के बाद उस पर 'सुखावबोध' टीका भी लिखी थी। काव्य का संशोधन उनके मेधावी शिष्य कल्याणविजय तथा धनविजय ने बहुत मनोयोग से किया था।[६]

मूलकाव्य, इसकी वृत्ति तथा प्रशस्ति में हीरसौभाग्य के रचनाकाल का कोई संकेत नही है। अन्य ग्रन्थो से कुछ प्रकाश मिलता है। धर्मसागरगणि की मराठी गुरुपरिवाडी, संस्कृत वृत्ति सहित पट्टावलीसमुच्चय 'श्रीतपागच्छपट्टावलीसूत्रम्' नाम से प्रकाशित हुई है। वृत्ति से विदित होता है कि मूल कृति (गुरुपरिवाड़ी) का सशोधन सम्वत् १६४८ मे किया गया था तथा उससे पूर्व इसके कई आदर्श हो चुके थे। अत. इसका सम्वत् १६४८ से पूर्व रचित होना निश्चित है। वृत्ति मे ग्रन्थकार ने महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया है कि हीरविजयसूरि के जीवनवृत्त की जानकारी के लिये हीरसौभाग्य आदि काव्यों का अवलोकन करना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि हीर-सौभाग्य के अधिकतर भाग की रचना उक्त संवत् (१६४८) से पूर्व हो चुकी थी। किन्तु वर्तमान काव्य मे हीरसूरि के देहोत्सर्ग का वर्णन होने से स्पष्ट है कि इसकी पूर्ति सम्वत् १६५२ के उपरान्त हुई थी। हीरविजय के स्वर्गारोहण का यही वर्ष है।[७]

मुद्रित हीरसौभाग्य का सम्पूर्ण चतुर्थ सर्ग, पट्टावलीसमुच्चय (भाग १, पृ० १२०-१३७) मे 'श्रीमन्महावीर पट्ट परम्परा' नाम से उद्धृत किया गया है। इसके सम्पादक दर्शनविजयजी ने, इसकी स्वरचित टिप्पणी मे, हीरसौभाग्य की प्रशस्ति का सन्दर्भ देते हुए मत व्यक्त किया है कि काव्य का आरम्भ स० १६३९ मे किया गया था और स्वोपज्ञ वृत्ति सहित प्रस्तुत हीरसौभाग्य सम्वत् १६७१ मे समाप्त हुआ था। परन्तु काव्य की वर्तमान प्रशस्ति मे कही भी ऐसा उल्लेख नहीं है।[८] क्या प्रशस्ति का कुछ अश नष्ट हो गया है अथवा यह सम्पादक का भ्रम है?

पट्टावली समुच्चय के प्रथम भाग के हिन्दी उपक्रम के अनुसार हीरसौभाग्य की विशेषता यह है कि इसकी रचना सम्वत् १६३९ मे प्रारभ हुई थी और पूर्ति सम्वत् १६५६ मे हुई क्योकि धर्मसागर की पूर्वोक्त परिवाडी मे इसका उल्लेख हुआ है तथा सम्वत् १६५६ की कतिपय घटनाए इसमे समाविष्ट है।

५. वही, १२-१३
६. वही, १९-२१
७. हीरसौभाग्य, १७.१५७, उन्नतपुर शिलालेख, पंक्ति १
८. हीरालाल कापडिया : हीरसौभाग्यनुं रेखा दर्शन, जैन सत्य प्रकाश, वर्ष १७, अंक ७, पृ० १३६

आरोप पर आधारित है ! रात्रि की नीरवता मे जैसे कामी अपनी प्रेयसी का अधो-वस्त्र खोलकर उसके लावण्य को उद्घाटित कर देता है उसी प्रकार यह देखकर कि कमलिनियां सो रही है और कुमुदिनियां उसकी अन्तरग सखिया है, चन्द्रमा ने तुरन्त हाथ बढा कर रजनी-नायिका की काली साड़ी खीच दी है। उसका पौन्दर्य चारों ओर छिटक गया है।

एतद्वयस्याः कुमुदिन्य एताः पश्यन्तु, सुप्ताः पुनरम्बुजिन्यः ।
विधुर्विचार्येति निशांगनायास्तमिस्रवासः सहसा चकर्ष ॥ ८.५४

पुण्यकुशल ने प्रकृति के उद्दीपन पक्ष का भी चित्रण किया है। किन्तु यह ज्ञातव्य है कि समवर्ती प्रकृति-वर्णन की शैली के विपरीत पुण्यकुशल ने अपनी सुरुचि के कारण उसके प्रति अधिक उत्साह नही दिखाया है। इससे उसका प्रकृति-चित्रण उस कुरुचिपूर्ण शृ गारिकता से आक्रांत नही हुआ, जो माघ आदि के प्रकृति-वर्णनो मे मिलती है।

वसन्त मे कोकिलाओ का मादक स्वर, सुरभित बयार तथा चांदनी-भरी नीरव रातें प्रणयकुपित कामिजनो को मानत्याग के लिए विवश कर देती है।

युवद्वयीचित्तदरीनिवासिमानग्रहग्रन्थिभिदो विरावाः ।
पुंस्कोकिलानां प्रसभं प्रसस्रुर्वनस्थलीषून्मिषितासु पुष्पैः ॥ १८.१३
पयोधिडिण्डीरनितान्तकान्तं पीयूषकान्तेर्विचचार तेजः ।
तेनैव चेतांसि विलासिनीनां वितेनिरे मानपरांचि कामम् ॥ १८.१६

पुण्यकुशल ने पशुप्रकृति का अंकन करने मे रुचि नही ली है। अवश्य हीं उसकी पैनी दृष्टि पशुजगत् की चेष्टाओं का सूक्ष्म विश्लेषण करने मे समर्थ थी। भ. बा. महाकाव्य मे केवल एक स्थान पर, ग्रीष्म की दोपहरी मे पानी पीने के लिये तालाब की ओर दौडते हुए पशुओ का अलकृत चित्रण हुआ है, जो कवि के सादृश्य-विधान के नैपुण्य के कारण सौन्दर्य मे चमत्कृत हो उठा है।

पुण्यकुशल प्रकृति-चित्रण की समसामयिक प्रवृत्तियो से अप्रभावित तो नहीं रहा, परन्तु अपनी सुरुचि के कारण उसने प्रकृति-चित्रण को न अपने कामशास्त्रीय पाण्डित्य के दर्शन का अखाडा बनाया है और न दूर की कौडी फेंकी है, जैसा उसके आदर्शभूत माघकाव्य मे हुआ है।

चरित्रचित्रण

भ. बा. महाकाव्य मे भरत और बाहुबलि केवल दो मुख्य पात्र है और दोनों ही काव्य के नायक है। भरत के नायक होने मे तो कोई सन्देह ही नही हो सकता। उसका चक्रवर्तित्व ही उसे नायक के पद पर प्रतिष्ठित करता है। बाहुबलि, न केवल केवलज्ञानी है. वह, परिभाषा के अनुरूप, प्रारम्भ से अन्त तक, काव्य की काया में

प्राण के समान व्याप्त है। यह भी ज्ञातव्य है कि काव्य का अन्त उसकी पराजय अथवा वध से नही अपितु उन्नयन से हुआ है। वह हर प्रकार से नायक के पद का अधिकारी है। यदि उसे काव्य का अंगभूत नायक माना जाए, तो उसका विस्तृत वर्णन रसदोष होगा, जिसकी आलोचना साहित्यशास्त्रियो ने हयग्रीववधकाव्य के प्रतिनायक के प्रसंग मे की है[३१]। सम्भवत. यह कवि को अभीष्ट नही है।

भरत तथा बाहुबलि सगे भाई है—आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र। ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते भरत को, अयोध्यापति के रूप मे, पिता का उत्तराधिकारी नियुक्त किया जाता है। बाहुबलि को तक्षशिला का राज्य मिला।

भरत वीरता तथा प्रताप की साकार प्रतिमा है। षट्-खण्ड मे उसका अप्रतिहत प्रभुत्व है। वज्र से आहत पर्वतो को सागर की जलराशि मे शरण मिल सकती है परन्तु उसके प्रताप से मथित विपक्षी राजाओ का त्रिलोकी मे कोई त्राता नही[३२] है। उसके अनुजो सहित पृथ्वीतल के समस्त राजा उसकी आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने को कृतकृत्य मानते हैं। फलत. राजलक्ष्मियां उसे स्वत. प्राप्त हो गयी है जैसे सरिताएं स्वय सागर मे पहुंच जाती है[३३]। देवता भी उसके तेज से कापते है, तुच्छ मनुष्य का तो कहना ही क्या? स्वय देवराज इन्द्र उसे अपने आधे सिंहासन पर बैठा कर सम्मानित करता है। मर्त्यों अथवा अमर्त्यों मे उसके वैरी की कल्पना करना आकाश-कुसुम की भाति असम्भव है[३५]। अपने चक्र से वह इस प्रकार दुर्द्धर्ष बन गया है जैसे मद से हाथी, सिंह से वन, वायु से आग और वडवानल से सागर[३६]। ससार मे केवल बाहुबलि ही ऐसा व्यक्ति है, जो उसकी अधीनता नही मानता, जिसके फलस्वरूप उसका चक्र आयुधशाला मे प्रविष्ट नही हुआ।

प्रतापी सम्राट् होने के नाते वह राज्यलोलुप है। वह समस्त जगत् पर उसी प्रकार अपना आधिपत्य स्थापित करने को लालायित है जैसे इन्द्र का स्वर्ग पर तथा ग्रहो पर सूर्य का प्रभुत्व है[३७]। अपनी लिप्सा की पूर्ति के लिये वह सदैव युद्ध

३१ अंगस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनम्। यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य। काव्य-प्रकाश, पूना, १९६५, सप्तम उल्लास, पृ. ४४१

३२. भ० बा०महाकाव्य, २.३७

३३. स्वयं तमायान्ति नरेन्द्रलक्ष्म्यो महीध्रकन्या इव वारिराशिम्। वही, २.३५

३४. सुरा अपि चकम्पिरे मर्त्यकीटास्ततः केऽमी। वही, ११.६३

३५. वही, २.६४

३६. मदेन हस्तीव वनप्रदेशो मृगारिणेवाग्निरिवाशुगेन।
ऊर्वानलेनेव पयोधिराभाच्चक्रेण राजाधिकदुःप्रधर्षः।।वही, २.४२

३७. वही, २.७७

के लिये तैयार रहता है, चाहे यह युद्ध भाई के साथ ही लड़ना पड़े। यह बात भिन्न है कि षट्खण्डविजयी इस चक्रवर्ती को बाहुबलि के साथ युद्ध मे स्वयं मुंह की खानी पड़ी है। द्वन्द्वयुद्ध मे उसकी वीरता का परिचय अवश्य मिलता है, किन्तु उसमें वही विजय प्राप्त नही कर सका। यदि देवगण हस्तक्षेप न करते तो उसकी स्थिति का सहज अनुमान किया जा सकता था।

राज्य लिप्सा को छोडकर भरत शिष्ट तथा शालीन व्यक्ति है। महात्माओं के प्रति उसे श्रद्धा है। वह युद्ध से पूर्व चैत्य मे जाकर आदिप्रभु की वन्दना करता है तथा कैवल्यप्राप्ति होने पर अपने अनुज को भी प्रणिपात करता है। उसकी साम्राज्य-क्षुधा की परिणति, अन्ततोगत्वा, केवलज्ञान मे होती है।

बाहुबलि का व्यक्तित्व स्वाभिमान तथा स्वाधीनता-प्रेम की जीवन्त व्याख्या है। दर्पशाली पुरुषों मे अग्रगण्य वह प्राण छोड सकता है, स्वाभिमान कदापि नही[३८]। उसे पितृतुल्य अग्रज की अधीनता भी मान्य नही है। भरत का दूत तथा उसका अपना मन्त्री, भरत की अतुलित वीरता का भय दिखाकर उसे उसका प्रभुत्व स्वीकार करने को विवश करने का प्रयास करते है, किन्तु वह अपनी स्वतन्त्रता का समझौता करने को कदापि तैयार नही है। इस सम्बन्ध मे वह देवताओ के अनुनय को भी ठुकरा देता है। वह उस सर्वभक्षी उद्भ्रान्तगज को अपनी भुजा के अंकुश से सही मार्ग पर लाने का संकल्प करता है[३९]। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि वह हृदयहीन अथवा बन्धुत्व की भावना से शून्य है। अग्रज के दूत के आगमन से उसका हृदय शैशव की चपलताओ की सुधियो से भर जाता है और उसमे भ्रातृ-प्रेम छलक उठता है। उसकी कामना है कि स्नेह से परिपूर्ण उनके बन्धुत्व का दीप 'दिदवात' से सुरक्षित रहे[४०]। वस्तुतः भरत उसके लिये पितृवत् पूजनीय है किन्तु उसकी प्रभुत्व-स्वीकृति की ललकार से बाहुबलि के स्वाभिमान का नाग फुफकार उठता है।

> अद्यप्रभृति मे भ्राता पूज्योऽयं तातपादवत्।
> अतः परं विरोधी मे भ्राता नो तादृशो खलु ॥ ३-११

उससे अधीनता स्वीकार करने की भरत की अपेक्षा सिंह से मांस छीनने के समान विवेकहीन है[४१]।

बाहुबलि साक्षात् शौर्य है। वह सचमुच बाहुबली है। वज्रधारी इन्द्र मन से

३८. भटैर्वृतोऽसून् किल मोक्ष्यते रणे न च स्मयं हि प्रथमोऽभिमानिनाम्। भ० बा० महाकाव्य, १।३६

३९. मद्दोर्दण्डाकुशाघातं विना मार्गे न गत्वरः। वही, ३.१५

४०. वही, २.१९

४१. मत्तः सिंहादिव पलं सेवामर्थयते वृथा। वही, ३ १३

भी उसका घर्षण नहीं कर सकता (१.२३)। सुराचार्य से बड़ा कोई विद्वान् नहीं, बाहुबलि से बड़ा कोई बलवान् नहीं[४२]। वह वैरिवंश के लिये दावाग्नि है, नीति का मण्डप है तथा पराक्रम का सिन्धु है[४३]। उसके लिये युद्ध उत्सव के समान आनन्ददायी है (१.३०)। उसका विश्वास है कि उसे (बाहुबलि को) पराजित किये बिना भरत का चक्रवर्तित्व अधूरा है। समरांगण में उसके समक्ष आते ही भरत का षट्-खंड-विजय से उत्पन्न अहंकार क्षण भर में चूर हो जाएगा[४४]। यह मात्र विकत्थना नहीं। द्वन्द्वयुद्ध में वस्तुतः उसके सामने भरत के छक्के छूट जाते हैं। हताश होकर भरत जब अपना चक्र छोड़ता है, उसे तोड़ने के लिये वह मुष्टि तान लेता है। संसार को ध्वंस से बचाने के लिये देवगण उसे मुष्टिप्रहार से रोकते हैं।

भरताचरितं चरितं मनसा स्मर मा स्मर केलिमिव श्रमणः। १७.७३

वह देवताओं का अनुरोध तो मान लेता है और भरत के आचरण को भी भूल जाता है किन्तु उसका कर्म कभी व्यर्थ नहीं जा सकता। संकल्प और कर्म के सामंजस्य का यही आधार है। वह उसी मुष्टि से केशलुंचन कर तापसव्रत ग्रहण करता है और कालान्तर में केवलज्ञान प्राप्त करता है। बाहुबलि स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देता है। उसका व्यक्तित्व अधीनता की अस्वीकृति की सर्वोत्तम व्याख्या है।

दूत

भरत का दूत काव्य का एक अन्य उल्लेखनीय पात्र है। वह अपने कर्म में दक्ष है तथा उसमें दूतोचित शिष्टता है। बाहुबलि की सभा में वह निर्भीकतापूर्वक अपने स्वामी का पक्ष प्रस्तुत करता है तथा उसके शौर्य का वर्णन करता है[४५]। यद्यपि बाहुबलि, इसे अपनी वीरता को चुनौती समझकर, उत्तेजित हो जाता है और उसे अपमानपूर्वक सभा से बाहर निकाल देता है पर वह न अपना सन्तुलन खोता है, न शिष्टता ही छोड़ता है।

स्वामिभक्ति उसके जीवन का सर्वस्व है। वह स्वामी के आदेश का निष्ठा से पालन करता है और सदैव उसका अनुगमन करना अपना कर्त्तव्य मानता है[४६]।

४२. कः पण्डितः सुराचार्यात् को देवादधिको बली। वही, ११.७७

४३. वही १६.४२-४३

४४. षट्खण्डविजयात् तेन जिष्णुता या त्ववाप्यत।
अपूर्वजिष्णुतामाप्तुं मत्तस्तामयमीहते॥ वही, ३.२४

४५. भवाँस्तुलां तस्य रथांगपाणेर्न कांचिदारोहति शौर्यसिन्धुः। वही, २.८७ तथा २.९१,९५

४६ वयं चराः स्वामिनिदेशनिघ्नाः। वही, २.२७

उसके विचार में जो चर अपने मालिक को धोखा देता है अथवा अन्य की तुलना मे उसे दुर्वल समझता है, वह वडवाग्नि के समान है, जो निरन्तर अपने आश्रयदाता को ही खाती है[४७]। कर्त्तव्यपालन मे ही उसके जीवन की धन्यता है[४८]।

सुषेण

भ. बा. महाकाव्य मे भरत के सेनानी सुषेण की चर्चा भी हुई है पर उसका चरित्र विकसित नही हो सका है। वह स्वामिभक्त, व्यवहारकुशल तथा राजनीतिपटु है। वाहुवलि की चुनौती से भरत के विचलित होने पर सुषेण उसे युद्ध के लिये प्रोत्साहित करता है। उसके तर्कों मे व्यावहारिकता तथा वीरता का समन्वय है। उसके विचार मे भरत की उपेक्षा के कारण तथा ऋषभ का पुत्र होने के नाते वाहुवलि के पराक्रम की ख्याति हो गयी है। राजा के लिये वन्धुप्रेम आदि की भावुकता निरर्थक है। 'नृपतिर्न सखा' यह राजा का आदर्शवाक्य है। विजयश्री की प्राप्ति युद्ध मे ही होती है[४९]। बाहुवलि के राज्य का वृत्तान्त जानने के लिये गुप्तचर भेजना उसकी राजनीतिक कुशलता का द्योतक है।

भाषा-शैली

भाषात्मक दृष्टि से भ. बा. महाकाव्य संयम तथा सन्तुलन की कृति है। अन्य बातों मे माघकाव्य से प्रेरित होकर भी पुण्यकुशल ने उसकी गाढ़वन्ध भाषा तथा कृत्रिम शैली को ग्रहण नही किया, यह उसकी भाषात्मक सुरुचि का परिचायक है। उसके पदविन्यास का माधुर्य उसके प्रत्येक वर्णन तथा प्रसग को नई आभा प्रदान करता है। लालित्य की अन्तर्धारा उसमे सर्वत्र प्रवाहित है। यह भावानुकूलता तथा प्रांजलता भाषा के वे गुण है, जो किसी रचना को महान् वनाते है। केवल भावात्मक सौष्ठव की दृष्टि से भी भ. वा. महाकाव्य उत्तम काव्यो से होड़ ले सकता है।

भ. बा. महाकाव्य मे भावो तथा उनकी अनुगामी स्थितियो की विविधता का वाहुल्य है। घटना-वहुल इतिवृत्त को नाना प्रसाधनो से सजा-संवार कर विशाल आकार मे प्रस्तुत करने का यह स्वाभाविक परिणाम था। भावो के अनुसार ध्वनियो को सजाने मे पुण्यकुशल दक्ष है। परन्तु सहजता तथा कोमलता उसकी भाषा की दो ऐसी विशेषताएं हैं, जो प्रत्येक भाव अथवा प्रसंग के चित्रण में वरावर वनी रहती है। संस्कृत काव्यो में युद्ध का सजीव एवं प्रभावशाली चित्र उपस्थित करने के लिये

४७. ····स पयोधिवह्निसमानतां गच्छति संश्रयारिः। वही, २.२७

४८. दूतत्वं भरतेशस्य कृतं वाहुवलेः पुरः।
मम कीर्तिश्चिरं स्याणुरित्यामोदमुवाह सः॥ वही, ३.४६

४९. वही, ४.४६, ५५, ५८, ७३

प्राय: ओजपूर्ण समासवहुला पदावली प्रयुक्त की जाती है। जैसा पहले सकेत किया गया है, भ. वा. महाकाव्य के युद्ध-वर्णन भापा के ओज अथवा प्रौढता की अपेक्षा उसकी मधुरता एवं कोमलता और कविकल्पना की मनोरमता को अधिक व्यक्त करते है। कठोर प्रसगो मे भी पुण्यकुशल अपनी भापा को क्लिप्टता से वचाने के लिये कितने प्रयत्नशील है, यह वर्णन इसका उत्तम निदर्शन है। भरत तथा वाहुवलि के द्वन्द्वयुद्ध मे भापा की उपर्युक्त विशेषताओ का कुछ आभास मिलता है, यद्यपि यहा भी प्रौढता की वजाय समास-वाहुल्य पर अधिक वल है।

संघट्टस्फुरदनलस्फुलिंगनश्यत्पौलोमीसिचयविधूननातितीव्रैः।
आकाशश्वसनरयैर्विनीतखेदस्वेदाम्भःकणपरिमुक्तवीरवक्त्रम् ॥
षट्खण्डाधिपतिरथ क्रुधा करालो दण्डेन स्मयमिव मौलिमावभञ्ज।
तच्छीर्षाधिवसनकल्पितस्थिरत्वं निःशंकं वहलिपतेरुदग्रवाहोः ॥ १७.५४-५५

भरत के सैन्य-प्रयाण के वर्णनो मे भी भापा का लालित्य तथा सौष्ठव दृष्टिगोचर होता है। युद्ध-चित्रण की भाति ये प्रसग भी कविकल्पना से तरलित हैं। भरत के विजय-प्रयाण के समय चारो दिशाएं सेना द्वारा उडायी गयी धूलि से ढक जाती हैं। कवि की कल्पना है कि दिशाओं की वधुओ ने प्रभुतासम्पन्न पति से अपना उघड़ा मुह छिपाने के लिये काला घूघट निकाल लिया है।

अनावृतं पश्यतु मा मुखाब्जमयं पतिर्नः प्रभुतोपपन्नः।
इतीव रेणुच्छलतो हरिद्भिः समाददे नीलपटी समन्तात् ॥ २.४१

समरांगण मे जाते हुए योद्धाओ को प्रोत्साहित करने वाली वीरपत्नियो की उक्तियां क्षत्रियोचित दर्प से परिपूर्ण है। यहां जो प्रांजल समासरहित भाषा प्रयुक्त हुई है, वह सैनिको को कर्त्तव्य वोध कराने के लिये वहुत उपयुक्त है। वैदर्भी रीति अपने पूर्ण वैभव के साथ वीरांगनाओ की इन उक्तियों मे प्रकट हुई है।

मां विहाय यथा यासि प्रमनास्त्वं रणांगणे।
न तथा वीरतां हित्वागम्यं भवता गृहे ॥ ११.३०
वीरसूर्जननी तेऽस्तु पिता वीरः पुनस्तव।
त्वदेव साम्प्रतं वीर ! वीरपत्नी भवित्र्यहम् ॥ ११.३६

पश्चात्ताप-पीडित भरत को निराशा की तन्द्रा से जगाकर युद्धार्थ प्रेरित करने के लिये सेनापति सुषेण के तर्क भी वीरोचित दर्प से स्पन्दित है किन्तु उनके व्याज से कवि ने राजा के लिये आवश्यक नीति-सिद्धातो का प्रतिपादन किया है। उनकी भाषा प्रसगानुकूल सुवोधता के कारण स्पृहणीय है।

प्रणयस्य वशंवदो नृपः स्वजनं दुर्नयिनं विवर्धयेत्।
निवसन्नपि विग्रहान्तरे विकृतो व्याधिरलं गुणाय किम् ? ४.५७

अनुनीतिमतां वरः क्वचित् क्वचिदीर्ष्यालुरसौ क्षितीश्वरः ।
अनुनीतिरपेक्षयाञ्चिता प्रतिपक्षेषु यदायतौ श्रिये ।। ४.६६

युद्धवर्णन मे जहाँ अपेक्षाकृत समासगर्भित शैली की प्रधानता है, वहां शृंगार के चित्रण मे उसकी सहजता उल्लेखनीय है । पुण्यकुशल ने सयोग तथा विप्रलम्भ की पदावली मे भी, पात्रो की मनःस्थिति के अनुरूप, विवेक करने का प्रयत्न किया है । विप्रलम्भ की भाषा विचित्र दैन्य तथा असहायता से अनुप्राणित है, जो विरही हृदय की वेदना को बिम्बित करती है[५०] । इसके विपरीत सम्भोग शृ गार के निरूपण में प्रयुक्त पदशय्या आह्लाद तथा यौवनसुलभ उल्लास से ओतप्रोत है । सातवे सर्ग मे वनविहार तथा जलक्रीडा के अन्तर्गत प्रेमी युगलो की शृंगारिक चेष्टाओ को जिस भाषा में व्यक्त किया गया है, वह रसराज की सृष्टि के लिये यथोचित वातावरण निर्मित करती है[५१] ।

अवसरानुकूल भाषा उद्देश्यपूर्ति मे सहायक होती है, पुण्यकुशल इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से सुपरिचित है । देवगण बाहुबलि को मुष्टिप्रहार से विरत करने के लिये कलह के दुष्परिणाम, आत्मसयम तथा मर्यादापालन की जो युक्तियां देते हैं; अनुप्रास की माधुरी तथा प्राजलता ने उनकी प्रभावशालिता को दूना कर दिया है । निम्नोक्त पदावली मे असीम कोमलता तथा मधुरता है ।

अयि बाहुबले कलहाय बलं भवतो भवदायतिचारु किमु ।
प्रजिघांसुरसि त्वमपि स्वगुरुं यदि तद्गुरुशासनकृत् क इह ।।
कलहं तमवेहि हलाहलकं यमिता यमिनोऽप्ययमा नियमात् ।
भवती जगती जगतीशसुतं नयते नरकं तदलं कलहैः ।। १७.६९-७०

पुण्यकुशल की तूलिका शब्दचित्र अकित करने मे निपुण है । उसके शब्दचित्र वर्ण्य विषय के स्वरूप को पूर्णतया हृदयंगम करके प्रस्तुत किए गये है । फलतः उनके अध्ययन से विषय अथवा व्यक्ति के समूचे गुण तथा व्यक्तित्व की समग्रता सहसा मानस पर अकित हो जाती है । बाहुबलि हो अथवा आदिदेव का चैत्य, तक्षशिला का निकटवर्ती कानन हो अथवा सीमावर्ती मन्दाकिनी, पुण्यकुशल की प्रतिभा के स्पर्श से सभी विषय दीपित हो गये है । सिहासनासीन बाहुबलि के प्रस्तुत चित्र मे उसकी तेजस्विता मूर्त हो उठी है ।

५०. जहीहि मौनं रचयात्मकृत्यं सखीजने देहि दृशं मृगाक्षि ।
दधासि किं घस्रकुमुद्दशां संबोध्य नीतेति च काचिदाल्या ।। वही, ९.२८

५१. मौनमेवमनयाप्युदीरिता यावदाश्रितवती त्वधोमुखी ।
तावदेत्य सहसा लतान्तराच्छिश्लिषे प्रणयिनाऽथ मानिनी ।। वही, ७.६३

अपूर्वपूर्वाद्रिमिवांशुमालिनं महामृगेन्द्रासनमप्यधिष्ठितम् ।
महोभिरुद्दीपितसर्वदिग्मुखैर्वपुर्दुरालोकमलं च विभ्रतम् ।। १.७३
भुजद्वयीशौर्यमिवाक्षिगोचरं चरो महोत्साहमिवांगिनं पुनः ।
चकार साक्षादिव मानमुन्नतं वसुन्धरेशं वृषभध्वजांगजम् ।।१.७७

इस प्रकार भ वा. महाकाव्य की भापा की विभिन्नता, कृत्रिमता अथवा क्लिप्टता और प्रांजलता वाली विविधता नही वल्कि सौष्ठवपूर्ण सुवोधता तथा कम सुवोधता के वीच की भिन्नता है । अपने आदर्शभूत माघकाव्य के विपरीत जाकर पुण्यकुशल ने भापायी सहजता का कीर्तिमान स्थापित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है ।

उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न होने पर भी भ. वा. महाकाव्य की भापा कुछ विचित्र त्रुटियो से दूपित है । इसमें अनेक ऐसे दोप दृष्टिगोचर होते हैं, जिनकी काव्य-शास्त्रियो ने निन्दा की है । 'यत्तदोर्नित्यसम्वन्ध' का पालन करते हुए ६।४८ में 'स.' की तुलना मे 'य.' का दो वार प्रयोग अक्षम्य है । साहित्यशास्त्र में यह दोप 'अधिक' नाम से ख्यात है । नीतोऽहमिन्द्रत्वमहं त्विदानीम् (२-२०), मे 'अहं', 'त्वत्प्रतापदहने त्वदरीणाम्' (६.४५), मे 'त्वत्', जलस्थपालिस्थितपद्मिनीभिः (८.३) मे 'स्थित', स्वस्वार्थचिन्ताविधिमाततान (११.१२) मे 'स्व' पद अधिक हैं । भ. वा. महाकाव्य मे कही-कही अर्थहीन पादपूरक निपातों का उदारता से प्रयोग किया गया है । 'तु' कवि का प्रिय निपात प्रतीत होता है । १.३१ मे दो वार तथा १.३२,४.४४ ४.५३,१७.६७,१७.६८ मे इसका एक-एक वार प्रयोग इस तथ्य का द्योतक है। कतिपय धातुओ तथा शब्दो को पुण्यकुशल ने ऐसे अर्थो मे प्रयुक्त किया है, जिनमें उनका विधान नही है । अवति (३ १०६), चकते(४.६०) तथा अनुनयनम्(५.४८) क्रमशः जनयति, विभेति तथा प्रसाधन के वाचक नही है । 'नैद्भिया त्रस्तमही-धराणाम्' (२.३७), तत्रातंकक्रुदातकः (३.७६), वाणघातभीत्येव भीतः (६.४६); तीक्ष्णांशुतप्त्या परितप्यमानाः (६.४५) मे पुनरुक्तता है । काव्य मे कुछ शब्द ऐसे अप्रचलित अर्थो में प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें यद्यपि उनका प्रयोग विहित है किन्तु उनमें उन अर्थो के वोध की शक्ति नही है । हंस (सूर्य), वडवामुख (पाताल), जराभीरु (काम), मदन (मोम) इस कोटि के शब्द हैं[५२] । शास्त्रीय भापा में यहां 'असमर्थ' दोप है । 'रक्ताक्षध्वजभगिनीतरंगमुग्नाम्' (१६.१५) में यमुना अर्थ की प्रतिपत्ति में व्यवधान होने के कारण 'क्लिप्टता' दोप है । अस्मदृद्धिपरिवर्धके रवौ मैष कुप्यतु (७.८) तथा विलासगेहेष्वधिशय्य (१८.५५) में सप्तमी अपाणिनीय है ।

अर्थान्तरन्यास का व्यापक प्रयोग होने के कारण भ० व० महाकाव्य सूक्तियों

५२. क्रमशः ८.१३,६.४०,१८.५४

का विशाल भण्डार बन गया है। अर्थान्तरन्यास के अतिरिक्त इन सूक्तियो ने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, काव्यलिंग आदि का परिधान भी धारण किया है। ये सूक्तियां कवि के जीवन के विविध पक्षो के अध्ययन, संवेदनशीलता तथा व्यावहारिक ज्ञान की परिचायक हैं। कतिपय रोचक सूक्तिया यहा पाठको के विनोदार्थ उद्धृत की जाती हैं।

क्रमं न लुम्पन्ति हि सत्तमाः क्वचित्। १.१४
सतां हि वृत्तं सततं प्रवृत्त्यै। २.३६
अहंकारो हि दुस्त्यजः। ३. ७०
अभयः श्रियां पदम्। ४.६०
पापेऽधिके किं सुखमुत्तमानाम्। ८.१३
भाविनी हि गरीयसी। ११.११
बोध एव परमं नयनम्। १६.१
तोष एव सुखदो भुवि। १६.५५

अलंकार-विधान

भाषा के पश्चात् अलंकृति कलापक्ष की समृद्धि का दूसरा मूलभूत तत्त्व है। संस्कृत काव्यो में इसका साग्रह निवेश अलंकृति की महत्ता की स्वीकृति है। भ० वा० महाकाव्य मे भी अलकारो की व्यापक योजना हुई है किन्तु वे भाव-व्यंजना मे कुछ इस प्रकार अनुस्यूत है कि वे काव्यकला के शाश्वत सहचर प्रतीत होते है। अनावश्यक अलंकार-भार से काव्य को आच्छादित करने का पुण्यकुशल का आग्रह नही है।

भ० वा० महाकाव्य मे उपमा भावाभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। अप्रस्तुतो की खोज मे पुण्यकुशल ने जीवन के प्राय· सभी पक्षो का अन्वेषण किया है। साभिप्राय तथा मार्मिक उपमान जुटाने मे वह इतना सिद्धहस्त है कि 'उपमा पुण्यकुशलस्य' कहना अत्युक्ति न होगा ! उपमान-विधान के इसी कौशल के कारण उसके वर्णन सौन्दर्य से दीप्त है तथा भावव्यंजना मे ऐसी प्रेषणीयता आयी है कि वर्ण्य भाव अथवा विपय तुरन्त प्रत्यक्ष हो जाता है। भावानुकूल अमूर्त उपमान सचित करने में कवि को अनुपम दक्षता प्राप्त है। विविध स्रोतो से गृहीत अन्य उपमानो के साथ ये उपमान उसके व्यापक जीवन-अनुभव तथा प्रकृति की सहज अभिज्ञता के सूचक है। पुण्यकुशल की उपमाओं की मार्मिकता के दिग्दर्शन के लिए कतिपय उदाहरण आवश्यक है।

पताकिनी श्रीभरतेश्वरस्य सीमान्तरं तक्षशिलाधिपस्य।
साशंकमाना मुहुराससाद वधूर्नवोढेव विलासगेहम्॥ १०.१.

लोकजीवन से गृहीत यह उपमा कितनी भावपूर्ण है ! प्रथम वार शयनगृह मे जाती हुई नववधू के संकोच को देखते हुए तक्षशिला-नरेश की सीमा का उल्लंघन करने वाली भरत की सेना की आशंका का सहज ही भान हो जाता है ।

अयं ह्यूनशतभ्रातृराज्यादानैर्न तृप्तिभाक् ।
वडवाग्निरिवाम्भोभिर्वसन् रत्नाकरेऽपि हि ॥ ३.१४.

मिथिक जगत् से संचित उपमान पर आधारित यह उपमा अतीव साभिप्राय है । निरन्तर समुद्रजल का शोपण करने वाली काल्पनिक वड़वाग्नि से भरत की राज्यक्षुधा की तुलना करके उसकी लोलुपता की असीमता का सकेत किया गया है ।

मन्त्री आदि प्रजाजन तेजस्वी राजा से उसी प्रकार डरते है जैसे हाथी धधकती दावाग्नि से ।[५३] शक्तिसंपन्न राजा की प्रचण्डता को रेखाकित करने के लिए दावानल उपमान कितना उपयुक्त है ! स्वामी के पराक्रम के अतिरेक से (भावी) विजय का भान हो जाता है जैसे बाला के स्तनो के उभार से उसके यौवन के आगमन की सूचना मिल जाती है ।[५४] पराक्रम की प्रचण्डता के समक्ष 'स्तनोत्थान' भले ही कोमल प्रतीत हो किन्तु व्यंजक के रूप मे यह बहुत भावपूर्ण है। रणभूमि से कुछ सैनिक ऐसे भाग गए जैसे कैंचुली मे साप निकल भागता है । कुछ ने वीरता को उसी तरह छोड दिया जैसे कजूस उदारता को छोड देता है ।[५५] मूर्त तथा अमूर्त उपमानो के एक साथ प्रयोग से वर्ण्य विषय चमत्कृत हो उठा है !

अमूर्त उपमानो पर आधारित पुण्यकुशल की उपमाएं वहुत अनूठी है । भ० बा० महाकाव्य मे इनका प्राचुर्य है । भरत का चक्र आयुधशाला मे इस प्रकार प्रविष्ट नही हुआ जैसे सांप के हृदय मे ऋजुता ।[५६] प्रस्थान करती हुई सेना से साकेत के राजप्रासाद का शिखर ऐसे अदृश्य होता गया जैसे कामार्त व्यक्ति से अतिशुद्ध चैतन्य[५७] । रथो, हाथियो तथा घोडो से खचाखच भरे हुए तक्षशिला के पुरद्वार मे दूत को बडी कठिनाई से प्रवेश मिला जैसे योगी के हृदय मे सहसा आवेश को स्थान नही मिलता ।[५८] अमूर्त्त उपमानो के प्रति कवि की कुछ ऐसी रुचि है कि उसने अपनी मालोपमाओ का आधार भी इन्ही को बनाया है । एकाधिक अप्रस्तुतो से उपमित होने के कारण वर्ण्य प्रसग अविलम्ब व्यक्त हो जाता है । योद्धा ने विपक्षी की प्रत्यंचा को

५३. भ० बा० महाकाव्य, ४.५८
५४. वही, ११.५४
५५. वही, १५ ८६
५६. वही, १६.२८
५७ वही, ६.३५
५८. वही, १.५४

ऐसे तोड़ दिया जैसे क्रोधी सौजन्य को तथा पुण्यवान् पाप को नष्ट कर देता है।

अतूत्रुटद् गुणं कश्चिच्चापदोष्णोर्विरोधिनः।
मन्युमानिव सौजन्यमजन्यमिव पुण्यवान् ॥ १५.३३†

भ० बा० महाकाव्य मे उपमा के पश्चात् अर्थान्तिरन्यास का व्यापक प्रयोग हुआ है। अर्थान्तिरन्यास कवि के चिरसंचित ज्ञान तथा विस्तृत अनुभव का प्रतीक है। अग्रज के दूत के आगमन से बाहुबलि की विशेप उक्ति की पुष्टि, प्रस्तुत पद्य मे, उत्तरार्ध के सामान्य कथन से की गई है।

नितान्ततृष्णातुरमस्मदीयं बन्धुप्रवृत्त्या सुखयाद्य चित्तम्।
दूरेऽस्तु वारिधरवारिधारा सारंगमानन्दति गर्जिरेव ॥ २.४

वाहुवलि की वीरता की अभिव्यक्ति, निम्नोक्त पद्य में, अप्रस्तुतप्रशसा के द्वारा की गई है। यहां अप्रस्तुत राहु तथा सूर्य से क्रमश· भरत और बाहुबलि व्यग्य हैं।

सिंहिकासुतमेवैकं स्तुमस्तं करवर्जितम्।
ग्रहाणामीश्वरं योऽत्र सहस्रकरमत्ति हि ॥ ३.१२.

उपर्युक्त अलकारो के अतिरिक्त भ० भा० महाकाव्य मे उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, समासोक्ति, दृष्टान्त, विरोधाभास, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, काव्यलिंग, सहोक्ति, यथासंख्य, समुच्चय, प्रतिवस्तूपमा, असंगति तथा विशेषोक्ति भी अभिव्यक्ति के माध्यम वने है। उपमा कवि का खास अलंकार है।

छन्दयोजना

भ० बा० महाकाव्य का कवि विविध छन्दो के प्रयोग मे सिद्धहस्त है। काव्य में छन्दों की योजना शास्त्र के अनुकूल है। सम्पूर्ण काव्य के निवन्धन मे उन्नीस छन्दों का आश्रय लिया गया है, जो इस प्रकार है— वशस्थ, उपजाति, अनुष्टुप्, वियोगिनी, द्रुतबिलम्बित, स्वागता, रथोद्धता, त्रोटक, वसन्ततिलका, मालिनी, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, हरिणी, पुष्पिताग्रा, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, प्रहर्षिणी, शालिनी तथा पृथ्वी। उपजाति कवि का प्रिय छन्द है। तत्पश्चात् क्रमश. अनुष्टुप् और वंशस्थ का स्थान है।

भ० बा० महाकाव्य मे एक साथ कालिदास और माघ की परम्पराओ का निर्वाह हुआ है। कथानक की परिकल्पना, घटनाओ के सयोजन तथा रूढियो के पालन मे पुण्यकुशल ने माघकाव्य का अनुसरण किया है। माघकाव्य के समान इसमें इतिवृत्ति-निर्वाहकता नाम मात्र की है। भावपक्ष के निर्माण मे कवि का प्रेरणा-स्रोत

† कतिपय अन्य मालोपमाओं के लिए देखिए—६.७३, ११.६०, १५.३२, ४३, ११६, १७.३३, १८.२६

कालिदास है। इसका सुखद फल यह हुआ है कि भ० बा० महाकाव्य मे अलंकृति तथा सहजता का मनोरम समन्वय है। माघ को आदर्श मानते हुए भी पुण्यकुशल ने अपनी कोकिला की तरह पंचम स्वर में गान नहीं किया है।[५९] समूचा काव्य कवित्व की आभा से तरलित है। भाषा की प्रांजलता तथा कवित्व की कमनीयता की दृष्टि से भ० बा० महाकाव्य का संस्कृत के उत्तम काव्यो में निश्चित स्थान है।

५९. स्वरं न्यगादीदिति पंचमोक्त्या। वही, १८.२४

स्थूलभद्रगुणमालाचरित्र : सूरचन्द्र

सूरचन्द्र का स्थूलभद्रगुणमालाचरित्र संस्कृत-महाकाव्य के अन्तिम युग की प्रतिनिधि रचना है। इसमें वर्णनों की आधारभित्ति पर काव्य की अट्टालिका का निर्माण करने का भगीरथ परिश्रम किया गया है। स्थूलभद्रगुणमाला के सतरह सर्गों (अधिकारों) मे नन्दराज के महामन्त्री शकटाल के पुत्र स्थूलभद्र तथा पाटलिपुत्र की मोहिनी वेश्या कोश्या के अनन्य प्रणय की कोमल पृष्ठभूमि में मन्त्रिपुत्र की प्रव्रज्या तथा कोश्या के प्रतिबोध का सविस्तार निरूपण करना कवि का अभीष्ट है। परन्तु जिस प्रकार कथानक को प्रस्तुत किया गया है, उसमे वह अन्तहीन वर्णनो की परतो मे दब कर अदृश्य हो गया है।

स्थूलभद्रगुणमाला की एक हस्तप्रति (सख्या २७) केसरियानाथ जी का मन्दिर, जोधपुर में स्थित ज्ञानभण्डार मे विद्यमान है। दुर्भाग्यवश यह प्रति अधूरी है। इसमे न केवल प्रथम दो पत्र अप्राप्त हैं, अन्तिम से पूर्ववर्ती तीन पत्र भी नष्ट हो चुके है। लिपिकार ने पत्रसंख्या देने मे प्रमाद किया है। छठे के पश्चाद्वर्ती पत्र की संख्या आठ दी गयी है, यद्यपि पद्यो के अनुक्रम मे कोई विच्छेद नही है। प्रस्तुत प्रति मे $१०\frac{१}{२}'' \times ४\frac{१}{४}''$ आकार के सत्ताईस पत्र है। प्रत्येक पत्र पर बाईस पंक्तियां और प्रत्येक पंक्ति मे लगभग ५५ अक्षर है। प्रति का आरम्भ सत्ताईसवें पद्य से होता है। पत्र के आकार को देखते हुए यह अनुमान सहज किया जा सकता है कि अनुपलब्ध दो पत्रो मे १२६ पद्य थे। यह हस्तप्रति तथा इसकी फोटो प्रति हमे क्रमश महोपाध्याय विनयसागर तथा श्रीयुत अगरचन्द नाहटा के सौजन्य से प्राप्त हुई थी।

स्थूलभद्रगुणमाला की पूर्ण प्रति घाणेराव भण्डार में उपलब्ध है। इस प्रति का महत्त्व इसकी पूर्णता मे निहित है अन्यथा यह, जैसा इसकी प्रतिलिपि से प्रतीत होता है, अशुद्धियो से भरपूर है और इसका पाठ बहुधा भ्रामक है। इसकी तुलना मे, जोधपुर की प्रति अधिक प्रामाणिक है, हालाकि वह भी त्रुटियो से पूर्णतः मुक्त नही है। घाणेराव भण्डार की प्रति हमे प्राप्त नही हो सकी। श्री अगरचन्द नाहटा ने इसकी प्रतिलिपि कई वर्षों के अथक परिश्रम से प्राप्त की है। प्रस्तुत विवेचन इन्ही प्रतियो/प्रतिलिपियो पर आधारित है।

स्थूलभद्रगुणमाला का महाकाव्यत्व

स्थूलभद्रगुणमाला का लक्ष्य विषय-भोग मे मग्न स्थूलभद्र तथा उसकी

प्रणयिनी के सच्चारित्र्य अंगीकार करने के वर्णन के द्वारा, प्रकारान्तर से, जैन धर्म की महिमा की प्रतिष्ठा करना है। पर इसमें महाकाव्य के स्वरूपविधायक आन्तरिक तत्त्वो का भी अनुवर्तन किया गया है। प्रस्तुत काव्य काम की तुलना मे धर्म की शाश्वत महत्ता की स्वीकृति है। इसकी कथावस्तु के स्रोत जैन आगम तथा अन्य उपजीव्य प्रबन्ध है। यह पूर्ववर्ती कवियो के फुटकर गीतो, छन्दो का विषय बन चुकी थी[1]। अतः काव्य का कथानक निस्सकोच 'प्रख्यात' माना जा सकता है। स्थूलभद्र-गुणमाला का अंगीरस शृंगार है। शृंगार में भी विप्रलम्भ की प्रधानता है। शृंगार का पर्यवसान शान्तरस मे हुआ है। स्थूलभद्र धीरोदात्त कोटि का नायक है किन्तु पितृवध के पश्चात् उसकी संवेगोत्पत्ति तथा प्रव्रज्या उसकी धीरप्रशान्तता को रेखांकित करती है। शिथिलता तथा च्युतसंस्कृति के कारण स्थूलभद्रगुणमाला की भाषा को उदात्त अथवा प्रौढ नही कहा जा सकता किन्तु वह प्रांजलता से शून्य नही है। काव्य तथा सर्गों का नामकरण, वस्तुव्यापारवर्णन, मंगलाचरण आदि भी शास्त्र के अनुकूल है। छन्दो के प्रयोग में सूरचन्द्र ने पूर्ण स्वतन्त्रता से काम लिया है। इसमे, आदि से अन्त तक, केवल अनुष्टुप् का प्रयोग किया गया है।

स्थूलभद्रगुणमाला का स्वरूप

स्थूलभद्रगुणमाला के कथानक की परिणति शान्तरस मे हुई है जिसके फलस्वरूप पतिता वेश्या भी श्राविका का संयमपूर्ण जीवन स्वीकार करती है। स्थूलभद्र के संवेग तथा तज्जन्य गुणावली का तो काव्य मे विस्तृत निरूपण किया गया है। ये पौराणिक काव्य की विशेषताए है परन्तु काव्य मे इनका स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण नही है। स्थूलभद्रगुणमाला का वातावरण तथा प्रकृति पौराणिक रचना के अनुकूल नही है। इसमे प्रासंगिक, अधिकतर अप्रासगिक, वर्णनों का ऐसा जाल बिछा है कि कथा का तन्तु यदा-कदा ही दिखाई देता है। जिस प्रकार कथावस्तु को निरूपित किया गया है उससे स्पष्ट है कि स्थूलभद्रगुणमाला मे वर्ण्य विषय की अपेक्षा वर्णन-प्रकार अधिक महत्त्वशाली है। यह शास्त्रीय काव्य की प्रबल प्रवृत्ति है। अप्रस्तुतों का अजस्र विधान, मनोरागो का सरस चित्रण, चरित्रगत नवीनता, प्रकृतिचित्रण का कौशल—ये कुछ ऐसी विशेषताए है जो शास्त्रीय शैली के महाकव्यो मे ही दृष्टिगत होती है।

कविपरिचय तथा रचनाकाल

स्थूलभद्रगुणमाला की घाणेराव-प्रति के अन्तिम सर्ग तथा विभिन्न सर्गो की पुष्पिका मे सूरचन्द्र का पर्याप्त परिचय उपलब्ध है। जैन तत्त्वसार मे सूरचन्द्र ने

१. वर्णकश्चागमे बद्धः प्रबन्धे च महात्मनाम्।
गीतछन्दकवित्वादौ क्रियमाणस्तु दृश्यते॥ स्थूलभद्रगुणमाला, १७.१८१

अपना शाखारूप सम्बन्ध यद्यपि जिनभद्रसूरि से स्थापित किया है, किन्तु अन्य साधनों से ज्ञात होता है कि वे जिनदत्तसूरि की परम्परा मे थे[२]। काव्य मे वृहत् खरतरगच्छ के आचार्यो का विवरण भी जिनदत्तसूरि से आरम्भ होता है (१७.२१८)। इन गौरवशाली आचार्यों की परम्परा मे, जिनमे कुछ ने अनुपम संयमशील व्यक्तित्व के कारण मुगल सम्राट् अकबर तथा जहांगीर से 'युगप्रधान' आदि महनीय उपाधिया प्राप्त की थी तथा कुछ अन्यों ने धार्मिक तथा साहित्यिक कार्यकलाप से शासन तथा साहित्य के उन्नयन मे श्लाघ्य योग दिया था, वाचक चारित्रोदय -उपदेशनिपुण वाग्मी थे। सूरचन्द्र इन्ही चारित्रोदय के चरण-कमलों के भृग थे जिसका सीधा अर्थ यह है कि चारित्रोदय सूरचन्द्र के विद्यागुरु थे[३]। पद्मवल्लभ की भांति सूरचन्द्र ने दीक्षा वाचक वीरकलश से ग्रहण की थी। उन्हे संघ मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी वीरकलश को है[४]।

सूरचन्द्र विश्रुत विद्वान् तथा प्रतिभासम्पन्न कवि थे। पंचतीर्थस्तव उनकी विद्वतापूर्ण प्रौढ रचना है, जिसमे उन्होने अपने चित्रकाव्यकौशल का परिचय दिया है। संस्कृत के अनिरिक्त राजस्थानी मे भी उनकी कई कृतिया उपलब्ध है। उनकी राजस्थानी रचना शृंगाररासमाला सम्वत् १६५९ (सन् १६०२) मे लिखी गयी थी। यह सूरचन्द्र की प्रथम महत्त्वपूर्ण कृति प्रतीत होती है। यदि यह अनुमान सत्य है तो उनके जन्म तथा दीक्षा का समय सोलहवी शताब्दी ईस्वी का अन्तिम चरण माना जा सकता है। जैन तत्त्वसार का रचनाकाल सम्वत् १६७९ (सन् १६२२) सुनिश्चित हैं। स्थूलभद्रगुणमाला सूरचन्द्र की सबसे प्रसिद्ध कृति है। पुष्पिका के अनुसार इसकी रचना आचार्य जिनराजसूरि के विजयराज्य में (सन् १६१८-२३) सम्पन्न हुई थी[५]। घाणेराव भण्डार मे स्थित काव्य की पूर्वोक्त प्रति की प्रशस्ति से ज्ञात होता है

२. श्री अगरचन्द नाहटा : युगप्रधान जिनदत्तसूरि, पृ. ६९

३. चारित्रोदयनामानो वाचकाः प्रदिदीपिरे। स्थूलभद्रगुणमाला, १७.२६६
येषां व्याख्योल्लसद्रागध्वनिप्रीणितमानसाः।
म्लेच्छा अपि दयाधर्मं श्राद्धा इव प्रपेदिरे॥ वही. १७.२६७
येषां पादद्वयाम्भोजे मया भृंगायितं चिरात्। वही. १७.२६९

४. एषां विद्यासुसंविग्नाः श्रीवीरकलसाह्वयाः।
वाचका : सिद्धसिद्धान्तसंविदो गुणसागराः ॥१७.२७०
यद्धस्तदीक्षितोऽस्म्येष पुनः श्रीपद्मवल्लभः।
द्वावप्यावां समध्याप्य यैः कृतौ संघपूजितौ ॥१७.२७१

५. इति श्रीवृहत्खरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिविजयिराज्ये श्रीजिनसागरसूरियौव-राज्ये.......श्रीवीरकलशगणिशिष्यसूरचन्द्रविरचिते श्री स्थूलभद्रस्य गुणमाला-नाम्नि चरिते........

कि कवि ने इसकी पूर्ति जयपुर-नरेश जयसिंह के शासनकाल मे, सम्वत् १६८० (सन् १६२३), पौष तृतीया को, जययुर के निकटवर्ती सांगानेर (संग्रामनगर) में की थी।

पूर्णाष्टरसचन्द्राब्दे पौषतृतीयिकादिने।
पुण्यार्केऽपूर्ययं ग्रन्थो मया देवगुरुस्मृतेः ।। १७.२६५
संग्रामनगरे तस्मिन् जैनप्रासादसुन्दरे ।
काशीवत्काशते यत्र गंगेव निर्मला नदी ।।१७.२६६
राज्ये श्रीजयसिंहस्य मानसिंहस्य सन्ततेः ।
महाराजाधिराजाख्याश्रितस्य साहिशासनात् ।।१७.२६८

कथानक

स्थूलभद्रगुणमाला की जोधपुर-प्रति मे दूसरे से पन्द्रहवे तक, चौदह सर्ग (अधिकार) अविकल विद्यमान है तथा सोलहवें सर्ग का कुछ भाग उपलब्ध है। घाणेराव भण्डार की प्रति काव्य का सम्पूर्ण पाठ प्रस्तुत करती है।

प्रथम अधिकार फलवर्द्धिका पार्श्वनाथ,[६] गणधर गौतम[७] तथा वाग्देवी[८] की स्तुतिरूप मगलाचरण, सज्जन प्रशसा[९] तथा स्थूलभद्र के गौरव[१०] के वर्णन से आरम्भ होता है। पाटलिपुत्र के उदार तथा पराक्रमी नरेश नन्दराज के मंत्री शकटाल का ज्येष्ठ पुत्र यही स्थूलभद्र काव्य का नायक है। नन्दराज के पराक्रम के संदर्भ मे, इस सर्ग मे, पृष्ठभूमि के रूप मे, पाटलिपुत्र तथा नन्दराज के शस्त्रास्त्रो का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिससे काव्य की शैली तथा वर्णन-पद्धति का पूर्वाभास मिलता है। एक दिन युवा स्थूलभद्र को राजपाटी पर देखकर पाटलिपुत्र की रूपवती वेश्या कोश्या उसके अनुपम सौन्दर्य पर मोहित हो जाती है। कामावेग के के कारण उसे पल भर भी कल नही। उसकी सखी पद्मिनी स्थूलभद्र से, प्रेम के

६. नमो विघ्नच्छिदेऽजाय शम्भवे परमात्मने ।
श्रीफलवर्द्धिकापार्श्वनाथाय स्वामिने सते ।।१.१
७. गौतमं तं नमस्कुर्म्मो यत्कीर्त्तिस्फूर्तिनर्त्तकी ।
नृत्यन्ती मेरुवंशाग्रे दृश्यते त्रिदशैरपि ।।१.४
८. यस्याः शासनतो ह्रस्वो दीर्घश्चापि समाप्नुतः ।
गुणवृद्धिसमे सास्तु श्रितोन्नतिकरीह वाक् ।।१.६
९. शुद्धिः स्यात् मानसी स्नातां यद्गुणश्रेणिवेणिषु ।
व्यत्ययोऽपि गुणायैवं सन्तस्ते सन्तु मे सते ।।१.१७
१०. भूयिष्ठाः साधवोऽभूवन् विशुद्धब्रह्मसाधकाः ।
सिद्धब्रह्मा परं चैषां स्थूलभद्रोऽभवन् मुनिः १.२२

सागर मे डूबी कोश्या को संगम की नौका से उबारने का अनुरोध करती है[11]। तृतीय अधिकार मे कोश्या का नखशिख—प्रत्येक अंग तथा उपांग का—सविस्तार वर्णन है। चतुर्थ अधिकार मे पद्मिनी से कोश्या के रूप तथा गुणों का पुनः वर्णन[12] सुनकर स्थूलभद्र के हृदय मे काम का उद्रेक होता है और वह उसके प्रति अभिसार करता है। पाचवे अधिकार मे कोश्या अपनी कामपूर्ण चेष्टाओ से मन्त्रिपुत्र को वशीभूत कर लेती है। यहां उनके प्रेममिलन का विस्तृत वर्णन हुआ है। छठे अधिकार मे नवदम्पती की सम्भोग-केलि तथा प्रभात का वर्णन है। प्रणय-समागम के अन्तर्गत पुनः कोश्या के रूप का वर्णन किया गया है। सातवे अधिकार मे धूर्त वर-रुचि के षड्यंत्र के कारण नन्दराज की विमुखता के फलस्वरूप समूचे परिवार की मृत्यु अवश्यम्भावी जानकर शकटाल आत्मबलिदान से परिवार की रक्षा करने का निश्चय करता है। उसके आदेश से श्रीयक, न चाहता हुआ भी, भरी सभा मे, पिता (शकटाल) का शिरश्छेद कर देता है। 'जिसका पुत्र इतना स्वामिभक्त है, वह स्वय कैसे राजद्रोही हो सकता है' इस वास्तविकता का भान होने पर नन्दराज अपने पूर्वाचरण पर पश्चाताप करता है। वह श्रीयक की राजभक्ति से प्रसन्न होकर उसे मन्त्रिपद पर प्रतिष्ठित करने का प्रस्ताव करता है परन्तु वह अग्रज स्थूलभद्र को मन्त्रिमुद्रा का वास्तविक अधिकारी मानता है। अष्टम अधिकार मे नन्द स्थूलभद्र को औपचारिक रूप से मन्त्री पद स्वीकार करने का अनुरोध करता है। पर उसे पिता के वध से इतना दुःख तथा अपनी विषयासक्ति के इतनी ग्लानि होती है कि वह सर्वस्व छोड़ कर वहा से चुपचाप विहार कर जाता है। अग्रज की संवेगोत्पत्ति के पश्चात् श्रीयक मन्त्रित्व का दायित्व सम्भालता है। राजा, वररुचि को उसके दुर्व्य-सनो के कारण, राज्य से बहिष्कृत कर देता है। प्रायश्चित्त के लिये त्रपु-पान से उसका प्राणान्त हो जाता है। यह वस्तुतः पितृवध का बदला लेने के लिये श्रीयक तथा कोश्या की योजना का परिणाम था। अब मार्ग निष्कण्टक होने से श्रीयक नीतिपूर्वक अपने पद का निर्वाह करता है। नवे अधिकार मे स्थूलभद्र के प्रव्रजित होने का समाचार सुनकर कोश्या का प्रेमिल हृदय तडप उठता है। इस सर्ग में उसकी विरह व्यथा का विस्तृत वर्णन है, जो मार्मिक न होता हुआ भी, उसकी मानसिक विकलता को व्यक्त करने में समर्थ है। अगले पांच सर्गो मे पद्मिनी, कोश्या के मनोविनोद तथा समय-यापन के लिये छह परम्परागत ऋतुओ का वर्णन करती है। ऋतुओ के बीतने पर भी जब उसका प्रिय नही आया तो कोश्या निराश होकर,

११. स्वसंगमतरण्या त्वं पारमुत्तारय प्रभो। २.१६५

१२. तस्मादिमां गुणैः पूर्णां रूपेण सरसां भृशम्।
नवस्नेहवतीं प्राप्य मा प्रतीक्षस्व पण्डित ॥ ४.१००

चौदहवें सर्ग मे, उसे प्रेम-पत्र लिखती है, जिसमें वह अपनी मानसिक वेदना तथा शारीरिक क्षीणता का मार्मिक निरूपण करती है। तभी आचार्य सम्भूति-विजय विहार करते हुए वहा आते हैं। गुरु की अनुमति से स्थूलभद्र कोश्या की चन्द्रशाला मे चातुर्मास व्यतीत करने आता है। प्राणप्रिय के आगमन से कोश्या का हृदय प्रफुल्लित तो हुआ किन्तु उसे परिवर्तित देखकर वह स्तब्ध रह जाती है। सोलहवें सर्ग में स्थूलभद्र उसे यौवन तथा सुख-भोग की निस्सारता का भान कराने के लिये वार्धक्यजन्य विकलता तथा विरूपता का वर्णन करता है। "यौवन मे जो शरीर कमनीय तथा आकर्षक होता है, बुढ़ापे का दैत्य उसका सारा रक्त पी जाता है।" सतरहवें सर्ग मे अपने हृदयेश्वर से स्नेहशून्य तथा वैराग्यपूर्ण उपदेश सुनकर कोश्या के आश्चर्य का ओर-छोर नही रहा। वह नाना चेष्टाओं से मुनि स्थूलभद्र को मनोरति' के लिये निमन्त्रित करती है किन्तु वह अचल तथा अडोल रहता है। उसकी धीरिमा तया सच्चरित्रता के कारण कोश्या के हृदय मे स्थूलभद्र के प्रति श्रद्धा तथा सम्मान का उदय होता है। 'वेश्या-विषधरी के वाग्दन्तो की गणना करते हुए भी जो मोह के विप से व्याप्त नही हुआ, वही शील का मन्त्रज्ञ है।" वह स्थूलभद्र से श्राविका का व्रत ग्रहण करती है और तत्परतापूर्वक उसका परिपालन करती है। स्थूलभद्र के गुरुभ्राता छद्ममुनि को पथभ्रष्ट होने से बचाकर वह अपनी सच्चरित्रता का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करती है जिससे उसे साध्वी के समान मान्यता प्राप्त होती है। खरतरगच्छ के आचार्यो की परम्परा के वर्णन तथा प्रशस्ति से काव्य की समाप्ति की गयी है।[13]

कथानक के नाम पर स्थूलभद्रगुणमाला मे वर्णनो का जाल बिछा हुआ है।

१३. सुखद संयोग है कि हमने जोधपुर की खण्डित प्रति के आधार पर स्थूलभद्रगुण-माला की कथा परिणति तथा सर्ग संख्या की जो कल्पना अपने शोधप्रवन्ध में की थी, उसकी अक्षरशः पुष्टि घाणेराव भण्डार की प्रति से होती है। इस दृष्टि से यह अंश द्रष्टव्य है—

अन्तिम से पूर्व के तीन पत्र प्रति में उपलब्ध नहीं हैं। अन्तिम पृष्ठ पर सुहस्तीसूरि की पदप्रतिष्ठा, श्रीयक तथा स्थूलभद्र के स्वर्गमन, कवि की अल्पज्ञता आदि का उल्लेख है। क्या यह सोलहवें अधिकार का ही भाग है? शायद काव्य में एक और अधिकार था। उसमें स्थूलभद्र के उपदेश से कोश्या के संयम ग्रहण करने का वर्णन अवश्य रहा होगा। अन्तिम पृष्ठ के एक पद्य की संख्या, २००, का यही संकेत है कि यह सोलहवें से भिन्न किसी अन्य अधिकार के अन्तर्गत था। इस भाग में जो प्रशस्ति-जैसे पद्य हैं, वे उसी सर्ग के अवयव रहे होंगे। पर क्या इस पृष्ठ के साथ काव्य समाप्त हो गया था? यहां पुष्पिका तो नहीं है,

वस्तुतः स्थूलभद्रगुणमाला का कथानक अनन्त वर्णनो के गोरखधन्धे मे उलझा एक अदृश्य तन्तु है। सौन्दर्य-चित्रण तथा ऋतुवर्णन पर क्रमशः तीन तथा पांच सर्ग अपव्यय करना कवि की कथा-विमुखता का उग्र परिचायक है। 'भोग की अति की परिणति अनिवार्यतः उसके त्याग मे होती है', अपने इस सन्देश को कवि ने सरस काव्य के परिधान में प्रस्तुत किया है, किन्तु उसे अधिक आकर्षक वनाने के आवेश मे वह काव्य मे सन्तुलन नही रख सका। ऋतु-वर्णन वाले पाच सर्गों का यत्किंचित् कथानक से कोई विशेष सम्वन्ध है, यह कहना भी सम्भव नही है। उन्हे, विना कठिनाई के, आवश्यकतानुसार किसी भी काव्य मे खपाया जा सकता है। उपर्युक्त दोनो वर्णनों तथा नन्दराज की राजधानी पाटलिपुत्र और उसके पराक्रम की राई-रत्ती के वर्णन से काव्य मे वस्तु-वर्णन के अनुपात एवं महत्त्व के प्रति कवि के दृष्टिकोण का पर्याप्त आभास मिलता है। काव्य मे वर्णित सभी उपकरणों सहित, इसे छह-सात सर्गो में सफलतापूर्वक समाप्त किया जा सकता था। किन्तु सूरचन्द्र की सन्तुलनहीनता तथा वर्णनात्मक अभिरुचि ने इसे सतरह सर्गो का वृहद् आकार दे दिया है। जव तक वह किसी विषय के सूक्ष्मतम तत्त्व से सम्वन्धित अपनी कल्पना का कोश रीता नही कर देता, वह आगे बढ़ने का नाम नही लेता। यह सच है कि इन वर्णनो में कवि-प्रतिभा का भव्य उन्मेष हुआ है, किन्तु उनके अतिशय विस्तार ने प्रबन्धत्व को नष्ट कर दिया है। सूरचन्द्र क्रमागत काव्यधारा के पाश से नही वच सके।

रसविधान

सूरचन्द्र साहित्यशास्त्रियो के उस वर्ग के अनुयायी है, जिन्होंने रसो की सख्या नौ मानी है। सरस्वती-स्तुति तथा अन्यत्र नौ रसो के सकेत के अतिरिक्त कोश्या की प्रकृति के स्वरूप के निरूपण मे उन्होने श्रृंगार आदि नौ रसो का स्पष्ट नामोल्लेख किया है।[१४] स्थूलभद्रगुणमाला मे रसराज श्रृंगार की प्रधानता है, भले ही उसकी परिणति शान्तरस मे हुई हो। श्रृंगार को प्रस्तुत काव्य का अंगी रस मानने मे हिचक नही हो सकती। श्रृंगार में भी संयोग की अपेक्षा वियोग का चित्रण अधिक हुआ है। कोश्या की नियति कुछ ऐसी है कि उसे मिलन के सुख की अपेक्षा विरह की व्यथा अधिक झेलनी पड़ती है। स्थूलभद्रगुणमाला मे विप्रलम्भ की कई प्रसंगो मे समर्थ अभिव्यक्ति हुई है। स्थूलभद्र के प्रव्रज्या ग्रहण करने पर कोश्या के विरह-वर्णन मे

किन्तु काव्य का स्वाभाविक अन्त यहीं प्रतीत होता है। सम्भवतः, स्थानाभाव के कारण लिपिकार ने पुष्पिका को छोड़ दिया है!

—जैन संस्कृत-महाकाव्य (टंकित प्रति), पृ० ३२४

१४. दत्ते नवरसान् पूर्णान् साश्रिता किं न यच्छति। स्थूलभद्रगुणमाला, १-८

वही, ४. ३७-३८

तथा उसके प्रेमपत्र मे विप्रलम्भ की तीखी टीस है। परन्तु उसकी तीव्रतम व्यंजना कोश्या के पूर्वराग के वर्णन में है। राजपाटी में युवा स्थूलभद्र को देखकर कोश्या काम-विह्वल हो उठती है। मन्त्रिपुत्र के समक्ष दासी पद्मिनी द्वारा वर्णित उसकी विकलता हृदय की गहराई को छूने मे समर्थ है।

तवैकसंगमिच्छन्ती दीना हीनापरक्रिया।
कोश्या मे स्वामिनी स्वामिन् वर्त्तते व्याकुलावला ॥ २.१५६
वेल्लमानास्ति वल्लीव तरुसंगमवर्जिता।
क्षीणप्राणा गतत्राणा निरम्बुसंवरीव वा ॥ २.१५७
स्वामिन् सा यदि सध्रीचीं कथंचिद् वीक्षते क्षणम्।
तदाप्यर्धनिमीलाक्षी त्वदन्येक्षणशंकया ॥ २.१६०
सख्या अपि वचः श्रुत्वा सा शृणोति न सादरा।
एवं जानाति मां मान्यस्त्वद्रूपो भ्रमयेज्जनः ॥ २.१६१

रेवन्त-तुल्य स्थूलभद्र की क्षणिक झलक ने उस रूपगर्विता को ऐसे झकझोरा है कि प्राणप्रिय के बिना वह वृक्ष के आश्रय से वंचित वल्लरी के समान निराश्रित तथा जलहीन मीन की भांति मरणासन्न है। प्रिय के ध्यान मे लीन वह सखी को अधखुली आंख से ही देखती है। उसे भय है, पूरी आख से देखने से उसकी दृष्टि किसी अन्य पुरुप पर न पड जाए। वह सखियो से वात भी वहुत कम करती है, कही प्रिय का रूप धारण करके कोई छद्मी उसे भ्रान्त न कर दे।

विरह-वर्णन मे तो विप्रलम्भ अपनी मार्मिकता के कारण करुणरस की सीमा तक पहुंच गया है। पक्ष, मास, वर्ष आते है और चले जाते हैं किन्तु कोश्या का प्रिय आने का नाम नही लेता। हृदय मे उठती हूको ने उसे जर्जर वना दिया है।

चित्रशाला विशालेयं चन्द्रशाला च शालिनी।
प्रतिशाला मरालाश्च शल्यायन्तेऽद्य त्वद्विना ॥ ६.१३१
पक्षमासर्तुवर्षाणि मुहुरायान्ति तान्यपि।
पुनरेको न मे नाथो हला एति यतः सुखम् ॥ ६.१३५
किं करोमि क्व यामि कस्याग्रे पूत्करोम्यहं।
वदामि कस्य दुःखानि वियुक्ता प्रेयसा सह ॥ ६.१३६

सम्भोग के अन्तर्गत कोश्या तथा स्थूलभद्र के समागम के अतिरिक्त कवि ने नायिका के कतिपय भावो तथा अनुभावो का भी रोचक चित्रण किया है। चिर विकलता के पश्चात् स्थूलभद्र को सहसा अपने सम्मुख देखकर कोश्या के उल्लास का ओर-छोर नही रहता। उसमे सात्त्विक भावो का उदय होता है। उद्दीपन विभावो के

द्वारा वह प्रिय के कामभाव को उत्तेजित करके अनुभावो के माध्यम से अपनी प्रणय-लालसा की अभिव्यक्ति करती है । भावों अथवा विभावों का यह पृथक् निरूपण शृंगार की निष्पत्ति का पर्याय नही है। किन्तु ये भाव-विभाव (२.२२—४२) कोश्या की कामातुरता को व्यक्त करने में समर्थ है ।

चकंपे कामिनीकायः कामावेशाच्च किंचन ।
मन्ये मन्त्रिसुतं भेत्तुं कुन्तं तोलयते स्मरः ॥ ५.२६
कोश्याविष्कुर्वती नाभिं प्रति प्रियमनंगतः ।
मन्ये मद्यस्य चषकमिवोन्मादकमादरात् ॥ ५ २६
कोश्याश्लथत् नीवीं स्वां स्नेहान्तःपूरणादिव ।
भर्तुर्मध्यमृगेन्द्रं सा च्छोटयतीव केलये ॥ ५.३०
दर्शं दर्शं प्रियं प्रेम्णा कोश्या रोमांचिताभवत् ।
केकी कलापवानम्भोवाहमिव प्रमोदतः ॥ ५.३३

ये कामचेष्टाएं उन दो मदिर हृदयो के मिलन की भूमिका निर्मित करती है । स्थूलभद्र कोश्या को गोद मे भर कर आनन्द के सागर मे डूब जाता है ।

एकान्तस्थानमालोक्य पाणिं प्रसार्य धीसखः ।
कोश्यामुत्संगमानीयास्थापयत् प्रेमपूरितः ॥ ५.४५
ऐरावत इवामर्त्यलतामात्मीयकेलये ।
मराल इव नालीकमृणालीममलां श्रिये ॥ ४.४६
सम्पन्नं यत्तयोर्यूनोस्सुखं सांसारिकं मिथः ।
वाग्निर्याति तद्वक्तुं तस्मान्मुष्टिर्महीयसी ॥ ५.५३

परन्तु स्थूलभद्रगुणमाला मे शृंगार के उभय पक्षो का यह विस्तृत चित्रण वैराग्यशील कवि की वृत्ति का द्योतक नही है। जैन काव्यों की यह विरोधाभासात्मक स्थिति है कि उनमें साहित्यशास्त्र के विधान तथा कथावस्तु की प्रकृति के अनुरूप शृंगार का तल्लीनता से निरूपण किया जाता है किन्तु बाद मे जी भर कर नारी की निन्दा की जाती है । शृंगार की विभिन्न स्थितियो के कुशल चितेरे सूरचन्द्र की वैराग्यमयी भाषा मे भी नारी 'दुर्गन्धिकृमिसंकुल' तथा 'निष्ठीवनशराव' (थूकदान) है । पुरुष के जीवन की सार्थकता इस भुजंगी से बचने मे है ।[१५] शृंगार तथा उसकी आलम्बनभूत नारी के प्रति सूरचन्द्र के दृष्टिकोण को समझने के लिए उपर्युक्त भावो को याद रखना आवश्यक है ।

स्थूलभद्रगुणमाला मे शृंगार का पर्यवसान शान्तरस मे हुआ है । अथाह

१५. स्थूलभद्रगुणमाला, १७.१४६—१५२

विषयभोग में लीन स्थूलभद्र मन्त्रिपद का वैभव ठुकराकर निरीह साधुत्व से जीवन को सफल बनाने का संकल्प करता है। पतिता कोशा भी श्राविका के सयम के द्वारा साध्वी की भांति मान्यता प्राप्त करती है। किन्तु सामूहिक रूप मे भी शान्तरस, काव्य मे, शृगार की तीव्रता को मन्द नही कर सकता। अपनी विषयासक्ति की पृष्ठ-भूमि मे, पिता के वध का समाचार पाकर, स्थूलभद्र का मन आत्मग्लानि से भर जाता है। उसे सुख-सम्पदा, वैभव-भोग, वस्तुतः समूचा जीवन और जगत् भंगुर एव प्रवंचनापूर्ण प्रतीत होने लगता है। प्रवज्या में ही वह सच्चा सुख देखता है। उसकी यह मनोभूमि शान्त के कल्पतरु को जन्म देती है।

> प्रमदासंपदानन्दपद्मराज्यधरादिकम् ।
> यद्यत् संदृश्यते दृष्ट्या तत्सर्वं भंगुरं भवेत् ॥ ८.१३
> पुत्रभ्रातृमहामंत्रयन्त्रमन्त्रनृपादिकं ।
> संसारे शरणं नांगवतामेषां चांगिनः ॥ ८.१६
> एवमेकोऽप्यनेके वा न त्राणं कोऽपि कं प्रति ।
> ततो निर्ममभावेन जगदेतत्समाश्रय ॥ ८.२६

प्रकृति-चित्रण

काव्य के अनुपातहीन विस्तृत प्रकृति-वर्णन से सूरचन्द्र के प्रकृति के प्रति दृष्टि-कोण का यथेष्ट परिचय मिलता है। स्थूलभद्रगुणमाला के प्रकृति-चित्रण को ऋतु-वर्णन कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इसमे ऋतुवर्णन का ही प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त काव्य मे प्रकृति-वर्णन के नाम पर केवल प्रभात का चित्रण किया गया है। प्रकृति-चित्रण में सूरचन्द्र बहुधा परम्परागत प्रणाली के अनुगामी हैं। चिरप्रतिष्ठित परम्परा की अवहेलना करना सम्भव भी नही था। उसके प्रकृति-चित्रण की विशेषता —यदि इसे विशेषता कहा जाए—यह है कि उसने अपने अप्रस्तुत-विधान-कौशल से ऋतुओ के हर सम्भव तथा कल्पनीय-अकल्पनीय उपकरण के व्यापक चित्रण के अतिरिक्त उनमें होने वाले पर्वो का भी अनिवार्यतः निरूपण किया है। ये वर्णन कवि की काव्य-प्रतिभा के साक्षी है, किन्तु सन्तुलन अथवा अनुपात का उसे विवेक नही है। अन्य वर्ण्य विषयो की भाति प्रकृति के सूक्ष्मतम तत्त्व का चित्रण करने के लिए वह अनायास आठ-दस अप्रस्तुत जुटा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि वह जब तक प्रकृति के प्रत्येक उपकरण से सम्बन्धित सब कुछ कहने योग्य नही कह देता, आगे बढने का नाम नही लेता। इसलिये मात्र विस्तार के कारण इनमें पिष्टपेषण भी हुआ है और पाठक के धैर्य की विकट परीक्षा भी! २२४ पद्यो में पावस का सांगोपाग वर्णन करने के पश्चात् कवि का यह कथन—

नभोनभस्यमासौ द्वौ वर्षर्तुरेष भाषितः ।
एवमस्य ऋतोः किंचित्स्वरूपमुपवर्णितम् ।। १०.२२५

पाठक की सहनशीलता पर कितना क्रूर व्यंग्य है ?

अप्रस्तुत-योजना मे दक्षता के कारण सूरचन्द्र ने बहुधा प्रकृति का आलंकारिक चित्रण किया है। प्रकृति के स्वाभाविक रूप के प्रति उसका ममत्व निश्छल है, किंतु उसकी कल्पनाशीलता उसे प्रकृति का सश्लिष्ट अंकन करने को विवश करती है। सूरचन्द्र के पास कल्पनाओ का अपार भण्डार है। वह प्रकृति के सामान्य से सामान्य तत्त्व को भी अनेक अप्रस्तुतो से सजा सकता है। फलत., स्थूलभद्रगुणमाला मे प्रकृति का सहज-अलंकृत रूप दिखाई देता है। निस्सन्देह कवि की उर्वर कल्पना से उसके वर्णन चमत्कृत है, परन्तु अप्रस्तुतो के बाहुल्य के कारण स्वय प्रकृति गौण-सी बन गयी है। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होगे।

वसन्त मे खिले टेसू के फूलो की लालिमा का कारण ढूढने के प्रयत्न में सूरचन्द्र ने अप्रस्तुतो का जो जमघट लगाया है उनमे दब कर वर्णनीय विषय अदृश्य-सा हो गया है। कवि की कल्पना है कि नवोढा वनभूमि ने विवाह का लाल जोड़ा पहन लिया है अथवा पति वसन्त के पास जाकर वह लज्जा से लाल हो गयी है, अथवा यह शरत् रूपी हाथी के रक्त से रजित वन-सिह की नखराजि है या अटवी-गणिका अपनी अरुण अंगुलियो से युवको को आमन्त्रित कर रही है। कल्पनाए सभी रोचक है किंतु अन्तिम दो कुछ दूरारूढ प्रतीत होती है।

स्पष्टाटवीवधूटीयं रक्ताम्बरधरा किमु ।
किं वासावेव सुरभिं पतिं प्राप्यारुणानना ।।
किं वा वनमृगेन्द्रस्य दृश्यते नखरावली ।
शीतर्तुमत्तमातंगभिन्नकुम्भासृजारुणा ।।
किं वाटवीपणस्त्रीयं स्वकीयांगुलिकाभिः ।
तरुणानाह्वयन्तीव क्रीडितुं निजकांतिके ।। १३.२५-२७

शरत् का हृदयग्राही वर्णन भी कवि-कल्पना की आभा से दीप्त है। रोचक तथा सटीक अप्रस्तुतों के कारण शरत्काल के प्रत्येक उपकरण मे सजीवता का समावेश हो गया है। पूनम का चाद स्वर्गंगा मे खिला कमल प्रतीत होता है। उसका कलंक ऐसा लगता है मानो मकरन्द से पूर्ण कमल पर भौरा बैठा हो अथवा रोहणी से रमण करते समय लगी हुई, उसकी काजल की बिंदिया हो। नील गगन मे तारे ऐसे चमक रहे है जैसे इन्द्रनील मणियो के थाल मे रखे हुए मोती हो अथवा काली धरती पर गिरे तण्डुल हो या रजनीलता की कुसुमावली हो।

यद्वा वियन्नदीमध्ये पुण्डरीकं चलाचलं ।
संदृश्यते मधुभृतं भृंगसंगमरंगितम् ।। ११.२७

किं वा यौवनराट् बाल्यवृद्धभ्रातृवियोगवान् ।
स्मरणार्थं स्तनव्याजाज्जाने तत्स्तूपमाचरत् ॥ ३.१३४
रमण्या रोमराजीयं सुरूपा परिपेशला ।
मन्ये लावण्यवाहिन्या बालसेवालवल्लरी ॥ ३.१६६
किं वा लावण्यनद्यां वा पद्ममेतत्सकर्णिकम् ।
अस्त्यस्या एव वावर्तः कामिनाविकदुस्तरः ॥ ३.१८२

यहा अलकावली, आखो. वाहु, स्तनों, रोमराजी तथा नाभि के लिये क्रमशः यौवनराज की चामर-पंक्ति, चकोरयुगल एवं मृगखंजन, नारी रूपी नदी की तरंग, शैशव तथा वार्धक्य के स्मरणार्थ स्तूप तथा सेवालवल्लरी अप्रस्तुतो की योजना की गयी है जिससे उसका सौन्दर्य अनुपम बन गया है[17] ।

पुरुप-सौन्दर्य के प्रतीक स्थूलभद्र के वर्णन मे भी कवि ने उपर्युक्त विधि अपनायी है । सन्तोप यह है कि स्थूलभद्र का सौन्दर्यवर्णन अपेक्षाकृत अधिक सन्तुलित है, यद्यपि उसका भी आपादमस्तक समूचे अंगों का चित्रण किया गया है ।

चरित्रचित्रण

स्थूलभद्रगुणमाला के सीमित कथानक मे केवल तीन मुख्य पात्र हैं । उनका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है । वे 'टाईप' नहीं है । चरित्रचित्रण मे यह सूरचन्द्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है ।

स्थूलभद्र

पाटलिपुत्र-नरेश नन्द के मन्त्री शकटाल का पुत्र स्थूलभद्र काव्य का नायक है। वह साहित्य तथा संगीत का प्रेमी है । संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओ मे काव्य-रचना करने मे वह कुशल है[18] । उसकी उदारता प्रशसनीय है; सौन्दर्य मनमोहक है। वस्तुत वह साक्षात् नलकूबर है[19] । उसे देखकर विष्णु, शंकर, इन्द्र, काम, चन्द्रमा तथा कुमार कार्तिकेय का भ्रम होता है[20] । पाटलिपुत्र की रूपवती गणिका कोश्या, रेवन्त-तुल्य उसे प्रथम बार देख कर ही उसके रूप पर रीझ जाती है ।

स्थूलभद्र का चरित्र प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के दो विरोधी छोरो मे बधा हुआ है । वह कोश्या के प्रेम मे डूब कर माता-पिता, परिजन, यहां तक कि स्वयं को भी भूल जाता है । उसके लिये कोश्या समूचे ससार का पर्याय बन जाती है । किन्तु जैसा

१७. ईदृशी नारी दृग्भ्यामन्या न दृश्यते । ४.८७
१८. कदाचिन्नव्यकाव्यानि जातु संगीतगीतकम् ।
कर्हिचित्प्राकृतं तद्वत् संस्कृतं चाप्यगुम्फयत् ॥ २.६१
१९. उदारः स्फारशृंगारः प्रत्यक्षो नलकूबरः । ४.१०६
२०. वही, २.१०४-१०८

प्राय: होता है, उसके अतिशय भोग की परिणति योग मे होती है। पिता के दु खद बलिदान से उसके जीवन का पट-परिवर्तन होता है। 'विषयासक्ति के कारण वह पितृवध के षड्यन्त्र को भी नही जान सका'[२१]— यह विचार उसे बार-बार सालता है। इससे वह इतना लज्जित तथा विचलित होता है कि मन्त्रिपद आदि के प्रबल प्रलोभनो को ठुकरा कर वह साधुत्व स्वीकार कर लेता है और आदर्श श्रमण का जीवन व्यतीत करता है। समितियो तथा गुप्तियो का परिपालन करने से वह दूसरो को भी भवसागर से पार करने मे समर्थ हो गया है[२२]।

यहां से स्थूलभद्र के जीवन का द्वितीय उदात्त अध्याय आरम्भ होता है। वह धर्म मे दृढता से प्रवृत्त हुआ[२३]। उसका मन शान्तरस मे रम गया। वह शान्ति तथा संयम की मूर्ति बन गया। विषयो के बीच वह मेरु के समान अडिग तथा अडोल है[२४]। उसने जगद्विजेता काम को पराजित कर दिया और सांसारिक वासनाओ को जीत लिया[२५]। इस साधना के फलस्वरूप मुनि स्थूलभद्र वीतरागता की उत्तुग भावभूमि में पहुच गया। जिस कोश्या के साथ उसने यौवन के अलभ्य भोग भोगे थे, वह उसी गणिका की चन्द्रशाला मे अनासक्त भाव से चातुर्मास व्यतीत करता है। वहां वह न केवल उसके 'मनोरति' के उन्मुक्त निमन्त्रण को निर्लिप्त भाव से अस्वीकार करता है बल्कि धन-यौवन की निस्सारता के प्रेरक उपदेश से अपनी 'प्राणप्रिया' को संयम तथा शील की ओर उन्मुख करता है[२६] जिससे उसे अद्भुत गौरव एवं श्रद्धा की प्राप्ति होती है। वस्तुत: स्थूलभद्र के समान महान् वीतराग साधु पृथ्वीतल पर दुर्लभ है[२७]।

कोश्या

स्थूलभद्र की प्रणयिनी कोश्या काव्य की नायिका है। वह वेश्या अवश्य है, किन्तु वसन्तसेना की भाति, एक व्यक्ति पर प्रणय केन्द्रित होने के पश्चात् उसका व्यक्तित्व कुन्दन की भांति चमक उठा है। वह अनुपम सुन्दरी है। चतुरानन

२१. वही, ७.१५६,१६०
२२. वही, ८.१४९-१५०,१४ ११९
२३. वही, १७.३४
२४. मनः शान्तरसे न्यधात्, १७.३३; आयान्तं मेरुवद्धीरं महाव्रतधुरन्धरम्। १४.११२
२५. संसारवासनाः सर्वा योऽजयत्स्मरमर्दनः। १७.१५३ तथा १७.१५६
२६. ममायमुपकारी यद्भोगान् भुक्त्वा पुरा मया।
धर्मकर्मणि मां प्रेम्णा प्रतिबोधयतेऽधुना १७.६६
२७. स्थूलभद्रसमः साधुर्विरलो दुर्लभो भुवि। १७.१५३

ब्रह्मा भी उसके अनवद्य रूप का यथार्थ वर्णन करने मे असमर्थ है[28]। उर्वशी आदि देवांगनाएं तथा गौरी, रुक्मिणी, सरस्वती आदि प्रख्यात सुन्दरियां उसके सम्मुख तुच्छ है (५.१०-१२)। स्थूलभद्र जैसे युवक को प्रेमी के रूप मे पाकर वह कृतार्थ हो जाती है। प्रिय के आगमन मात्र से उसका अंग-अंग ऐसे खिल गया जैसे राजा की कृपा पाकर अधीनस्थ अधिकारी[29]। उसकी साधें पल्लवित ही हुई थी कि सहसा उन पर तुषारपात हुआ। स्थूलभद्र पिता के बलिदान से व्यथित होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता है। कोश्या पर अचानक वज्रपात हुआ। परन्तु वह इसका दुरुपयोग वेश्या-वृत्ति मे नही करती। वह तो स्थूलभद्र के अतिरिक्त किसी अन्य की कल्पना भी नही कर सकती। स्थूलभद्र से विमुख होकर किसी अन्य युवक को फांसने का सुझाव वह घृणा-पूर्वक अस्वीकार कर देती है।

> है है कृत्वेति सा कोश्या कर्णौ पिधाय चाभ्यधात्।
> मा भाषस्व भगिन्येवं ममाप्रीतिकरं त्विदम्॥ १०.७

स्थूलभद्र के वियोग मे उसका मन और शरीर दोनों जर्जर हो जाते हैं। अपने को भुठलाने के लिये वह उसे प्रेमपत्र लिखती है। भाग्य की विडम्बना, जब उसका प्रिय आया भी, तो वह ससार से विरक्त हो चुका था। वह नाना नृत्यों तथा काम-चेष्टाओ से उसे पुन. आकर्षित करने का प्रयत्न करती है और विरहताप के निवारण के लिये 'मनोरति' का खुला निमन्त्रण देती है, पर स्थूलभद्र अब पूर्णतया परिवर्तित हो चुका था। कोश्या को अपने इस पूर्व-प्रेमी से ही भोग की निस्सारता का उपदेश सुनना पडता है जिसके परिणामस्वरूप उसमे सवेग का उदय होता है और वह श्राविका-धर्म स्वीकार कर जीवन का उत्कर्ष प्राप्त करती है[30]। स्थूलभद्र के गुरुभ्राता छद्ममुनि को अनाचार के गर्त्त से उबार कर वह वेश्या माता, गुरु तथा तत्त्वोपदेशक के पूज्य पद पर आसीन होती है[31]।

श्रीयक

श्रीयक स्थूलभद्र का अनुज है। पितृवत्सलता उसके व्यक्तित्व की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। पितृभक्ति के कारण उसे पिता की उचित-अनुचित, सभी प्रकार की,

२८. चतुर्वक्त्रोऽपि नो ब्रह्मा वर्णयन् पारमश्नुते। ४.१

२९. आगच्छन्तं प्रियं मत्वा कोश्यांगानि चकासिरे। १५.११०

३०. साधोः संगतितः कोश्या वेश्यापि श्राविकाजनि। १७.७२

३१. अद्य पश्चात्त्वमेवासि ममोपकारकारिणी
माता त्वं त्वं गुरुश्चापि तत्त्वमार्गप्रदेशिका॥१७.१५९
अहमस्मादनाचारान्निपतन्नरकान्तरे।
त्वया हितोपदेशेन तारितो वारितः पथात्॥१७.१६०

आज्ञा सदैव स्वीकार्य है । अपने परिवार को राजकोप से बचाने तथा अपनी स्वामि-भक्ति प्रमाणित करने के लिये जब मन्त्री शकटाल उसे उसका (मन्त्री का) प्राणान्त करने का आदेश देता है, श्रीयक उसका भी पालन करता है । इसे अन्धश्रद्धा कहा जा सकता है, किन्तु यह कोरी विवेकहीनता है । उस जैसे नीतिकुशल व्यक्ति को चाहिये तो यह था कि वह षड्यन्त्र की जड ही काट देता तथा राजा को वस्तुस्थिति से अवगत करता (जैसा वह बाद में करता भी है), परन्तु वह पितृहत्या के पाप का, अनिच्छा से सही, भाजन बनता है ।

श्रीयक व्यवहार-कुशल व्यक्ति है । नन्दराज के पितृवध का कारण पूछने पर उसका यह कथन जहा उसकी व्यावहारिकता का सूचक है, वहां इसमे राजा के प्रति उपालम्भ भी छिपा हुआ है ।

स्वामिस्तातेन किं तेन यो हि वो न सुखायते ।
किं हि तेन सुवर्णेन कर्णस्त्रुटचति येन तु ॥ ७.११३

वह नन्दराज के मन्त्रित्व का वैधानिक अधिकारी स्थूलभद्र को मानता है । वह तब तक मन्त्रिमुद्रा स्वीकार नही करता जब तक उसका अग्रज उसे अस्वीकार नही करता । वह वररुचि से पिता के वैर का बदला लेता अवश्य है, किन्तु वह बहुत मूल्यवान् बलिदान पहले दे चुका है । वररुचि के निष्कासन तथा निधन से उसका मार्ग निष्कण्टक हो जाता है और वह निष्ठापूर्वक अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करता है ।

खला उत्खानिताः सर्वे सेवकाः स्वे सुखीकृताः ।
भाण्डागारा भृतास्तेन श्रीयकेण च मन्त्रिणा ॥ ८.१८४

अन्य पात्र

शकटाल नन्दराज का मन्त्री है । वह शिष्ट तथा दर्शनशास्त्र का ज्ञाता है । राजा के प्रति उसकी निष्ठा असन्दिग्घ है । राजा की हितकामना के कारण ही वह सहसा वररुचि को धन देने की सस्तुति नही करता । दुर्भाग्यवश वह वररुचि के षड्यंत्र तथा नन्दराज की अदूरदर्शिता का शिकार बनता है ।

वररुचि पाखण्डी तथा धूर्त ब्राह्मण है । वह कपट से राजा का विश्वास प्राप्त कर लेता है जिससे वह उसे यथेष्ट धन देकर पुरस्कृत करता है । अपने शत्रुओं को धराशायी करने के लिये वह सभी उपायो का प्रयोग कर सकता है । शकटाल को उसका विरोध करने का मूल्य प्राणो से चुकाना पडता है, यद्यपि कालान्तर मे, वह भी श्रीयक के जाल मे फंस कर प्राणो से हाथ धो बैठता है ।

भाषा आदि

स्थूलभद्रगुणमाला के रचयिता का उद्देश्य मुनि स्थूलभद्र के गुणगान से पुण्य

अर्जित करना तथा उसके द्वारा जीवन को सार्थक बनाना है। कवि का विश्वास है कि महापुरुषो के गुणों का स्मरण जगत् की विक्रियाओं को दूर करने का अमोघ मन्त्र है।[३२] महात्माओ के महात्मा (१.३७) की गुणावली के इस निरूपण ने सूरचन्द्र की काव्य-रचना को बहुत तंग घेरे मे परिवद्ध कर दिया है। उसके काव्यशास्त्र मे रस, भाव, भाषा, शैली आदि काव्यतत्त्वों की उपयोगिता नगण्य है।[३३] फलतः स्थूलभद्रगुणमाला मे सूरचन्द्र का जो रूप व्यक्त हुआ है वह कवि, कथावाचक तथा प्रबन्धत्व से निरपेक्ष तुक्कड़ का अजीब रूप है। जहां 'पुनरेको विशेषः स श्रूयतां सज्जना इह' (६.१) तथा 'इदं महीय आश्चर्यं श्रवणीयं निशम्यताम्' (६.४) जैसी पंक्तिया लेखक को कथाकार की श्रेणी मे खडा करती हैं, वहां काव्य में 'उपमानानि चन्द्रस्य बहूनि सन्ति यत्कृतात्। पार्श्वनाथस्तवनात्तानि ज्ञेयानि विदुषां वरैः' (११.३०) आदि हास्यास्पद पद्य प्रबन्धत्व से उसकी घोर उदासीनता व्यक्त करते है। वर्णनो के बीच प्रश्नोत्तर-शैली भी प्रबन्धत्व की हितैषी नही (उष्णागमेऽधिका निद्रा समेति हेतुरत्र कः—१४.१३५)। इस प्रकार की विशृंखल वर्णन-पद्धति शैली मे शिथिलता को जन्म देती है जो प्रबन्धकाव्य की सुगठित तथा चुस्त शैली के अनुकूल नही है। सूरचन्द्र की शैली की प्रमुख विशेषता (?) उसके वर्णनो का ब्यौरेवार विवेकहीन विस्तार है। प्रत्येक विषय का क्रमबद्ध सविस्तार वर्णन करना उसकी प्रिय शैली है। सूरचन्द्र जहा बैठता है, वही पद्मासन बांध कर बैठ जाता है और जब तक विषय के हर सम्भव पक्ष के हर संभव 'डिटेल' का मन भर कर वर्णन नहीं कर लेता, आगे बढने का नाम नही लेता ! पाटलिपुत्र का चित्रण करते समय उसके दुर्ग, परकोटे, परिखा, हाट, उद्यान आदि का क्रमवार वर्णन करना उसके लिए अनिवार्य है। दान देने के लिए उठे हाथ की सामान्य भंगिमा पर वह आठ पद्य न्यौछावर कर सकता है (६.११२-११९)। मेघागम पर सागर की गर्जना तथा दान देते समय अंगुलियों के मिलने का कारण ढूंढने मे भी उसने कृपणता नही की (१०.१४५-१४८, ६.१२२-१२६)। सौन्दर्य तथा प्रकृति के निर्वाध वर्णन ने किस प्रकार काव्य का बहुलांश हड़प लिया है, इसका संकेत पहले किया जा चुका है। इसका सचित निष्कर्ष यह है कि स्थूलभद्रगुणमाला की शैली मे संयम अथवा संतुलन का खेदजनक अभाव है। फलतः वह प्रवाह तथा गठीलेपन से शून्य है। फिर भी यदि सूरचन्द्र का काव्य नीरसता से बच सका है,

३२. संसारं सफलीकर्तुं गुणाः केचन गुम्फिताः। १७.१७४
गुणान् गुणवतो गीत्वा करोति सफलं जनुः। १७.१७८

३३. भावभेदरसान् पूर्णाः परीक्षन्ते परीक्षकाः।
मादृशा अल्पधीमन्तो न वक्तुं तान् विजानते ॥१७.१८८

इसका श्रेय उसके अप्रस्तुतो के अक्षय कोष को है ।

स्थूलभद्रगुणमाला की भाषा सरलता के सौन्दर्य से भूषित है । भरतबाहुवलि-महाकाव्य जैसा भाषा-सौष्ठव तो यहां नही मिलता किन्तु इसमे प्रांजलता बराबर बनी रहती है । मध्ययुगीन महाकाव्यों की अन्य प्रवृत्तियो को प्रायः यथावत् ग्रहण करके भी सूरचद्र ने अपनी भाषा को अलकृति तथा क्लिष्टता से आच्छादित नही किया है। उसका झुकाव सरल भापा की ओर अधिक रहा है । काव्य को सुबोध बनाने के लिए ही उसने काव्य मे कही-कही लोकभापा की संस्कृत छाया मात्र प्रस्तुत कर दी है, जो संस्कृत भाषा की प्रकृति के प्रतिकूल है किन्तु लोक मे प्रचलित होने के कारण सर्वविदित है । 'राज्ञोऽस्ति यः कोपः स सर्वं उत्तरिष्यति (७.७९)—राजा का जो क्रोध है, वह सब उतर जाएगा, तातवार्ता न पृष्टवान् (७.१६०)—पिता की बात नही पूछी, अवनीरमणोऽस्माकमूर्ध्वं क्रोध करिष्यति (७.१६८)—राजा हमारे ऊपर क्रोध करेगा, सर्वमेतत् खादितु नाथ धावति (९.१२४)—यह सब खाने को दौड़ता है, एकस्य पृष्ठे ········किं पतिता जडे (१०.७)—एक ही के पीछे क्यो पड़ी है ? आतपो निपतति (१२.३)—धूप पडती है आदि इसी प्रकार के प्रयोग है । छप्पा (३.२५), फुक (३.७४), निशाण-ध्वज (३.१३८), छन्नक. (३ १३८), कान्दविक-कदोई (३.१४५), जटित्वा तालकानि, छलसि (९.८६), टिककूपकै (१२.८०) लट्टा-लटें (१०.१३२), कोट्ट, खाला, जंजाल,ठगविद्या, गुलाल तथा वटका, लपश्री, काजिका, रोट्टक, पर्पट, पूरिका, लड्डुक (१२.१२५-१२६) आदि देशी शब्दो का उदारता-पूर्वक प्रयोग भी उपर्युक्त भावना से प्रेरित है । किन्तु शिरोन्नताः (२.६३), यदैषास्मि सात्स्यामि तव कामितम् (२.१३५), मुनिराज्ञ. (१५.११८) निषेधन्ती (१५.१०७), धर्मपदैव (१६·१९३), आदि अपाणिनीय प्रयोग कवि के प्रमाद के सूचक है ।

यह स्थूलभद्रगुणमाला की भाषा का एक पक्ष है । सुबोधता के अतिरिक्त सूरचंद्र की भाषा की मुख्य विशेषता यह है कि वह सदैव भावो की अनुगामिनी है । काव्य मे स्थितियो का वैविध्य तो अधिक नही है किंतु उसमे उदात्त-गम्भीर तथा भव्याभव्य जो भाव है, उसकी भाषा उन सबको यथोचित पदावली मे व्यक्त करने मे समर्थ है । स्थूलभद्र को देखकर मूर्छित हुई कोश्या की स्थिति के वर्णन तथा उसकी सखियों की चिंताकुल प्रतिक्रिया के निरूपण मे प्रयुक्त भाषा उनकी मानसिक विकलता को बिम्बित करती है । उसके मूर्छित होने पर वे विपाद मे डूब जाती है, और होश मे आते ही वे हर्ष से पुलकित हो जाती हैं (२.११७, ११९,१२३) ।

स्थूलभद्र के साधुत्व स्वीकार करने से कोश्या के तरुण हृदय की अभिलाषाएँ अधूरी रह जाती है । उस पर अनभ्र वज्रपात हुआ । उसके विरह के चित्रण मे विप्रलम्भ, अपने आवेग के कारण, करुणरस वे बहुत निकट पहुंच गया है । उसकी

व्यथा की व्यंजना स्निग्ध तथा कोमल पदावली मे की गयी है। समासाभाव तथा कातरतापूर्ण भाषा उसकी विकलता को दूना कर देते है। वियोग ने उसके हृदय को इतना तोड दिया है कि उठना, बैठना, सोना, चलना आदि अनिवार्य कृत्य भी उसके लिए भार बन गए है। इन पक्तियों मे एक-एक अक्षर से कोश्या की विवशता तथा विकलता टपक रही है।

> किं करोमि क्व यामि कस्याग्रे पूत्करोम्यहं।
> वदामि कस्य दुःखानि वियुक्ता प्रेयसा सह ॥ ९.१३६
> सखि तद् वस्तु संसारे विद्यते यदि तन्नय।
> वियुक्ता मानवा येन क्षणं रक्षन्ति यन्मनः ॥ ९.१३७
> लयनं गयनं चापि क्रमणं रमणं तथा।
> मह्यं न रोचते किंचित् सखि स्वामिवियोगतः ॥ ९.१३८

इन विषादपूर्ण भावो के विपरीत सूरचद्र ने कोश्या की हर्षोत्फुल्लता का चित्रण तदनुरूप भाषा में किया है। चिरविरह के पश्चात् प्रिय के आगमन का समाचार सुनकर वेश्या आनन्द से आप्लावित हो जाती है। उसे मिलने को अधीर कोश्या की त्वरा तथा उत्सुकता का वर्णन करने के लिए प्रवाहपूर्ण पदावली का प्रयोग किया गया है, जो अपने वेग मात्र से उसकी अधीरता को मूर्त कर देती है।

> कुत्र कुत्रेति जल्पन्ती दधावे धनिकं प्रति।
> कोश्या प्रेमवशासंज्ञा वात्याहतेव तूलिका ॥ १५.१०६
> न स्पृशन्ती भुवं पद्भ्यां निषेधन्ती निमेषकान्।
> उद्यांती ददृशे कोश्या सखीभिरमरीव सा ॥ १५.१०७

प्रिय को आख भर कर देखने की बलवती स्पृहा है यह जिसने उसे देवांगना बना दिया है।

व्याकरण ज्ञान और शाब्दीक्रीडा

स्थूलभद्रगुणमाला मे पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए कोई स्थान नही है। यह कवि का अभीष्ट भी नही है। किन्तु विचित्र बात है कि विरहवर्णन जैसे कोमल प्रसंग में उस पर व्याकरण एवं शाब्दी क्रीडा द्वारा अपना रचना कौशल प्रदर्शित करने की धुन सवार हुई है।

सामुद्रलावण्य अण् प्रत्यय के बिना समुद्रलवण बन जाता है। कोश्या के उल्लास तथा वेदना की व्यंजना 'अण्' प्रत्यय के सद्भाव एवं अभाव के आधार पर की गयी है। प्रियतम के सयोग में उसके लिए 'सामुद्रलावण्य' दो स्वतंत्र पद थे अर्थात् उसका शरीर अतिशय लावण्य से परिपूर्ण था। उसके वियोग में, अण् प्रत्यय के बिना वह एक पद बन गया है। उसके लिए अब सब कुछ 'क्षाररूप' हो गया है।

सति सामुद्रलावण्ये अभूतां द्व भिदा त्वयि ।
ते प्रत्ययं विनायातामेकं पद्यं गते च मे ।। ६ ११४

वेश्या की व्यथा का संकेत करने के लिए कवि ने शब्दो के साथ खिलवाड भी किया है । सतोप यह है कि ऐसे पद्य सख्या मे अधिक नही है,[३४] न ही उनमें क्लिष्टता है । प्रस्तुत पद्यो मे सात पदो के आदिवर्ण का लोप करने से ही कोश्या की विरहावस्था का भान होता है ।

इभयानोन्नतकुचा राजीवपाणिरीश्वरी ।
तथा शिखरदशनाऽमृतवाक् मनोरमा ।। ६.१२२
सति त्वयीदृशी स्वामिन्नभवं तु गते त्वयि ।
सप्तानामादिवर्णोऽप्यगमदेषां क्षणादपि ।। ६.१२३

निम्नोक्त पंक्तियो मे केवल क्यङ् प्रत्ययान्त क्रियाएं प्रयुक्त की गयी है ।

रक्षा रक्षायते शीर्षे वेणी वेणीयते शुचा ।
त्वां विना देव दैवान्मे विग्रहो विग्रहायते ।। ६.१२५

अलंकारविधान

यह कहना अत्युक्ति न होगा कि स्थूलभद्रगुणमाला काव्य की अलकार–योजना अप्रस्तुतविधान की नीव पर अवस्थित है । सूरचंद्र के अप्रस्तुतो का कोई ओर-छोर नही है । उसकी उर्वर कल्पना, कुशल बुनकर की तरह निरन्तर अप्रस्तुतों का जाल बुनती जाती है । अत्यन्त सामान्य अथवा महत्त्वहीन वस्तु के लिए भी सूरचन्द्र किस सरलता से नाना अप्रस्तुत जुटा सकता है, इसका सकेत पहले किया जा चुका है । अकेले कोश्या के स्तनो के वर्णन मे उसने सत्ताईस अप्रस्तुत प्रयुक्त किए है । सूरचन्द्र के अधिकतर अप्रस्तुत लोकव्यवहार, प्रकृति, परम्परा, शृंगार आदि जीवन के विविध पक्षो से गृहीत है । कुछ कवि के अनुभव तथा कल्पनाशक्ति से प्रसूत है । अप्रस्तुतो का यह निपुण विधान कवि कल्पना को द्योतित करता है तथा भावाभिव्यक्ति को सघन बनाता है । सूरचन्द्र के अप्रस्तुत उपमा, अतिशयोक्ति, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि के रूप मे प्रकट हुए है, किन्तु उन्होने अधिकतर उत्प्रेक्षा का परिधान धारण किया है । उपर्युक्त विविध प्रसगो मे सूरचद्र की उत्प्रेक्षाओं के सौन्दर्य का यथेष्ट परिचय मिला है । यहां कुछ अन्य अनूठे उदाहरण दिए जाते है ।

कोश्या के सौन्दर्य तथा सात्त्विक भावो के वर्णन मे कवि ने अपनी कल्पना का कोश लुटा दिया है । प्रियमिलन से उत्पन्न आनन्दाश्रु उसकी आखो मे ऐसे लग रहे थे मानो कमलिनी पर ओस की बूंदे हो (५.२४) । कामावेश से उसका छरहरा शरीर कांप उठा, मानो काम मन्त्रिपुत्र को बीधने के लिए भाले का संधान कर रहा

३३. इस कोटि के अन्य पद्य—६.११५-१२०,१२३

हो (५.२६)। युवक स्थलभद्र को वशीभूत करने के लिए कोश्या ने अपनी नाभि दिखाई, मानो उसे शराब का प्याला भेंट कर दिया हो। (५.२९)

स्थूलभद्रगुणमाला मे उत्प्रेक्षा के बाद उपमा सबसे अधिक प्रयुक्त तथा महत्त्वपूर्ण अलकार है। काव्य मे अनेक मार्मिक उपमाएं भरी पड़ी हैं। गणधर गौतम के अनुगमन से तुच्छ व्यक्ति ऐसे महान् बन जाता है जैसे सयुक्त अक्षर का पश्चाद्वर्ती लघु वर्ण भी गुरु बन जाता है (१.६)। नील परिधान के बीच कोश्या के दान्तों की कान्ति मेघमाला मे विद्युद्रेखा के समान चमक रही थी (५.२७)! रतिकेलि की थकान से उत्पन्न स्वेदकणो से व्याप्त कोश्या ऐसे लगती थी जैसे असमय मे खिले फूलों से आच्छादित जाती-लता।

> रतिकेलीश्रमोद्भूतस्वेदबिन्दुमती सती।
> अकाले पुष्पिता जातीवाभाद् भ्रमरभोगदा॥ १३.१२

इनके अतिरिक्त विभावना, श्लेष, यमक, सन्देह, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, काव्यलिंग, विरोधाभास, परिसख्या, सहोक्ति आदि उन अलंकारो मे से जिन्हे काव्य मे भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया है।

नन्दराज के घोडो का वर्णन अतिशयोक्ति के द्वारा किया गया है। उनसे भीत होकर सूर्य के घोड़े आकाश मे यो छिपे कि अब भी वे पृथ्वी पर आने का साहस नही करते।

> यस्य सप्तिभिस्तप्ताः सूर्याश्वास्तत्यजुर्भुवम्।
> तदात्तगंधतायोगादद्यापीयुर्न गां दिवः॥ १.५२

पद्मिनी, कोश्या के पूर्वराग का वर्णन करती हुई, स्थूलभद्र को अप्रस्तुत-प्रशंसा के द्वारा उसकी ओर आकृष्ट करने का प्रयास करती है। अप्रस्तुत पद्मिनी और चन्द्रमा से यहां क्रमशः प्रस्तुत कोश्या और स्थूलभद्र व्यंग्य हैं।

> निरर्थं पद्मिनीजन्म यया दृष्टो न चन्द्रमाः।
> व्यर्थजन्म तथाब्जस्याप्येषा फुल्ला व्यलोकि नो॥ ४.९४

छन्द

स्थूलभद्रगुणमाला आलोच्य युग का एकमात्र ऐसा महाकाव्य है, जिसमे, प्रारम्भ से अन्त तक एक, अनुष्टुप्, छन्द का ही प्रयोग हुआ है। सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन की रूढ़ि का भी इसमे पालन नही किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र तथा कविराज विश्वनाथ ने अपने लक्षणो मे कुछ ऐसे काव्यो का उल्लेख किया है, जिनकी रचना आद्यन्त एक ही छन्द मे हुई थी। स्थूलभद्रगुणमाला उन्ही की परम्परा में है।

स्थूलभद्रगुणमाला का महत्त्व उसके वर्णनों तक सीमित है, किन्तु ये इसके लिए घातक भी बने है। कवि की संतुलनहीनता ने उसकी कवित्वशक्ति का गला घोंट दिया है। सूरचंद्र की काव्यप्रतिभा प्रशंसनीय है परंतु उसने अधिकतर उसका अनावश्यक क्षय किया है।

दिग्विजयमहाकाव्य : मेघविजयगणि

देवानन्दमहाकाव्य[1] में मेघविजय ने विजयप्रभसूरि के चरित पर दृष्टिपात तो किया किन्तु इससे उन्हे सतोष नही हुआ। विजयप्रभ के प्रति कवि की श्रद्धा इतनी प्रगाढ तथा उच्छल है कि उनके सारस्वत वन्दन के लिये अल्पकाय काव्य का एक अश सर्वथा अपर्याप्त था। मेघविजय ने अपनी गुरु-भक्ति की अभिव्यक्ति दो स्वतन्त्र ग्रन्थों मे की है। मेघदूतसमस्यालेख विजयप्रभ के प्रति विज्ञप्ति पत्र है। तेरह सर्गो का प्रस्तुत दिग्विजयमहाकाव्य[2] कवि की विशालतम कृति है, जिसमे विजयप्रभसूरि के चरित, विशेपत: उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियो का विस्तार-पूर्वक निरूपण करने का उपक्रम है। उदात्त चरित, प्रभावक गुरु को काव्य का विपय वनाना अस्वाभाविक नही है। खेद यह है कि विद्वान् तथा प्रतिभाशाली होते हुए भी उपाध्याय मेघविजय, काव्य रूढियों की संकरी गली मे फंस कर तथा धर्मोत्साह के प्रवाह मे वह कर अपने निर्धारित लक्ष्य से च्युत हो गये हैं। १२७४ पद्यो के इस विशाल काव्य के परिशीलन से विजयप्रभसूरि के विपय मे हमारी जानकारी मे विशेप वृद्धि नही होती।

दिग्विजय-काव्य का महाकाव्यत्व

प्रस्तुत काव्य मे मेघविजय ने देवानन्द की स्वरूपगत त्रुटियो का परिमार्जन करने का प्रकट प्रयत्न किया है। उदात्त कथानक, महच्चरित तथा महदुद्देश्य—महाकाव्य के ये तीन आन्तरिक स्वरूपविधायक तत्त्व दिग्विजयमहाकाव्य की मुख्य विशेपताएं है। धीरोदात्त गुणो से सम्पन्न, इभ्यकुलप्रसूत विजयप्रभसूरि की साधना तथा धर्मप्रभावना की अदम्य स्पृहा काव्य मे महच्चरित की सृष्टि करती है। उनकी दिग्विजय मे अन्तर्निहित आध्यात्मिकता की उच्छलता के कारण काव्य का कथानक उदात्तता की भूमि पर प्रतिष्ठित है। सार्वदेशिक धर्मविजय के द्वारा आर्हत धर्म का एकच्छत्र राज्य स्थापित करना, काव्य रचना का प्रेरक उद्देश्य है[3]। मेघविजय के

१. देवानन्दमहाकाव्य दिग्विजयमहाकाव्य से पूर्ववर्ती रचना है। इसका विवेचन आगे यथास्थान किया जाएगा।

२. सम्पादक: अम्वालाल प्रेमचन्द शाह, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रंथांक १४, वम्बई, सम्वत् २००१

३. सार्वत्रिकं विजयते भरते प्रसिद्धमेकातपत्रमिहार्हतधर्मराज्यम्। दिग्विजयमहाकाव्य १३.७

अन्य काव्यों की भाति दिग्विजय महाकाव्य भी रस की दृष्टि से कच्चा है। काव्य में जिस रस की, तुलनात्मक कोण से, सर्वाधिक अभिव्यक्ति हुई है, वह शृंगार है, किन्तु शृंगार रस काव्य की नैतिक प्रकृति तथा उद्देश्य के प्रतिकूल है। काव्य मे शृगार को यह महत्त्व शास्त्रीय विधान के कारण दिया गया प्रतीत होता है। वीर, हास्य, अद्भुत आदि रस, गौण रूप में काव्य की रसात्मकता की सृष्टि मे योग देते है।

महाकाव्य के इन मूलभूत तत्त्वों के समान स्थूल लक्षणो का भी दिग्विजय में निष्ठा से पालन किया गया है। परम्परा के अनुसार इसका आरम्भ चौबीस पद्यों के लम्बे मंगलारण से हुआ है, जिनमे क्रमशः चौवीस तीर्थंकरों से कल्याण की कामना की गयी है। काव्य का शीर्षक, सर्गो का नामकरण, छन्दो का विधान भी शास्त्र के अनुकूल है। द्वीप, नगर, उपवन, वसन्त, पुष्पावचय, सूर्योदय, सूर्यास्त, पर्वत आदि के काव्योचित कल्पनापूर्ण तथा विस्तृत वर्णनों से, एक ओर, इस प्रशस्तिपरक काव्य मे विविधता का समावेश हुआ है, दूसरी ओर, चित्रकाव्य तथा यमक मे लक्षित पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से मिलकर ये दिग्विजयमहाकाव्य की शास्त्रीयता के परिचायक है। प्रौढ (कही-कही कष्टसाध्य) तथा गरिमापूर्ण भाषा भी काव्य की इसी शैली की ओर इगित करती है।

रचनाकाल

दिग्विजयमहाकाव्य मे इसके रचनाकाल का कोई संकेत नही है। इसमे प्रान्तप्रशस्ति का भी अभाव है। मेघविजय की अन्य कृतियो के सन्दर्भ से यह आश्चर्यजनक अवश्य है, किन्तु इस आधार पर, काव्य के सम्पादक की भाति यह कल्पना करना कि दिग्विजयमहाकाव्य मेघविजय की अन्तिम रचना है तथा उनके निधन के कारण इसमें प्रान्त-प्रशस्ति का समावेश नही हो सका,[४] युक्तिपूर्ण नही है। पट्टधरो के अनुक्रम की दृष्टि से दिग्विजयमहाकाव्य, जिसमे विजयदेवसूरि के पट्टधर विजयप्रभ का वृत्त वर्णित है, देवानन्द के बाद की रचना है। देवानन्दमहाकाव्य की रचना सम्वत् १७२७ की विजयदशमी को पूर्ण हुई थी[५]। दिग्विजयमहाकाव्य मे विजयप्रभसूरि के देहावसान का उल्लेख नही है। उनका स्वर्गारोहण सम्वत् १७४६ मे हुआ था। अतः सम्वत् १७२७ तथा १७४६ के मध्य, दिग्विजयकाव्य का रचनाकाल मानना उचित होगा। मेघविजय की अन्तिम ज्ञात कृति सप्तसन्धानमहाकाव्य है, जिसकी पूर्ति सम्वत् १७६० मे हुई थी[६]।

४. दिग्विजयमहाकाव्य, प्रस्तावना, पृष्ठ १

५. देवानन्दमहाकाव्य, प्रशस्ति, ८५

६. सप्तसन्धानमहाकाव्य, प्रशस्ति, ३

कथानक

दिग्विजय तेरह सर्गो का महाकाव्य है। प्रथम सर्ग में चौवीस पद्यों के लम्बे मंगलाचरण तथा सज्जन-प्रशंसा एवं खलनिन्दा आदि काव्य-रूढ़ियों के पश्चात् नामानुसार जम्बूद्वीप का विस्तृत वर्णन है, जो जैन मान्यताओ के परिवेश में वेष्टित है। सर्ग के अन्त मे सुमेरु का रोचक वर्णन है। द्वितीय सर्ग मे भारतवर्ष की स्वर्ग से श्रेष्ठता का वर्णन तथा आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के चरित—जन्म से निर्वाणप्राप्ति तक— का संक्षिप्त निरूपण है। तृतीय सर्ग मे, कथानायक के मुनिवंश के मूल-पुरुष भगवान् महावीर की चारित्रिक दिग्विजय के अन्तर्गत उनके जन्म से लेकर निर्वाण तक की समूची घटनाओं तथा उपलब्धियों को सशक्त भाषा मे निबद्ध किया गया है। चतुर्थ सर्ग मे तपागच्छ के पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परा के निरूपण के पश्चात् समाज के नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नयन के लिये विजयदेवसूरि की धार्मिक दिग्विजय का वर्णन है। देवानन्दमहाकाव्य मे वर्णित विजयदेवसूरि के चरित की यहां संक्षेप में आवृत्ति की गयी है। विजयदेव द्वारा वीरविजय (विजयप्रभ का दीक्षा-पूर्व नाम) को पट्टलक्ष्मी का पाणिग्रहण कराने से अहमदावाद का समूचा संघ आनन्दित हो जाता है[७]। उत्तराशाविजय—वर्णन नामक पंचम सर्ग मे काव्यनायक विजयप्रभसूरि मोह को पराजित करने के लिये, धर्मसेना के साथ, उत्तरदिशा की ओर प्रस्थान करते हैं। विमलगिरि पर आदिदेव की वन्दना करने के पश्चात् उन्होंने अहमदावाद मे अपना आध्यात्मिक शिविर डाला तथा ज्ञान, सदाचार आदि के अमोघ अस्त्रों से काम को ध्वस्त किया। उन्होने शंखेश्वर पार्श्वनाथ की अर्चना की और ग्रन्थकर्त्ता मेघविजय को वाचक पद प्रदान किया। पार्श्वप्रतिमा के अभिषेक के लिये वे पर्वतीय मार्ग से उदयपुर को प्रस्थान करते हैं। सूर्योदय के वर्णन से सर्ग समाप्त हो जाता है। छठे सर्ग में उदयपुर का शासक, विजयप्रभ का राजसी स्वागत करता है। वे अपने विहार से मिथ्या मतों का निरसन तथा जिनमत की प्रतिष्ठा करते हैं[८]। चित्रकाव्य तथा पादयमक से आच्छादित सप्तम सर्ग मे वे पश्चिम दिशा को विजित करने के लिये प्रस्थान करते है। सादड़ी, नारायणपुर, माल्यपुर तथा संग्रामपुर होते हुए उन्होने मरुभूमि में पदार्पण किया। उनके आगमन से मरुदेश भौतिक आपदाओ से मुक्त हो गया। आठवां सर्ग शिवपुरी (सिरोही) तथा शखेश्वर पार्श्वनाथ की प्रतिमा के विस्तृत वर्णन से परिपूर्ण है। नवें सर्ग के आरम्भ मे चन्द्रोदय के

७. मुदमुदवहदुच्चैः श्राद्धसंघः समग्रो,
रविमिव दिवसश्रीसंयुतं कोकलोकः। दिग्विजयमहाकाव्य, ४.७१

८. अपहृता प्रभुणा रुचिरैन्दवी प्रतिहतं च जनार्दनशासनम्।
नयविशेषयुजा भृशमुज्ज्वलं भुवि हितं विहितं मतमार्हतम्॥ वही, ६.५३

व्याज से वेदान्त, कापालिक आदि नाना मतो का निरूपण किया गया है। पूर्वदिशा को व्यसनो तथा अनाचारो से उबारने के लिये विजयप्रभ उस ओर प्रस्थान करते है। इस सर्ग मे प्रभात का वर्णन, बिम्ब वैविध्य के अभाव के कारण, पिष्टपेषण बनकर रह गया है। पूर्ववर्ती दो सर्गो की भाति नगरवर्णन के पश्चात् इसमें आगरा नगर, वहां के राजप्रासाद, प्राचीर, उपवन, वाटिका आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। ग्यारहवें सर्ग मे विजयप्रभ, आगरा से प्रयाग तथा पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी होते हुए पटना की ओर विहार करते है। इस प्रसंग में कवि ने यमुना, सूर्यास्त के बाद प्रेमी युगलो के मिलन, प्रयाग, त्रिवेणी, वाराणसी आदि के वर्णनो से अपने वर्णन-कौशल का परिचय दिया है। बारहवें सर्ग मे पार्श्वप्रभु की स्तुति तथा पटना का वर्णन है। पटना मे चातुर्मास के पश्चात् विजयप्रभ सम्मेततीर्थ की वन्दना के लिये प्रस्थान करते है। इस प्रसंग मे चिन्तामणि पार्श्वनाथ की स्तुति की गयी है। तेरहवे सर्ग मे चौबीस तीर्थंकरो, गणधरो तथा सम्मेतगिरि का वर्णन है। सम्मेतगिरि की यात्रा के पश्चात् विजयप्रभ भगवान् महावीर के जन्मस्थान कुण्डिननगर में उपवास तथा पटना मे चतुर्मास करते है। यही काव्य सहसा समाप्त हो जाता है।

कथानक के विनियोग की दृष्टि से दिग्विजयमहाकाव्य उस युग की प्रतिनिधि रचना है। इसमे कथानक का महत्त्व अधिक नही है। प्रथम चार सर्गो का मूल कथा-वृत्त से केवल इतना ही चेतन सम्बन्ध है कि वे इसकी भूमिका निर्मित करते है। मूल कथानक वाले भाग में वर्णनात्मक प्रसंगो की और अधिक भरमार है। ज्यो-ज्यों कवि काव्य के अन्त की ओर बढता गया त्यों-त्यों उसकी वर्णनात्मक प्रवृत्ति विकटतर होती गयी। आठवा सर्ग पार्श्वप्रतिमा के वर्णन पर खपा दिया गया है। अन्तिम चार सर्ग तो आद्यन्त नगर, प्रासाद, प्राचीर, वाटिका, नदी, सूर्यास्त, सूर्योदय, प्रभात सम्मेतगिरि के वर्णनों तथा स्तोत्रो की बाढ़ से आप्लावित हैं। वास्तविकता तो यह है कि अपनी वर्णनशक्ति के प्रदर्शन के फेर मे फंस कर काव्यकार अपने गुरु की आध्यात्मिक तथा चारित्रिक उपलब्धियों के निरूपण के मुख्य उद्देश्य से भी बहक गया है। परवर्ती सस्कृत महाकाव्यो मे वर्णन-प्रकार की वेदी पर वर्ण्य विषय की बलि देने की जो प्रवृत्ति पायी जाती है, दिग्विजयमहाकाव्य मे उसका निकृष्ट रूप दिखाई देता है।

प्रकृति वर्णन

मेघविजय ने अपने अन्य दो काव्यो की अपेक्षा दिग्विजयमहाकाव्य मे प्राकृतिक दृश्यों का व्यापक चित्रण किया है, और इस अनुपात मे, उसे कवि के प्रकृति-प्रेम का द्योतक माना जा सकता है। परन्तु पण्डित कवि की वैदग्धी को प्रकृति से सहज अनुराग नही है। काव्य मे प्रकृति का यह चित्रण शास्त्रीय विधान के पालन की व्यग्रता मे

प्रेरित है। मेघविजय की तूलिका ने इतिवृत्त के विभिन्न प्रसगों मे नदी, पर्वत, वसन्त, सूर्यास्त, प्रभात आदि के कुछ सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। ये काव्य को रोचकता भी प्रदान करते है किन्तु सब मिलाकर मेघविजय का प्रकृतिचित्रण शास्त्रीय (एकेडेमिक) अधिक है।

मेघविजय के अन्य दोनो महाकाव्यो की भाति दिग्विजयमहाकाव्य मे भी प्रकृति-चित्रण का आधार बहुधा वक्रोक्ति है। प्रकृति-चित्रण की रही-सही स्वाभाविकता यहा समाप्त हो गयी है। प्रकृति के विभिन्न दृश्यो को रूपायित करने मे कवि ने उक्ति-वैचित्र्य का आश्रय लिया है, किन्तु उसका कल्पनाकोश सीमित है। एक विषय का पुनः पुनः वर्णन करने से काव्य में पिष्टपेषण भी हुआ है और कवि को दूर की उडान भी भरनी पडी है। प्रभात तथा सूर्योदय के वर्णनो मे, जो काव्य में पाचवे, नवे तथा बारहवे सर्गो मे, तीन स्थलो पर, उपलब्ध है; प्रकृति-चित्रण की यह विशेषता मुखर है। इन तीनो वर्णनो मे, कवि ने तारो के अस्त होने के कारण की खोज मे अपनी कल्पना लुटाने मे ही प्रकृति-चित्रण की सार्थकता मानी है। एक विषय का बार-बार निरूपण करने से इन वर्णनो मे नवीनता का खेदजनक अभाव है। यहां कवि की अधिकतर कल्पनाए दूरारूढ हैं, वे भले ही क्षणिक चमत्कार उत्पन्न करे।

अरुणोदय से अन्धकार क्यो विलीन हो जाता है, इस सम्बन्ध मे कवि की यह कल्पना अपनी क्लिष्टता के कारण उल्लेखनीय है। प्रातःकाल इन्द्र का वाहन, ऐरावत, उदयाचल पर अपना सिन्दूर से लाल सिर रगडता है। उसके मदार्द्र गण्डस्थल पर बैठे भौरे घर्षण से बचने के लिये उड़ जाते है। ऐरावत के उत्पात के सम्भ्रम से डर कर अन्धकार अपनी समवर्णी भ्रमरावली के साथ ही कही छिप जाता है।

हरिकरिवरः सिन्दूराक्तं शिरः समघर्षयत्
कुलशिखरिणि प्राच्ये तस्मादिवारुणिमाश्रये।
मदजललसद्भृंगश्रेण्या समं क्वचिदुद्ययौ
तिमिरनिवहः सावर्ण्येनोद्भवद्भयसम्भ्रमात्॥ ५.६२

तारो के अस्त होने का कारण ढूढने के लिये मेघविजय ने और भी विचित्र कल्पनाएँ की है। नवें तथा बारहवे सर्ग मे दूरारूढ़ कल्पनाओ की भरमार है। नवें सर्ग मे बिम्बवैविध्य के अभाव के कारण पिष्टपेषण भी अधिक हुआ है। कवि की कल्पना है कि प्रातःकाल तेज हवा के कारण आकाश का वृक्ष डगमगाने लगता है जिससे उसके तारे रूपी जीर्ण पत्ते झड जाते है (९.६०)। पति के वियोग के कारण रात्रि के समय आकाशलक्ष्मी के हृदय मे, तारो के रूप मे, जो अनगिनत छिद्र दिखाई

देते है, सूर्य उन्हें अपनी लालिमा के वस्त्र से ढक देता है (६.७४)। अथवा चन्द्रमा को लील कर सूर्य की प्रचण्ड भूख शान्त नही होती, अतः वह राक्षस की तरह नक्षत्रों का भात भी चट कर जाता है (६.७६)। अथवा सूर्य, रात्रि की नक्षत्ररूपी मौक्तिक-माला को, प्रतिशोध की भावना से तोड देता है क्योंकि रात्रि के पति (चन्द्रमा) ने सूर्य की प्रियाओं (कमलिनियों) की शोभा को नष्ट किया था (६.७८)। बारहवें सर्ग में भी इसी प्रकार की अटपटी कल्पनाएँ की गयी है। 'रत्न का मेल रत्न से होना चाहिये' मानो इस न्याय को चरितार्थ करने के लिए दिन के रत्न सूर्य ने तारा-मणियों को प्रेमपूर्वक अपने मे समेट लिया है (१२.६५)। अथवा विलासी दिग्युवतियो ने, सूर्य को देखकर, लज्जावश अपनी तारो की आँखें वन्द कर ली हैं (१२.६८) अथवा नवोदित सूर्य ने चाँदनी के साथ ताराओं का नाश्ता कर लिया है (१२.१००)।

दसवें सर्ग के सूर्यास्त-वर्णन का आधार भी प्रौढोक्ति है। संध्याकालीन गहरी लालिमा तथा तत्पश्चात् अंधकार फैलने के बारे में कवि ने नाना कल्पनाएँ की है, जो रोचक होने पर भी दूरारूढ प्रतीत होती है। कवि की कल्पना है कि वरुणलोक की स्वच्छन्द कामिनियो ने मिलकर सूर्य का मुख चूम लिया है जिससे वह उनके अधर-राग से लाल हो गया है। अथवा सूर्य भगवे वस्त्र पहनकर योगी बन गया है और उसके कुटुम्बी जन, तारो के रूप मे, गगन मे फैल गये है।[९] सूर्य के अस्त होने के बाद अन्धकार क्यो फैलता है, इसकी एक-दो कल्पनाएँ द्रष्टव्य है। सूर्य रूपी ऐरावत स्नान करने के लिये पश्चिम सागर में घुसा था। जल के वेग के कारण भौंरे, उसके गण्डस्थलो से उडकर, अन्धकार के रूप मे, आकाश मे फैल गये है। अथवा पति के परदेस जाने पर, पद्मिनियो ने, विरहदुःख से, ज्योही अपनी वेणियां खोली, उनकी कालिमा सर्वत्र व्याप्त हो गयी है (१०.१४-१५)।

फिर भी उपर्युक्त प्राकृतिक तत्त्वो के निरूपण मे, कही-कही कविकल्पना की कमनीय छटा दिखाई देती है। तारे कैसे उदित होते है और क्यो अस्त होते है, इस सम्वन्ध में कवि ने एक मनोहर कल्पना की है। चन्द्रमा रातभर आकाशगगा मे स्नान करता है। उसके स्नान के कारण आकाशगंगा से उठते जलकण, तारे बनकर आकाश मे फैल जाते है। परन्तु प्रातःकाल जब वह सर्दी से ठिठुरता हुआ वारुणी (पश्चिम दिशा—मदिरा) का सेवन करने लगता है, तारे, स्वयं को असहाय पाकर, धीरे-धीरे

९. वैरिणीभिरवदातविधीनां स्वैरिणीभिरिव वारुणलोके।
चुम्बनेऽस्य विहितेऽधररागाच्छोणतामवृणुतारुणविम्वम्॥ १०.११
भानुरस्तगिरिगैरिकयोगाद् योगवानिव कषायितवासाः।
दूरतो निजपरिग्रहमौज्झद् रूप्यका ग्रहगणास्त इमे खे॥ १०.१३

छिप जाते है ।

गगनसरिति स्नानं चक्रे द्विजाधिपतिश्चिरं
भगणमिषतः प्रादुर्भूतास्तदम्बुनि बुद्बुदाः ।
निविडजडिमच्छित्त्यै वेगाद् विभेजुषि वारुणी-
मुषसि विरते तस्मिन्नेते क्रमाच्छममाययुः ।। ५.६५

छठे सर्ग मे वसन्त का वर्णन स्पष्टतः माघ से प्रभावित है, जिसने षड्ऋतु-चित्रण मे, यमक के प्रयोग मे, अपना कौशल प्रदर्शित किया है । यमक ने मेघविजय के वर्णन का सारा सौन्दर्य नष्ट कर दिया है। इसमे अधिकतर वसन्त के उद्दीपक पक्ष का चित्रण किया गया है । वसन्त में कोयलो की हृदयवेधी कूक तथा पुष्प-सम्पदा से अभिभूत होकर मानवती, मान छोडकर, प्रियतम का मनुहार करने लगी है ।

विरहिणां सहकारमहीरुहा किसपहृत्य कुलान् मुकुलादिभिः ।
प्रियतमांकजुषां सुदृशां पिकध्वनिभृता निभृता रतिरादधे ।। ६.२६
तरुवनान्निपतत्कुसुमैः समं स्मरशरैरिव मूर्त्तिधरैः क्षता ।
सविनयं प्रियमन्वनयत् स्वयमनवमा नवमानवती वधूः ।। ६.२८

मेघविजय ने कुछ स्थलो पर प्रकृति को मानवी रूप भी दिया है । वसन्त-वर्णन मे सूर्य को कामुक के रूप मे चित्रित किया गया है । वह अपनी प्राणप्रिया उत्तरदिशा के वियोग मे क्षीण हो गया है और पुश्चली दक्षिणादिशा ने भी उसे लूट कर ठुकरा दिया है । वेचारा हताश होकर पुनः पूर्व नायिका के पास जा रहा है । वसन्त मे सूर्य के उत्तरायण मे संक्रमण का यह वर्णन मानवीकरण के फलस्वरूप सजीव तथा रोचक वन गया है ।

वहुदिनान्युदगम्बुजलोचनाविरहतः कृशकान्तिरहर्मणिः ।
हृतवसुर्ननु दक्षिणया तदुत्सुकमनाः कमनादिव निर्ययौ ।। ६.२२

प्रभात के समय ताराओ का यह आचरण पतिव्रताओ के समान है । पति (चन्द्रमा) के परलोक चले जाने पर वे साध्विया, उसके वियोग का दुःख न सह सकने के कारण, प्रात कालीन सूर्य की लालिमा मे जल कर सती हो गयी है । ताराओ पर पतिव्रताओ के आदर्श का आरोप करने से प्रभात का सामान्य दृश्य कितना प्रभावशाली वन गया है !

पत्युस्तदास्तनगमने हिमांशोस्तारास्त्रियस्तद्विरहेण दूनाः ।
प्रभातसन्ध्यारुणिमानलान्तः सत्यो हि सत्यं विविशुर्विशुद्धाः ।। ६.७६

इस प्रकार दिग्विजय के व्यापक प्रकृतिचित्रण में यद्यपि कुछ चित्र सुन्दर है किन्तु वह वहुधा मार्मिकता से शून्य है। प्रकृति-वर्णन मे मेघविजय का उद्देश्य शास्त्रीय लक्षणो की खानापूर्ति करना है ।

रसचित्रण

रसात्मकता की दृष्टि से दिग्विजयमहाकाव्य की विचित्र स्थिति है। इसमें काव्यनायक की जिन आध्यात्मिक उपलब्धियों तथा उनके माध्यम से आर्हत धर्म की उत्कृष्टता का जो प्रतिपादन किया गया है, उसके अनुरूप इसमें शान्त रस की प्रधानता नहीं है। इसका कारण यह है कि काव्य मे वर्णित चारित्रिक दिग्विजय के अभियान पक्ष को कवि ने अधिक महत्त्व दिया है जिसके फलस्वरूप उसका धार्मिक स्वर मन्द पड़ गया है। वर्तमान रूप में, काव्य मे, शृंगार का सबसे अधिक, दो स्थानों पर पल्लवन हुआ है। इस दृष्टि से शृंगार को काव्य का मुख्य रस माना जा सकता है, परन्तु यह काव्य की प्रकृति के प्रतिकूल है। वैसे भी 'मनसिजरस' की अवमानना में ही साधुत्व की चरितार्थता[10] है। वास्तविकता यह है कि रसचित्रण में कवि को विशेष सफलता नही मिली है। मेघविजय के अन्य दो महाकाव्य भी, जैसा उनके विवेचन से स्पष्ट है, रसचित्रण की दृष्टि से कच्चे है। सहृदय को रसचर्वणा कराना कवि का उद्देश्य भी नही है।

ग्यारहवे सर्ग मे, संप्रयोग-वर्णन के अन्तर्गत, सम्भोग शृगार की सघन अभिव्यक्ति हुई है। चन्द्रमा को दिग्वधूओ के साथ कामकेलियाँ करता देखकर प्रेमीजन भी शृगार की माधुरी मे खो जाते है। चिर बिछोह के पश्चात् मिले युगल की ये चेष्टाएँ सम्भोग की कमनीय झांकी प्रस्तुत करती है। मदमाते युवक ने हास-विलास से प्रियतमा की विरह-वेदना को दूर कर दिया है। वह मानो उसके हृदय मे प्रविष्ट होने के लिये उसके कण्ठ से चिपक गयी है। प्रिय उसे देर तक भोगता रहा। उसके मालादि भूषण सब टूट गये पर प्रणयसुख मे लीन उसे इसका भान भी नही हुआ।

> चिरविरहजं दुःखं प्रत्यादिदेश निदेशकृद्
> विविधवचनन्यासैर्हासैर्विलासकरः प्रियः।
> सपदि हृदये तन्वावेष्टुं वधूरवधूतभीस्तत
> इव लघुर्लग्ना कण्ठे चिरं बुभुजेऽमुना॥
> कुसुमशयनादुच्चैर्नीत्वा धृता भुजयोर्युगे
> मुदमुदवहद् भार्या विश्वाप्रियैरवलालिता।
> प्रणयविवशा भूपामाल्यादिके विगलत्यपि
> न हि गणयति त्यागी रागी कदापि वसुव्ययम्॥ ११.३१-३२

यहां नायक की नायिका-विषयक रति स्थायी भाव है। वधू आलम्बन विभाव है। रात्रि का शान्त-स्निग्ध वातावरण तथा प्रेमी युग्म के हास-विलास उद्दीपन विभाव है। गाढालिंगन के द्वारा नायिका की नायक के हृदय मे प्रविष्ट होने की चेष्टा,

१०. मनसिजरसं सर्वं मत्वाऽवमत्य दृढव्रताः। वही, ११.७

नायक का उसे शय्या से उठाकर बाहुपाश मे बांधना तथा उसके आभूषणों, हारों आदि का टूटना अनुभाव है। औत्सुक्य, मति, स्मृति, हर्ष आदि संचारी भाव हैं। ये विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव मिलकर स्थायी भाव रति को शृंगार रस का रूप देते है।

दिग्विजयमहाकाव्य मे शृंगार के अतिरिक्त अद्भुत, वीर तथा हास्यरस की भी यथोचित अवतारणा हुई है। महावीर प्रभु को केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर दिशाएँ देवध्वनि से गुञ्जायमान हो गयी, देवता पृथ्वी पर उतर आये, दुन्दुभिनाद सुनकर काम की शक्ति नष्ट हो गयी तथा मेघकुमारों ने सुगंधित जल की वर्षा की। इन घटनाओ में अद्भुत रस की निष्पत्ति हुई है।

देवध्वनिर्ध्वनितदिग्वलयः ससार व्योम्नस्तदा सुमनसो द्विविधाऽवतेरुः।
निर्दम्भदुन्दुभिरभिन्नरवो जगर्ज सन्तर्जयन्निव विमोहमहोर्ज्जितानि ॥ ३.११
पुष्पाणि तत्र ववृषुर्वहुसौरभाणि संसिच्य गन्धसलिलैः परितो धरित्रीम्।
आजानुभागमपि मेघकुमारदेवाः सेवाविधेरसमयं समयं प्रतीक्ष्य ॥ ३.१६

काव्य मे दिग्विजय का वर्णन बहुधा श्लेषविधि से किया गया है। किन्तु युद्धपक्ष मे अर्थ सम्भव होने पर भी उसमें सदैव वीररस की अभिव्यक्ति नहीं हुई है। श्लेष से पाठक को चमत्कृत करना ही कवि का लक्ष्य प्रतीत होता है। महावीर प्रभु की दिग्विजय के वर्णन के अन्तर्गत प्रस्तुत पंक्तियों मे वीररस की छटा अवश्य दिखाई देती है।

दक्षाः पराक्रमधियावरणस्य भंगे शूरा विचेरुरभितो विषये क्षमायाः।
मुक्तैषिणः सरसमूहमिहादिशन्तः सन्त स्थिता धृतरुचः खलु मण्डलाग्रे ॥ ३.४७

दिग्विजयकाव्य मे एक स्थान पर हास्य की मधुर झलक दिखाई देती है। एक नायिका मणियों के फर्श मे अपने प्रियतम के सैकडो प्रतिविम्व देखकर भौचक्की रह गयी। वह निर्णय नही कर सकी कि पति कौन है? उसकी इस भ्रान्ति को देखकर सखिया खिलखिला कर हंस पड़ती है।

मणिकुट्टिमरंगसंगमे शतधा स्वस्य धवस्य विम्बितैः।
भयविस्मयसाहसान्विता वनिता स्वालिजनेन हस्यते ॥ ८.२५

ये रसात्मक प्रसंग काव्य के धार्मिक इतिवृत्त को रस से सिक्त करते हैं। किंतु रस-चित्रण मे कवि को अधिक सफलता नही मिली है। काव्य की प्रकृति के अनुरूप इसमे शान्त रस को मुख्य स्थान न देना कवि की बहुत बड़ी चूक है। वस्तुतः वह वर्णनो के गोरखधन्धे मे इतना उलझा हुआ है कि मानवहृदय की विविध तरंगो के उत्थान-पतन तथा घात-प्रतिघात का रसात्मक विश्लेषण करने का उसे अवकाश नही है।

भाषा

दिग्विजयमहाकाव्य का जो तत्त्व अकेला ही इसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित करता है, वह इसकी उदात्त एवं गम्भीर भाषा है। जैनाचार्य के साधुजीवन का प्रौढ़ किन्तु प्रांजल भाषा मे निबन्धन करना स्वयं एक उपलब्धि है। इस कोटि की कथा-वस्तु की, भाषात्मक दृष्टि से, क्या दयनीय परिणित हो सकती है, यह श्रीवल्लभ के विजयदेवमाहात्म्य से स्पष्ट है।

मेघविजय का भाषा पर स्पर्धनीय अधिकार है। भाषाधिकार के बिना वह शाब्दी जादूगरी सम्भव नही, जो समस्यापूर्तिरूप देवानन्दमहाकाव्य अथवा 'प्रत्येकाक्षरश्लेषमय' सप्तसन्धान मे की गयी है। दिग्विजयमहाकाव्य मे, भाषा के नाम पर वह बौद्धिक उत्पीडन तो नही है, किन्तु यहां भी भाषा कवि की वशवर्ती है तथा वह उसका स्वच्छन्द प्रयोग कर सकता है, इसमे तनिक सन्देह नही है। पूरे दो सर्गों मे यमक का विकट प्रयोग, अन्त्य तथा मध्यपदीय अनुप्रास की योजना, श्लेष तथा चित्र-काव्य, कवि के भाषाधिकार के ज्वलन्त प्रमाण हैं। श्लिष्ट वर्णनों तथा यमक एवं चित्रकाव्य वाले स्थलों मे क्लिष्टता का समावेश स्वाभाविक था। दिग्विजयकाव्य मे श्लेष का स्वतन्त्र अथवा अन्य अलंकारों के अवयव के रूप मे पर्याप्त प्रयोग किया गया है। किन्तु श्लेष की करालता नवें सर्ग के आरम्भ मे दिखाई देती है, जहां चन्द्रोदय तथा विभिन्न दार्शनिक मतो का श्लिष्ट वर्णन किया गया है। श्लेष की क्लिष्टता ने दोनो को लील लिया है।[११] यमक तथा चित्रकाव्य से आच्छादित सप्तम सर्ग मे भी भाषा की यही परिणति हुई है[१२]। परन्तु यह दिग्विजयकाव्य की भाषा का एक पक्ष है। उक्त प्रसगों को छोड़ कर काव्य मे बहुधा अल्पसमासयुक्त, परिष्कृत किन्तु प्रांजल पदावली प्रयुक्त हुई है। दिग्विजयमहाकाव्य की भाषा अधिकतर प्रसाद गुण से परिपूर्ण है, यह एक मधुर आश्चर्य है। विजयप्रभ की उत्तरदिशा की विजय वाला पंचम सर्ग प्रसादगुण का उत्तम उदाहरण है। सिरोही के निवासियों के प्रस्तुत वर्णन मे भाषा की यह विशेषता प्रकट है।

> वसति धनदः सर्वः पौरः परं न कुबेरः
> परमरतिमान् वारुण्यां न प्रचेतसि चाग्रिमः।
> न चपलकलां क्वाप्यादत्ते स पुण्यजनोऽप्यहो
> प्रमुदितमनाः सद्य सौरोदये न जड़ात्मभूः॥ ५.४२

११. प्रभासु जाड्येऽपि महातपोऽभूद् वियोगभाजः प्रकृतेर्विकारात्।
विधौ विधौतत्विपि कापिलीया प्रवृत्तिरासीत् कुमुदां विबोधे॥ वही ९.१६

१२. महो दयाया जगतीश्वरश्रियो मा या विमोहं स्म यतोऽर्हतां मते।
महोदयायाऽऽजगतीश्वरश्रियो यथास्थितं भावनयाऽस्य सन्मते!॥ वही ७.४४

प्रथम सर्ग के अन्त में, सुमेरु का वर्णन भी इसी भाषात्मक विशदता से ओत-प्रोत है। एक-दो उदाहरणों से इस प्रसंग की प्रांजलता का परिचय मिल जायेगा।

क्वचिच्च स्फटिकसानुभिर्धवलभावमुद्भावयन्
क्वचिच्च बहुधातुभिर्बहलशोणिमानं वमन्।
क्वचिन्मणिमरीचिभिर्धनुरथैन्द्रमुल्लासयन्
करोति सुरयोषितां मनसि मान्मथोद्दीपनम्॥ १.६८

दिग्विजयमहाकाव्य मे वर्णनो का प्राधान्य है। वस्तुतः इसकी रचना में कवि का एक उद्देश्य अपनी वर्णनशक्ति का प्रदर्शन करना है। उसके सभी वर्णन एक जैसे रोचक अथवा मार्मिक हों, ऐसी बात नही। अष्टम सर्ग में पार्श्व-प्रतिमा का सांगोपांग वर्णन निश्चित रूप से नीरस है। प्रतिमा के चरण, नयन, ललाट, कण्ठ, वक्ष आदि का वर्णन पाठक को उबा देता है। विम्बवैविध्य के अभाव के कारण उसके प्रकृतिचित्रण मे भी अधिक सरसता नही है। सूरिराज विजयप्रभ के स्वागत के लिए उदयपुर के शासक की सेना के प्रयाण का यह वर्णन अपेक्षाकृत अधिक रोचक है, यद्यपि यमक ने इसकी रोचकता को अंशतः दबा लिया है। काव्य मे यह वर्णन सैन्य-प्रयाण की रूढ़ि का निर्वाह करने के लिये किया गया है, अन्यथा पवित्रतावादी तपस्वी के प्रवेशोत्सव मे सेना जुटाने की क्या आवश्यकता ?

अथ चचाल विशालबले पुरो मदमलीनकटा करिणा घटा।
घनघटेव भुवं परिसिंचती तरुणतारुणतान्वितबिन्दुभिः॥ ६.१

रजतकिंकिणीकारणपूरितैर्भ्रमदभ्रतरभ्रमरस्वरैः।
द्रुतविलम्बितमेव जगाम सा घनमदा न मदायतपृष्ठिका॥ ६.८

तदनु कांचनरत्नमयैर्युताः प्रवरपल्ययनैस्तुरगोत्तमाः।
अनुचरैश्चतुरैरुपरक्षिता अगणना गणनायकमभ्ययु॥ ६.८

(अ) पाण्डित्य-प्रदर्शन

अपने अन्य दो महाकाव्यों की भांति मेघविजय ने प्रस्तुत काव्य मे, समस्यापूर्ति अथवा नानार्थक काव्य के द्वारा पाठक को बौद्धिक व्यायाम तो नही कराया है, किन्तु उसका पण्डित अपने रचना-कौशल का प्रदर्शन करने के लिये सदैव आतुर है। विद्वता-प्रदर्शन की यह आतुरता, दिग्विजयमहाकाव्य मे, माघ तथा माघोत्तर काव्यों के चिर-परिचित माध्यम, यमक तथा चित्रशैली का लिबास पहन कर प्रकट हुई है। काव्य के पूरे दो सर्गों में, यमक के रूप मे, भाषायी जादूगरी की गयी है। वैसे यमक की विद्रूपता सातवें सर्ग मे अधिक विकराल है, जहां कवि ने पाठक को आद्यन्त पाद

यमक की भूलभूलैया में डाले रखा है।[13] इसी सर्ग के उत्तरार्द्ध मे, मेघविजय चित्र-शैली के प्रलोभन में फंस गये हैं। यहां कुछ ऐसे पद्यों की रचना की गयी है, जिनमे कही क्रिया गुप्त है, कही वर्गविशेष के वर्णो का सर्वथा अभाव है तथा कुछ पद्यों का उनमें प्रयुक्त अक्षर, मात्रा, अनुस्वार आदि का लोप करके भी संगत अर्थ करना संभव है। स्वभावतः वह पूर्वार्थ से भिन्न होगा। इन कलाबाजियों ने यमक की दुस्साध्यता को और जटिल बना दिया है।

प्रस्तुत पद्य मे 'ससार' 'अधित' तथा 'आप' ये तीन क्रियाएं अन्तर्निहित है, किन्तु उनका बोध प्रयत्नपूर्वक ही सम्भव है।

समाधिता पापरुचिर्विवर्द्धनं ससार पुण्याभ्युदयो महस्विनाम्।
समाधितापापरुचिर्विवर्द्धनं वीरे गुरौ श्रीजिनवीरतीर्थपे॥ ७.४७

निम्नोक्त श्लोक का 'दध्रे' क्रिया के रकार तथा 'विश्वाम्' विशेषण के वकार के बिना अर्थात् 'दधे' तथा 'विशाम्' के आधार पर भी अर्थ किया जा सकता है।

विश्वांगणे चेतनतां निभालयन् दध्रे पदं योऽनवधीरणायुतः।
विश्वां गणे चेतनतां निभालय स्थितिं स सन्त्याजयति स्म मण्डले॥ ७.६६

कुछ पद्यों का अर्थ वर्णविशेष की च्युति से संगत बनता है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत अनुष्टुप् के तृतीय चरण में प्रयुक्त 'वन्दने' के बिन्दु का लोप करके 'वदने' पढने से ही अर्थ सम्भव है।

वन्दने रुचिराभाति शितांशुकलयान्विता।
वन्दने रुचिराभाऽतिशयाद् गीर्विदुषां गुरोः॥ ७.५६

यह शाब्दी क्रीडा पण्डितवर्ग के बौद्धिक विलास के लिए कितनी भी उपयोगी हो और इससे भले ही कवि का भाषाधिकार द्योतित हो, किन्तु यह काव्य के आस्वादन मे दुर्लंघ्य बाधा है, इसमे दो मत नही हो सकते। इस प्रकार दिग्विजय-महाकाव्य की भाषा क्लिष्टता तथा प्राजलता के दो छोरो मे बंधी है। उसमे विद्वता तथा अभ्यासजन्य परिष्कार है। देवानन्द तथा सप्तसन्धान की भाषा के वज्र से जूझने के पश्चात् दिग्विजयकाव्य की भाषा को पढ़कर मस्तिष्क को कुछ विश्राम मिलता है।

१३. इन क्लिष्ट पद्यों से मेघविजय के यमक की विकटता का अनुमान किया जा सकता है।

न गौतमीयं मतमक्षपादजं धिया प्रमाण्यक्रियतामुना मनाक्।
न गौतमीयं मतमक्षपादजं प्रमोचितं केवलिनः प्रमोचितम्॥ ७.३२
विमुक्तरा गा नवधा सुरक्षणा जगौ गुरुर्ब्रह्मधरः क्षमापरः।
विमुक्तरागा नवधासुरक्षणा गणे प्रवृत्तिर्व्रतिनां ततोऽभवत्॥ ७.३४

अलंकारविधान

देवानन्द तथा सप्तसन्धान के समान दिग्विजयमहाकाव्य भी मेघविजय की अलंकारवादिता का प्रतीक है। जिस उद्देश्य से वह काव्य-रचना में प्रवृत्त हुआ था, उससे भटक कर वह काव्य की वाह्य साज-सज्जा मे फंस गया है। इस साज-सज्जा के प्रमुख उपकरण अलंकारों के कुशल विधान में उसकी सिद्धहस्तता निर्विवाद है। मेघविजय के अन्य काव्यो की भांति दिग्विजयकाव्य मे भी शब्दालंकारो की भरमार है। उन्ही की तरह यहा अलकार कवि के साध्य हैं।

यमक की विकटता का कुछ सकेत पहले किया जा चुका है। दिग्विजयमहाकाव्य के छठे तथा सातवें, पूरे दो सर्गों मे कवि ने यमक-योजना मे अपने कौशल का तत्परता से प्रदर्शन किया है। सातवा सर्ग तो पादयमक से भरपूर है, जिसके अन्तर्गत अभग तथा सभग, दोनो प्रकार का यमक प्रयुक्त हुआ है। अभंग पादयमक का एक बहुत कठिन उदाहरण यहा दिया जाता है।

पुरोगमैषी प्रयतः सधारणः साधोरणः कल्पितमत्तवारणः।
पुरोगमैषी प्रयतः सधारणः प्रपीयतामित्युदिते न कोऽप्यभूत्॥ ७ ४८

भाषा को सशक्त तथा प्रौढ वनाने के लिए काव्य मे यमक की भांति श्लेप का भी आश्रय लिया गया है। जैसा पहले कहा गया है, काव्य मे श्लेप का प्रचुर प्रयोग है। गणघरो के विजय-अभियान अधिकतर श्लेषविधि से वर्णित हैं। उनमे सर्वत्र दो स्वतंत्र अर्थ व्यक्त नही होते। कुछ पद द्वयर्थक है, अन्य एकार्थक। महावीर स्वामी की दिग्विजय के प्रस्तुत पद्य मे उनकी धार्मिक तथा सामरिक विजयो का भाव सन्निविष्ट है।

संवर्धयन् समितितत्परसाधुलोके भावाद् गुणाधिकतया परमार्थवृत्तिम्।
न्यस्यन्नपूर्वकरणे स नियोगिराजान् श्रीइन्द्रभूतिकलितश्चलितो बभासे॥ ३:३१

श्लेष और यमक के इस आडम्बरपूर्ण वातावरण मे अनुप्रास की सुरुचिपूर्ण योजना काव्य में श्रुतिमाधुर्य का सचार करती है। पार्श्व-प्रतिमा के इस वर्णन मे अनुप्रास ने ध्वनि-सौन्दर्य को जन्म दिया है।

ध्येयं परं तत्सुदृशां विधेयं देवाभिधेयं कमलाद्युपेयम्।
प्रसाधयन्ती सुरसार्थगेयं पटूकरोत्येव यशोऽधिपेयम्॥ ८.१४८

कवि-कल्पना की भव्यता ने उत्प्रेक्षा का रूप भी लिया है। वाराणसी की गगनचुम्बी अट्टालिकाए इसलिये आकाश की ओर बढ रही है, मानो वे यह देखना चाहती हो कि देवताओ के प्रभु-दर्शन के लिये पृथ्वी पर आ जाने के बाद स्वर्ग में कितने विमान शेष रह गये है!

देवागमादनु ननु द्युपुरे कियन्तः शेषा विशेषरुचयो मरुतां विमानाः।
आलोकितुं किमिति यत्र नृणां निवासा उच्चै र्यियासव इति प्रविभान्ति शृंगैः॥ ११.८६

निम्नलिखित पंक्तियो मे 'यदि' के अर्थ बल से सूर्य, चन्द्रमा तथा कमल मे क्रमश. सौम्यता, निष्कलंकता तथा दीप्ति के कल्पित सम्बन्ध की सम्भावना की गयी है, अतः यहां अतिशयोक्ति अलंकार है ।

यदि सौम्यरुचिर्दिवाकरेऽप्यथवा राजनि निष्कलंकता ।

जलजन्मनि भासुरद्युती रमतां तत्र शुभाननोपमा ।। ८.१०३

प्रस्तुत पद्य मे अर्थसिद्ध व्यावृत्ति है । अर्थ के श्लेष पर आधारित होने से यहां श्लेषमूलक आर्थ परिसंख्या है ।

तन्त्रेऽस्य को दण्डगुणाधिरोपलक्षेषु दक्षो न रसे नयार्च्यः ।

सर्वो जनः क्षेत्रविभागवेदी नेदीयसीं सिद्धिमिवान्वमंस्त ।। ६.५२

आगरा के राजप्रासाद के प्रस्तुत वर्णन मे, दर्शक राजमहल को देखकर रोहणाचल को भूल गये, इस विशेष कथन की उत्तरार्द्ध की एक सामान्य उक्ति से पुष्टि करने के कारण अर्थान्तरन्यास है । प्रस्तुत राजमहल की अप्रस्तुत रोहणाचल से श्रेष्ठता निरूपित करने में व्यतिरेक है ।

रत्नराशिरचितैर्नृपसौधैः प्रेक्षको हृतमना इव सर्वः ।

रोहणाचलरुचिं विमुमोच शोचन्ते न लघुमप्यधिकाप्तौ ।। १०.६५

काव्य मे प्रयुक्त अन्य अलंकारो मे रूपक, विरोधाभास, यथासंख्य, सहोक्ति, उपमा, हेतु तथा काव्यलिंग उल्लेखनीय है ।

छन्द योजना

दिग्विजयमहाकाव्य मे छन्दों का प्रयोग शास्त्रीय विधान के अनुसार किया गया है । ग्यारहवें सर्ग में नाना वृत्तों का प्रयोग भी शास्त्र-सम्मत है । इस सर्ग मे प्रयुक्त छन्दो के नाम इस प्रकार हैं—अनुष्टुप्, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वशस्थ, स्वागता, वसन्ततिलका, मालिनी, हरिणी, शार्दूलविक्रीडित तथा स्रग्धरा । अन्य सर्गो मे इन्द्रवज्रा, पृथ्वी, द्रुतविलम्बित, इन्द्रवश तथा वियोगिनी ये पाच नये छन्द हैं । कुल मिला कर दिग्विजयमहाकाव्य की रचना पन्द्रह छन्दो मे हुई है ।

दिग्विजयमहाकाव्य की रचना के मूल मे गुरुभक्ति की उदात्त प्रेरणा निहित है । किन्तु परम्परागत काव्यशैली ने कवि के प्रयोजन को धूमिल कर दिया है । दिग्विजय की छुई-मुई मुरझा गयी है और सारा काव्य वर्णनो की बाढ मे डूब गया है । सन्तोष है कि कवि के अन्य दो काव्यों की भांति इसकी परिणति दुरूहता मे नही हुई है ।

तृतीय अध्याय

शास्त्र-महाकाव्य

देवानन्दमहाकाव्य : मेघविजयगणि

भारवि की शाब्दी क्रीडा ने साहित्य मे एक ऐसा कीर्त्तिमान स्थापित किया कि परवर्ती कवि अहमहमिकया इस भापायी जादूगरी की ओर आकृष्ट होने लगे। नानार्थक काव्य तथा शास्त्रकाव्य मे यह प्रवृत्ति चरम सीमा को पहुंच गयी है। समस्या पूर्ति चित्रकाव्य का ही रूपान्तर है। पण्डित-कवि मेघविजयगणि ने समस्या पूर्ति तथा नानार्थक-काव्य की रचना के द्वारा इस काव्यधारा के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। माघकाव्य का समस्यापूर्ति-रूप उनका देवानन्दमहाकाव्य[1] सात सर्गो की अत्यधिक प्रौढ़ एवं अलंकृत कृति है। इसमे जैनधर्म के प्रसिद्ध प्रभावक, तपागच्छीय आचार्य विजयदेवसूरि तथा उनके पट्टधर विजयप्रभसूरि के साधुजीवन के कतिपय प्रसग निवद्ध करने का उपक्रम किया गया है। कवि का वास्तविक उद्देश्य चित्रकाव्य के द्वारा पाठक को चमत्कृत करते हुए अपने पाण्डित्य तथा कवित्व-शक्ति की प्रतिष्ठा करना है। इसलिए देवानन्द मे चरितात्मकता का कंकाल चित्रकाव्य की वाढ़ में डूव गया है और यह मुख्यत: एक अलकृति-प्रधान चमत्कारजनक काव्य बन गया है। प्रस्तुत अध्याय मे इसका विवेचन करने का यही औचित्य है।

देवानन्द का महाकाव्यत्व

आपातत: शास्त्रीय दृष्टि से देवानन्द को महाकाव्य मानने मे आपत्ति हो सकती है क्योकि इसमे वे समूचे तत्त्व विद्यमान नही है, जिन्हे प्राचीन आलंकारिकों ने महाकाव्य के लिए आवश्यक माना है। वस्तुत: कवि की दृष्टि मे चित्रकाव्य के समक्ष अन्य सभी काव्यधर्म तुच्छ है। इसकी रचना सर्गवद्ध काव्य के रूप मे अवश्य हुई है, किन्तु इसमें आठ से कम-सात-सर्ग हैं। पर जैसा अन्यत्र कहा गया है, कतिपय बाह्य तत्त्वो के अभाव अथवा अपूर्णता से महाकाव्य का स्वरूप विकृत नही होता। देवानन्द मे शृंगार रस की कुछ रेखाएं प्रस्फुटित है, यद्यपि काव्य मे शृंगार का न तो अंगीरस के रूप मे परिपाक हुआ है और न यह कथानक की प्रकृति के अनुरूप है। पात्रो का चरित्र चित्रित करने मे कवि को सफलता नही मिली है। परन्तु प्रत्येक महाकाव्य मे समूचे शास्त्रीय लक्षणो के निर्वाह की अपेक्षा करना उचित नही। देवानन्द की गुरु-गम्भीर शैली, कवि की विद्वता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति, चित्रकाव्य का

१. सम्पादक: बेचरदास जीवराज दोशी, सिंघी जैन-ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ७, सन् १९३७

चमत्कार, नाना प्रौढ अलंकारों का सन्निवेश, छन्दकौशल का प्रदर्शन, प्रौढ (क्लिष्ट) भाषा तथा वातावरण महाकाव्य के अनुरूप हैं।

देवानन्द मे महाकाव्य के कुछ परम्परागत तत्त्व उपलब्ध भी हैं। इसका आरम्भ मगलाचरण से हुआ है, जिसमे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की वन्दना की गयी है। धीरोदात्त गुणो से सम्पन्न श्रेष्ठिपुत्र वासुदेव (विजयदेवसूरि) इसका नायक है। प्रतिष्ठित संयमधन आचार्य के उदात्त चरित से सम्बन्धित होने के कारण देवानन्द का कथानक सुविज्ञात है। चतुर्वर्ग मे से धर्म इसकी रचना का प्रेरक उद्देश्य है। काव्य मे धर्म को कल्याणप्राप्ति का अचूक साधन माना गया है[२]। साधुजीवन पर आधारित कथानक मे देश, नगर, पर्वत, षड्ऋतु, अश्वसेना, गजराजि आदि के अलंकृत वर्णन देवानन्द को महाकाव्य-रूप देने की कवि की आतुरता को इंगित करते हैं। काव्य का शीर्षक कथानायक देव (विजयदेव) के नाम पर आधृत है तथा सर्गों का नामकरण, उनमे वर्णित विषयों के अनुसार है। सज्जनप्रशंसा तथा खलनिन्दा रूढियों का भी काव्य मे यथेष्ट पालन किया गया है। इस प्रकार देवानन्द मे महाकाव्य के कुछ स्वरूप-निर्माता तत्त्व हैं, कुछ का अभाव है। किन्तु इस आंशिक अभाव से इसका महाकाव्यत्व नष्ट नही हो जाता। इसीलिए शीर्षक तथा प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका मे देवानन्द को महाकाव्य सज्ञा प्रदान की गयी हैं।[३]

कविपरिचय तथा रचनाकाल

प्रस्तुत काव्य तथा अपनी अन्य रचनाओं की प्रान्तप्रशस्ति मे मेघविजय ने अपने मुनि-जीवन का पर्याप्त परिचय दिया है। मेघविजय मुगल सम्राट् अकबर के कल्याण-मित्र हीरविजयसूरि के शिष्यकुल मे थे। उनके दीक्षा-गुरु तो कृपाविजय थे, किन्तु उन्हें उपाध्याय पद पर विजयदेवसूरि के पट्टधर विजयप्रभसूरि ने प्रतिष्ठित किया था।[४] विजयप्रभसूरि के प्रति मेघविजय की कुछ ऐसी श्रद्धा है कि न केवल प्रस्तुत काव्य के अन्तिम सर्ग में उनका प्रशस्तिगान किया है, अपितु दो स्वतन्त्र काव्यो—दिग्विजय महाकाव्य तथा मेघदूतसमस्यालेख—के द्वारा भी कवि ने गुरु के प्रति कृतज्ञता

२. धर्माद् रसादिव स्वल्पादपि कल्याणसाधनम्। देवानन्दमहाकाव्य, २.२५.

३. यथा—इति श्रीदेवानन्दे महाकाव्ये दिव्यप्रभापरनाम्नि ...कथानायक-उत्पत्तिवर्णननामा प्रथमः सर्गः।

४. गच्छाधीश्वरहीरहीरविजयाम्नाये निकाये धियां
भृत्यः श्रीविजयप्रभाख्यसुगुरो श्रीमत्तपाख्ये गणे।
शिष्यः प्राज्ञमणेः कृपादिविजयस्याशास्यमानाग्रणी
श्चक्रे वाचकनाममेघविजय शस्यां समस्यामिमाम्॥ शान्तिनाथचरित १.१२६
देवानन्दप्रशस्ति, ७९-८०, शान्तिनाथचरितप्रशस्ति, ५.

प्रकट की है। ये दोनो काव्य विजयप्रभसूरि के सारस्वत स्मारक है। जिसके वरद हस्त ने प्रतिष्ठित पद पर आसीन किया हो, उसके गुणगान में यदि शिष्य अपनी भारती की सार्थकता माने, तो इसमे आश्चर्य क्या ?

मेघविजय अपने समय के प्रौढ पण्डित-कवि, प्रत्युत्पन्न दार्शनिक, प्रयोग-शुद्ध वैयाकरण, समयज्ञ ज्योतिपी तथा आध्यात्मिक आत्मज्ञानी थे। उन्होंने इन सभी विषयो मे अपनी लेखनी चलायी तथा सबको प्रतिभा एवं विद्वत्ता के स्पर्श से आलोकित कर दिया है। प्रस्तुत काव्य के अतिरिक्त दो महाकाव्यो—दिग्विजयमहाकाव्य तथा सप्तसन्धानमहाकाव्य—का विवेचन, ग्रन्थ मे अन्यत्र किया गया है। मेघविजय समस्या-पूर्ति के पारंगत आचार्य है। उन्होने देवानन्द, मेघदूतसमस्यालेख तथा शान्तिनाथ चरित में क्रमशः माघकाव्य, मेघदूत तथा नैपधचरित की समस्या-पूर्ति करके अपने अद्भुत रचनाकौशल तथा गहन पाण्डित्य का परिचय दिया है। लघुत्रिषष्टि शलाकापुरुपचरित, भविष्यद्त्तकथा तथा पंचाख्यान उनकी अन्य ज्ञात काव्य कृतियां हैं। विजयदेवमाहात्म्यविवरण श्रीवल्लभ के विजयदेवमाहात्म्य की टीका है। युक्तिप्रबोधनाटक तथा धर्ममंजूषा न्यायग्रन्थ है। चन्द्रप्रभा-हेमशब्दचन्द्रिका तथा हेमशब्दप्रक्रिया उनके व्याकरण के पाण्डित्य के प्रतीक है। वर्षप्रबोध, रमलशास्त्र, हस्तसजीवन, उदयदीपिका, प्रश्नसुन्दरी, वीसायन्त्रविधि मेघविजय की ज्योतिप-रचनायें है। अध्यात्म से सम्बन्धित कृतियो मे मातृकाप्रसाद, ब्रह्मबोध तथा अर्हद् गीता उल्लेखनीय है। इन चौवीस ग्रन्थो के अतिरिक्त पंचतीर्थस्तुति तथा भक्तामर स्तोत्र पर उनकी टीकाएं भी उपलब्ध है। संस्कृत की भाति गुजराती को भी मेघ-विजय की प्रतिभा का वरदान मिला है। यह वैविध्यपूर्ण साहित्य उनकी बहुमुखी विद्वता का द्योतक है।

मेघविजय ने अपनी विभिन्न कृतियो मे रचनाकाल का जो निर्देश किया है, उससे इनके स्थितिकाल का कुछ अनुमान किया जा सकता है। श्रीवल्लभकृत विजयदेवमाहात्म्य की प्रतिलिपि सम्वत् १७०९ मे की गयी थी।[५]। मूलग्रन्थ का इससे पूर्व रचित होना सुनिश्चित है। मेघविजय ने विजयदेवमाहात्म्य के विवरण की रचना स. १७०८ के पश्चात् की होगी। यह उनकी प्रथम रचना प्रतीत होती है। यह मौलिक ग्रन्थो के प्रणयन से पूर्व सम्भवतः टीका-टिप्पणी के द्वारा ख्याति अर्जित करने का प्रयास है। सप्तसन्धानमहाकाव्य उनकी अन्तिम कृति है, जिसकी

५. लिखितोऽयं ग्रन्थः पण्डितश्री ५ श्रीरङ्ग सोमगणि शिष्य मुनि सोमगणिना। सं. १७०९ वर्षे चैत्रमासे कृष्णपक्षे एकादशतिथौ.......। विजयदेवमाहात्म्य, सर्ग १९,पृ० १२६-१२७

रचना सम्वत् १७६० मे सम्पन्न हुई थी।[6] विजयदेवमाहात्म्यविवरण की रचना के समय उनकी अवस्था लगभग पच्चीस वर्ष की अवश्य रही होगी। अतः सम्वत् १६८५ तथा १७६५ (अर्थात् १६२८ तथा १७०८ ई०) के बीच मेघविजय का स्थितिकाल मानना अयुक्त नही है।

देवानन्दमहाकाव्य की रचना मारवाड़ के सादड़ी नगर मे सम्वत् १७२७ (१६५० ई०) की विजयदशमी को पूर्ण हुई थी। इसका उल्लेख काव्य की प्रान्त-प्रशस्ति मे किया गया है।

मुनिनयनाश्वेन्दुमिते वर्षे हर्षेण सादड़ीनगरे।
ग्रन्थः पूर्णः समजनि विजयदशम्यामिति श्रेयः ॥८५॥

इसकी एक प्रतिलिपि स्वय ग्रन्थकार ने ग्वालियर मे की थी।[7] काव्य की एक अन्य प्रतिलिपि सम्वत् १७५५ मे मेरुविजय के शिष्य सुन्दरविजय द्वारा तैयार की गई थी।[8]

कथानक

देवानन्द सात सर्गों का महाकाव्य है। कथानायकोत्पत्तिवर्णन नामक प्रथम सर्ग मे मगलाचरण, नगरवर्णन आदि रूढियो के निर्वाह के पश्चात् ईडरवासी श्रेष्ठी स्थिर के पुत्र वासुदेव के जन्म का वर्णन है। द्वितीय सर्ग मे कुमार की माता (रूपा) तथा पितृव्य नाना युक्तियो से उसे गार्हस्थ्य जीवन स्वीकार करने को प्रेरित करते हैं, किन्तु वह मुक्तिवधू का पाणिग्रहण करने का निश्चय करता है और माघ शुक्ला दशमी (सम्वत् १६३४) को, अकबर के प्रबोधदाता आचार्य हीरविजय के पट्टधर विजयसेनसूरि से अहमदाबाद मे तापसव्रत ग्रहण करता है। दीक्षोपरान्त वह विद्याविजय नाम से ख्यात हुआ। खम्भात के सेठ श्रीमल्ल के अनुरोध पर विजयसेनसूरि उसे सम्वत् १६५७ मे, आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करते है। तत्पश्चात् विद्याविजय ने विजयदेवसूरि के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। मुगल सम्राट् जहांगीर 'महातपा' उपाधि से उनकी विद्वत्ता तथा प्रतिभा का अभिनन्दन करता है। तृतीय सर्ग मे शासनदेवता के आदेश से विजयदेवसूरि कनकविजय को वैशाख शुदि षष्ठी, सम्वत् १६८२ को, अपनी जन्मभूमि ईडर मे आचार्य पद प्रदान करते है और स्वर्णगिरि मे उनका वन्दनोत्सव सम्पन्न करते है। मारवाड़ मे आचार्य के पदार्पण करते ही मरुभूमि नदीमातृक बन गयी। गुजरात मे दो वर्ष बिता कर शत्रुजय-यात्रा को जाते समय उन्होने उन्नतपुर मे अपने प्रगुरु हीरविजय की समाधि के दर्शन किये। यमकरम्य चतुर्थ सर्ग का आरम्भ रैवतक तथा सिद्धाचल के वर्णन से होता है। दक्षिण दिशा के

६. सप्तसन्धानमहाकाव्य, प्रशस्ति ३।
७. देवानन्दमहाकाव्य, ग्रन्थप्रशस्ति ३।
८. वही, ग्रन्थप्रशस्ति १।

विहार के लिये जाते समय मुनिराज सूरत में सागरपक्षीयों को शास्त्रार्थ में पराजित करते है। श्राविका चतुरा की प्रार्थना से आचार्य शाहपुर गये तथा औरंगजेब के उपवन मे चातुर्मास किया। कट्टरपथी मुगल सम्राट् ने भी मुनिश्री का हार्दिक स्वागत किया और उनकी प्रेरणा से जीवहत्या वर्जित कर दी, जिसका पालन उसके उत्तराधिकारी भी करते रहे। दक्षिणदिग्विजय नामक पांचवें सर्ग मे विजयदेवसूरि के दक्षिण दिशा मे विहार करने का वर्णन है। कुल्लपाकपुर मे उन्होने आदिनाथ की वन्दना की तथा अमरचन्द को वाचक पद प्रदान किया। शासनदेव के आदेश से सूरिराज ने, गन्धपुर मे सम्वत् १७०९, वैशाख शुक्ला दशमी को वीरविजय को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया तथा उनका नाम विजयप्रभ रखा। सर्ग के शेप भाग में परम्परागत छह ऋतुओ का वर्णन है। सातवे सर्ग मे विजयदेवसूरि अपने पट्टधर विजयप्रभसूरि का अहमदावाद मे वन्दनोत्सव करते है। इसके लिये इभ्यराज वनजी प्रभसूरि का अहमदाबाद में वन्दनोत्सव करते है। इसके लिये इभ्यराज धनजी तथा उसकी श्रद्धालु पत्नी ने विशाल आयोजन किया। विमलगिरि की यात्रा के पश्चात् विजयदेवसूरि ने ऊना (ऊन्नतपुर) मे आचार्य हीरविजय की समाधि के दर्शन किये तथा वही प्राक्-मरण अनशन से सम्वत् १७१३, आपाढ़ शुक्ला एकादशी को समाधि ली। गुरु की मृत्यु से सारा संघ शोकसागर मे डूब गया। रायचन्द्र ने आचार्यश्री की स्मृति मे वहां एक विहार बनवाया। संघ के अनुरोध पर विजयप्रभसूरि गुरु के पट्ट पर आरूढ हुए तथा समाज का नेतृत्व अपने हाथ मे लिया। सर्ग के शेपाश में विजयप्रभसूरि के विहार का वर्णन है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि काव्य मे विजयदेवसूरि के जीवन के कुछ प्रसंगो का ही निरूपण है। उनके चरित का विस्तृत वर्णन तो विजयदेवमाहात्म्य मे हुआ है। दोनो के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि देवानन्द मे वर्णित काव्यनायक से सम्वन्धित घटनाएँ सर्वथा सत्य तथा प्रामाणिक हैं। उनकी तिथियों, दिनो तथा सम्वतो मे भी कोई अन्तर नही है। यह अवश्य है कि जहा विजयदेव-माहात्म्य सम्वत् १६८७ तक की घटनाओ तक सीमित है, वहां देवानन्द मे विजय-देवसूरि के साधुजीवन के परवर्ती प्रसंगो तथा स्वर्गारोहण का भी निरूपण किया गया है।

समस्यापूर्ति के कठोर वन्धन के कारण मेघविजय अनावश्यक वर्णनो के फेर मे नही पडे हैं। उनका कोई भी वर्णन १५-२० पद्यों से अधिक नही है। इसीलिये उनका कथ्य प्राय: सर्वत्र आगे वढता रहता है।

देवानन्द की परिशीलन से आशंका उत्पन्न होती है कि कनकविजय को सूरिपद पर प्रतिष्ठित करने के उपरान्त विजयदेव ने अपने एक अन्य शिष्य, वीरविजय को अपना पट्टधर क्यों नियुक्त किया? इसका समाधान विजयदेवमाहात्म्य से भी

नही होता क्योंकि उसमे वीरविजय के अभिषेक का उल्लेख ही नही है । वस्तुस्थिति यह है कि विजयदेव के जीवनकाल मे ही, सम्वत् १७०९ मे, कनकविजय (विजयसिंह सूरि) का स्वर्गवास हो गया था, इसलिये वीरविजय को आचार्य पद देकर विजयप्रभ के नाम से उन्हे अपना सर्वाधिकार समर्पित किया । इनका आज्ञानुवर्ती सारा जैन समुदाय देवसूर संघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आज भी यह नाम जहाँ-तहाँ प्रचलित है ।[९]

मेघविजय को प्राप्त माघ का दाय

मेघविजय की शली का तो माघ से प्रभावित होना स्वभाविक था, किन्तु विषयवस्तु की योजना मे भी वे माघ के ऋणी है। माघकाव्य के नायक कृष्ण वासुदेव है । मेघविजय का चरितनायक भी संयोगवश श्रेष्ठिपुत्र वासुदेव है। श्रीकृष्ण परम पुरुष है, वासुदेव आध्यात्मिक साधना से बहुपूज्य पद प्राप्त करते है । शिशुपालवध के प्रथम सर्ग मे नारद के आगमन तथा आतिथ्य का वर्णन है । देवानन्द के उसी सर्ग मे गुजरात, ईडर तथा उसके शासक का वर्णन किया गया है । माघकाव्य के द्वितीय सर्ग मे कृष्ण, उद्धव तथा बलराम राजनैतिक मन्त्रणा करते है । देवानन्द के द्वितीय सर्ग मे कुमार की माता तथा पितृव्य उसे वैवाहिक जीवन मे प्रवृत्त करने के लिये विचार-विमर्श करते है । वह उनकी युक्तियो का उसी प्रकार प्रतिवाद करता है जैसे श्रीकृष्ण बलराम की दलीलों का । युधिष्ठिर के निमन्त्रण पर श्रीकृष्ण राजसूय यज्ञ मे भाग लेने के लिये इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) जाते है । वासुदेव भी उपयुक्त गुरु की खोज मे अहमदाबाद और सूरिपद प्राप्त करने के पश्चात्, जहागीर के अनुरोध पर, दिल्ली जाता है । शिशुपालवध के तृतीय सर्ग मे श्रीकृष्ण सेना के साथ इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान करते है । देवानन्द काव्य के तृतीय सर्ग में विजयदेवसूरि के प्रवेशोत्सव के समय ईडरराज कल्याणमल्ल की सेना के हाथियो तथा घोड़ो का अलकृत वर्णन है । दोनो के चतुर्थ सर्ग मे रैवतक का वर्णन है किन्तु माघ ने जहाँ सारा सर्ग पर्वतवर्णन पर लगा दिया है, वहाँ मेघविजय आठ-दस पद्यो मे ही रैवतक का वर्णन करके अपने कथ्य की ओर बढ गये हैं । माघ की भाँति मेघविजय ने इस सर्ग मे नाना (तेईस) छन्दो का प्रयोग किया है । माघकाव्य तथा देवानन्द दोनो के छठे सर्ग मे षड्-ऋतु-वर्णन की रूढि का पालन किया गया है, जो यमक से आच्छन्न है ।

पाण्डित्यप्रदर्शन : समस्यापूर्ति

देवानन्द की रचना माघकाव्य की समस्यापूर्ति के रूप मे हुई है । इसमे माघ के प्रथम सात सर्गो को ही समस्यापूर्ति का आधार बनाया गया है । अधिकतर शिशुपालवध के पद्यो के चतुर्थ पाद को समस्या के रूप मे ग्रहण कर अन्य तीन

९. देवानन्द महाकाव्य का मुनि जिनविजय द्वारा लिखित 'किंचित् प्रास्ताविकम्' पृ. ३.

चरणों की रचना कवि ने स्वयं की है, किन्तु कहीं-कहीं दो[10] अथवा तीन[11] चरणों को लेकर भी समस्यापूर्ति की गयी है। कुछ पद्यों के विभिन्न चरणों को लेकर अलग-अलग श्लोक रचे गये हैं। माघ के ३।४८ के चारों पादो के आधार पर मेघविजय ने चार स्वतन्त्र पद्य बनाये हैं (३. ५१-५४)। कभी-कभी एक समस्या-पाद की पूर्ति चार पद्यों में की गयी है। माघ के ३।६९ के तृतीय चरण 'प्रायेण निष्क्रामति चक्रपाणौ' का कवि ने चार पद्यो मे प्रयोग किया है (३।११७-१२०)। अन्यत्र एक समस्या दो अथवा तीन पद्यों का विषय बनी है। 'नेष्टं पुरो द्वारवतीत्वमासीत्' (माघ, ३।६९, चतुर्थ पाद)'पारेजलं नीरनिधेरपश्यन् (माघ, ३।७०, प्रथम), 'क्षिप्ता इवेन्दोः सरुचोऽधितीरं [वेलं] (माघ, ३।७३, तृतीय), 'उदन्वतः स्वेदलवान् ममार्ज' (माघ,३।७९, द्वितीय), 'तस्यानुवेलं व्रजतोऽति (धि) वेलं (वही, तृतीय), 'क्वचित् कपिशयन्ति चामीकराः' (माघ, ४।२४,चतुर्थ) के आधार पर मेघविजय ने क्रमशः ३।१२१-१२२, ३।१२३-१२४, ३।१३८-१३९, ३।१६५-१६६, ३।१६७-१६८ तथा ४।३२-३३ की रचना की है। 'उत्संगशय्याशयमम्बुराशि.(माघ, ३।७८, द्वितीय) मेघविजय के तीन पद्यों (३।१५९-१६१)का आधार बना है। देवानन्द के कर्ता ने दो समस्या-पादों को एक ही पद्य मे पादयमक के रूप में दो वार प्रयोग करके भी अपने रचनाकौशल का चमत्कार दिखाया है। 'अक्षमिष्ट मधुवासरसारम्', 'प्रभावनीकेतनवैजयन्तीः', 'परितस्तार रवेरसत्यवश्यम्, 'रुचिरं कमनीयत रागमिता' को क्रमश ६/७९, ८०, ८१, ८२, के पूर्वार्ध तथा अपरार्ध मे प्रयुक्त किया गया है, यद्यपि आधारभूत समस्या-पादो की भाँति दोनों भागो मे, इनके अर्थ मे, आकाश-पाताल का अन्तर है।

समस्यापूर्ति मे पूरणीय चरण के शब्दों को न बदल कर अर्थ की पूर्ति करनी होती है। माघ तथा मेघविजय मे कहीं-कहीं पाठभेद[12] मिलता है, किन्तु यह परिवर्तन समस्याकार ने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए किया है अथवा यह माघ का ही पाठान्तर है, इसका निश्चय माघ के विशेषज्ञ ही कर सकते है। यदि यह परिवर्तन

१०. उदाहरणार्थ—देवानन्द २.२३. तृ. च., २.४० तृ. च., २.८३, द्वि. तृ., २.११२, प्र द्वि., ४.४५. द्वि. च., ३.७२, द्वि. च.,

११. उदाहरणार्थ— देवानन्द, २.१२. प्र द्वि. च, ४ ४४, प्र. द्वि. च.

१२. उदाहरणार्थ—

माघ	मेघविजय
तडितां गणैरिव (१.८)	तडितां गुणैरिव (१.८)
उदग्रदशनांशुभिः (२.२१)	उदंशुदशनांशुभिः (२.२१)
स श्रुतश्रवसः सुतः (२.४१)	स सुतश्रवसः सुतः (२.४२)
सर्वः स्वार्थं समीहते (२.६५)	सर्वस्वार्थं समीहते (२.६८)
यमस्वसुश्चित्र इवोदभारः (३.११)	.... इवोदवाहः (३.११),

स्वयं समस्याकार द्वारा भी किया गया हो तो भी यह समस्यापूर्ति में बाधक नहीं है। समस्यापूर्ति की सार्थकता इस बात मे है कि समस्यारूप मे गृहीत चरण का प्रसंग में अभीष्ट भिन्न अर्थ किया जाए। मेघविजय इस कला के पारंगत आचार्य हैं। समस्यापूर्ति मे उनकी सिद्धहस्तता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उन्होंने माघ के अतिरिक्त मेघदूत, नैपध तथा किरात की समस्यापूर्ति के रूप मे स्वतंत्र काव्यों की रचना की थी।

भाषा का चतुर शिल्पी होने के कारण मेघविजय ने माघकाव्य से गृहीत समस्याओ का बहुधा सर्वथा अज्ञात तथा चमत्कारजनक अर्थ किया है। वांछित नवीन अर्थ निकालने के लिये कवि को भाषा के साथ मनमाना खिलवाड़ करना पड़ा है। कही उसने मूल पाठ के विसर्ग तथा अनुस्वार का लोप किया है, कहीं विभक्ति-विपर्यय, वचनभेद तथा क्रियाभेद कर दिया है। सन्धिभेद तथा शब्दस्थानभेद का भी उसने खुल कर आश्रय लिया है। किन्तु कवि ने अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति अधिकतर नवीन पदच्छेद के द्वारा की है। अभिनव पदच्छेद के द्वारा वह ऐसे विचित्र अर्थ निकालने मे सफल हुआ है, जिनकी कल्पना माघ ने भी नही की होगी। इसमे उसे पूर्व चरण की पदावली से बहुत सहायता मिली है। मेघविजय ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए माघ की भाषा को किस निर्ममता से तोड़ा-मरोड़ा है तथा उससे किस-किस अर्थ का सवन किया है, इसका आभास निम्नांकित तालिका से मिल सकता है।

माघ	मेघविजय
१. क्रमादमु नारद इत्यबोधि स. (१.३)	क्रमाद् अमुन्नारद इत्यबोधिसः। १.३-४ [अमुद् अहर्षः तस्य नारः विक्षेपः ध्वंसः हर्ष. तं दत्ते इति। इत्यबोधिसः इत्या प्राप्तव्या बोधिसा ज्ञानलक्ष्मीर्यस्य स.]
२. धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव (१.५)	विभ्रतं धरा धरेन्द्रं व्रततीततीरिव।१.६ (यथा व्रततीततीः विभ्रतं धरेन्द्रं प्राप्य गुणाधिकापि धरा अतिदुर्गमा रसरहिता भवति)
३. पुरातनं त्वा पुरुषं पुराविदः (१.३३)	पुरातनं त्वां पुरुष पुराविद.। १.३४ ['यत्र जभन्तमुज्जगुः' यत्र पुराणपुरुषं कृष्णम् आं लक्ष्मी भजन्तं-जभन्तं-पुराविदः उज्जगु.]
४. विलंघ्य लंकां निकषा हनिष्यति (१.६८)	तमोऽवधेर्विलंघ्यलंकां निकषा हनिष्यति। १.७१ [वासुदेवः चिच्छक्ति विधृत्य अवधेर्विलंघि निस्सीमं तमः पापं राहुं वा हनिष्यति।

किंभूतां चिच्छर्वित ? अरंकाम् उग्रां दीप्तां निकपा पार्श्वे बालत्वेऽपि अस्मिन् भवे । यद्वा अलम् अत्यर्थम्, कांचिद् अनिर्वचनीयाम्]

५. शेरते तेऽभिमारुतम् (२.४२)
प्रदक्षिणाक्रियायै स्माऽऽशेरते तेऽभिमारुतम् । २.४३
[आशेरते आशयं चक्रुः प्रदक्षिणाक्रियायै]

६. आसत्तिमासाद्य जनार्दनस्य (३.६१)
आसत्तिमासाद्यऽजनार्दनस्य । २.८२
[आ ईपत् आसत्ति नृपस्य प्राप्य अजनार्दनस्य मारिनिषेधस्य ढक्कां पटहं वादयति स्म । किंभूतः श्रेष्ठी? सादी अश्वारूढ राजप्रसादलब्धाऽश्ववान् । यद्वा आसादि सादिनम् अवधीकृत्य अश्वारोहोऽपि जीवरक्षक इत्यर्थः]

७. समा नवप्रेमणि सानुरागा (४.२७)
ऽसमानवप्रे मणिसा नुरागा । ४.३६
[असमानवप्रे अतुल्यप्राकारे मणिसा उपात्तदेहा मूर्तिमती त्वं मणिसा रत्नलक्ष्मीः नुरागाः नुः मनुष्यस्य अत्र पुरे आगाः आगत.]

८. सारतरागमना यतमानम् (४.४५)
सारतरागमना यतमानम् । ४.५८
[अरतरागं यद् मनः तत्सहित. (स+अरतराग+मनाः) 'यतमानम्' यत्नया चलन्तम्]

९. मलिनिमालिनि माधवयोषिताम् (६/४)
मलिनि मालिनि माऽधवयोषिताम् । ६.८
[किं भूते जने मलिनि अर्थात् सशोके । हे मालिनि । अधवयोषितां पुष्पाणि अद्य मा दाः]

१०. अनृतया नृतया वनपादपः (६.१०)
अनृतयाऽनृतया वनपादपः । ६.१५
[अनृतया असत्यया विकुर्वितया अनृतया अप्राप्तया । 'वनपादप' वनं जलं पातीति वनपो वरुण ततः अप. वारीणि व्यमुचत् अम्बुमुचां घटया]

देवानन्द में माघ के कतिपय पद्य यथावत्, अविकल, ग्रहण किए गये हैं, किंतु अकल्पनीय पदच्छेद से कवि ने उनसे चित्र-विचित्र तथा चमत्कारी अर्थ का सवन किया है । देवानन्द के तृतीय सर्ग के प्रथम तीन पद्य माघ के उसी सर्ग के प्रथम पद्य है, पर उनके अर्थ मे विराट् अन्तर है । कवि के ईप्सित अर्थ को हृदयंगम करना सर्वथा असम्भव होता यदि उसने इन पद्यो पर टिप्पणी लिखने की कृपा न की होती । एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी ।

माघ :

कौबेरदिग्भागमपास्य मार्गमागस्त्यमुष्णांशुरिवावतीर्णः ।
अपेतयुद् धाभिनिवेशसौम्यो हरिर्हरिप्रस्थमथ प्रतस्थे ॥ ३.१

मेघविजय :

कौ बेरदिग्भागमपास्यमा र्गमागस्त्यमुष्णांशुरिवावतीर्णः ।
अपेतयुद् धाभिनि वेशसौम्यो हरिर्हरिप्रस्थमथ प्रतस्थे ॥ ३.१

'वेरदिग्भागम्' उश्च आ च वा ताभ्या युक्ता इश्च लश्च दश्च इलदाः ते सन्ति अस्मिन् इति [वा+इलद+इन्—वेलदी] वेलदी स चासौ ग् गकारः, तेन भाति ईदृशः अः अकारः तत् गच्छति प्राप्नोति तत् वेलदिग्भागम्—इलादुर्गम्—इत्यर्थः। पुनः किंभूतम् ? 'र्गम्' र रकारं गच्छति प्राप्नोति र्गम्—इलादुर्गनाम्ना प्रतीतम् । 'अपास्यमा' अम् अर्हन्त सिद्ध पाति रक्षति—अपः आस्यमा मुखचन्द्रो यस्य। मास् सकारान्तः चन्द्रवाची। अपेतयुद् अश्च पा च अपौ तयोः ईः लक्ष्मीः यस्य ईदृक् तः तकारः तेन यौति मिश्रीभवति-अपेतयुत् । 'धाभिनि' न विद्यते भी. यस्य अभि., स चासौ नी. नायकः धो धनदः—तद्वद् अभिनीर्यत्र तद् धाभिनि हरिप्रस्थम् । 'वेशसौम्यो' वा अथवा ईशश्चासौ सौम्यश्च । पक्षे 'वेरदिग्भागम्' वेर शरीर तस्य दिग् देश· जन्मभूमिः तत्र भान्ति ईदृशा अगा. पर्वतास्तरवो वा यत्र । 'आगस्त्यम्' आगः अपराध अन्यायः तं त्यजति इति 'ड' प्रत्यये आगस्त्यम् । सौम्यः हरिः मुनीन्द्र. हरिप्रस्थं पर्वततटं प्रति प्रतस्थे ।

मेघविजय ने शिशुपालवध के समस्यापदो का नवीन पदच्छेद के बिना भी प्रासगिक भिन्नार्थ करके पाठक को चमत्कृत किया है । इसके लिये उसने कही समस्या के पद/पदो का स्वरचित विशेष्य पद/पदो के विशेपण के रूप मे अन्वय किया है, कही उनका विचित्र पदच्छेद किया है और कही पदों के अज्ञात अथवा अप्रचलित अर्थ के द्वारा नवार्थ ग्रहण किया है । कतिपय उदाहरणो से तथ्य की पुष्टि होगी ।

१. ननाम वामां समवेक्ष्य यं श्रितं हिरण्यगर्भागभुवं मुनिं हरिः । १.१

हिरण्यवत् समुज्ज्वला गर्भागम् गर्भाशयस्थान यस्याः ताम्-ईदृशी वामां मातर श्रितम् आश्रित यं पार्श्वजिन मुनिं समवेक्ष्य हरि इन्द्र. ननाम इति ।

२. न चास्त्यमुष्या नगरीति मेऽकरोत् गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम् । १.३१

अमुष्याः पुर्या· गुरुस्तवा अधिकवर्णनयोग्या नगरी नास्ति इति आगमः सिद्धान्त. धृष्टताम् अकरोत् ।

३. उत्कन्धरं दारुक इत्युवाच । ४.२४

दारूणि के मस्तके यस्य स भारवाही संघसारथिर्वा ।

४. तदभिनन्दनमाशु रजःकणैर्दिवि तता ततान शुकावलीः । ६.६३

तस्य आपाढस्य अभिनन्दनं वर्धापनम् । शुकावलिः शिरीषपुष्पराजिः । 'शुकं ग्रन्थिपर्णेऽरलू-शिरीषपुष्पयो.' इति अनेकार्थः ।

माघकाव्य से गृहीत समस्याओं की सफल पूर्ति के लिए उसी कोटि का, वस्तुतः उससे भी अधिक, गुरु-गम्भीर पाण्डित्य अपेक्षित है। माघकाव्य की भाँति मेघविजय की सर्वतोमुखी विद्वत्ता का परिचय तो उनके काव्य से नही मिलता क्योकि देवानन्द की विषयवस्तु ऐसी है कि उसमें शास्त्रीय पाण्डित्य के प्रकाशन का अधिक अवकाश नही है। किन्तु अपने कथ्य को जिस प्रौढ भापा तथा अलंकृत शैली मे प्रस्तुत किया है, उससे स्पष्ट है कि मेघविजय चित्रमार्ग के सिद्धहस्त कवि है। उनकी तथा माघ की भापा-शैली में कही भी अन्तर दिखाई नही देता। अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए मेघविजय ने भापा का जो हृदयहीन उत्पीड़न किया है, उससे जूझता-जूझता पाठक झुझला उठता है तथा इस भापायी चक्रव्यूह में फंस कर वह हताश हो जाता है, परन्तु यह शाब्दी क्रीडा तथा भाषात्मक उछलकूद उसके गहन पाण्डित्य तथा भापाधिकार के द्योतक है, इसमे तनिक सदेह नही। मेघविजय का उद्देश्य ही चित्रकाव्य से पाठक को चमत्कृत करना है।

समीक्षा

चित्रकाव्य की प्रकृति के अनुरूप देवानन्द की भाषा धीर तथा गम्भीर है। मेघविजय भाषा का जादूगर है। वह चेरी की भांति उसके सकेत पर नाचती है। इसी भाषाधिकार के वूते पर वह भाषा के साथ मनमाना खिलवाड करने मे सफल हुआ है, जिसका कुछ सकेत ऊपर किया गया है। समस्यापूर्ति के कठोर वन्धन के कारण कवि को, माघ की विकटवन्ध भाषा के समकक्ष, जो पदावली प्रयुक्त करनी पडी है, वह सही अर्थ मे क्लिष्ट है। माघ की पदशय्या को अपने साचे मे ढाल कर उससे चित्र-विचित्र अर्थ निकालना कवि के पाण्डित्य तथा भाषाधिकार का द्योतक भले हो, इससे उसकी भाषा की सहजता नष्ट हो गयी है तथा वह दुस्साध्य क्लिष्टता से आक्रान्त है। कही-कही तो उसमे दुरूहता का समावेश हो गया है। इस प्रकार के पद्य वहुश्रुत पण्डितो लिये भी करारी चुनौती है।

जगत्पवित्रैरपि तन्नपादैः स्प्रष्टुं जगत्पूज्यमयुज्यता ऽऽ र्कः।
यतो वृहत्पार्वणचन्द्रचारु तस्यातपत्रं विभरांवभूवे ॥ ३. २.

कविकृत टिप्पणियों के बिना इनका प्रासंगिक अर्थ समझना नितान्त असम्भव है।

समस्यापूर्ति क्लिष्टता की जननी है। भिन्न प्रसग मे, विशिष्ट उद्देश्य से, रचित समस्या-पद के आधार पर काव्यरचना करने तथा उससे नवीन प्रासगिक अर्थ निकालने के लिए असीम रचना-कौशल, व्याकरण-पाण्डित्य, कोशज्ञान तथा भापायी विद्वत्ता अपेक्षित है, जो अकल्पनीय पदच्छेद तथा ज्ञाताज्ञात अर्थ रूपी वौद्धिक व्यायाम मे प्रकट होती है। मेघविजय इस कला के अनुपम मल्ल हैं। देवानन्द के परिवेश मे, माघ की पदावली से अभीष्ट अर्थ ग्रहण करने के लिये, मेघविजय ने

अहह दहति गात्रमत्र वह्नौ ज्वलितमभूद् भुवनं शुचा किमन्यत् ।
अवहितमनसा जनैर्न सूरेः प्रणिदधिरे दयितैरनङ्गलेखाः ॥ ७.४१

देवानन्द मे वासुदेव, स्थिर, रुपा कनकविजय, चतुरा आदि कई पात्र हैं, किन्तु उनका चरित्र चित्रित करने में कवि की रुचि नही ।

वासुदेव (विजयदेवसूरि) काव्य का नायक है । वह ईडर के धनिक व्यापारी स्थिर का पुत्र है । उसके चरित्र की प्रमुख विशेषता निस्स्पृहता तथा विषयविमुखता है । माता का आग्रह तथा युक्तिया भी उसे भोग मे प्रवृत्त नही कर सकी । उसकी दृढ मान्यता है कि पारलौकिक सुख की तुलना मे सांसारिक भोग तुच्छ हैं । संयमी, मुक्तिसुन्दरी का ही पाणिग्रहण करता है । इसलिए वह दीक्षा ग्रहण करके यतिपथ अपनाता है तथा अपनी प्रतिभा और गुणो के कारण शीघ्र ही आचार्य पद प्राप्त करता है । अपने गुरु के निधन के पश्चात् वे समाज पर एकच्छत्र शासन करते हैं और धर्मवृद्धि मे महत्त्वपूर्ण योग देते है । उनके स्वर्गारोहण पर समाज मे जो घनीभूत शोक छा जाता है, वह उनकी गरिमा तथा पूज्यता का सूचक है ।

रूपा काव्यनायक की माता है । उसके पिता स्थिर धनाढय इभ्य हैं । चतुरा एक श्रद्धालु श्राविका है, जो विविध अनुष्ठानो पर प्रचुर धन खर्च करती है तथा उदारतापूर्वक दान देकर पुण्यार्जन करती है ।

मेघविजय अलंकारवादी कवि है । देवानन्द में कवि ने समस्यापूर्ति-कौशल की भाँति अपनी अलंकार-प्रयोग की निपुणता का भी प्रदर्शन किया है । अलंकार चित्रकाव्य के अनिवार्य अवयव हैं । देवानन्द मे जिस एक अलंकार का साग्रह व्यापक प्रयोग किया गया है, वह यमक है । यह मेघविजय की अपनी रुचि तथा उसके आधारभूत माघकाव्य के प्रभाव का परिणाम है । चौथे तथा छठे सर्ग मे यमक का विकट रूप दिखाई देता है । काव्य मे यमक की योजना चित्रकाव्य को प्रगाढता प्रदान करने के लिए की गयी है, जिससे, इन प्रसंगो में, समस्यापूर्तिजन्य क्लिष्टता दूनी हो गयी है । ऋतु-वर्णन वाले छठे सर्ग मे कवि ने यमक के झीने आवरण से भावपक्ष की दुर्बलता को ढकने का विफल प्रयास किया है । काव्य के इन प्रकरणों को पढते समय पाठक को भयानक अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ता है । काव्य मे अभंग तथा सभग दोनो प्रकार के यमक का प्रयोग हुआ है । सभंग यमक का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है ।

सरोजिनीपत्रलवादरेण दृष्टोज्झिता चित्रलवा दरेण ।
राजी सशोभाऽजलजातपत्रैर्विहंगमानां जलजा-तपत्रैः ॥४.८

यमक का विद्रूप श्लोकार्धयमक मे दिखाई देता है, जहां पद्य के पूरे एक चरण की आवृत्ति की जाती है । शिशुपालवध की तरह देवानन्द के छठे सर्ग मे पादयमक की भरमार है । एक उदाहरण से काव्य के पादयमक की विकरालता का

आभास मिल सकेगा ।

दधुरधिकरुषं स्त्रियो न रागं मतनुतरतये वसं ता न कः ।
नवसुरभिसुमस्त्रजाऽन्यथैवमतनुत रतयेव सन्तानकः ॥ ६.७८

यमक के पश्चात् देवानन्द में उपमा का स्थान है । मेघविजय ने अपने उपमान प्रकृति, दर्शन, व्याकरण. लोकव्यवहार तथा पुराकथाओं से ग्रहण किये है । विजयसिंहसूरि की आज्ञा का अतिक्रमण करना उतना असम्भव था जितना देवसेना को अभिभूत करना (३-९७) । आचार्य के मुखारविन्द से सुधावर्षी वाणी ऐसे निस्सृत हुई जैसे विष्णु के शरीर से प्रजा (३·९८) । गुरुदेव की वन्दना के लिए लोग नगरी से ऐसे निकले जैसे विधाता के मुख से वेद (३.१००) । लोकजीवन पर आधारित यह उपमा देखिये । वासुदेव ने गुरु की शुश्रूषा से शास्त्ररस इस प्रकार पी लिया जैसे दीपक अपनी वाती से तेल चूस लेता है ।

शुश्रूषया गुरोरेष कृत्स्नशास्त्ररसं पपौ ।
दशाकर्ष इव स्नेहं दशया ह्यन्तरस्थया ॥२.९३

इन मुख्य अलकारो के अतिरिक्त देवानन्द मे काव्यलिग, विरोधाभास, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति, श्लेष, यथासंख्या, असंगति, सहोक्ति आदि अलंकारों का भी प्रयोग किया गया है ।

छन्दों के प्रयोग में मेघविजय ने शास्त्रीय विधान का अनुवर्तन किया है । चतुर्थ सर्ग में नाना वृत्तो का प्रयोग भी शास्त्रानुकूल है । इस सर्ग मे जिन तेईस छन्दों को अपनाया गया है, उनके नाम इस प्रकार है—उपजाति, वसन्ततिलका, पुष्पिताग्रा, द्रुतविलम्बित, शालिनी, पथ्या, प्रहर्षिणी, जलधरमाला, वंशस्थ, उपेन्द्रवज्रा, प्रमिताक्षरा, कुररीरुता स्रग्विणी, मत्तमयूर, दोधक, मंजुभाषिणी, आर्यागीति, जलोद्धतगति, रथोद्धता, भ्रमरविलसितम्, मालिनी, पृथ्वी तथा वशपत्रपतितम् । अन्य छह सर्गों की रचना मे मुख्यत वशस्थ, अनुष्टुप्, उपजाति, वसन्ततिलका द्रुतविलम्बित तथा पुष्पिताग्रा का आश्रय लिया गया है । इनके अन्त मे प्रयुक्त होने वाले छन्द इस प्रकार है—पुष्पिताग्रा, शार्दूलविक्रीडित, औपच्छन्दसिक, द्रुतविलम्बित, मालिनी, पंचकावली, शिखरिणी, प्रभा, स्वागता, तोटक, कुटिलक, मत्तमयूर तथा मन्दाक्रान्ता । कुल मिला कर देवानन्द मे बत्तीस छन्द प्रयुक्त हुए है । इनमें अनुष्टुप् की प्रधानता है । मेघविजय ने कतिपय अप्रचलित अथवा कम प्रचलित छन्दो के द्वारा अपने छन्दकौशल का प्रदर्शन भी किया है ।

देवानन्द एक चमत्कृतिप्रधान महाकाव्य है । भाषायी जादूगरी के द्वारा अपने रचनाकौशल का प्रकाशन करना कवि का अभीष्ट है । इसलिए धर्माचार्य के चरित पर आधारित हुआ भी यह चित्रकाव्य की कलावाजियो से आक्रान्त है । इसमे उदात्त कवित्व अथवा जीवन दर्शन का अभाव है । देवानन्दमहाकाव्य मेघविजय के पाण्डित्य का परिचायक है तथा इसकी शाब्दी क्रीडा क्षणिक चमत्कार भी उत्पन्न करती है किन्तु इसका महत्त्व बौद्धिक व्यायाम से अधिक नही है ।

सप्तसन्धानमहाकाव्य : मेघविजयगणि

संस्कृत कवियों ने अपने पाण्डित्य तथा रचना-कौशल की प्रतिष्ठा के लिये जिन काव्य-शैलियो को माध्यम वनाया है, उनमे नानार्थक काव्यो की परम्परा वहुत प्राचीन है। भोजकृत शृंगारप्रकाश मे दण्डी के द्विसन्धानकाव्य का उल्लेख है। दण्डी का द्विसन्धान तो उपलव्ध नही है, किन्तु उनकी चित्रकाव्य-शैली ने परवर्ती कवियो को इतना प्रभावित किया कि साहित्य में शास्त्रकाव्यों की भांति नानार्थक काव्यों की एक अभिनव विधा का सूत्रपात हुआ तथा इस कोटि की रचनाओं का प्रचुर निर्माण होने लगा। जैन कवियो ने सप्तसन्धान, चतुर्विंशतिसन्धान तथा शतार्थक काव्य लिखकर इस भाषायी जादूगरी को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। अनेक-सन्धान काव्य मे श्लेषविधि अथवा विलोमरीति से एक साथ एकाधिक कथाओं के गुम्फन के द्वारा काव्य-रचयिता को भाषाधिकार तथा रचना-नैपुण्य प्रदर्शित करने का अवाध अवकाश मिल जाता है। अतः आत्मज्ञापन के शौकीन पण्डित-कवियों का इधर प्रवृत्त होना स्वाभाविक था।

जैन कवि मेघविजयगणि का सप्तसन्धानमहाकाव्य[1] चित्रकाव्य-शैली का उत्कर्ष है। साहित्य का आदिम सप्तसन्धान कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र की उर्वर लेखनी से प्रसूत हुआ था। उसकी अप्राप्ति से उत्पन्न खिन्नता को दूर करने के लिये मेघविजय ने प्रस्तुत सप्तसधान की रचना की है[2]। इसके नौ सर्गों मे जैनधर्म के पांच तीर्थंकरो—ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर तथा पुरुषोत्तम राम और कृष्ण वासुदेव का चरित श्लेषविधि से गुम्फित है। काव्य मे यद्यपि इन महापुरुषों के जीवन के कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रकरणो का ही निवन्धन हुआ है, किन्तु उन्हे एक साथ चित्रित करने के दुस्साध्य कार्य की पूर्ति के लिये कवि को विकट चित्र-शैली तथा उच्छृंखल शाब्दी क्रीडा का आश्रय लेना पड़ा है जिससे काव्य वज्रवत् दुर्भेद्य वन गया है। टीका के जलपाथेय के विना काव्य के मरुस्थल को पार करना सर्वथा असम्भव है। विजयामृतसूरि ने अपनी विद्वत्तापूर्ण 'सरणी' से काव्य का मर्म विवृत करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है यद्यपि कही-कही 'सरणी' भी स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त नही है।

१. जैन-साहित्य-वर्धक सभा, सूरत से सरणी सहित प्रकाशित, विक्रम सम्वत् २०००।

२. श्री हेमचन्द्रसूरीशैःसप्तसंधानमादिमम्।
रचितं तदलाभे तु स्तादिदं तुष्टये सताम्॥ सप्तसंधान, प्रशस्ति, २।

सप्तसन्धान का महाकाव्यत्व

सप्तसंधान के कर्त्ता का मुख्य उद्देश्य चित्रकाव्य की रचना मे अपनी वैदग्धी का प्रकाशन करना है, और इस लक्ष्य के सम्मुख उसके लिये काव्य के अन्य धर्म गौण है; तथापि इसमे प्रायः वे सभी तत्त्व किसी न किसी रूप मे विद्यमान है, जिन्हे प्राचीन लक्षणकारों ने महाकाव्य के लिये आवश्यक माना है। संस्कृत महाकाव्य की रूढ परम्परा के अनुसार प्रस्तुत काव्य का आरम्भ चार मंगलाचरणात्मक पद्यों से हुआ है, जिनमें जिनेश्वरों तथा अन्य काव्य[3] नायकों और वाग्देवी की वन्दना की गयी है। काव्य के आरम्भ मे सज्जनप्रशसा, दुर्जन-निन्दा[4], सन्नगरी-वर्णन आदि बद्धमूल रूढियो का भी निर्वाह हुआ है। रघुवंश की भांति सप्तसंधान नाना नायकों के चरित पर आधारित है, जो धीरोदात्त गुणो से सम्पन्न महापुरुष है। इसका कथानक जैन साहित्य तथा समाज मे, आशिक रूप से जैनेतर साहित्य मे भी, प्रचलित तथा ज्ञात है। अतः इसे 'इतिहास-प्रसूत' (ख्यात) मानना न्यायोचित है। सप्तसंधान मे यद्यपि महाकाव्योचित रसार्द्रता का अभाव है, तथापि इसमें शान्तरस की प्रधानता मानी जा सकती है। शृगार, वीर तथा करुण रस की हल्की-सी रेखा दिखाई देती है। चतुर्वर्ग मे से इसका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है। काव्य के चरितनायक कैवल्यप्राप्ति के पश्चात् तपोबल से शिवत्व प्राप्त करते है। मानव-जीवन की चरम परिणति सतत साधना से जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त करना है, भारतीय संस्कृति का यह महान् आदर्श ही काव्य मे प्रतिध्वनित है। मेघविजय का छन्दप्रयोग शास्त्रानुकूल है। इसमे भापागत प्रौढ़ता (क्लिष्टता), विद्वत्ता-प्रदर्शन की अदम्य प्रवृत्ति, गम्भीर-गर्भित शैली तथा वस्तुव्यापार के महाकाव्यसुलभ विस्तृत तथा अलंकृत वर्णन भी दृष्टिगोचर होते हैं। अतः सप्तसंधान को महाकाव्य मानने मे हिचक नही हो सकती। स्वयं कवि ने शीर्षक तथा प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में इसे महाकाव्य सज्ञा प्रदान की है[5]।

रचनाकाल

देवानन्दमहाकाव्य के समान सप्तसंधान का रचनाकाल सुनिश्चित है। प्रान्तप्रशस्ति के अनुसार सप्तसन्धान की रचना संवत् १७६० (सन् १७०३ ई०) में हुई थी।

३. श्री अर्हदाद्यः कृतशान्तिसर्गः समुद्रजन्मानवराजवर्गः।
श्रीपार्श्वनाथः शुभवर्द्धमानः श्रियाभिरामस्तमिह स्मरामः॥ सप्तसंधान, १.२

४. मुखेन दोषाकरवत् समानः सदा-सदम्भः-सवने सशौचः।
काव्येषु सद्भावनयानमूढः किं वन्द्यते सज्जनवन्न नीचः ? ॥ वही, १.५]

५. इति श्री सप्तसंधाने महाकाव्ये राज्यांके.......अवतारवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः।

वियद्रसमुनीन्दूनां (१७६०) प्रमाणात् परिवत्सरे।
कृतोऽयमुद्यमः पूर्वाचार्यचर्याप्रतिष्ठितः ॥३॥

अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो की रचना होने के नाते, इसे सामान्यतः आलोच्य युग के महाकाव्यों मे स्थान देना उचित नही है। मेघविजय का स्थिति-काल सतरहवी शताब्दी है। उनकी अन्य सभी रचनाएं सतरहवी शती मे ही प्रणीत हुईं। सप्तसधान उनकी जीवन की सन्ध्या की कृति है।

कथानक

सप्तसंधान नौ सर्गों का महाकाव्य है, जिसमें पूर्वोक्त सात महापुरुषों के जीवन चरित एक साथ अनुस्यूत है। बहुधा श्लेष-विधि से वर्णित होने के कारण जीवनवृत्त का इस प्रकार गुम्फन हुआ है कि विभिन्न नायको के चरित को अलग करना कठिन है। अतः कथानक का सामान्य सार देकर यहाँ सातो महापुरुषों के जीवन की प्रमुख घटनाएँ पृथक्-पृथक् दी जा रही है।

अवतारवर्णन नामक प्रथम सर्ग मे, मगलाचरण आदि रूढियों के पश्चात् भारतवर्ष, चरितनायको के पिताओ[६], मध्यदेशमे स्थित उनकी राजधानियों[७], लोकोपयोगी शासन-व्यवस्था[८] माताओ[९] के स्वप्रर्शन, देवच्यवन तथा गर्मधारण[१०] का वर्णन है। द्वितीय सर्ग मे देवांगनाओ द्वारा गर्भिणी माताओं की सेवा तथा चरितनायकों का जन्म[११], रक्षामंगल आदि वर्णित है। उनके धरा पर अवतीर्ण होते ही समस्त रोग शान्त हो जाते हैं तथा प्रजा का अभ्युदय होता है। तृतीय सर्ग मे नवजात शिशुओं के जन्माभिषेक, नामकरण और कालान्तर मे उनके विद्याध्ययन, विवाह तथा शासन का निरूपण किया गया है। उनके शासन के प्रभाव से सर्वत्र शान्ति तथा समृद्धि की प्रतिष्ठा हुई और अनीति, दुर्व्यसन, दरिद्रता, अज्ञान आदि दुर्गुण तत्काल विलीन हो

६. ऋषभदेव : नाभि, शान्तिनाथ : विश्वसेन, नेमिनाथ : समुद्रविजय, पार्श्वनाथ : अश्वसेन, महावीर : सिद्धार्थ, राम : दशरथ, कृष्ण : वासुदेव (सप्तसंधान, १.५४)

७. नाभि तथा दशरथ : अयोध्या, विश्वसेन : हस्तिनापुर, समुद्रविजय : शौर्यपुर, अश्वसेन : वाराणसी, सिद्धार्थ : ब्राह्मणकुण्ड, वसुदेव : मथुरा (१.३९)

८. लोकस्य कस्यापि न दुःखलेश : क्लेश : कुतोऽन्योन्ययुधायुधानाम्। वही, १.५९

९. ऋषभ : मरुदेवी, शान्तिनाथ : अचिरा, नेमिनाथ : शिवा, पार्श्व : वामा, राम : कौशल्या, कृष्ण : देवकी (वही, १.६१), महावीर : त्रिशला (१.६५)

१०. तत्रावतीर्णस्त्रिदशावतारी सुर : प्रभाभासुर एव कश्चित्।
आपन्नसत्त्वा मणिनेव भूमि राज्ञी विरेजे गरभाऽनुभावात् ॥ वही, १.७६

११. मृगेऽगसारेऽर्कविदो : प्रभादौ कर्मोदये देवगुरो : सुधांशो :।
शनेस्तुलाभेवृषभे सुकाव्ये तमोव्ययेऽभूज्जिनदेवजन्म ॥ वही, २.१५

गये । पूज्यराज्यवर्णन नामक चतुर्थ सर्ग के प्रथम चौदह पद्यों में मुख्यतः आदिप्रभु के राज्याभिषेक के लिये देवताओं के आगमन, ऋषभदेव की सन्तानोत्पत्ति तथा उनकी प्रजा की सुख-समृद्धि का वर्णन है। अगले सोलह पद्यों का प्रमुख विषय कृष्णचरित है, जिसके अन्तर्गत कौरव-पाण्डवों के वैर, द्यूतक्रीडा, द्रौपदी के चीरहरण, केशकर्षण, द्वैतवन में कीचक के द्रौपदी के प्रति प्रणय-प्रस्ताव तथा दीक्षाग्रहण आदि की चर्चा है। सर्ग के शेषांश में तीर्थंकरो द्वारा राज्यत्याग तथा प्रव्रज्या ग्रहण करने का वर्णन किया गया है[13]। पंचम सर्ग मे, काव्य मे वर्णित पांच तीर्थंकरो के विहार, तपश्चर्या, पारणा तथा उपसर्ग-सहन का वर्णन है। अनेक प्राकृतिक तथा भौतिक कष्ट सह कर वे तप से कर्मो का क्षय करते है। छठे सर्ग मे जिनेन्द्र कर्मक्षय[14] तथा तपश्चर्या से कैवल्यज्ञान[15] प्राप्त करके स्याद्वाद पद्धति से उपदेश देते है[16]। उनकी देशना से धरा विकृति से मुक्त, पुण्यप्रवृत्ति से युक्त तथा सत्कीर्त्ति से धवलित हो गयी। सातवे सर्ग में छह परम्परागत ऋतुओं का वर्णन है। तीर्थंकरों की समवसरण मे भावी चक्रवर्ती भरत, अन्य राजाओं के साथ उनकी सेवा में उपस्थित होते है। दिग्विजयवर्णन नामक अष्टम सर्ग मे ऋषभदेव के पुत्र भरत की दिग्विजय, तीर्थंकरो के सावत्सरिक दान तथा मोक्ष-प्राप्ति का वर्णन है। नवे सर्ग मे मुख्यतः जिनेश्वरो के गणधरो की परम्परा का वर्णन है। इस प्रसंग मे राम तथा कृष्ण के चरित से सम्बन्धित कतिपय घटनाओ को भी समेटा गया है।

इस प्रकार काव्य मे सामान्यतया सातों नायकों के माता-पिता, राजधानी, माताओं के स्वप्नदर्शन, गर्भाधान, दोहद, कुमारजन्म, बालक्रीड़ा, विवाह, राज्याभिषेक आदि घटनाओ तथा पांच तीर्थंकरों की लोकान्तिक देवो की अभ्यर्थना, सावत्सरिक दान, दीक्षा, तपश्चर्या, पारणा, केवलज्ञानप्राप्ति, समवसरण-रचना, देशना, निर्वाण, गणधर आदि प्रसंगों का वर्णन है। विभिन्न महापुरुषो के जीवन की जिन विशिष्ट घटनाओ का निरूपण काव्य मे हुआ है, वे इस प्रकार है।

आदिनाथ

भरत को राज्य देना (४।३४), नमि-विनमिकृत सेवा, धरणेन्द्र द्वारा उन्हे

१२. वही, ३.४०

१३. कान्तावरिष्ठवचसा भरते न्यधायि
स्वाप्ताग्रजन्मनि परे वनवासवृत्तिः। वही, ४.३४

१४. एवं भावनया देवश्छेत्तुं मोहमहाद्रुमम्।
समारुह्य गुणस्थानमारेभे क्षपकोद्यमम् ॥ वही, ६.६

१५. प्राप्तः पुरिमतालाख्यसख्योपवनधारणाम्।
कांचनाद्रिक्रियामाधत् समाधानोपदेशतः ॥ वही, ६.२५

१६ स्वामी जगाद स्याद्वादपद्धत्या मधुरं वचः। वही, ६.२७

विद्या तथा बल देना, वैताढ्य पर उनका सुखभोग (५.१४), बाहुबलि के उद्यान में आने से पूर्व प्रभु का विहार (५.२-६), समवसरण में भरत का आगमन (७.४१); भरत का षट्खण्डसाधन (८.१-१२), छद्मावस्था में बाहुबलि का तक्षशिला जाना, भगिनी सुन्दरी की दीक्षा ।

शान्तिनाथ

अशिवहरण (१.२) तथा षट्खण्डविजय द्वारा चक्रवर्तित्व की प्राप्ति ।

नेमिनाथ

राजीमती का त्याग (३.२२) ।

पार्श्वनाथ

कलिंगपति यवनराज को परास्त करना, मेघमालिकुमार का उपसर्ग तथा पार्श्व द्वारा उसे पूर्व पद प्रदान करना (५.२६) ।

महावीर

गर्भहरण, गोशाल के साथ विहार, सिंह नामक ग्रामाधिकारी द्वारा गोशाल पर खड्ग-प्रहार, (५.२०), संगमदेव, नागकुमार का उपसर्ग (५.३३), देशना से मेघकुमार और अभयकुमार का चारित्र्य ग्रहण करना (७.३८), दुर्गन्धिका का संयमग्रहण और यवनकुमार का बोध (७.३९), अभयकुमार के दीक्षा ग्रहण करने से चिल्लणा के पुत्र कोणिक का राजा बनना (७.४१) ।

रामचन्द्र

सीतास्वयम्वर (३.३४), धनुर्भंग (३.३१), वनगमन (३.३४,४.३४), भरत को राज्य देना (४.३४), म्लेच्छ सेनापति द्वारा सीताहरण का प्रयास, राम के शस्त्र उठाने पर उस द्वारा क्षमायाचना (५.१६), शम्बूकवध (५.२०), खरदूषणवध (५.२२), चारणर्षि के प्रभाव से गन्ध पक्षी का जटायु के रूप में परिवर्तन (५.१९), रावण का कपटप्रयोग (५.२२), स्वर्णमृग (४.३१), जटायुवध (५.३१), सीताहरण (५.३०), सुग्रीव से मैत्री (५.५१), हनुमान् का दौत्य (५.३५), रावण के विरुद्ध प्रयाण (५.४५) रावण की चिन्ता (५.५५), विभीषण का पक्ष-त्याग (५.२३), मेघनाद द्वारा हनुमान् को बन्दी बनाना (५.३८), लक्ष्मण पर शक्ति-प्रहार (६.४९), राम की विजय (६.५४), विभीषण का राज्याभिषेक (७.३२), सीता की अग्निपरीक्षा (७ ३२), बहु-विवाह (९.११), सपत्नियों के द्वेष के कारण सीता का निर्वासन (९.१२), सीता द्वारा दीक्षा ग्रहण करना (९.१४), राम की शत्रुजय-यात्रा, मोक्ष-प्राप्ति (८.१६) ।

कृष्णचन्द्र

रुक्मिणी-विवाह (६.५४), कंस का विवाह के समय देवकी को केश खींच कर मारने का प्रयास (४.३८), कुवलयवध (५.१), कंसवध (५.४०), कंस के

स्थान पर उग्रसेन को सिंहासनासीन करना (१.५.२६), प्रद्युम्न-वियोग, प्रद्युम्न द्वारा दुर्योधन की कन्या का हरण (५.३०), कालीयदमन (५.३८), द्वारका के निर्माण के लिये अष्टाह्निक तपश्चर्या (५.१२), द्वारकावास (४.३४,५.४१), द्वारका-दहन (६.१५), अनिरुद्ध का तथा भानु का दुर्योधन की पुत्री के साथ विवाह (५ २५), यादवों की अत्यधिक मदिरासक्ति के कारण कृष्ण का वनगमन (६.१५), शरीर-त्याग (८ १६,६.१५), बलभद्र का कृष्ण के शव को उठा कर घूमना (६.१६), शिशुपाल एवं जरासंध का वध।

उनके अतिरिक्त कृष्ण का पाण्डवो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण महाभारत के अनेक प्रसंगों की भी चर्चा काव्य मे हुई है, जिनमे ये उल्लेखनीय है—पाण्डवजन्म (४.१६),द्रौपदी-स्वयम्वर (४.२१), द्यूत,द्रौपदी का चीरहरण (४.२२), पाण्डवो का द्वैतवन मे वास, कीचक की नीचता (४ ३०), कलि द्वारा नल को छलना (४.३२), कर्ण की वीरता (५ २४), धर्मयुद्ध (५.२७), अभिमन्यु की जलक्रीडा (५.३३), उसका वध (७.२२), भीम द्वारा बकासुर का वध (६.१२), नकुल की वीरता, शल्य का वध (६.१२) महाभारत युद्ध मे द्रोण, भीष्म, दुःशासन आदि का वध (६.५५, ७ १२)।

काव्य का कथानक नगण्य है। चरित्रनायको के जीवन के कतिपय प्रसंगों को प्रस्तुत करना ही कवि का अभीष्ट है। इन घटनाओं के निरूपण मे भी कवि का ध्येय अपनी विद्वत्ता तथा रचना-कौशल को बघारना रहा है। इससे कथानक के सामूहिक रूप मे क्या वैचित्र्य पैदा होता है, इसकी उसे चिन्ता नही है। अतः काव्य में वर्णित घटनाओं का अनुक्रम अस्त-व्यस्त हो गया है। कतिपय प्रसंगों की पुनरुक्ति भी हुई है। राम तथा कृष्ण के चरित्र से सम्बन्धित सीता-विवाह, धनुर्भंग, वनगमन, खर-दूषण-युद्ध, विभीषण का पक्षत्याग, रुक्मिणी-विवाह आदि कुछ ऐसी घटनाएँ है, जिनकी काव्य में, प्रत्यक्षतः अथवा प्रकारान्तर से, एकाधिक वार आवृत्ति की गयी है। राम के जीवन के निरूपण मे, घटनाओ मे क्रमबद्धता का खेदजनक अभाव है। उदाहरणार्थ, राम की पत्नियों, स्वर्णमृग और वानरो के साथ राम की मित्रता का उल्लेख पहले हुआ है, सीता स्वयंम्वर, वनगमन तथा राम के अनुयायियो के अयोध्या लौटने की चर्चा बाद मे। जटायुवध से पूर्व सीताहरण, विभीषण के पक्षत्याग, शम्बूकवध, हनुमान् के दौत्य, माया-सुग्रीव के साथ राम के युद्ध का निरूपण करना हास्यास्पद है। इसी प्रकार सीता की अग्नि-परीक्षा के पश्चात् धनुर्भंग तथा चित्रकूट-गमन का उल्लेख करना कवि की परवशता का द्योतक है।

काव्य मे रामकथा का जैन रूपान्तर प्रतिपादित है। फलतः राम का एक-पत्नीत्व का आदर्श यहाँ समाप्त हो गया है। वे बहुविवाह करते है। सीता के अति-रिक्त उनकी तीन अन्य पत्नियो के नामो (प्रभावती, रतिप्रभा, श्रीदामा) का उल्लेख

काव्य मे हुआ है। सपत्नियो के षड्यन्त्र के कारण राम को सीता की सच्चरित्रता पर सन्देह हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वे उस गर्भिणी को राज्य से निष्कासित कर देते है (६.१२)। राम के सुविज्ञात पुत्रों, कुश और लव का स्थान यहाँ अनंगलवण तथा मदनांकुश ने ले लिया है। (६. १३)। जैन रामायण के अनुरूप ही राम शत्रुजय की यात्रा करते हैं तथा प्रव्रज्या ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

काव्य मे निरूपित जिनेश्वरो का चरित भी क्रमभंग से मुक्त नही है। उदाहरणार्थ, ३।२४ मे तीर्थकरो के विद्याध्ययन के उल्लेख से पूर्व ३/२२ मे उनकी पत्नियो का नामोल्लेख आश्चर्यजनक है। इसी प्रकार उनके द्वारा संसारत्याग का उल्लेख पहले हुआ है, शासन का वाद में (क्रमशः ३ ३४, ३. ४०)।

काव्य का सप्तसन्धानत्व

सात व्यक्तियो के चरित को एक साथ गुम्फित करना दुस्साध्य कार्य है। प्रस्तुत काव्य मे यह कठिनाई इसलिये और बढ़ गयी है कि यहाँ जिन महापुरुषो का जीवनवृत्त निबद्ध है, उनमे से पाँच जैनधर्म के तीर्थकर हैं, अन्य दो हिन्दू धर्म के आराध्य देव, यद्यपि जैन साहित्य मे भी वे अज्ञात नही हैं। कवि को अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सस्कृत की सश्लिष्ट प्रकृति से सबसे अधिक सहायता मिली है। श्लेष ऐसा अलंकार है जिसके द्वारा कवि भाषा मे इतने अर्थ भर देता है कि जो जितना चाहे वाचस्पत्य करे। बहुश्रुत टीकाकार भाषा को इच्छानुसार अन्वित अथवा खण्डित करके अभीष्ट (अनभीष्ट भी) अर्थ निकाल सकता है। इसीलिये सप्तसन्धान में श्लेप की निर्बाध योजना की गयी है, जिससे काव्य का सातों पक्षों में अर्थ ग्रहण किया जा सके। किन्तु यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सप्तसन्धान के प्रत्येक पद्य के सात अर्थ नही हैं। वस्तुतः काव्य में ऐसे पद्य बहुत कम है, जिनके सात स्वतन्त्र अर्थ किये जा सकते है। अधिकांश पद्यो के तीन अर्थ निकलते है, जिनमे से एक जिनेश्वरो पर घटित होता हैं; शेप दो का सम्बन्ध राम तथा कृष्ण से है। तीर्थकरों की निजी विशेषताओं के कारण कुछ पद्यो के चार, पाँच अथवा छह अर्थ भी किये जा सकते है। जिन पद्यों के सात अर्थ किये गये है, उनमें कतिपय पदो के भिन्न अर्थो के द्वारा उन्हे विभिन्न चरितनायकों पर घटित किया गया है। पूर्णतया स्वतन्त्र सात अर्थ वाले पद्य काव्य मे विरले ही होगे। कुछ पद्य तो श्लेप से सर्वथा मुक्त है तथा उनका केवल एक अर्थ है। यही अर्थ सातों चरितनायको पर चरितार्थ होता है। यही प्रस्तुत काव्य का सप्तसन्धानत्व है। कवि की यह उक्ति—काव्येऽस्मिन्नत एव सप्त कथिता अर्थाः समर्था. श्रियै (४ ४२)—भी इसी अर्थ मे सार्थक है।

जो पद्य भिन्न-भिन्न अर्थो के द्वारा सातो पक्षो पर घटित होते है उनमे व्यक्तियो के अनुसार एक विशेष्य है, अन्य पद उसके विशेपण। अन्य पक्ष में अर्थ करने पर विशेषणो मे से प्रसंगानुसार एक पद विशेष्य की पदवी पर आसीन

हो जाता है, पूर्व विशेष्य सहित अन्य पद उसके विशेषण बन जाते है। इस प्रकार पाठक को सातो अभीप्ट अर्थ प्राप्त हो जाते है। उदाहरणार्थ सातो चरितनायकों के पिताओ के नाम प्रस्तुत पद्य मे समाविष्ट हो गये है।

अवनिपतिरिहासीद् विश्वसेनोऽश्वसेनोऽप्यथ दशरथनाम्ना यः सनाभिः सुरेशः।
बलिविजयिसमुद्रः प्रौढसिद्धार्थसंज्ञः प्रसूतमरुणतेजस्तस्य भूकश्यपस्य ।।१ ५४

इसी विधि से सातो काव्यनायको की जन्मतिथियो का उल्लेख भी एक पद्य में कर दिया गया है।

ज्येष्ठेऽसिते विश्वहिते सुचैत्रे वसुप्रमे शुद्धनभोऽर्थमेये ।
सांके दशाहे दिवसे सपौषे जनिर्जिनस्याजनि वीतदोषे ।। २.१६

वस्तुतः कवि के लिए यह विधि इतनी उपयोगी है कि काव्यनायको की सामूहिक विशेषताओ अथवा अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओ के निरूपण में उसने इस शैली का खुलकर आश्रय लिया है । चरितनायकों की जन्मभूमि (१ ३९-४०), माताओ के नाम, च्यवन तिथि (१.७८) तथा कैवल्यप्राप्ति की तिथियो (६ ६३) आदि को इसी प्रकार सरलता से निरूपित किया गया है। प्रस्तुत पद्य मे काव्यनायको के चारित्र्यग्रहण करने का वर्णन एक साथ हुआ है।

जातेर्महाव्रतमधत्त जिनेषु मुख्यस्तस्मात्परेऽहनि स-शान्ति-समुद्रभूर्वा ।
श्रीपार्श्व एव परमोऽच्चरमस्तु मार्गे रामेऽक्रमेण ककुभामनुभावनीये ।। ४.३६

कवि के 'सन्धान' का विद्रूप वहाँ दिखाई देता है, जहाँ पद्यो से विभिन्न अर्थ निकालने के लिये ऐसी संश्लिष्ट भाषा प्रयुक्त की गयी है जो रचना-चातुर्य तथा दुरूहता का कीर्तिमान है। पाँचवें तथा छठे सर्ग मे यह प्रवृत्ति चरम सीमा को पहुँच गयी है। पंचम सर्ग मे ऐसे पद्यो की भरमार है जो आपाततः राम अथवा कृष्ण-चरित से सम्बन्धित प्रतीत होते है परन्तु उनमे, पृथक् अथवा सामूहिक रूप में, अन्य नायको के जीवन के कतिपय प्रकरण भी अन्तर्निहित है। छठे सर्ग की स्थिति इसके विपरीत है। इसके अधिकतर भाग मे जिनेन्द्रो का वृत्त निरूपित है, शेपांश का, ऊपरी दृष्टि, से राम तथा कृष्ण से सम्बन्ध प्रतीत होता है । सप्तम सर्ग के तथाकथित ऋतु-वर्णन को भी चरित-नायको पर घटाने की चेप्टा की गयी है। पद्यो को विविध पक्षो पर चरितार्थ करने के लिए टीकाकार ने जाने-माने पद्यो के ऐसे चित्र-विचित्र अर्थ किये है कि पाठक टीकाकार की विद्वत्ता तथा भेदक दृष्टि से चमत्कृत तो होता है, किन्तु टीका के चक्रव्यूह मे काव्य के वज्र से जूझता-जूझता वह हताश हो जाता है। निम्नोक्त पद्य की पदावली पाण्डव पक्ष का आभास देती है किन्तु कवि का उद्देश्य इसमे मुख्यत. वसन्त का वर्णन करना है। टीका की सहायता के बिना कोई विरला ही इससे अभीष्ट अर्थ निकाल सकता है।

दुःशासनस्य पुरशासनजन्मनैव
संप्रापितोऽध्वनियमो विघटोत्कटत्वात् ।

अन्येऽभिमन्युजयिनो गुरुगौरवार्हा-
स्ते कौरवा अपि कृता हृतचौरवाचः ॥ ७.१२

पुरशासनजन्मनैव पुरं कुमुमदलवृत्ति शास्ति विघटयतीति पुरशासनो वसन्तः 'पुरं देहे गेहे कुसुमदलवृत्तौ चर्मणि प्रधानग्रामे' इति शब्दस्तोममहानिधिः, तस्य जन्म उदयस्तेन दु.शासनस्य दु खेन शास्यते सह्यते इति दुःशासनं हिमम्, तस्य विघटोत्कट-त्वात् विघटे विनाशे उत्कटत्वात् उच्छृंखलत्वात् अध्वनः मार्गस्य नियमः गमनप्रति-बन्ध· संप्राप्तित समाप्तः मधुमाधवे गमनस्य प्रशस्ततरत्वात् गमननिरोधो निवारितः। अन्ये अभिमन्युजयिनोऽभिमन्यन्ते प्रशस्यन्ते जनैरिति अभिमन्यवः जात्यादिकुसुम-विशेषा ते च ते जयिनश्चेति अभिमन्युजयिनः प्रशस्ततरा जातीयकुसुमानि गुरुर्महान् यो गौरव गरीयस्त्वम् तदर्हा तद्योग्याः कौ पृथिव्यां रवाः प्रसिद्धाः ते हृतचौरवाचः कृता हृता निवृत्ता. चौरवाच. एकान्तस्मरणानि येषां ते कृताः, तेषान्नामापि कैरपि न गृह्यत इति भाव. । न स्याज्जात्नीय वसन्ते इति साहित्यदर्पणस्मरणात् ।

अन्यार्थे पुरशासनजन्मनैव·······पुरशासनो वायुस्तस्माज्जन्म यस्य तेन भीम-सेनेन यद्वा पुरशासनः पुरन्दरः ततो जन्म यस्य तेन अर्जुनेन विघटोत्कटत्वात् वि विपरीतं विरुद्ध वा घटयत्याचरतीति विघट विरुद्धाचार. द्रौपदीचीराद्याकर्षकत्वादित्यर्थः तेन उत्कट.''''तस्मात् दुःशासनस्य तदभिधानकौरवस्य अध्वनियमः अध्वनो मार्गस्य नियम अन्तः, अत परं गन्तव्यन्न वर्त्तते इति निश्चयः महाप्रस्थानमित्यर्थः संप्रापितः उप-लम्भित. तथा अन्ये गुरुगौरवार्हाः (भीष्मादय.) विनष्टमुष्टवचनाः कृताः तेऽपि मृता अप्रशसार्हाश्च जाता. इति भाव. ।

प्रस्तुत पद्य मे रामचरित के कुछ प्रसंग अनुस्यूत हैं किंतु टीकाकार ने अन्य काव्यनायको के पक्ष के अर्थ भी निकाले हैं । यह दुस्साध्य कार्य कैसे सम्भव हुआ, इसका बोध टीका से ही हो सकता है ।

अथ विधिवशात् स्थित्याः पूर्तौ वने हृतदण्डके
सबलहरिणा विद्यासिद्धे खरात्मनि निष्ठिते ।
भवति समरे जह्ले रक्षःप्रभुर्वसुधांगजां
स्वमनुजमिते रामे मिथ्यामति स्वविमानधीः ॥ ५.३०

अथ हृतदण्डके दण्डयति विभीषति इति दण्डकः भयकारकः हृतः निरस्तः दण्डको यत्र तस्मिन् जिनेन्द्रागमनप्रभावात् पारस्परिकविरोधोऽपि शान्त इतिभावः। निर्भये वने विधिवशात् स्थित्याः धारणाया मुक्तेरित्यर्थ·······पूर्त्तौ पूर्तिनिमित्ताय मुक्तिनिमित्तायेति तत्त्व सबलहरिणा हरति पापमिति हरिः सबलश्चासौ हरिश्चेति सबलहरिस्तेन विद्यासिद्धे अध्यात्मज्ञानसिद्धे सम्पन्ने सति अतएव खरात्मनि निष्ठिते कामे प्रतिहृते वसुधांगजां वसु कृष्णतां दधातीति वसुधा चासौ कृष्णा अंगजा कवरी चेति वसु-धांगजां तां जह्ले हृतवान् लुलुचे । समरे समं समतां राति अर्पयति सर्वत इति समरस्त-

स्मिन् समभावे भवति प्रसरति रक्षःप्रभुः रक्षणैकप्रवणः स्वविमानधीः······देहाभिमान-रहितः स्वमनुजमिते रामे स्वस्य मनुर्मन्त्रं विचारशक्तिः तस्माज्जातः स्वमनुजः स्वस्व-विचारजातः तेन मिते अनुमिते रामे आत्मानन्दभवे अमिथ्यामर्ति निर्मलां दृढां बुद्धि चक्रे इति शेषः।

श्लोकार्धयमक से आच्छन्न निम्नोक्त प्रकार के पद्यों के भी पाठक से जब नाना अर्थ करने की आकांक्षा की जाती है, तो वह सिर धुनने के अतिरिक्त क्या कर सकता है?

नागाहत-विवाहेन तत्क्षणे सदृशः श्रियः।
नागाहत-विवाहेन तत्क्षणे सदृशः श्रियः॥ ९.५४

भाषा

सप्तसन्धान भाषायी खिलवाड है। काव्य को नाना अर्थो का बोधक बनाने की आतुरता के कारण कवि ने जिस पदावली का गुम्फन किया है, वह पाण्डित्य तथा रचना-कौशल की पराकाष्ठा है। सायास प्रयुक्त भाषा मे जिस कृत्रिमता तथा कष्ट-साध्यता का आ जाना स्वाभाविक है, सप्तसन्धान उससे भरपूर है। सप्तसन्धान सही अर्थ में क्लिष्ट तथा दुरूह है। सचमुच उस व्यक्ति के पाण्डित्य एवं चातुर्य पर आश्चर्य होता है, जिसने इतनी गर्भित भाषा का प्रयोग किया है जो एक साथ सात-सात अर्थों को विवृत कर सके। भापा की यह दुस्साध्यता काव्य का गुण भी है, दुर्गुण भी। जहाँ तक यह कवि के पाण्डित्य की परिचायक है, इसे, इस सीमित अर्थ में, गुण माना जा सकता है। किंतु जब यह भापात्मक क्लिष्टता अर्थबोध में दुर्लंघ्य बाधा बनती है तब कवि की विद्वता पाठक के लिए अभिशाप बन जाती है। विविध अर्थों की प्राप्ति के लिए पद्यो का भिन्न-भिन्न प्रकार का अन्वय करने तथा सुपरिचित शब्दों के अकल्पनीय अर्थ खोजने मे बापुरे पाठक को असह्य बौद्धिक यातना सहनी पड़ती है। परन्तु इस यातना से काव्य में छुटकारा नही क्योकि भिन्न-भिन्न अन्वय, पदच्छेद तथा पदों से सम्भव-असम्भव अर्थ का सवन करके ही इसके सप्तसन्धानत्व की पूर्ति की जा सकती है। टीकाकार विजयामृतसूरि को धन्यवाद, जिन्होने अपनी शास्त्रविशारदता तथा वहुश्रुतता से प्रत्येक पद्य के ऐसे अर्थ किये है जो सभी चरित-नायको पर घटित हो कर सप्तसन्धान की रचना-प्रक्रिया को चरितार्थ बनाते है। ये सभी अर्थ कवि को अभीष्ट थे अथवा नही, इसका निर्णय करना सम्भव नही है। एक-दो उदाहरणों से उक्त कथन की सार्थकता स्पष्ट हो जाएगी!

सवितृतनये रामासक्ते हरेस्तनुजे भुजे प्रसरति परे दौत्येऽदित्याः सुता भयभंगुराः।
श्रुतिगतमहानादा-देवं जगुर्निजमग्रजं रणविरमणं लोभक्षोभाद्विभीषणकायतः॥ ५.३७

रामायण के पात्रों के नामों तथा घटनाओ से परिपूर्ण इस पद्य में, रामपक्षीय अर्थ के अतिरिक्त जिनेश्वरो की कामविजय का वर्णन है। यह अर्थ निकालने के लिये

शब्दों को कैसे तोड़ा-मरोड़ा गया है और सुविज्ञात पदों के क्या अकल्पनीय अर्थ किये गये है, इसका आभास टीका के निम्नोक्त अंश से भली भाँति हो जाएगा।

हरेर्जिनेन्द्रस्य भुजे भोग्यकर्मणि तनुजे अल्पीभूते सवितृतनये प्रकाशविस्तारके जिनेन्द्रे रामे आत्मध्याने आसवते परे अत्युत्कृष्टे मोक्षे इत्यर्थः दौत्ये दूतकर्मणि प्रमरति ध्यानमेव मोक्षाय दूतकर्मकृदिति भावः दित्याः सुताः कामादयः भयभंगुराः भयभीता जाताः। विभीपणकायातः भयोत्पादककायोत्सर्गविधायकशरीरात् जिनेन्द्रात् लोभक्षोभात् लोभस्य तद्विपयकजयाशारूपस्य क्षोभात् आघातात् जयाशात्यागात् प्रत्युत निजपराजयभीतेः श्रुतिगतः महानादा भयादेव महाशब्दकारका दीर्घविराविणः रण-विरणं जिनेन्द्रतो विग्रहनिवर्तनं निजमग्रजमग्रेसरं देवं द्योतनात्मकं मोहराजं जगुः निवेदयामासुः।

प्रस्तुत पद्य मे केवलज्ञानप्राप्ति के पश्चात् जिनेश्वर का वर्णन है। आपाततः केवल राम पक्ष से सम्बन्धित प्रतीत होने वाले पद्य में यह अर्थ कैसे सम्भव है, इसका ज्ञान टीका के विना नही हो सकता।

सुमित्रांगजसंगत्या सदशाननभासुरः।
अलिमुक्तेर्दानकार्यसारोऽभाल्लक्ष्मणाधिपः॥ ६.५७

सुमित्र सुष्ठु मेद्यति स्निह्यतीति केवलज्ञानं तदेवांगजं तस्य संगत्या केवल-ज्ञानयोगेन दशाननभासुर दशसु दिक्षु आनन मुखमुपदेशकाले यस्य स दशाननस्तेन भासुरः लक्ष्मणाधिपः लक्ष्म चिह्नमेव लक्ष्मणं तत् अधिपाति स्वसंगेन धारयतीति लक्ष्मणाधिप. अलिमुक्ते अलेः सुराया मुक्तेस्त्यागात् दानकार्यसारः दानकार्यमुपदेशन-मेव सारो यस्य स अभात्।

किन्तु यह सप्तसन्धान का एक पक्ष है। इसके कुछ अंश भापायी जादूगरी से सर्वथा मुक्त है। माताओं की गर्भावस्था, दोहद, कुमार-जन्म तथा गणधरो के वर्णन की भापा प्राञ्जलता, लालित्य तथा माधुर्य से ओतप्रोत है। दिक्कुमारियो के कार्यकलाप का निरूपण अतीव सरल भाषा मे हुआ है।

काश्चिद् भुवः शोधनमादधाना जलानि पुर्या ववृषुः सपुष्पम्।
छत्रं दधुः कान्चन चामरेण तं वीजयन्ति स्म शुचिस्मितास्याः॥ २.२१

नवें सर्ग की सरलता तो वेदना-निग्रह रस का काम देती है। काव्य के पूर्वोक्त-भाग की क्लिष्टता से जूझने के पश्चात् नवें सर्ग की सरल-सुवोध कविता को पढकर मस्तिष्क की तनी हुई नसो को स्पृहणीय विश्राम मिलता है।

सुवर्णवर्णं गजराजगामिनं प्रलम्बबाहुं सुविशाललोचनम्।
नरामरेन्द्रैः स्तुतपादपंकजं नमामि भक्त्या वृषभं जिनोत्तमम्॥ ९.३०

प्रकृति-चित्रण

भावपक्ष का दारिद्रय चित्र-काव्य का सौन्दर्य है। अत. चित्रकाव्य मे उन प्रसगो के लिये स्थान नही है, जिनमे भावो की ऊष्मता प्रकट होती हो। सप्तसधान

मे छह परम्परागत ऋतुओ का तथाकथित वर्णन किया गया है किन्तु चित्रकाव्य मे इसका एकमात्र उद्देश्य महाकाव्य-रूढियों की खानापूर्ति करना है। मेघविजय ने प्रकृति-वर्णन में अपने भावदारिद्रय को छिपाने के लिये चित्र-शैली का आश्रय लिया है। श्लेष तथा यमक की भित्ति पर आधारित कवि का प्रकृति-वर्णन एकदम नीरस तथा कृत्रिम है। उसमें न मार्मिकता है, न सरसता। वह प्रौढोक्ति तथा श्लेप एवं यमक की उछल-कूद तक सीमित है। वास्तविकता तो यह है कि श्लेप तथा यमक की दुर्दमनीय सनक ने कवि की प्रतिभा के पंख काट दिये है। इसलिए प्रकृतिवर्णन में वह केवल छटपटा कर रह जाती है।

मेघविजय ने अधिकतर ऋतुओ की स्वाभाविक विशेपताए चित्रित करने की चेष्टा की है, किन्तु वह चित्रकाव्य के पाश से मुक्त होने मे असमर्थ है। अत. उसकी प्रकृति श्लेष और यमक के चक्रव्यूह मे फंसकर रह गयी है। वर्पाकाल मे नद-नदियों की गर्जना की तुलना हाथियो तथा सेना की गर्जना भले ही न कर सके, यमक की विकराल दहाड के समक्ष वह स्वयं मन्द पड़ जाती है।

न दानवानां न महावहानां नदा वनानां न महावहानाम्।
न दानवानां न महावहानां न दानवानां न महावहानाम् ॥७.२२

प्रकृति-वर्णन के जिन पद्यो के पाठक से एकाधिक अर्थ करने की अपेक्षा की जाती है, उन्हे उक्त वर्णन के अवयव न कह कर वौद्धिक व्यायाम का साधन मानना अधिक उपयुक्त है। वर्पाकाल सवके लिए सुखदायी है किन्तु रमणियो तथा दादुरो का आनन्द इस ऋतु मे अतुलनीय है। परदेशगमन के मार्ग रुद्ध हो जाने से नारियां अपने प्रियतमो के साथ सुख लूटती है और जलधारा का सेक दादुरो का समूचा सन्ताप हर लेता है। प्रस्तुत पद्य मे कवि ने पावस के इन उपकरणो का अंकन किया है, पर वह श्लेष की परतो मे इस प्रकार दब गया है कि सहृदय पाठक उसे खोजता-खोजता झुंझला उठता है। फिर भी उसके हाथ कुछ नही लगता।

अम्भोधरेण जनिता वनिता विशल्या
द्रोणाह्वयेन गिरिणा हरिणाभिनीता।
कौशल्यहारिमनसा हरिमप्यशल्यं
स्नानाम्भसैव विदधे त्वमुनादृतैव ॥७.२०

इन अलकृतिप्रधान वर्णनो की वाढ मे कही-कही प्रकृति का सरल रूप देखने को मिल ही जाता है। पावस की रात मे कम्वल ओढकर अपने खेत की रखवाली करने वाले किसान तथा वर्षा के जल से भीगे गलकम्वल को हिलाने वाली गाय का यह मधुर चित्र स्वाभाविकता से ओतप्रोत है।

रजनिवहुधान्योच्चै रक्षाविधौ धृतकम्वलः
सपदि दुधुवे वारांभाराद् गवा गलकम्वलः।

ऋषिरिव परक्षेत्रं सेवे कृषीवलपुंगव-
श्चपलसवलं भीत्या जज्ञे वलं च पलाशजम् ॥७.२६

वसन्त के मादक वातावरण में मद्यपान का परित्याग करने का उपदेश देते समय जैन यति की पवित्रतावादी प्रवृत्ति प्रवल हो उठी है। किन्तु उसका यह उपदेश भी श्लेप के परिधान मे प्रच्छन्न है (७-८)।

रस-योजना

सप्तसन्धान मे मनोरागो का रसात्मक चित्रण नही हुआ है। चित्रकाव्य मे इसके लिए अवसर भी नही है। जव कवि अपनी रचना-चातुरी प्रदर्शित करने मे ही व्यस्त हो, तो मानव-मन की सूक्ष्म-गहन क्रियाओ-विक्रियाओ का अध्ययन एवं उनका विश्लेषण करने का अवकाश उसे कैसे मिल सकता है? अतः काव्य में किसी भी रस का अगीरस के रूप मे परिपाक नही हुआ है। मेघविजय के अन्य दो महाकाव्यों की भी, रस की दृष्टि से, यही शोचनीय स्थिति है। सप्तसन्धान की प्रकृति को देखते हुए इसमें शान्तरस की मुख्यता मानी जा सकती है, यद्यपि जिनेन्द्रो के धर्मोपदेशो मे भी यह अधिक नही उभर सका है। तीर्थंकर की प्रस्तुत देशना मे शान्तरस के विभावों तथा अनुभावो की हल्की-सी रेखा दिखाई देती है।

त्यजत मनुजा रागं द्वेषं धृतिं दृढसज्जने
भजत सततं धर्मं यस्यादजिह्मगतारुचिः।
प्रकुरुत गुणारोपं पापं पराकुरुताच्चिराद्
नतिरतितरां न व्याधेया परव्यसनादिषु ॥५.४६

काव्य में यद्यपि भरत की दिग्विजय तथा राम एवं कृष्ण के युद्धो का वर्णन है किन्तु उसमें वीर रस की सफल अभिव्यक्ति नही हो सकी है। कुछ पद्यो के राम तथा कृष्ण पक्ष के अर्थ मे वीर रस का उद्रेक हुआ है। इस दृष्टि से यह युद्धचित्र दर्शनीय है।

तत्राप्तदानवबलस्य वलारिरेष न्यायान्तरायकरणं रणतो निवार्य।
धात्री जिघृक्षु शिशुपालराक्षसादिदुर्योधनं यवनभूपमपाचकार ॥३.३०

तृतीय सर्ग मे सुमेरु-वर्णन के अन्तर्गत देवदम्पतियों के विहारवर्णन मे सम्भोग शृंगार की मार्मिक अवतारणा हुई है।

गोपाः स्फुरन्ति कुसुमायुधचापरोपात् कोपादिवाम्बुजदृशः कृतमानलोपाः।
क्रीडन्ति लोलनयनानयनाच्च दोलास्वान्दोलनेन विवुधाश्च सुधाशनेन ॥३.४

जिनमाताओं की कुक्षि मे देव के अवतरण मे अद्भुत रस (१.७६) और कृष्ण के शव को उठा कर वलराम के असहाय भ्रमण में करुण रस (९-१६) की छटा है।

अलंकार-विधान

चित्रकाव्य होने के नाते सप्तसन्धान में चित्र-शैली के प्रमुख उपकरण अलंकारों की निर्वाध योजना की गयी है, किन्तु यह ज्ञातव्य है कि काव्य मे अलंकार भावानु-

भूति को तीव्र बनाने अथवा भावव्यंजना को स्पष्टता प्रदान करने के लिए प्रयुक्त नहीं हुए है। वे स्वयं कवि के साध्य है। उनकी साधना मे लग कर वह काव्य के अन्य धर्मों को भूल गया है जिससे प्रस्तुत काव्य अलंकृति-प्रदर्शन का अखाड़ा बन गया है।

मेघविजय ने अपने लिये बहुत भयकर लक्ष्य निर्धारित किया है। सात नायकों के जीवनवृत्त को एक साथ निबद्ध करने के लिए उसे पग-पग पर श्लेप का आंचल पकड़ना पड़ा है। वस्तुतः श्लेष उसकी बैसाखी है, जिसके बिना वह एक पग भी नही चल सकता। काव्य मे सभंग, अभंग, शब्दश्लेष, अर्थश्लेप, शब्दार्थश्लेप, श्लेप के सभी रूपों का प्रयोग हुआ है। पाचवें सर्ग में श्लेपात्मक शैली का विकट रूप दिखाई देता है। पद्यों को विभिन्न अर्थों का द्योतक बनाने के लिए यहाँ जिस श्लेपगर्भित भापा की योजना की गयी है, वह बहुश्रुत पण्डितों के लिए भी चुनौती है। टीका की सहायता के बिना यह सर्ग अपठनीय है। निम्नोक्त पद्य के तीन अर्थ है, जिनमे से एक पाच तीर्थंकरों पर घटित होता है, शेप दो राम तथा कृष्ण के पक्ष मे। शास्त्रीय दृप्टि से यह सभग और अभंग दोनों प्रकार के श्लेष का उदाहरण है।

> श्रुतिमुपगता दीव्यद्रूपा सुलक्षणलक्षिता
> सुरबलभृताम्भोधावद्रौपदीरितसद्गवी।
> सुररववशाद् भिन्नाद् द्वीपान्नतेन समाहृता
> हरिपवनयोर्धर्मस्यात्रात्मजेषु पराजये ॥५.३६

अपने काव्य के निबन्धन के लिए कवि ने श्लेष की भाँति यमक का भी बहुत उपयोग किया है। काव्य मे श्लेष के बाद कदाचित् यमक का ही सब से अधिक प्रयोग हुआ है। पदयमक के अतिरिक्त मेघविजय ने पादयमक, श्लोकार्द्धयमक; महायमक आदि का प्रचुर प्रयोग किया है। नगर-वर्णन की प्रस्तुत पंक्तियो से श्लोकार्द्धयमक की करालता का अनुमान किया जा सकता है।

> न गौरवं ध्यायति विप्रमुक्तं न गौरवं ध्यायति विप्रमुक्तम्।
> पुनर्नवाचारभसा नवार्थाऽपुनर्नवाचारभसानवार्था ॥१.५२

शब्दालकारों में अनुप्रास को भी सप्तसंधान मे पर्याप्त स्थान मिला है। श्लेष तथा यमक के तनाव मे अनुप्रास की मोहक प्रांजलता सुखद वैविध्य का संचार करती है। अन्त्यानुप्रास मे यह श्रुतिप्रिय झंकृति चरम सीमा को पहुंच गयी है। गंगा का यह मधुर वर्णन देखिये—

> गंगानुषंगान्मणिमालभारिणी सुरद्रुसेकामृतपूरसारणी।
> क्षेत्रक्षमेशस्य रसप्रचारिणी सा प्रागूढा वनितेव धारिणी ॥ १.१७।

शब्दो पर आधारित अलंकार मेघविजय के प्रिय अलंकार हैं क्योकि उनमे

कवि को शाब्दी खिलवाड़ का अबाध अवकाश मिला है, जो प्रस्तुत काव्य का साध्य है। किन्तु सप्तसंधान में शब्दालंकारो के अतिरिक्त प्रायः सभी मुख्य अर्थालंकार प्रयुक्त हुए हैं। यह अलंकार-बाहुल्य कवि की साहित्यशास्त्र-विशारदता को द्योतित करता है। कतिपय अलंकारों के उदाहरण अप्रासंगिक न होंगे।

कुमार-वर्णन के प्रस्तुत पद्य में अप्रस्तुत वटवृक्ष की प्रकृति से प्रस्तुत कुमार के गुण व्यंग्य होने से 'अप्रस्तुतप्रशंसा' है।

नम्रीभवेत् सविटपोऽपि वटो जनन्यां भूमौ लतापरिवृतो निभृतः फलाढ्यः।
कौलीनतामुपनतां निगदत्ययं किं सम्यग्गुरोर्विनय एव महत्त्वहेतुः॥ ३.१९

निम्नोक्त पद्य में चरितनायकों के जन्म से प्रजा की सुख-शान्ति का निरूपण है। अप्रस्तुत आरोग्य, भाग्य तथा अभ्युदय का यहां एक 'आविर्भाव' धर्म से सम्बन्ध है। अतः इसमे तुल्ययोगिता अलंकार है।

आरोग्यभाग्याभ्युदया जनानां प्रादुर्बभूवुर्विगतेजनानाम्।
वेशाविशेषान्मुदिताननानां प्रफुल्लभावाद् भुवि काननानाम्॥२.१३

वसन्त वर्णन की प्रस्तुत पंक्तियो में 'दीपक' की अवतारणा हुई है क्योंकि यहां प्रस्तुत चन्द्रमा तथा अप्रस्तुत राजा का एक समान धर्म से सम्बन्ध है।

व्यर्था सपक्षरुचिरम्बुजसन्धिबन्धे राज्ञो न दर्शनमिहास्तगतिश्च मित्रे।
किं किं करोति न मधुव्यसनं च दैवादस्माद् विचार्य कुरु सज्जन तन्निवृत्तिम्॥
७.९

जिनेन्द्रो की कीर्त्ति को रूपवती देवांगनाओं से भी अधिक मनोरम बताने के कारण प्रस्तुत पद्य मे अतिशयोक्ति अलंकार है।

मनोरमा वा रतिमालिका वा रम्भापि सा रूपवती प्रिया स्यात्।
न सुत्यजा स्याद् वनमालिकापि कीर्तिर्विभोर्यत्र सुरैर्निपेया॥९.६

दुर्जन निन्दा के इस पद्य मे आपाततः दुर्जन की स्तुति की गयी है, किंतु वास्तव मे इस वाच्य स्तुति से निंदा व्यंग्य है। अतः यहां व्याजस्तुति है।

मुखेन दोषाकरवत् समानः सदा-सदम्भः-सवने सशौचः।
काव्येषु सद्भावनया न मूढः किं वन्द्यते सज्जनवन्न नीचः॥ १.५

इस समासोक्ति मे प्रस्तुत अग्नि पर अप्रस्तुत क्रोधी व्यक्ति के व्यवहार का आरोप किया गया है।

तेजो वहन्नसहनो दहनः स्वजन्महेतून् ददाह तृणपुञ्जनिकुंजमुख्यान्।
लेभे फलं त्वविकलं तदयं कुनीतेर्भस्मावशेषतनुरेष ततः कृशानुः॥ ३.२०

काव्य मे प्रयुक्त अन्य अलंकारो मे अर्थान्तरन्यास (५.९), विरोधाभास (१. ३८), परिसंख्या (३.४१), उदात्त (२.८), अर्थापत्ति (२.१४), विशेषोक्ति (२.३७), निदर्शना, (१.६८), अतद्गुण (३.४४), दृष्टांत (३.२४, १.८) तथा

स्वभावोक्ति (१.१६) उल्लेखनीय है।

सप्तसंधान का मूल अलंकार श्लेष है, उपर्युक्त विवेचन में इसका अनेक वार संकेत किया गया है। काव्य की नानार्थकता की कुजी श्लेष ही है। श्लेष के साथ कवि ने अन्य अलंकार गूथकर अलंकारों के संकर की सृष्टि की है। अतः सप्तसंधान मे श्लेष के अतिरिक्त कहीं अन्त्यानुप्रास तथा काव्यलिंग का मिश्रण है (१.३), कही उपमा और व्याजस्तुति का (१.५), कही अर्थान्तरन्यास, यमक तथा विरोध मिश्रित हैं (१.६) कही रूपक, उपमा, काव्यलिंग तथा समासोक्ति (१. ६०)। अलंकारों के इस संकर की पराकाष्ठा निम्नोक्त पद्य में है, जिनमे श्लेष के साथ यमक, उपमा, विरोधाभास, काव्यलिंग तथा अतिशयोक्ति का मिश्रण दिखाई देता है।

नासत्यलक्ष्मीं वपुषाऽतिपुष्णन्नासत्यलक्ष्मीं धरते स्वरूपात्।
सत्यागमार्थं श्रयते यतेभ्यः सत्यागमार्थं लभते फलं सः ॥१.५१

छन्द

मेघविजय ने छन्दो के विधान में शास्त्रीय नियमों का यथावत् पालन किया है। प्रथम सर्ग उपजाति मे निवद्ध है। सर्ग के अंत मे मालिनी तथा स्रग्धरा का प्रयोग किया गया है। द्वितीय सर्ग मे इंद्रवज्रा की प्रधानता है। सर्गान्ति के पद्य शिखरिणी, मालिनी, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति तथा शार्दूलविक्रीडित मे है। तृतीय तथा चतुर्थ सर्ग की रचना में वसन्ततिलका का आश्रय लिया गया है। अंतिम पद्यो में क्रमशः स्रग्धरा तथा शार्दूलविक्रीडित प्रयुक्त हुए है। पांचवे तथा छठे सर्ग का मुख्य छंद क्रमशः हरिणी तथा अनुष्टुप् है। पांचवें सर्ग का अंतिम पद्य स्रग्धरा में निवद्ध है। सातवें सर्ग में जो छह छंद प्रयुक्त हुए है, उनके नाम इस प्रकार है—हरिणी, शार्दूलविक्रीडित वसन्ततिलका, इंद्रवज्रा, स्वागता तथा शिखरिणी। अतिम दो सर्गों के प्रयणन में क्रमशः द्रुतविलम्वित तथा उपजाति को अपनाया गया है। इनके अंत में शार्दूलविक्रीडित, वशस्थ तथा स्रग्धरा छंद प्रयुक्त हुए है। सप्तसधान मे कुल तेरह छदो का प्रयोग किया गया है। इनमें उपजाति का प्राधान्य है।

मेघविजय की कविता, दिक्कुमारी की भाँति गूढ़ समस्याएँ लेकर उपस्थित होती है (२.७)। उन समस्याओ का समाधान करने की कवि मे अपूर्व क्षमता है। इसके लिये कवि ने भाषा का जो निर्मम उत्पीडन किया है, वह उसके पाण्डित्य को व्यक्त अवश्य करता है, किन्तु कविता के नाम पर पाठक को वौद्धिक व्यायाम कराना, भापा तथा स्वयं कविता के प्रति अक्षम्य अपराध है। अपने काव्य की समीक्षा की कवि ने पाठक से जो आकांक्षा की है (काव्येक्षणाद्वः कृपया पयोवद् भावा. स्वभावात् सरसा स्युः—१/१५), उसकी पूर्ति मे उसकी दूरारूढ शैली सवसे वड़ी वाधा है। पर यह स्मरणीय है कि सप्तसंधान के प्रणेता का उद्देश्य चित्रकाव्य-रचना मे अपनी

क्षमता का प्रदर्शन करना है, सरस कविता के द्वारा पाठक का मनोरंजन करना नही। काव्य को इस मानदण्ड से आंकने पर ज्ञात होगा कि वह अपने लक्ष्य मे पूर्णतः सफल हुआ है। वाण के गद्य की मीमांसा करते हुए वेवर ने जो शब्द कहे थे, वे सप्तसंधान पर भी अक्षरशः लागू होते हैं। सचमुच सप्तसंधानमहाकाव्य एक वीहड़ वन है, जिसमे पाठक को अपने धैर्य, श्रम तथा विद्वत्ता की कुल्हाड़ी से झाड़-झंखाड़ काट कर अपना रास्ता स्वयं बनाना पड़ता है। भट्टिकाव्य की तरह यह 'व्याख्यागम्य' है, किन्तु व्याख्या की सहायता से श्रमपूर्वक काव्य के परिशीलन के बाद भी संस्कृत भाषा की असीम क्षमताओं की परिचिति के अतिरिक्त कुछ विशेष हाथ नहीं आता।

चतुर्थ अध्याय

ऐतिहासिक महाकाव्य

हम्मीरमहाकाव्य : नयचन्द्रसूरि

जैनाचार्य नयचन्द्रसूरिकृत हम्मीरमहाकाव्य[1] संस्कृत-साहित्य की अनूठी कृति है। चौदह सर्गो के इस वीरांक काव्य मे राजपूती शौर्य की सजीव प्रतिमा, महाहठी हम्मीरदेव के राजनैतिक वृत्त तथा दिल्ली के प्रचण्ड यवन शासक अलाउद्दीन खिल्जी के साथ घनघोर युद्धो और अन्तत: उसके स्वर्गमन का गौरवपूर्ण इतिहास प्रशस्त एवं प्रौढ शैली मे वर्णित है। राजाश्रयी कवियों द्वारा रचित ऐतिहासिक महाकाव्यों में, आश्रयदाता के संतोपार्थ इतिहास को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि उनमे तथ्य को कल्पना से अलग करना दुस्साध्य कार्य है। किन्तु निस्पृह जैन साधु का एकमात्र उद्देश्य देश तथा संस्कृति की रक्षा के लिये राष्ट्रवीर हम्मीर के प्राणोत्सर्ग की गौरवगाथा का यथावत् निरूपण करना है। उसे न राजसम्मान की आकाक्षा है, न धनप्राप्ति की लालसा। फलत:, हम्मीरमहाकाव्य का ऐतिहासिक वृत्त, कतिपय नगण्य स्थलो को छोडकर, प्राय: सर्वत्र प्रामाणिक तथा निर्दोप है, जिसकी पुष्टि वहुधा समकालीन यवन इतिहासकारो के विवरणो से होती है। इसका काव्यगत मूल्य भी कम नही है। स्वयं नयचन्द्र को इसके काव्यात्मक गुणो पर गर्व है[2]।

हम्मीरमहाकाव्य का महाकाव्यत्व

हम्मीरमहाकाव्य साम्प्रदायिक आग्रह से मुक्त, सही अर्थ मे, निरपेक्ष काव्य है। इसके जैनत्व का एकमात्र द्योतक छह पद्यों का मंगलाचरण है, जिनमें 'परमज्योति' की उपासना तथा, श्लेपविधि से, तीर्थंकरो से मंगल की कामना की गयी है, अन्यथा हम्मीरमहाकाव्य का समूचा वातावरण और प्रकृति वैदिक संस्कृति से ओतप्रोत है तथा यह इतिहास के तथ्यात्मक प्रस्तुतीकरण की श्लाघ्य भावना से प्रेरित है। इसकी रचना में काव्याचार्यों के विधान तथा महाकाव्य की बद्धमूल परम्परा का पालन किया गया है, यद्यपि कहीं-कहीं उनके बन्धन से मुक्त होने का साहसपूर्ण प्रयास भी दिखाई देता है। युद्ध-प्रधान काव्य मे जलविहार, सुरत आदि के माध्यम से कामुकता का

१. सम्पादक : मुनि जिनविजय, जोधपुर, सन् १९६८

२. पीत्वा श्रीनयचन्द्रवक्त्रकमलाविर्भाविकाव्यामृतं
को नामामरचन्द्रमेव पुरतः साक्षान्न पश्येद् ध्रुवम्।
आदावेव भवेदसावमरता चेत् तस्य नो वाधिका
दुर्वारः पुनरेष धावतुतमां हर्षावलीविभ्रमः॥ हम्मीरमहाकाव्य, १४।१६

असंयत चित्रण माघकाव्य के प्रभाव का परिणाम है किन्तु इससे निवृत्तिवादी जैन कवि की साहित्यिक साहसिकता भी द्योतित होती है । यही स्वतन्त्र वृत्ति काव्य के फलागम से प्रकट है, जो शास्त्रीय मान्यता के अनुकूल नही है ।

अधिकतर पूर्ववर्ती तथा परवर्ती महाकाव्यो के विपरीत हम्मीरकाव्य का कथानक काव्य के कलेवर के परिमाण के अनुरूप विस्तृत तथा सुगठित है । कथावस्तु को अन्वितिपूर्ण बनाने के लिये महाकाव्य मे जिन नाट्यसन्धियों की योजना आवश्यक मानी गयी है, उनका भी हम्मीरमहाकाव्य में सफल निर्वाह हुआ है । आठवे सर्ग से नवे सर्ग तक हम्मीर के सिंहासनारूढ होने तथा अलाउद्दीन को कर देना बन्द करके उसकी क्रोधाग्नि के प्रज्वलित करने मे मुखसन्धि है । दसवें सर्ग मे हम्मीर द्वारा भोज के अपमानित किये जाने, भोज के अलाउद्दीन की शरण में जाने तथा उससे हम्मीर को पराजित करने का रहस्य जान कर अलाउद्दीन द्वारा उल्लूखान को युद्धार्थ भेजने मे प्रतिमुख सन्धि का विनियोग हुआ है । ग्यारहवें सर्ग मे निसुरतखान तथा उल्लूखान, सन्धि करने के बहाने, अपनी सेना को छलपूर्वक पर्वत की घाटियों मे स्थित कर देते है । यहाँ गर्भसन्धि स्वीकार की जा सकती है । तेरहवे सर्ग में, एक ओर, रतिपाल, रणमल्ल, जाहड़ आदि विश्वस्त वीरो के विश्वासघात के कारण हम्मीर निराशा के सागर मे डूब जाता है, दूसरी ओर जाज और मुगल बन्धुओ की अविचल स्वामिभक्ति से उसमे आशा तथा उत्साह का संचार होता है । आशा-निराशा का यह अन्तर्द्वन्द्व विमर्श सन्धि को जन्म देता है । इसी सर्ग मे शत्रु द्वारा बन्दी बनाए जाने की आशंका से हम्मीर का अपना शिरच्छेद करने के वर्णन मे निर्वहण सन्धि विद्यमान है । काव्य-नायक के इस बलिदान से पाठक मे अमित स्फूर्ति तथा उत्साह का उन्मेष होता है । अत. यह फलागम शास्त्र-विरुद्ध होता हुआ भी काव्य के उद्देश्य के अनुरूप है, जो परम्परागत चतुर्वर्ग की प्राप्ति नही बल्कि राष्ट्र, सस्कृति तथा शरणागत की रक्षा के लिये हसते-हसते प्राण न्यौछावर करना है । व्यापक एव सुसंघटित कथानक के अतिरिक्त हम्मीरमहाकाव्य भाषा की गम्भीरता तथा शैलीगत धीरता के कारण उल्लेखनीय है और यह रणथम्भीर के इतिहास का विश्वसनीय स्रोत है । वस्तुतः हम्मीरमहाकाव्य संस्कृत के उन इने-गिने महाकाव्यों मे है, जो परम्परावादी तथा नव्यतावादी आलोचकों को एक समान सन्तुष्ट करते है ।

कवि तथा रचनाकाल

हम्मीरमहाकाव्य की प्रशस्ति मे नयचन्द्र ने अपनी गुरु-परम्परा का पर्याप्त परिचय दिया है । नयचन्द्र कृष्णगच्छ के प्रख्यात आचार्य जयसिंहसूरि के प्रशिष्य थे । जयसिंहसूरि उच्चकोटि के विद्वान् तथा ख्यातिप्राप्त वाग्मी थे । उन्होंने षड्भाषाचक्रवर्ती तथा प्रमाणज्ञो मे अग्रणी सारंग को वादविद्या मे परास्त कर अपनी

वाक्कला की प्रतिष्ठा की थी[3]। उनकी विद्वत्ता विविध रूपो में प्रस्फुटित हुई। उन्होने न्यायशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ भासर्वज्ञ-कृत न्यायसार पर पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी, एक स्वतन्त्र व्याकरण की रचना की तथा कुमारपालचरितकाव्य का प्रणयन कर अपनी कवित्वकला का परिचय दिया। सम्भवतः इस त्रिविध उपलब्धि के कारण ही जयसिंहसूरि को 'त्रैविद्यवेदि-चक्री' की गौरवशाली उपाधि से विभूषित किया गया था[4]। नयचन्द्र ने दीक्षा तो जयसिंह के पट्टधर प्रसन्नचन्द्रसूरि से ग्रहण की थी, किन्तु उनके विद्यागुरु जयसिंह ही थे। जयसिंह के पौत्र होते हुए भी वे, काव्यकला में, उनके पुत्र थे[5]।

हम्मीरमहाकाव्य मे इसके रचनाकाल का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नही है। अतः इसकी रचना कब हुई, इस विषय मे कुछ निश्चित कहना सम्भव नही है, किन्तु काव्यप्रशस्ति के अप्रत्यक्ष सकेतो तथा अन्य स्रोतो के आधार पर कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। नयचन्द्र ने अपने काव्यगुरु जयसिंहसूरि के कुमारपाल-चरित का प्रथम आदर्श सम्वत् १४२२ (सन् १३६५ ई०) मे किया था। इस तथ्य का निर्देश करते हुए जयसिंह का कथन है—

अवधानसावधानः प्रमाणनिष्णः कवित्वनिष्णातः।
अलिखन् मुनिनयचन्द्रो गुरुभक्त्यास्याद्यादर्शम्॥[6]

यदि यह युवा नयचन्द्र का यथार्थ मूल्यांकन है, तो स्वीकार करना होगा कि सन् १३६५ तक उसने साहित्य की विभिन्न शाखाओ मे अच्छी गति प्राप्त कर ली थी। जैसा स्वयं नयचन्द्र ने सूचित किया है, उसे हम्मीरमहाकाव्य लिखने की प्रेरणा तोमर-नरेश वीरम के सभासदो की इस व्यंग्योक्ति से मिली थी कि प्राचीन कवियों के समान उत्कृष्ट काव्य-रचना करने वाला अब कोई कवि नही है।[7] इस तोमर-वंशीय शासक का सन् १४२२ तक विद्यमान होना अब सुनिश्चित है। शिलालेखो से ज्ञात होता है कि उसका पौत्र डूगरेन्द्र सन् १४२४ मे ग्वालियर के सिंहासन पर आसीन हो चुका था और वह सन् १४४० तक अवश्य विद्यमान था।[8] इससे प्रतीत होता है कि वीरम ने दीर्घकाल तक राज्य किया था और सन् १४२२ मे वह पर्याप्त वृद्ध हो गया था। वीरम का राज्यारम्भ चालीस वर्ष पूर्व मानकर उसका शासनकाल

३. वही, १४।२२-२३
४. वही, १४।२४
५. पौत्रोऽप्ययं कविगुरोर्जयसिंहसूरेः काव्येषु पुत्रतितमां नयचन्द्रसूरिः। वही, १४।२७
६. कुमारपालचरित, प्रशस्ति, ६
७. काव्यं पूर्वकवेर्न काव्यसदृशं कश्चिद् विधाताऽधुने-
त्युक्ते तोमरवीरमक्षितिपतेः सामाजिकैः संसदि। हम्मीरमहाकाव्य, १४।४३
८. डी. आर. भण्डारकर : इन्सक्रिप्सन्स आफ नार्दर्न इण्डिया, संख्या ७८५

१३८२ से १४२२ ई० तक स्वीकार किया जा सकता है। नयचन्द्र का वीरम से सम्पर्क उसके राज्य के मध्यकाल मे हुआ था, जब उसकी काव्यकला की ख्याति चतुर्दिक् फैल चुकी थी। अतः हम्मीरकाव्य का रचनाकाल १४०० ई० के आस-पास मानना सर्वथा न्यायोचित होगा। उस समय नयचन्द्र की प्रज्ञा पूर्णतया परिणत हो चुकी थी, जो हम्मीरकाव्य की प्रौढता में प्रतिबिम्बित है। हम्मीर की मृत्यु को (सन् १३०१) तब लगभग सौ वर्ष हो चुके थे। हम्मीर-चरित का प्रणयन करने की बलवती लालसा नयचन्द्र को दिन-रात मथ ही रही थी।[९] आश्चर्य नही यदि उसने हम्मीरदेव की शतवार्षिक पुण्यतिथि पर प्रस्तुत काव्य से उनका साहित्यिक तर्पण किया हो। यदि यह अनुमान ठीक है, तो पन्द्रहवी शताब्दी के प्रथम वर्ष, सन् १४०१, को हम्मीरकाव्य का रचनाकाल माना जा सकता है।[१०] खरतरगच्छीय जैन भण्डार, कोटा से प्राप्त, काव्य की सम्वत् १४८६ (सन् १४२९) में लिखित प्राचीनतम प्रति से भी, प्रकारान्तर मे, उक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है। मुनि जिनविजयजी ने कीर्तने वाली प्रति की पुष्पिका मे उल्लिखित[११], काव्य के लिपिकाल, सम्वत् १५४२ को स० १४५२ के लिए भूल मानकर हम्मीरकाव्य को सम्वत् १४५२ मे रचित मानने की कल्पना की है। उनके विचार में काव्य के लिपिकर्ता नयहंस का सम्वत् १५४२ मे होना संभव नही क्योकि वे जयसिंहसूरि के शिष्य थे, जो सं० १४२२ मे विद्यमान थे।[१२] उसी वर्ष नयचन्द्र ने उनके कुमारपालचरित का प्रथम आदर्श किया था। परन्तु कृष्णर्षिगच्छ मे जयसिंहसूरि नामक एक अन्य आचार्य हुए है, यह सम्वत् १५३२ मे रचित उनके प्रतिमालेख से निश्चित है। नयहंस इन्ही जयसिंह के शिष्य थे। कुमारपालचरितकाव्य के लेखक जयसिंह उनसे सर्वथा भिन्न हैं। एक गच्छ मे समान नामधारी आचार्यों की आवृत्ति सुविदित है।[१३] अतः जयसिंह-सूरि के शिष्य नयहंस का स० १५४२ मे विद्यमान होना सर्वथा संभव है। इस प्रकार स० १४५२ को हम्मीरकाव्य का रचनाकाल मानने का मूलाधार ही ढह जाता है।

९. तेने तेनैव राज्ञा स्वचरिततनने स्वप्नगुन्नेन कामम्। हम्मीरमहाकाव्य, १४।२६.

१०. डा० फतहसिंह : हम्मीरमहाकाव्य—एक पर्यालोचन, पृ० २८।

११. सम्वत् १५४२ वर्षे श्रावणे मासि श्रीकृष्णर्षिगच्छे श्रीजयसिंहसूरिशिष्येण नयहंसेनात्मपठनार्थ श्री पेरोजपुरे हम्मीरमहाकाव्यं लिलिखे।

१२. मुनि जिनविजय : संचालकीय वक्तव्य, हम्मीरमहाकाव्य, पृ० ३।

१३. श्री अगरचन्द नाहटा : नयचन्द्रसूरिकृतकुम्भकर्णविक्रमवर्णननां काव्यो, स्वाध्याय, १४.३, पृ० २५२ (अनुवादक जयन्त ठाकुर)।

कथानक

हम्मीरमहाकाव्य चौदह सर्गो की विशाल कृति है, जिसकी पद्य-संख्या १५७६ है। प्रथम दो सर्गों में चाहमान वंश के काल्पनिक उद्गम तथा दीक्षित वासुदेव से पृथ्वीराज द्वितीय तक उसके प्रारम्भिक शासकों का कवित्वपूर्ण वर्णन है। तृतीय सर्ग में साहवदीन (शहाबुद्दीन गोरी) से त्रस्त पश्चिमी देश के राजा, गोपाचल-नरेश चंद्रराज के नेतृत्व में, रक्षा के लिये पृथ्वीराज से प्रार्थना करते है। पृथ्वीराज शहाबुद्दीन को दण्डित करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी करता है। सात बार निरन्तर विजय प्राप्त करने के पश्चात् आठवी बार वह छलपूर्वक वन्दी वना लिया जाता है। शहाबुद्दीन क्रुद्ध होकर उसे किले मे चिनवा देता है। चतुर्थ सर्ग में हरिराज की विलासिता तथा उसके कारुणिक अन्त, शकराज के अजमेर पर आक्रमण के फल-स्वरूप उसके मन्त्रियों के रणथम्भोर मे आश्रय लेने, प्रह्लादन के असामयिक मरण, उसके पुत्र वीरनारायण के दिल्लीराज द्वारा कपटपूर्ण वध तथा वाग्भट के मालवराज के षड्यन्त्र से वचकर पुन: रणथम्भोर पर अधिकार करने की विस्तृत घटनाएँ वर्णित हैं। वाग्भट के प्रतापी पुत्र जैत्रसिंह के तीन पुत्र थे—सुरत्राण, हम्मीर तथा वीरम। पांचवें से आठवें सर्ग के प्रारम्भिक भाग तक महाकाव्य-सुलभ विषयान्तर दृष्टिगत होते हैं। इनमे क्रमश: वसन्त, वनविहार, जलक्रीड़ा, सम्भोग तथा प्रभात का वर्णन है। भगवान् विष्णु के आदेश से जैत्रसिंह ने सं० १३३९ की पौष पूर्णिमा, रविवार को, हम्मीर को राज्याभिषिक्त किया और स्वयं आत्महित की साधना के लिये श्रीआश्रम नामक पत्तन को प्रस्थान किया किन्तु मार्ग मे लूताप से उनका देहान्त हो गया। नवम सर्ग मे हम्मीर द्वारा कर देना बन्द करने से क्रुद्ध होकर अलाउद्दीन अपने भाई उल्लूखान को रणथम्भोर के निकटवर्ती प्रदेश को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिये भेजता है। हम्मीर दिग्विजय के पश्चात् व्रतस्थ था, अत: प्रधाना-मात्य धर्मसिंह के आदेश से सेनापति भीमसिंह ने वनास के तट पर शकसेना पर आक्रमण किया। राजपूतो के प्रवल प्रहार से शकसेना भाग उठी, किन्तु धर्मसिंह के प्रमाद से सेनापति विजयी होकर भी घिर गया और युद्ध करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। व्रतपूर्ति के पश्चात् हम्मीर ने धर्मसिंह के आचरण को अन्धता तथा नपुंमकता की संज्ञा देकर उसे वस्तुत: अन्धा और नपुसक बनवा दिया और पद से च्युत कर दिया। धर्मसिंह का पद उसने खड्गधारी भोज को दिया। भोज देव अर्थसंचय मे कुशल नही था, अत: अपनी शिष्या नर्तकी धारादेवी की सहायता से धर्मसिंह पुन: प्रधानामात्य पद प्राप्त करने मे सफल हुआ। उसने नाना प्रकार के अनुचित कर लगाकर राजकोश को परिपूर्ण कर दिया। उसने भोजदेव से भी आय-शुद्धि मागी जिससे भोज को अपना सर्वस्व उसे देना पड़ा। जब लोभान्ध राजा ने भी उसका अपमान किया तो वह अपने अनुज पीथमसिंह के साथ तीर्थयात्रा के बहाने

रणथम्भोर से निकल पड़ा। दसवें सर्ग में भोज हम्मीर से अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए अलाउद्दीन से जा मिलता है। उसकी दुष्प्रेरणा से अलाउद्दीन ने, उल्लूखान के नेतृत्व मे, एक विशाल सेना हम्मीर के विरुद्ध भेजी। खल्जी सेना बुरी तरह पराजित हुई। उल्लूखान किसी प्रकार जीवित भागने में सफल हुआ। उधर महिमासाह ने भोज की जागीर जगरा पर छापा मारकर पीथमसिंह को सपरिच्छद वन्दी वनाया। उल्लूखान की दुर्भाग्य-कथा तथा भोज के करुणक्रन्दन से अलाउद्दीन की कोपाग्नि भडक उठी। ग्यारहवें सर्ग में मुसलमानी सेना द्वारा रणथम्भोर के विफल रोध तथा निसुरतखान की मृत्यु का वर्णन किया गया है। उल्लूखान ने उसका शव दिल्ली भिजवाया। उसकी अन्त्येष्टि के पश्चात् स्वयं अलाउद्दीन ने रणथम्भोर को प्रस्थान किया। वारहवें सर्ग मे हम्मीर तथा अलाउद्दीन का दो दिन का घनघोर युद्ध वर्णित है, जिसमे ८५,००० यवन योद्धा खेत रहे। तेरहवें सर्ग मे राजपूत वीर, यवनो के सभी धावो को विफल कर देते है। यवनो ने खाई पाटने का प्रयास किया। चौहानों ने आग्नेय गोलो से लकड़ी को जला दिया और लाखयुक्त खौलता तेल फेंका जिससे यवन योद्धा जल-भुन गये। वल से दुर्ग को लेना असम्भव जानकर अलाउद्दीन ने कूटनीति का प्रयोग किया। उसने हम्मीर के विश्वस्त सैनिक रतिपाल, रणमल्ल आदि को अपने पक्ष में मिला लिया। निराशा तथा अविश्वास के उस वातावरण मे महिमासाह ने अपनी पत्नी तथा वच्चों को तलवार की धार उतारकर अविचल स्वामिभक्ति का परिचय दिया। अन्ततः हम्मीर स्वयं समरभूमि मे उतरा और शत्रु के हाथ मे पडने की आशंका से स्वयं अपना गला काट कर प्राण त्याग दिये। चौदहवें सर्ग मे हम्मीर के प्राणोत्सर्ग से चतुर्दिक् व्याप्त शोक की अभिव्यक्ति तथा काव्यकार की प्रशस्ति है।

हम्मीरमहाकाव्य की कथावस्तु को दो भागो में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम चार सर्ग, जिनमे हम्मीर के पूर्वजो का वर्णन है, प्रथम खण्ड के अन्तर्गत आते हैं। आठवें से तेरहवे सर्ग तक छह सर्गों का अन्तर्भाव द्वितीय खण्ड मे होता है। हम्मीरकाव्य का मुख्य प्रतिपाद्य—हम्मीरकथा—द्वितीय खण्ड मे ही निरूपित है। मध्यवर्ती तीन सर्गो (५-७) का काव्य-कथा से कोई सम्वन्ध नही है। उन्हें आसानी से छोड़ा जा सकता था। उनका समावेश केवल महाकाव्य-परिपाटी का निर्वाह करने के लिये किया गया है। नयचन्द्र के काव्यशास्त्रीय विधान के अनुसार काव्य के कलेवर मे अलकृत शृंगारपूर्ण वर्णन उतने ही आवश्यक हैं, जितना भोजन मे नमक[१४]। ये सर्ग काव्य के ऐतिहासिक इतिवृत्त से क्लान्त पथिक के विश्राम एवं मनोरजन के लिये सरस शाद्वल हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, प्रथम चार सर्गों का

१४. रसोऽस्तु यः कोऽपि परं स किंचिन्नास्पृष्टशृंगाररसो रसाय।
सत्यप्यहो पाकिमपेशलत्वे न स्वादु भोज्यं लवणेन हीनम्॥
हम्मीरमहाकाव्य, १४।३६

भी मुख्य कथा से अधिक सम्बन्ध नही है। प्रथम खण्ड, एक प्रकार से, हम्मीरकथा की भूमिका है। इसीलिये निरन्तर तीन सर्गो का सेतु बाधने पर भी कथा-प्रवाह अवरुद्ध नही होता। वास्तव में, हम्मीरमहाकाव्य का कथानक व्यापक, अन्विति-पूर्ण तथा गतिशील है। महाकाव्य के ह्रासयुग मे नयचन्द्र की यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। संस्कृत के वैभव काल के काव्यो में भी ये गुण कम दिखाई देते है।

हम्मीरमहाकाव्य में बिम्बित कवि का व्यक्तित्व

नयचन्द्रसूरि ने काव्य के विविध प्रसगों मे अपने शास्त्र-विषयक ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है, यद्यपि माघ की भाँति उसने काव्य को शास्त्रीय पाण्डित्य के प्रदर्शन का अखाडा नही बनाया है। नयचन्द्र में राजनीतिज्ञ, इतिहासकार तथा कामशास्त्र, व्याकरण, साहित्यशास्त्र आदि मे निष्णात आचार्य का दुर्लभ समन्वय है।

हम्मीरमहाकाव्य का प्रणेता राजनीति-पटु कवि है, किन्तु भारवि तथा माघ की तरह उसकी राजनैतिक विद्वत्ता अर्थशास्त्र, कामन्दक आदि से गृहीत कोरा सैद्धातिक पाण्डित्य नही है। हम्मीरकाव्य मे तीन शक्तियो, चार उपायों, छह गुणो की[15] सामान्य चर्चा अवश्य है पर नयचन्द्र की राजनीति दैनन्दिन व्यवहार की राजनीति है, जो नवोदित राजा का पग-पग पर मार्गदर्शन करती है। इस दृष्टि से, युवक हम्मीर को दी गयी 'राज्य-शिक्षा' बहुत महत्त्वपूर्ण है।

नयचन्द्र के अनुसार आचारवान् राजा राज्य की सुख-समृद्धि का आधार है। सन्मार्ग पर चलने से वह प्रजा के आदर का पात्र बनता है किन्तु उसका दुराचार राज्य की नीव को खोखला कर देता है। जो राजा सत्ता के नशे मे पूज्य व्यक्तियो के प्रति शिष्टाचार को भूल जाता है, वह आग के समान है जो तनिक प्रमाद से सब कुछ हडप लेती है। राजा को स्त्री तथा राज्यलक्ष्मी का कभी विश्वास नही करना चाहिये। चाहे अनुरक्त हों या विरक्त, दोनो अवस्थाओ मे ये कष्टप्रद है। परन्तु राज्यलक्ष्मी विवेकशील शासक का आचल नही छोडती। नीति की सफलता के लिये साम, दान आदि उपायो का प्रयोग आवश्यक है, किन्तु त्रिवर्ग की भाँति उन्हे भी क्रम से प्रयुक्त किया जाना चाहिये। प्रथम तीन के असफल होने पर ही 'दण्ड' का प्रयोग न्यायोचित है[16]। नयचन्द्र का आदर्श 'एकच्छत्र राज्य' है। देश मे वर्तमान प्रतिद्वन्द्वी राजा, आंगन के विषवृक्ष के समान है। उसका उच्छेद करना अनिवार्य है। पराक्रम राजा का प्रमुख अस्त्र है। अपनी शक्ति का प्रदर्शन न करने वाला राजा अपमान का भागी बनता है। परन्तु नीति यह है कि यदि उपाय (बुद्धि) से कार्य सिद्ध हो

१५. वही, १.१०३, २.१,१०. ६.१०

१६. वही, ८.७३-७८.

जाए तो विक्रम (वल-प्रयोग) अनावश्यक है[१७]। वास्तव में, शौर्य और बुद्धि एक मिथुन है। उन्ही से सुराज्य प्रसूत होता है। अत: वलशाली विजिगीषु के लिये भी उसी शत्रु के विरुद्ध प्रयाण करना उचित है, जिसे विजित करना सम्भव हो[१८]। बाह्य शत्रुओ की अपेक्षा आन्तरिक शत्रु (षड्रिपु) अधिक प्रवल तथा दुस्साध्य है। उन्हे वशीभूत किये विना दिग्विजय निरर्थक है[१९]।

विवादास्पद समस्याओ के न्यायपूर्ण समाधान तथा नीति के सम्यक् निर्धारण के लिये मन्त्रणा का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। नयचन्द्र ने मन्त्रणा की गोपनीयता पर बहुत वल दिया है। उनके विधान में केवल एक मन्त्री के साथ मत्रणा करना निरापद है। एकाधिक अमात्यो के साथ मंत्रणा एक साथ अनेक गाड़ियों पर सवारी करने के समान अव्यावहारिक तथा सकटजनक है। राजा को पहले स्वयं समस्या पर विचार करके मंत्री की सम्मति लेनी चाहिये। दोनों मे सहमति होने पर उसके अनुसार आचरण किया जाए। यदि दोनों में मतभेद हो, तो मंत्रणा के प्रकाश मे राजा को अपने विचार में यथोचित परिवर्तन करना चाहिये[२०]।

राज्य की नीति राजा तथा मन्त्री के सामूहिक विमर्श से निर्धारित की जाती है परन्तु उसे कुशलता से क्रियान्वित करना मंत्रियो तथा राज्य के अन्य कार्यकरों पर निर्भर है। नयचन्द्र ने इस सम्बंध मे बहुत मार्मिक तथा विवेक-सम्मत विधान किया है। मत्रिपद पर विश्वस्त तथा परीक्षित व्यक्तियो की नियुक्ति ही राज्य के लिये हितकारी है। कुलक्रमागत मंत्रियो को छोडकर नये मंत्रियों को साम्राज्य का भार सौपना कच्चे घड़े मे पानी रखने के समान मूर्खतापूर्ण है। पूर्व-दण्डित अथवा पूर्व-विरोधी पुरुप को पुन: प्रधानामात्य के पद पर प्रतिष्ठित करना 'मृत्युलेख' (डेथ वारंट) पर हस्ताक्षर करना है। वह गुप्त रूप से हृदय मे वैर सहेज कर रखता है और अवसर मिलते ही राजा को लील जाता है[२१]। राज्य के कार्मिकों की नयचन्द्र ने अत्यन्त कडे शब्दों मे निंदा की है। उसका निश्चित मत है कि राजा को अपने अनुजीवियो पर निरन्तर अंकुश रखना चाहिये। स्वामी को धोखा देकर घूस आदि से अपना पोपण करने वाले कर्मचारियो को खेत की स्वयम्भू घास की तरह तुरन्त उखाड़ कर फेंक देना चाहिए। प्रजा के लिये राजा माता के समान है और अनुजीविवर्ग माता की सौत के समान। उसके हाथ मे प्रजा के शिशु को

१७. वही, ८.७६, ८१-८३ तथा, उपायसाध्ये खलु कार्यवन्धे न विक्रमं नीतिविदः स्तुवन्ति। ११.२१.

१८. वही, ८.८४-८५

१९. विध्वस्तारिचयोऽप्यजित्वाऽन्तरंगशत्रूनतिमात्रशक्तीन्। वही, ८.३९

२०. वही, ८.९७-१००

२१. वही, ८.९९-१०२

सौपना बुद्धिपूर्ण नहीं है। कर्मचारियों की नियुक्ति के संबंध मे नयचन्द्र की व्यवस्था है कि अपने से अधिक कुलीन व्यक्ति को अनुजीवी नियुक्त करना राजा के लिये निरापद नही है। वह शक्ति संचित करके वह वृक्ष की भाँति राज्य के प्रासाद को नष्ट कर देता है[२२]।

कर (टैक्स) राज्य की आर्थिक सुरक्षा तथा सम्पन्नता का मुख्य आधार है। कर-व्यवस्था का न्यायोचित तथा विवेक-सम्मत होना अनिवार्य है अन्यथा वह गम्भीर असंतोष को जन्म देती है। प्रजा से इस प्रकार कर लेना चाहिये कि उसे पीडा न हो[२३]। प्रजा को पीड़ित करके कोश को करो से भरना, अपने ही मांस से शरीर का पोषण करने के समान निकृष्ट कर्म है[२४]। उचित कर-प्रणाली से प्रजा सन्तुष्ट रहती है और राज्य का अभ्युदय होता है[२५]। प्रजा-पीडन के समान कुल-विरोध भी राजा के लिये त्याज्य है। प्रजापीडन और कुल-विरोध चक्की के दो पाट हैं, जिनमे फंस कर राज्य धान की तरह चूर-चूर हो जाता है[२६]।

नयचन्द्र द्वारा प्रतिपादित राजनीति का सार सम्भवतः यह है—

पराभवन् द्विषच्चक्रं प्रभवन् न्यायवृद्धये।
सौख्यं चानुभवन् स्फीतं स प्रजाश्चिरमन्वशात्॥ ४.३१

शत्रु की पराजय तथा न्यायपूर्ण शासन, इन्ही पर प्रजा का सुख तथा राज्य की समृद्धि आधारित है।

नयचन्द्रसूरि सफल इतिहासकार भी है। हम्मीरमहाकाव्य मे उन्होने हम्मीर तथा उसके पूर्वजो का इतिहास प्रस्तुत किया है, वह उनकी इतिहास-प्रवीणता का परिचायक है। प्रारम्भिक शासको के वर्णन मे कुछ त्रुटियां है। सम्भवतः नयचन्द्र को उनके इतिहास के प्रामाणिक स्रोत प्राप्त नही हो सके थे। किन्तु हम्मीर का विवरण लगभग पूर्णतया विश्वसनीय तथा तथ्यपूर्ण है। वस्तुत हम्मीरमहाकाव्य संस्कृत का एकमात्र ऐसा काव्य है जिसे न्यायपूर्वक इतिहास-ग्रंथ कहा जा सकता है। हम्मीर-काव्य के ऐतिहासिक वृत्त के सत्यासत्य का परीक्षण आगे यथास्थान किया जाएगा।

इतिहास तथा राजनीति के अतिरिक्त नयचन्द्र कामशास्त्र के भी समर्थ विद्वान् हैं। उनमे कालिदास की रसिकता का अभाव है पर माघ की तरह वे 'स्मरकलाविदुर' —कामकला के प्रौढ पण्डित है। पंचम तथा षष्ठ सर्ग मे क्रमशः वनविहार और

२२. वही, ८.६२-६५
२३. वही, ८ ८७
२४. प्रजादण्डेन यत् तेन प्रतेने कोशवर्द्धनम्।
तत्किं स्वस्यैव मांसेन न स्वदेहोपबर्हणम्॥ वही, ८.१७०
२५. वही, ४.१
२६. वही, ८.६१.

जलकेलि के अन्तर्गत विलासितापूर्ण चेष्टाओ तथा सप्तम सर्ग में रतिक्रिया के वर्णन मे उनकी यह कामशास्त्रीय विशारदता खूब प्रकट हुई है। दु:खान्त काव्य में शृंगार का वह ठेठ चित्रण माघकाव्य के प्रासंगिक वर्णनों के प्रभाव का फल है। माघ की तरह नयचन्द्र ने भी इस प्रकरण मे नायिका के मुग्धा, प्रौढा, खण्डिता, कलहान्तरिता आदि भेदो तथा उनके बिब्बोक, कुट्टमित, किलकिंचित आदि भावो का साग्रह निरूपण किया है। नयचन्द्र एक कदम आगे बढ़ गये है। उन्होने अभिधा-प्रणाली से विपरीतरति, वीर्य-स्खलन, सम्भोग के तुरन्त बाद पुन: रतिक्रीडा मे प्रवृत्त होने, नवोढा के सम्भोग के समय हाथो से योनि को ढकने तथा अंगो को सिकोड़ने आदि निषेध-चेष्टाओं का[२७] इस मुक्तता से वर्णन किया है कि हम्मीरकाव्य का यह प्रसंग कुरुचिपूर्ण अश्लीलता, बल्कि निर्लज्जता, से आच्छादित हो गया है। माघ का शृंगारचित्रण भी अश्लील है परन्तु नयचन्द्र का सम्भोग-वर्णन मर्यादा तथा शालीनता की सब सीमाएँ पार कर गया है। कामशास्त्र के क्षेत्र में माघ को यदि कही मात मिली है, वह संयमवादी जैन साधु नयचन्द्र के हाथो, हम्मीरकाव्य मे। हम्मीरकाव्य का शृगार-वर्णन हिन्दी के रीतिकालीन काव्यो के वातावरण का आभास देता है।

नयचन्द्र भट्टि अथवा माघ की कोटि के वैयाकरण तो नही है। कम से कम उन्होंने अपने व्याकरण के पाण्डित्य का उस प्रकार प्रदर्शन नही किया। किन्तु हम्मीर-महाकाव्य से उनके शब्दशास्त्रीय ज्ञान की गम्भीरता का पर्याप्त परिचय मिलता है। उनके विचार मे व्याकरण का पाण्डित्य मूलसूत्र तथा व्याख्यासहित वृत्ति (काशिका?) के सम्यक् परिशीलन से प्राप्त होता है[२८]। स्वयं नयचन्द्र ने अष्टाध्यायी तथा काशिका का सूक्ष्म अध्ययन किया होगा। इसलिये हम्मीरमहाकाव्य मे व्याकरण के विद्वत्तापूर्ण प्रयोगो का प्राचुर्य है[२९]। काव्यशास्त्र, अलंकार तथा छन्द: शास्त्र पर भी नयचन्द्र का पूरा अधिकार है। उनकी कतिपय साहित्य-शास्त्रीय मान्यताओ की आगे

२७. वही, ७.८३, ९०, १२१, १०३, १०१, ११२, ११६, आदि।

२८. बलाबलं सूत्रगतं विचार्य सविग्रहां यो विदधीत वृत्तिम्।
स एव तत्तद्गुरुगौरवार्हशास्त्रज्ञधुर्यत्वमुपैति तात॥ वही, ८. १०५

२९. कुछ व्याकरणनिष्ठ प्रयोग द्रष्टव्य हैं—
(अ) चिकीर्षयात्मनीनस्य सस्मार परमात्मन:। वही, ४.७८
(आ) पचेलिमफलोदया, भिदेलिमतमायति (४.८७), दधिवांस: (४.११५,)
सौख्यनाडिंधमा: (४.११५), उर:पूरं,
दूर्वालावं (१३.२२२), लोकंपृण, मुष्टिंधय (१४.१)
(इ) अदुग्धायन्त, ऐक्षुयष्टीयन्त, अचन्दनायन्त (४.१२२)
(ई) अर्वाद्विष्ट (४.३९) समनीनहत् (१२.११), अचीखनत् (१३.४७), मा दात् (१३.८४), मा ग्राहिषु: (१३.२२९), उपाक्रांस्त (१३.१४७)

समीक्षा की जायगी। काव्य मे वैदिक ऋचाओ, यज्ञो के अनुष्ठान, उनमे मत्रो की ध्वनि, दक्षिणा, व्रत आदि की चर्चा से[30] प्रतीत होता है कि वेद तथा धर्मशास्त्र मे भी नयचन्द्र की अच्छी गति थी। कवि के रूप मे नयचन्द्र 'निर्मल अर्थ' के पक्षपाती है और उसे ही कवि की कीर्ति का आधार मानते हैं[31]। हम्मीरकाव्य में नयचन्द्र ने अपने उस आदर्श का पूर्ण पालन किया है। वह भावपक्ष के कवि है किन्तु उन्होने काव्य मे शब्द अर्थात् उसके कलापक्ष की उपेक्षा नही की है। वे अपने काव्य के कलात्मक महत्त्व से आश्वस्त है। हम्मीरमहाकाव्य मे लालित्य तथा वक्रिमा का सुन्दर समन्वय है[32]।

रसयोजना

काव्य मे रस के महत्त्व तथा स्थिति के सम्बन्ध मे नयचन्द्र ने अपनी मान्यता का कुछ आभास दिया है। उनके विचार मे उत्तम काव्य तीव्र रसानुभूति का ही दूसरा नाम है। शब्दाडम्बर से क्षणिक चमत्कार उत्पन्न कर भावदारिद्र्य को छिपाना सामान्य कवि का काम है[33]। हम्मीरकाव्य मे इस उदात्त आदर्श का यथावत् पालन किया गया है। इसकी रचना सहृदय को रसास्वादान कराने के निश्चित उद्देश्य से हुई[34] है। वस्तुत. हम्मीरकाव्य मे आद्यन्त रस की अमृतधारा प्रवाहित है जिसका पान करके काव्यरसिक अपूर्व आनन्द प्राप्त कर सकता है[35]। नयचन्द्र ने मानव-हृदय की विविध अनुभूतियो का चित्रण इस कौशल तथा मनोयोग से किया है कि केवल रस-समृद्धि की दृष्टि से हम्मीरमहाकाव्य समग्र जैनाजैन काव्य-साहित्य मे अत्युच्च विन्दु का स्पर्श करता है। इसे पढ़ कर हृदय मे सहसा जो आनन्द का उद्रेक होता है, उसका कारण रसवत्ता है—क्षोभभावमगमत् सहसा यत् तत्र कारणमसौ रसवत्ता (६.१६)। परन्तु हम्मीरमहाकाव्य में विविध रसो के तारतम्य के बारे मे नयचन्द्र का दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट नही है। काव्य के लिये प्रयुक्त 'श्रृंगारवीराद्भुत' विशेषण श्रृगार तथा वीर रस की समकक्षता तथा समान महत्त्व की स्वीकारोक्ति है। अन्यत्र उनकी मान्यताए परस्पर-विरोधी प्रतीत होती हैं। एक ओर उन्होने 'समरसंभव' वीररस के ओज को श्रृंगार की माधुरी से अधिक प्राणवान् मानकर वीररस को सर्वोपरि प्रतिष्ठित किया है[36], दूसरी ओर उन्होंने सुरतसुख को सर्वोत्तम सुख माना है[37]

३०. वही, ८.१०, ८०, ९.९१, ९२, ११.३५

३१. कीर्त्यै कवीन्द्रा इव निर्मलार्थोत्पत्तिं नरेन्द्राः परिभावयन्ति। वही, ८.९.

३२. नयचन्द्रकवेः काव्ये दृष्टं लोकोत्तरं द्वयम्। शिष्यकृता प्रशस्ति, पद्य ४.

३३. वदन्ति काव्यं रसमेव यस्मिन् निपीयमाने मुदमेति चेतः।
किं कर्णतर्णसुपर्णपर्णाभ्यर्णादिवर्णार्णवडम्बरेण॥ हम्मीरमहाकाव्य, १४.३५

३४. सरसजनमनःप्रीतये काव्यमेतत्। वही, १४.३४.

३५. अश्रान्तं च समुल्लसन्त्विह रसैर्वाचः सुधासेकिमाः। वही, १४.४५

३६. श्रृंगारतः समरसंभवो रसो नूनं विशेषमधुरत्वमंचति। वही, १२.१३

३७. इह सुखेषु सुखं सुरतोद्भवम्। वही, ७.९७

और शृंगाररस को अध्यात्मरस (ब्रह्मानन्द) से भी उच्चतर आनन्द की पदवी प्रदान कर[38] उसके प्रति वरीयता प्रकट की है। सम्भवतः 'शृंगारवीराद्भुत' विशेषण में उल्लिखित रसों का क्रम भी शृंगार की प्रमुखता को द्योतित करता है।

इस विरोध के बावजूद नयचन्द्रसूरि वीर तथा शृगार दोनों के मर्मज्ञ चित्रकार हैं। हम्मीरमहाकाव्य का अंगीरस वीर है। उसके वीररसपूर्ण ऐतिहासिक इतिवृत मे रतिक्रीड़ा तथा अन्य शृंगारिक चेष्टाओ का विस्तृत वर्णन (५-७) अप्रासंगिक तथा अवाछनीय प्रतीत होता है, परन्तु अपने काव्यसिद्धान्त[39] का अनुसरण करते हुए नयचन्द्र ने शृगार को काव्य मे इतना व्यापक स्थान दिया है कि वह वीर रस पर हावी हो गया है। काव्य के इस भाग से ऐसा प्रतीत होता है कि यह अमरुशतक आदि की तरह मूलरूप से शृंगारिक रचना है। ये शृंगार-लीलाएं माघ के कथानक में भी पूर्णतया नही खप सकी हैं फिर उस ऐतिहासिक काव्य में जिसका अन्त नायक के वलिदान तथा तज्जन्य शोक मे होता है, यह नग्न कामुकता कैसे ग्राह्य हो सकती है? स्पष्टत. अपने काव्यशास्त्रीय आदर्श का परिपालन करने की लालसा तथा माघ के अनुकरण की भावना ने कवि को औचित्य से भ्रान्त कर दिया है। पर इसका यह अभिप्राय नही कि हम्मीरमहाकाव्य में वीररस की सफल व्यंजना नही हुई है। वस्तुतः काव्य के तीसरे, आठवें, नवें, ग्यारहवें तथा वारहवे सर्गो के युद्ध-वर्णनो मे वीररस को सशक्त अभिव्यक्ति मिली है। यह वात भिन्न है कि हम्मीरमहाकाव्य का युद्धवर्णन चरितकाव्यो के वातावरण का आभास देता है। इसके युद्ध-वर्णनों के अन्तर्गत अधिकतर उन वीररसात्मक रूढियो का वर्णन हुआ है जो चरितकाव्यो तथा हिंदी के वीरगाथाकाव्यो की निजी विशेषता समझी जाती है। इसलिये हम्मीरकाव्य के सभी युद्धों के वर्णन में प्रतिद्वन्द्वी सेनाओं की सज्जा, उनके प्रयाण, तलवारो की टकराहट, हाथियो की चीत्कार, धनुषो की टंकार, कवन्धो के नर्तन, योद्धाओ के साहसिक करतवो तथा विरोधी सैनिको के द्वन्द्व-युद्ध मे जूझने, देवागनाओ के मृत वीरो का वरण करने के लिये समरांगण मे आने आदि का वर्णन किया गया है। इन रूढियों का निरूपण वारहवें सर्ग में हुआ है। इनके लिये नयचन्द्र माघकाव्य का ऋणी है, जिसमे सर्वप्रथम इन रूढियो का साग्रह प्रतिपादन दिखाई देता है। हम्मीर काव्य मे प्रयुक्त वीररसात्मक रूढियो के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

> भंक्तुं विपक्षकरिकुम्भघर्षणैः कण्डूलतां स्वभुजदण्डयोरथ।
> चेलुर्भटा अपि वलद्वयाद् रणोत्साहत्रुटत्त्रुटदशेषकंकटाः॥ १२.३२
> पत्तिः पदातिकमियाय सादिनं सादी रथस्थितमहो महारथी।
> मातंगयानगमनो निषादिनं द्वन्द्वाहवोऽजनि तदेति दोष्मताम्॥ १२.३३

३८. रतिरसं परमात्मरसाधिकं कथममी कथयन्तु न कामिनः।
यदि सुखी परमात्मविदेकको रतिविदौ सुखिनौ पुनरप्युभौ॥ वही, ७.१०४

३९. रसोऽस्तु यः कोऽपि परं स किंचिन्नास्पृष्टशृंगाररसो रसाय।
सत्यप्यहो पाकिमपेशलत्वे न स्वादु भोज्यं लवणेन हीनम्॥ वही, १४.३६

ऊर्ध्वं विदारितमरातिना शिरो भ्रश्यन्नियोजितमपि द्विधाऽप्यधः ।
स्वेनैव भिन्नजठरादुपादृतैरन्त्रैर्निबध्य युयुधे पुनर्भटः ।। १२.४५
एकः करी समरसीम्नि सादिनं चिक्षेप कन्दुकमिवाधिपुष्करम् ।
धृत्वा करेण च कटौ परो हयं प्रास्फालयद् रजकवस्त्रवद् भुवि ।। १२.७२

हम्मीरमहाकाव्य मे अन्यत्र भी वीररस के चित्र सुदर तथा प्रभावोत्पादक हैं । नयचन्द्र की कल्पनाशीलता तथा गम्भीर पदावली उनके सौन्दर्य को और बढ़ा देती है । दीक्षित वासुदेव के शौर्य का प्रस्तुत चित्र उक्त गुणो के कारण विशेष उल्लेखनीय है । "जब नट नर्तकी को नचाता है तो अनेक प्रकार के वाद्य बजते है और प्रेक्षक अपने अपने स्थान पर बैठ कर नृत्य का आनन्द लेते है । वासुदेव ने अपनी चक्कर लगाती हुई तलवार के बहाने जब शौर्यश्री रूपी नर्तकी को रण-रंगभूमि मे नचाया, उस समय उसी तरह चारों तरफ जुझाऊ बाजे बज रहे थे और देवता लोग आकाश से इस विचित्र नृत्य का प्रेक्षण कर रहे थे।" इस गूढोपमा ने वर्णन में नयी आभा डाल दी है ।

प्रवाद्यमाने रणवाद्यवृन्दे संपश्यमानेषु दिवः सुरेषु ।
शौर्यश्रियं यो रणरंगभूमावनर्तयद्वेल्लदसिच्छलेन ।। १.३०

परन्तु नयचंद्र की मूलवृत्ति अहिंसावादी है । युद्ध तथा तज्जन्य हिंसा से उसे सहज घृणा थी । 'न पुष्पैरपि प्रहर्त्तव्यविधिर्विधेयः' (१२.८३)—उसके अन्तर्मन की भावना को बिम्बित करता है।

शृगाररस के चित्रण मे नयचन्द्र कदाचित् वीररस से भी अधिक सिद्धहस्त हैं । वीररस-प्रधान काव्य मे, पूरे तीन सर्गो में, शृंगार का सविस्तार वर्णन मात्र साहित्यिक आदर्श की पूर्ति नही है, वह शृगार के प्रति उनके आन्तरिक अनुराग का द्योतक है । वीररसात्मक रूढियों के समान शृगार की व्यजना करने मे नयचन्द्र ने माघ का अनुसरण किया है । माघ के समान ही हम्मीरमहाकाव्य का शृगार वासनामय तथा ऐन्द्रिय है । नयचंद्र ने वाच्य-प्रणाली का आश्रय लेकर शृगार का जो नग्न चित्रण किया है, उसने उनके शृंगार की सरसता को कुचल दिया है और वह अश्लील (कही-कही निर्लज्ज) बन गया है । नयचन्द्र ने गर्वपूर्वक विकत्थना की है कि जिसने हम्मीरमहाकाव्य के 'शृगार-सजीवन' सप्तम सर्ग का आस्वादन नही किया, उसके लिये शृगार के कामिनी-सहित समस्त उपकरण अकारथ है[४०], किन्तु इसमे सम्भोग केलियों के अन्तर्गत बहुधा वीर्यपात, विपरीतरति, सम्भोगमुद्राओ आदि के द्वारा मर्यादाहीन अशिव भावोच्छ्वास हुआ है । इसलिए हम्मीरमहाकाव्य का शृगार विलासवृत्ति (कामुकता) को अधिक उभारता है ! नयचन्द्र की नायिका की भाँति वह सौन्दर्य को उघाड कर क्षणिक गुदगुदी पैदाकर सकता है[४१], उसमे हृदय के अन्तस्तल मे पैठने की

४०. ... खिलमिदं न श्रुतः सप्तमश्चेत् ।
सर्गः शृंगारसंजीवन इति विदितो वीरहम्मीरकाव्ये ।। वही, ७.१२८
४१. गलदम्बरा क्षणमभादपरा प्रकटीभवन्त्यतनुशक्तिरिव । वही, ५.६८

क्षमता नही है। वस्तुतः नयचंद्र 'स्मरकलाविदुर'—कामकला के आचार्य हैं। उनकी यह कामकला-प्रवीणता उन्हे हिंदी के रीतिकालीन कवियो की पंक्ति में खड़ा कर देती है। इस दृष्टि से मूल्यांकन करने पर हम्मीरकाव्य में वनविहार, जलकेलि तथा सम्भोगक्रीडा के वर्णन; कामकला से अनुमोदित शृगार रस की सघनता से ओत-प्रोत हैं। नयचन्द्र के शृंगार की वास्तविक प्रकृति से परिचित होने के लिये कुछ उदाहरण आवश्यक हैं।

वनविहार करते समय एक नायक वृक्ष पर चढने लगा। नीचे खड़ी नायिका ने कोपल समझ कर उसका पैर पकड़ लिया। प्रिय के स्पर्श से उसका शरीर रोमांच से भर गया। आनन्दातिरेक की उस स्थिति मे उसने प्रिय के पांव को न खींचा और न छोड़ा। उसे पकड़े वह प्रियतम के अंगस्पर्श का सुख लूटती रही।

दयितस्य वृक्षमधिरूढवतः पदमाशु पल्लवधिया विधृतम्।
न चकर्ष नैव च मुमोच परा पदवाप्तिजातपुलकप्रसरा॥

मुग्धा के इस संयत आचरण के विपरीत प्रणयी युगलो की शृंगार-चेप्टाओं के वे चित्र है जो नयचन्द्र के घोर विलासी तथा ठेठ कामुकतापूर्ण पद्य हैं और इस कला के आचार्य भारवि तथा माघ के इसी कोटि के वर्णनो को आसानी से पछाड़ सकते हैं। हम्मीरमहाकाव्य के ये प्रसंग पढने मात्र से पाठक की वासना को उत्तेजित कर देते हैं। 'रति समाप्त होने पर नायक ने क्रिया से विरत होने की चेप्टा की। नायिका उस सुख से वचित नही होना चहती थी। अतः उसने नायक को दृढ़ता से जंघाओं मे कस लिया। विजय के इस उल्लास और उससे प्राप्त सुख को उसने कभी मुस्करा कर, कभी वतिया कर और कभी हुंहुं शब्द से प्रकट किया।'

रतिविरामभवादुपगूहनाद् विघटनेच्छुमवेत्य परा प्रियम्।
सुदृढमूरुयुगेन निपीडयन्त्यतत हुंहुमिति स्मितजल्पितम्॥ ७.१०८

एक अन्य प्रौढा विपरीतरति मे लीन थी। वह क्रिया के चरम विंदु पर पहुँचने वाली थी कि नायक उसके 'पुरुपायितलाघव' (विपरीतरति की कुशलता) को देखने लग गया। इससे वह लजा गयी। रति को तो वह छोड़ नहीं सकती थी। उसने फूलो से दीपक वुझा कर अपनी झुझलाहट प्रकट की और वह निर्विघ्न क्रिया में प्रवृत्त रही।

प्रियतमे पुरुषायितलाघवं किमपि पश्यति वक्रितकन्धरम्।
असहया रतिमुज्झितुमन्यया गृहमणिः शमितः कुसुमैर्ह्रिया॥ ७।९०

शृंगार की यह व्यंजना भी कम विलासी नही है। किसी कामिनी ने स्वयं पेड़ पर चढ कर पुष्पचयन करने की ठानी। उसने एक पांव भूमि पर और दूसरा निकट-तम शाखा पर रखा। वह इस मुद्रा में खड़ी थी कि नायक वहाना करके सहसा उसके नीचे झुक गया। नायिका की नाभि के अधोवर्ती भाग (योनि) को देखकर उसका काम दीप्त हो गया और वह 'ऊर्ध्वसुरत' के लिये तड़प उठा।

कामिन्याः कुसुमानि चेतुमधिरोहन्त्यास्तरुस्कन्धकं
भूमौ स्थायिनि दक्षिणे पदतले वामे च शाखास्पृशि ।
कृत्वा किंचन कैतवं विनमितोऽधिनाभिमूलं परो
दृष्ट्वोदीरितकाम ऊर्ध्वसुरते वांछामतुच्छा दधौ ॥ ५.७१. †

हम्मीरमहाकाव्य का कवि शृंगार के आलम्बन विभाव तथा अनुभावो के चित्रण में निपुण है । कामकला का कवि होने के नाते यह उससे अपेक्षित भी था ।

अन्य गौण रसो मे, हम्मीरमहाकाव्य मे, रौद्र, करुण, बीभत्स, अद्भुत, वात्सल्य तथा शान्त रस की भव्य छटा दिखाई देती है । महिमासाहि जगरा पर आक्रमण करके पीथमसिह को परिच्छद सहित बन्दी बना लेता है । भोज के मुख मे उनकी दुर्दशा सुन कर अलाउद्दीन क्रोध से पागल हो जाता है और हम्मीर को तत्काल दण्डित करने की प्रतिज्ञा करता है । उसके क्रोधावेश के चित्रण मे रौद्ररस की मार्मिक व्यजना हुई है ।

तद्वाक्यश्रवणादथ प्रसृमरक्रोधप्रकम्पाधरो
बाहुष्टम्भनमासनं प्रतिलवं सव्यापसव्ये नयन् ।
प्रत्युक्षिप्प शिरोवतंसमवनीपीठे तथास्फालयन्
चक्रे काव्यपरम्परामिति तदा म्लेच्छाननीवल्लभः ॥ १०.७६.

हम्मीरकाव्य मे करुणरस का भी सजीव चित्रण हुआ है । करुणरस के परिपाक के लिये काव्य मे अनेक अवसर है । पिता जैत्रसिंह की मृत्यु पर हम्मीर के विलाप, पुत्री देवल्लदेवी को जौहर के लिये विदा करते समय उसके क्रन्दन, महिमासाहि के परिवार को खून की नदी मे तैरता देख कर उसकी मूर्च्छा तथा हम्मीर के प्राणोत्सर्ग से व्याप्त सार्वजनिक शोक की अभिव्यक्ति मे करुणरस की वेगवती धारा प्रवाहित है । कालिदासोत्तर साहित्य मे उनकी करुणा की व्यंजनात्मक मार्मिकता दुर्लभ है । अधिकाश कवियो ने, भवभूति को आदर्श मान कर, शोकतप्त व्यक्ति के क्रन्दन मे ही करुणरस की सार्थकता मानी है । हम्मीरमहाकाव्य मे भी करुणरस के चित्रण मे यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, यद्यपि उसमे अपनी तीव्रता के कारण हृदय की गहराई मे पैठने की क्षमता है । हम्मीरकाव्य मे करुणरस की सबसे मार्मिक अभिव्यक्ति कदाचित् हम्मीर के बलिदान से उत्पन्न शोक के निरूपक

† इसी श्रेणी के शृंगार के कुछ अन्य चित्र भी दर्शनीय है—

मम मुख-विधोरपि दर्शनात् तव दृशौ कुमुदे अपि मीलितः ।
किमिदमित्यपरा शयनोन्मुखं स्तनघटेन जघान हि तं मुहुः ॥ वही, ७.८५
सम्भोगकेलिं प्रविधाय पश्चात् सुप्तापि नारी प्रथमप्रबुद्धा ।
आलिग्य सुप्तं प्रियसुप्तिभंगं विशंकमाना न जहाति तल्पम् ॥ वही, ८.१३

किन्तु विलासिता का यह अमर्यादित चित्रण काव्य-धर्म का निर्वाह मात्र है । निवृत्तिवादी धार्मिक भावना के प्रबल होते ही कवि को नारी 'मूत्र और पुरीष का पात्र' प्रतीत होने लगती है—स्त्रीणां तथा मूत्रपुरीषपात्रे गात्रे (८.४४)

इस पद्य मे हुई है ।

लोको मूढतया प्रजल्पतुतमां यच्चाहमानः प्रभुः
श्रीहम्मीरनरेश्वरः स्वरगमद् विश्वैकसाधारणः ।
तत्त्वज्ञत्वमुपेत्य किंचन वयं ब्रूमस्तमां स क्षितौ
जीवन्नेव विलोक्यते प्रतिपदं तैस्तैर्निजैर्विक्रमैः ॥ १४.१५

पिता के निधन से संतप्त हम्मीर को धीरज बंधाने वाली बीजादित्य की युक्तियाँ शान्तरस मे परिपूर्ण है । बीजादित्य ने जीवन की नश्वरता तथा भौतिक पदार्थों की अस्थिरता को रेखांकित करके हम्मीर के शोक को दूर करने का प्रयत्न किया है । 'शरीर की बावडी मे प्राण के हंस का कलरव शाश्वत नही है । काल के रहट की घटिकाएँ आयु के जल को धीरे-धीरे किन्तु अविराम रीतती रहती हैं"।

क्रीडां करिष्यति कियच्चिरमेष हंसः
स्निग्धोल्लसत्कलरवोऽत्र शरीरवाप्याम् ।
कालारघट्टघटिकावलिपीयमान-
मायुर्जलं झगिति शोषमुपैति यस्मात् ॥८. १२७

इस प्रकार हम्मीरमहाकाव्य मे विविध रसो की चर्वणा के लिये पर्याप्त सामग्री वर्तमान है । वस्तुतः नयचन्द्र की कविता प्रपानकरस का आनन्द देती है । नयहस के शब्दो में हम्मीरमहाकाव्य रस का अक्षय भण्डार है—नयचन्द्रकवेः काव्यं रसायनमिहाद्भुतम् (शिष्यकृता प्रशस्तिः, ३)

प्रकृति-चित्रण

हम्मीरमहाकव्य के ऐतिहासिक इतिवृत्त की मरुभूमि मे नयचन्द्र ने स्थान-स्थान पर प्रकृति के मनोरम उद्यानो का रोपण किया है । पाचवें, छठे, सातवें, तथा तेरहवें सर्गों के कुछ भागो मे वसन्त, सूर्यास्त, रात्रि, चन्द्रोदय, प्रभात तथा वर्पा के हृदयग्राही चित्र अंकित करके पाठक की क्लान्ति मेटने का सफल प्रयत्न किया गया है । ये वर्णन कवि के प्रगाढ प्रकृति-प्रेम के परिचायक हैं । प्रकृति के प्रति नयचन्द्र का दृष्टिकोण अधिकतर रूढिवादी है । कालिदास के पश्चात् प्रकृति-चित्रण मे नयी शैली का सूत्रपात होता है । प्रकृति के सहज आलम्वन-पक्ष के स्थान पर विविध प्रसाधनो के द्वारा उसका कलात्मक रूप अंकित करने मे काव्यकला की सार्थकता मानी जाने लगी । नयचन्द्र को इसी परम्परा की थाती प्राप्त हुई है । फलतः हम्मीर-महाकाव्य मे प्रकृति के आलम्वन-पक्ष के प्रति कवि का अनुराग दृष्टिगत नही होता । इसमें बहुधा कलात्मक प्रणाली से प्रकृति का चित्रण किया गया है । नयचन्द्र के अधिकांश प्रकृति-वर्णन अप्रस्तुतविधान पर आधारित है । कवि के अप्रस्तुतविधान के कौशल के कारण उसका प्रकृतिवर्णन सरसता से सिक्त है । इस दृष्टि से सूर्यास्त तथा वर्षा-ऋतु के वर्णन विशेप उल्लेखनीय है ।

प्रकृति-वर्णन की तत्कालीन परम्परा के अनुरूप हम्मीरमहाकाव्य मे प्रकृति का स्वाभाविक रूप बहुत कम दिखाई देता है। जिन्हें प्रकृति के स्वाभाविक चित्र कहा जा सकता है, वे भी आलंकारिकता से इस तरह आक्रान्त है कि उनकी यत्किं-चित् सहजता कलात्मकता मे दब गयी है। किन्तु नयचन्द्र के प्रकृति के अलकृत वर्णनों का सौन्दर्य दर्शनीय है। उसकी भाषा की धीरता, कल्पना की उर्वरता तथा अप्रस्तुत-विधान की निपुणता इन चित्रो को और आकर्षक बना देती है। अस्तगामी सूर्य के बिम्ब का एक भाग पश्चिम सागर मे डूब गया है, शेषांश की लालिमा से गगन दीपित है। इस मनोहर दृश्य को देखकर भ्रम होता है कि शेषशायी भगवान् विष्णु ने अपनी प्रिया सिन्धुकन्या के एक कुच को अपने हाथ से ढक लिया है, दूसरे की आभा सूर्य की द्युति के रूप मे आकाश मे फैली हुई है।

जलशयेशशयाम्बुजनिह्नुतैककुचसिंधुसुतोरलिजभ्रमम् ।
प्रवितरज्जगतां जलधेर्जले शकलमग्नमभाद् रविमण्डलम् ॥७.५

सन्ध्या के समय चकवा अपनी प्रिया के साथ कमलनाल का आनन्द ले रहा था। सहसा रात हो गयी। प्रिया के वियोग से वह भौचक्का रह गया। उसकी चोंच मे मृणाल-खण्ड ज्यो का त्यो रह गया। वह बिसलता ऐसी प्रतीत होती थी मानो विरह मे प्राणो को निकलने से रोकने के लिए अर्गला हो। उत्प्रेक्षा ने इस कवि-प्रौढि को चमत्कृत कर दिया है।

निशि वियोगवतः पततः स्थिता बिसलता चलचञ्चुपुटे बभौ ।
असुगणं वनिताविरहाद् विनिर्जिगमिषुं विनिरोद्धुमिवार्गला ॥७.१३

चन्द्रोदय का यह कल्पनापूर्ण चित्र भी कम आकर्षक नही है। नयचन्द्र रात्रि में तारो के छिटकने का कारण ढूढने चले है। उनका विश्वास है कि चन्द्रमा चिर विरह के पश्चात् अपनी प्रिया से मिला है। उसने उत्कण्ठावश प्रिया का ऐसा गाढा-लिंगन किया कि उसका मौक्तिक-हार टूट कर बिखर गया है। हार के वही मोती आकाश मे तारे बन कर फैल गये है।

चिरभवन्मिलनादुपगूहनं द्विजपतावदयं ददति श्रियः ।
त्रुटति हारलता स्म समुत्पतद्विविधमौक्तिकतारकिताम्बरा ॥७.२६

पावसवर्णन का प्रसग भी कविकल्पना से तरलित है। अविराम वृष्टि से ताल-तलैया ने समुद्र का रूप धारण कर लिया है। उत्प्रेक्षा के द्वारा कवि ने इसका कारण खोजने की चेष्टा की है। प्रतीत होता है कि मेघमाला जल के भार का वहन नही कर सकी। उसके बोझ से फटकर वह धरा पर गिर गयी है।

दधत्यम्बुनिधेः स्पर्धां सरांसीह रराजिरे ।
त्रुटित्वा वारिभारेणाभ्राणीव पतितान्यधः ॥१३.५६

वर्षाकाल की बयार का यह वर्णन प्रकृति के आलम्बन-पक्ष का चित्र प्रस्तुत करता है। मालती तथा कुटज की गन्ध से सिक्त, जलकणो से शीतल तथा लताओ को नचाने वाला पवन किसका मन मोहित नही करता !

मालतीकुटजामोदहारी स्पृष्टपयःकणः ।
लतालास्यकलाचार्यो ववौ वर्षासमीरणः ॥ १३.६३

नयचन्द्र ने प्रकृति पर मानवोचित चेष्टाओ का पटुता से आरोप किया है। हम्मीरमहाकाव्य के प्रकृति-वर्णन के सभी प्रसगो के कुछ अश कवि की इस प्रवृत्ति को द्योतित करते है। प्रकृति के मानवीकरण से काव्य के प्राकृतिक विम्बो मे समर्थता तथा सम्प्रेषणीयता आई है। हम्मीरकाव्य की प्रकृति के मानवीकरण की विशेपता यह यह है कि माघ आदि की तरह उसके अप्रस्तुत शृगारिकता से आच्छन्न नही हैं। वे अधिकतर लोक-व्यवहार, कवि के अनुभव तथा पर्यवेक्षण-शक्ति पर आधारित हैं। अस्तोन्मुख सूर्य को निम्नोक्त पद्य मे पथिक के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। जैसे लम्वे रास्ते को पैदल तय करने वाला यात्री स्नानादि से अपनी क्लान्ति को दूर करता है उसी प्रकार सूर्य दिन भर आकाश के अनन्त मार्ग पर चल कर थकावट से चूर हो गया है। सन्ध्या के समय वह अपनी थकान मिटाने के लिये पश्चिम-पयोधि मे घुस कर जलक्रीड़ा कर रहा है।

अविरताम्बरसंचरणोल्लसद्गुरुपरिश्रमसंगतविग्रहः।
सलिलकेलिचिकीरिव वाहिनीदयितमध्यमगाहत भास्करः ॥७.४

अष्टम सर्ग की प्रकृति मानवी भावनाओ से अधिक अनुप्राणित है। इसमे प्रकृति के मानवीकरण के कई सुन्दर चित्र अकित हुए है और प्रत्येक दूसरे से अधिक मोहक है। समाप्तप्राय: रात्रि को रजस्वला का रूप देकर कवि ने उसकी आभा-हीनता तथा मलिनता को सहजता से रेखांकित कर दिया है। रजस्वला के मुख की कान्ति मलिन पड जाती है, वस्त्र मैले-कुचैले हो जाते है। अपनी कलुषता के निवारणार्थ वह स्नान आदि अनेक उपाय करती है और इस प्रकार पूर्व-सौन्दर्य को पुन प्राप्त करती है। प्रभात मे रात्रि के मुख, चन्द्रमा, की शोभा भी लुप्त हो गयी है और तारो के छिपने से उसकी काया पीली पड़ गयी है। इस मालिन्य को दूर करने के लिये ही वह सागर मे स्नान करने जा रही है।

विच्छायमिन्दुं मुखमावहन्ती विनिम्नताराकलुषाम्बरैषा।
विभावरी याति रजस्वलेव स्नातुं पयोधौ दिशि पश्चिमायाम् ॥ ८.२

सूर्योदय के प्रसग मे पूर्व दिशा को शठ नायक के व्यवहार से क्रुद्ध नारी के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। यहाँ चन्द्रमा अपनी पत्नी (पूर्व दिशा) को छोड़कर अपरा (पश्चिम दिशा) का भोग करने वाला शठ नायक है और पूर्व दिशा उसके

दुर्व्यवहार से क्रुद्ध खण्डिता नायिका। सूर्य के उदित होने से पूर्व दिशा में जो लालिमा छिटकी है, वह उस खण्डिता के क्रोध की ज्वाला है।

अवाप यस्यामुदयं विहाय तां मामथासावपरां सिषेवे।
इत्यादधानेव रुषं हिमांशौ पुरन्दराशारुणतां जगाम ॥ ८.१८

वर्षावर्णन में भी प्रकृति मानव-सुलभ आचरण करती दिखाई देती है। प्रस्तुत पद्य में मेघ नायक है और पृथ्वी नायिका। मेघागम से हरी-भरी (प्रसन्न) पृथ्वी-कामिनी ने प्रिय को रिझाने के लिये कंचुकी धारण कर ली है।

सान्द्रोद्गमोल्लसन्नीलतृणश्रेणिच्छलात् क्षितिः।
मेघप्रियागमप्रीता पर्यधादिव कंचुकम् ॥ १३.५५

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हम्मीरमहाकाव्य का प्रकृति-चित्रण वक्रोक्ति की भित्ति पर आधारित है और उसमे स्वाभाविकता की कमी है, किन्तु उसका निजी सौन्दर्य है जो पाठक को बरबस आकर्षित करता है।

चरित्र-चित्रण

हम्मीरमहाकाव्य चरित्रो की विशाल चित्रशाला है, जिसमे चित्रपट के विविध दृश्यों की तरह अतुल शौर्य, आत्मबलिदान, शरणागतवत्सलता, अविचल स्वामि-भक्ति, देशद्रोह, धूर्तता, कृतघ्नता, अत्रमरवादिता, कूटनीतिक दारिद्र्य आदि के नाना मनमोहक चित्र दृष्टिगोचर होते है। कवि की तूलिका का स्पर्श पाकर ये सभी चित्र मुखर हो उठे है, किन्तु उसकी तूलिका की सच्ची विभूति वीरवर हम्मीर के चित्र को मिली है। हम्मीरकाव्य के पात्रचित्रण की विशेषता यह है कि वह पूर्णतया यथार्थ है। इसीलिये प्रत्येक पात्र का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। नयचन्द्र ने अपने पात्रो के चारित्रिक गुणों का सहानुभूति से अंकन किया है, किन्तु उनके दोपो को निर्ममता-पूर्वक उघाडने मे भी उसने सकोच नही किया है। काव्यनायक के दुर्गुणो पर भी उसने कडा प्रहार किया है।

हम्मीर

काव्यनायक हम्मीर का व्यक्तित्व विरोधी गुणो का विशाल पुंज है। वह शस्त्र तथा शास्त्र का मर्मज्ञ है। प्रजारजन उसके चरित्र की विशेषता है। उसमे अर्जुन का शौर्य, कर्ण की दानशीलता तथा राम की नीतिमत्ता एक-साथ वर्तमान है[४२]। राज्य के वास्तविक अधिकारी को छोडकर उसे अभिषिक्त करने के पिता के प्रस्ताव को वह नीति-विरोधी समझ कर ठुकरा देता है। वह पितृवत्सल पुत्र है। जीमूतवाहन की भाँति वह राज्यभोग की अपेक्षा पितृसेवा को अधिक सुखद समझता है[४३]।

४२. वही, ८.६७
४३. वही, ८.५१

हम्मीर धर्मपरायण व्यक्ति है। उसके विचार मे दुर्लभ मानवजीवन की सार्थकता धर्माचरण तथा यशप्राप्ति मे निहित है और इनकी प्राप्ति कुलाचार के परिपालन से होती है[४४]। याज्ञिक अनुष्ठान, दान-दक्षिणा आदि धर्म के बाह्य आचारो मे उसकी पूर्ण आस्था है। दिग्विजय से लौटकर वह कोटिहोम का अनुष्ठान करता है, आत्मशुद्धि के लिये एक मास तक मुनिव्रत धारण करता है और ब्राह्मणों तथा याचकों को इस उदारता से दान देता है कि दरिद्रता याचकों को छोडकर उसके पास आ गयी[४५]। 'नोत्तमानां हि चित्ते स्वपरकल्पना' उसकी धार्मिक सहिष्णुता का पावन घोष है।

हम्मीर राजपूती शौर्य का आदर्श प्रतीक है। उसका रणकौशल तथा बाहुबल दिग्विजय के अन्तर्गत विविध अभियानो से स्पष्ट है। भोजदेव हम्मीर को भले ही छोड गया हो, उसकी वीरता से वह भली-भांति परिचित है तथा अलाउद्दीन के समक्ष वह उसका सविस्तार बखान करता है। उसे विश्वास है कि हम्मीर को समरागण मे पराजित करना अतीव दुष्कर है। 'स श्रीहम्मीरधीर समरभुवि कथं जीयते लीलयैव' उसकी हम्मीर-विषयक प्रशंसात्मक उक्तियों का सार है। अला-उद्दीन भी उसकी वीरता की प्रशसा किये विना नही रह सकता। वीर होने के नाते हम्मीर वीरता का सम्मान करना भी जानता है। वह रतिपाल के शौर्य का उसके पैरो में स्वर्णश्रृंखला पहना कर अभिनन्दन करता है।

शरणागतवात्सल्य हम्मीरदेव के व्यक्तित्व की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है। वह मुगल-बन्धुओ को सहर्ष आश्रय देता है। यद्यपि यह अलाउद्दीन के साथ युद्ध का तात्कालिक कारण बना, किन्तु उसने उन्हे यवनशासक की बर्बरता से बचा कर क्षात्र धर्म का निर्वाह किया। वह यवन-दूत को स्पष्ट कह देता है कि महिमासाहि के समर्पण की माग करने वाला तेरा स्वामी मूढ है[४६]। अन्तिम युद्ध मे पूर्व जब वह चारों ओर से निराश हो जाता है, उस गाढे समय मे भी वह शरणागत महिमासाहि की सुरक्षा की व्यवस्था करना अपना कर्तव्य समझता है। वस्तुत: उनके लिये हम्मीर, पुत्र, कलत्र आदि अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है। कवि ने उसके इस अनुपम त्याग का कृतज्ञतापूर्वक गौरवगान किया है—आत्मा पुत्रकलत्रभृत्यनिवहो नीतः कथाशेषताम् (१४.१७)। इन गुणो तथा कुशल प्रशासन के कारण उसके राज्य मे मे चतुर्दिक् सुख, शान्ति, नीति तथा धर्म का बोल बाला है[४७]।

४४. वही, १३.१२५
४५. तान् विहायोच्चकैर्दातॄनुपास्थित यथाऽर्थिता। वही, ९.९५
४६. वही, ११.६७
४७. वही, ८.६८

किन्तु हम्मीर के चरित्र का एक अन्य पक्ष भी है, जिसमे अवगुणों के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नही देता। वह महाक्रोधी है। उसका क्रोध कभी-कभी विवेकहीनता की सीमा तक पहुँच जाता है। धर्मसिंह को भीमसिंह के वध के लिये उत्तरदायी ठहरा कर उसे नेत्रहीन तथा नपुसक बनवा देना[४८] उसके क्रोधावेश की पराकाष्ठा है। उसका व्यक्तित्व सर्वभक्षी लोभ से कलकित है। वृद्धा पिता की शिक्षा की अवहेलना कर वह पदच्युत धर्मसिंह को पुन: प्रधान-पद पर केवल इसलिये प्रतिष्ठित कर देता है कि उसने, नर्तकी धारादेवी के माध्यम से, राजकोश की क्षतिपूर्ति करने का सकेत दिया था। धर्मसिंह कोश भरने के लिये प्रजा का क्रूरतापूर्वक पीडन करता है। करो के असह्य भार से प्रजाजन विकल हो उठे, किन्तु हम्मीर न केवल उसके अपराधो को क्षमा कर देता है अपितु स्वयं पूर्णत: उसके वश मे हो जाता है और धर्मसिंह धीरे-धीरे उसका प्रेमपात्र बन जाता है।

द्रव्यैः संपूरयन् कोशं राज्ञोऽभूद् भृशवल्लभः।
वेश्यानां च नृपाणां च द्रव्यदो हि सदा प्रियः॥ ९.१६९

प्रधानमत्री के धनसग्रह ने उसे इतना लोभान्ध कर दिया कि वह, उसके लिये, स्वामिभक्त भोज को भी अपमानित करके देश छोड़ने को विवश कर देता है।

जगाद भूपतिर्यासि परतः परतो न किम्।
विना भवन्तमप्येवं पुरं संशोभते पुरा॥ ९ १८६

हम्मीर के व्यक्तित्व की सबसे बडी दुर्बलता यह है कि वह शासक होता हुआ भी कूटनीति से अनभिज्ञ है। महिमासाहि के अलाउद्दीन को मारने की अनुमति माँगने पर उसकी यह उक्ति कि 'इसे मरवा कर मैं किससे युद्ध करूँगा।' आदर्श युद्धनीति तथा क्षत्रियोचित शौर्य की परिचायक हो सकती है, पर इससे उसका कूटनीतिक दरिद्र्य व्यक्त होता है। इस कूटनीतिक चूक ने उसके सघर्ष की दिशा ही बदल दी। रतिपाल को यवनराज के शिविर मे जाने की अनुमति देना तथा उस पर शत्रुपक्ष से मिलने का सन्देह होने पर भी उसे भावुकतावश क्षमा करना उसकी कूटनीतिहीनता का अन्य उदाहरण है। अपने व्यक्तित्व का उसका यह मूल्यांकन अक्षरश: सत्य है— ध्रुव सपरिवारोऽपि दुर्मतिर्विभुरेव न: (१३.१०१)। उसे मानव-प्रकृति की भी परख नही है। उसमे अपने परिजनो की गतिविधियो तथा आचरण का विश्लेपण एवं यथार्थ मूल्यांकन करने की क्षमता नही है। इसीलिये प्राय: सभी उसे धोखा देते है।

हम्मीर गुणसम्पन्न है, किन्तु उसका पतन उसकी भूलो के कारण ही होता है। वह ग्रीक ट्रेजेडी का आदर्श नायक बन सकता है।

अलाउद्दीन

दिल्ली का प्रसिद्ध यवन-शासक अलाउद्दीन हम्मीरमहाकाव्य का प्रतिनायक

४८. मुष्कयुग्मच्छिदा पूर्वं तद्दृशौ निरचीकसत्। वही, ९.१५३

है। हम्मीर के विपरीत वह व्यवहार-कुशल, अवमरवादी तथा कूटनीति का पटु प्रयोक्ता है। योद्धा के रूप में उसकी प्रचण्डता तथा बर्बरता सर्वविदित है। दुर्गम दुर्ग, रणबाकुरे योद्धा, गगनचुम्बी पर्वत उसके सामने नही टिक सकते। उसने देवगिरि आदि अगणित दुर्भेद्य दुर्गों को भग्न करके त्रिपुरविजयी शंकर को भी मात कर दिया है। उसकी प्रचण्डता से भीत होकर हम्मीर का पिता जैत्रसिंह उसे नियमित रूप से कर देता था। हम्मीर ने उसका करद बनना अस्वीकार करके तत्काल उसके क्रोध को आहूत किया। वह दूसरों की दुर्बलताओं का लाभ उठाने में दक्ष है। उल्लूखान को वह उस समय रणथम्भोर पर आक्रमण करने के लिये भेजता है जब हम्मीर व्रतस्थ था। वह जानता है कि बल से हम्मीर को पराजित करना दुष्कर है।[50]

अलाउद्दीन धूर्तता तथा कूटनीति का आचार्य है। कार्यसिद्धि के लिए वह नैतिक-अनैतिक सभी साधनो का निस्सकोच प्रयोग करता है। जो कार्य वह बल से नही कर सकता, उसे छल से तत्काल कर देता है। चिरकालीन गढरोध के पश्चात् भी हम्मीर को जीतने मे सफल न होकर वह उसके सेनानी रतिपाल को और उसके माध्यम से रणमल्ल तथा कोठारी जाह्ड को फोड़ लेता है। वह रतिपाल को अन्तःपुर में ले जाकर अपनी बहिन के हाथ से मदिरा पिलवाता है और उसके सामने आंचल पसार कर यहाँ तक कह देता है—एतद् राज्य तवैवास्तु जयेच्छुः केवलं त्वहम् (१३।७७)। वह मानव-स्वभाव को खूब समझता है। इसीलिये कार्य सिद्ध होने पर वह रतिपाल की खाल उतरवा देता है क्योंकि जो अपने चिरन्तन स्वामी से द्रोह कर सकता है, वह किसी अन्य के प्रति कैसे निष्ठावान् हो सकता है ?

अन्य पात्र

हम्मीरमहाकाव्य मे कई अन्य महत्त्वपूर्ण पात्र है, जिनकी चारित्रिक विशेषताओ का कवि ने रुचिपूर्वक चित्रण किया है। विस्तारभय से यहां उनका सामान्य सर्वेक्षण किया जाता है।

वाग्भट काव्य का एक निराला तथा अतीव आकर्षक पात्र है। वह नीतिज्ञों का गुरु (वाग्भटः प्रतिभाभटः-४.६३) तथा चौहान वंश की लडखडाती राज्यलक्ष्मी का आश्रय-स्तम्भ है[51]। अपनी नीति-कुशलता के कारण वह प्रह्लादन का प्रधानामात्य तथा उसके बाद अवस्यक वीरनारायण का सरक्षक नियुक्त किया जाता है।

४९. वही, ११.१५-५७

५०. स महौजस्तया शक्यो जेतुं नाभूदियच्चिरम्।
व्रतेस्थिधीतयेदानीं लीलयैव विजीयते ॥ वही, ९.१०४

५१. पतिष्यच्चाहमानीयराज्यश्रीवल्लीपादपम्। वही, ४.७३

वाग्भट अविचल निष्ठा से राजा का मार्गदर्शन करता है। उसकी मन्त्रणा दूरदर्शिता से इतनी परिपूर्ण थी कि उसका उल्लघन करने का मूल्य वीरनारायण को अपने प्राणो से चुकाना पड़ता है। स्वाभिमान तथा जागरूकता उसके चरित्र की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। वह अपने परामर्श की अवहेला को अपना अपमान समझता है और वीरनारायण के दुर्व्यवहार[५२] से व्यथित होकर उसका राज्य ही छोड देता है। अपनी सतर्कता के कारण ही वह मालवराज के दुराशय को विफल कर देता है और महज अपनी नीति से रणथम्भोर के दुर्ग पर कब्जा कर लेता है[५३]। वाग्भट पराक्रमी सैनिक भी है। उसने अनेक शत्रुओं को पददलित करके अपनी वीरता की प्रतिष्ठा की। देश की सीमाओ पर स्थायी रूप से सेनाएँ रखना उसकी दूरदर्शितापूर्ण नीति थी[५४]।

भोजदेव हम्मीर का दासीजात भाई है। अन्धे धर्मसिंह के षड्यन्त्र के कारण प्रधानामात्य के पद से च्युत होकर भी वह पूर्ववत् स्वामिभक्ति से राजा की सेवा करता है। धर्मसिंह के आयशुद्धि माँगने पर वह उसे सर्वस्व सौंप देता है, किन्तु आभिजात्य के कारण स्वामिभक्ति से विचलित नही होता[५५]। पर जब उसे काक कह कर अपमानित किया जाता है तो वह तीर्थयात्रा के बहाने अलाउद्दीन मे जा मिलता है। वह बदला लेने के लिये, उसे हम्मीर पर आक्रमण करने को प्रेरित करता है और उसे विजय-प्राप्ति का रहस्य भी बता देता है। उसके इस आचरण को कृतघ्नता अथवा स्वामिद्रोह कहा जा सक्ता है, किन्तु धर्मसिंह और हम्मीर ने द्वेष एव लोभ के वशीभूत होकर उसका जो अपमान किया था, यह उसका स्वाभाविक परिणाम था। अन्यथा भोजदेव शिष्टाचार-सम्पन्न व्यक्ति है। हम्मीर के प्रति उसके व्यवहार मे अद्भुत संतुलन एवं शिष्टता है। पर जब वह अलाउद्दीन के सामने बच्चे की तरह विलाप करता है और कायर के समान भूमि पर लोट कर अपनी करुणावस्था प्रकट करता है तब उसका सन्तुलन और क्षत्रियोचित शौर्य दोनों काफूर हो जाते हैं।

धर्मसिंह के व्यक्तित्व मे प्रमाद तथा कूटनीति का विचित्र सम्मिश्रण है। जिस हम्मीर ने उस पर भीमसिंह के वध का दायित्व थोप कर उसे अन्धा और नपुंसक बनवाया था, उसे भी वह अपनी कूटनीति के जाल मे फास लेता है, जिससे

५२. अकार्यं वा यदि वा कार्यं यन्मे रोचिष्यतेतमाम्।
करिष्ये तदहं स्वैरं चिन्तयाऽत्र कृतं तव॥ वही, ४.९९

५३. वही, ४.१२०

५४ वही, ४.१२९

५५. निरीहचित्तवत् तस्य सर्वस्वमपि दत्तवान्। वही, ९.१७७

वह उसे पुनः प्रधानामात्य के पद पर प्रतिष्ठित कर देता है। धर्मसिंह पुनः प्रधानमंत्री बन कर हम्मीर से अपने अपमान का पूरा-पूरा बदला लेता है[५६]। वह अपने बर्बर व्यवहार से भोज जैसे स्वामिभक्त व्यक्ति को शत्रु से मिलने को विवश कर देता है और प्रजा को अबाधुध करों से पीस कर उसमें विरोध की ज्वाला भड़का देता है। भोज की इस उक्ति मे धर्मसिंह के चरित्र का सारांश निहित है।

तद्राज्यस्य विनाशहेतुरधुनैकोऽन्धः परं दीव्यति। १०.२८

रतिपाल वीर है, किन्तु हम्मीर की तरह उसकी वीरता लोभ से कलंकित है। उसकी स्वामिभक्ति भी अडिग नही है। अलाउद्दीन का 'एतद्राज्यं तवैवास्तु जयेच्छु: केवलं त्वहम्' (१३.) का बाण उसे तत्काल धराशायी कर देता है। भावी सत्ता के प्रलोभन से वह रणमल्ल सहित अलाउद्दीन के कूटजाल मे फंस जाता है। किन्तु उसे इस कृतघ्नता का फल शीघ्र ही मिलता है। अलाउद्दीन विजय-प्राप्ति के पश्चात् उसकी खाल निकलवा देता है।

महिमासाहि काव्य का अत्यन्त रोचक एवं प्रशंसनीय पात्र है। वह विदेशी तथा विजातीय मुगल है, जिसने अपने अनुजो के साथ हम्मीर का आश्रय लिया था। वह वीर योद्धा व अचूक धनुर्धर है। दुर्ग से एक ही तीर मे उड्डानसिंह को धराशायी कर देना उसकी धनुर्धरता का सर्वोत्तम प्रमाण है। जिस गुण के कारण उसका व्यक्तित्व भास्वर स्वर्ण की तरह चमक उठता है, वह है उसकी अचल स्वामिभक्ति। जहाँ हम्मीर के प्राय: सभी विश्वस्त मित्र उसे धोखा देकर शत्रु पक्ष मे मिल जाते हैं, वहाँ महिमासाहि, अन्त तक छाया की भाँति, उसका साथ देता है। अन्तिम समय में जब हम्मीर उसे किंचित् सन्देहात्मक दृष्टि से देखने लगता है, वह अपनी पत्नी तथा बच्चो को तलवार की धार उतार कर स्वामिनिष्ठा एवं त्याग का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है। समरांगण में पराजय के पश्चात् अलाउद्दीन के यह पूछने पर कि यदि 'तुम्हे छोड़ दिया जाये तो तुम मेरे साथ कैसा बर्ताव करोगे' उसका यह उत्तर 'यद्हम्मीरेऽकार्षीस्त्वम्' उसकी निर्भीकता तथा स्वामिभक्ति को द्योतित करता है।

जाजा नयचन्द्र का लौह-हृदय पात्र है। उसे जौहर सम्पन्न कराने का जो दारुण कार्य सौंपा गया, उससे पत्थर भी दरक सकता था। हम्मीर के प्राणोत्सर्ग के बाद वह दो दिन तक गढ की रक्षा के लिये युद्ध करता है। मुख्य कथा से असम्बद्ध इतिहास-प्रसिद्ध पृथ्वीराज का व्यक्तित्व दृढ-प्रतिज्ञा, शौर्य तथा कूटनीतिक दारिद्र्य का सम्मिश्रण लेकर आता है। सहाबुद्दीन, भीमसिंह, उल्लूखान, निसुरतखान आदि के चरित्र का भी कमवेश चित्रण हुआ है।

५६. प्रचिकीर्षन्नथामर्षादन्धो वैरप्रतिक्रियाम्।
चक्रे तद्राज्यमुच्छेत्तुं स उपायान् दुरायतीन्॥ वही, ९.१६६

भाषा-शैली

हम्मीरमहाकाव्य की भाषा महाकाव्योचित प्रौढता तथा प्राणवत्ता से परिपूर्ण है। नयचन्द्र का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उसके विचार में कीर्ति-प्राप्ति के लिये विशुद्ध वर्णन उतना ही आवश्यक है जितना निर्मल अर्थ।[५७] नयचन्द्र शब्द और अर्थ दोनों के कवि है। अर्थ के प्रति उनका निश्चित पक्षपात है, किन्तु इस नाते उन्होंने शब्द की उपेक्षा नही की है। विद्वतापूर्ण व्याकरणनिष्ठ प्रयोगों से भाषा को परिष्कृत एवम् अलंकृत करने का साग्रह प्रयास शब्द के महत्त्व की स्वीकृति है। यद्यपि नयचन्द्र ने न तो भट्टि की तरह अपने काव्य मे व्याकरणशास्त्र के नियमो की प्रायोगिक व्याख्या की है और न माघ की भाँति भाषा को गाढबन्ध तथा विकट समासान्त पदावली से बोझिल बनाया है तथापि उनका वैयाकरण पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त नही है। कर्तरि तथा कर्मणि लुङ्, लिट् आदि लकारो और सन्, क्वसु, णमुल् आदि प्रत्ययो की हम्मीरकाव्य मे भरमार है। कही-कही तो नयचन्द्र ने एक ही लकार की क्रियाओ तथा समान प्रत्ययान्त प्रयोगो के द्वारा भट्टि के कार्य का निर्वाह करने की चेष्टा की है। ये पद्य, जिनमे सभी क्रियाएँ क्रमशः सन्नन्त, लुङ् तथा लिट् लकार की है, इसी प्रवृत्ति को द्योतित करते है।

प्रचिकीर्षसि चेद् राज्यं जिजीविषसि चेच्चिरम्। ४.९६

अपाठिषुर्बन्दिजनास्तदानीमराणिषुर्मंगलतूर्याणि।
अनर्तिषुर्नर्तविदश्च गीतमगासिषुर्गायकमण्डलानि॥ ८.६०

धर्मो जगर्जेव दरिद्रमुद्रा क्वचिन्ननाशेव बभाविव श्रीः।
समुल्ललासेव नयद्रुमोऽपि शुभं ननर्तेव तदीयराज्ये॥ ८.६८

कवि की इस व्याकरण-विशारदता के कारण हम्मीरमहाकाव्य की भाषा रस, भाव तथा प्रसग की अनुगामिनी है। भाषा की अनुकूलता काव्य मे रोचक वैविध्य की सृष्टि करती है। हम्मीरमहाकाव्य मे कही श्रुतिमाधुर्य है, कही कर्कशता है और कही वह सहजता तथा प्राजलता से परिपूर्ण है। शृगार तथा करुणरस के चित्रण मे सर्वत्र कोमल तथा मनोरम पदावली प्रयुक्त हुई है, जो अपनी स्निग्धता तथा भावोद्बोधकता के कारण समुचित भावभूमि का निर्माण करती है। करुणरस की पदावली की कोमलता दैन्य की रेखा से रजित है, जो शोकाकुल मानव की असहायता की स्वीकृति है। हम्मीर के अतुल बलिदान पर कवि की यह शोकोक्ति व्यथित हृदय की कातरता तथा तीव्र वेदना को व्यक्त करती है।

किं कुर्वीमहि किं ब्रुवीमहि विभुं कं चानुरुन्धीमहि
व्याचक्षीमहि किं स्वदुःखसमं कं वा बभाषेमहि।

५७. विशुद्धवर्णः स्पृहणीयवृत्तः। वही, १.४९
कीर्त्यै कवीन्द्रा इव निर्मलार्थोत्पत्तिं नरेन्द्राः परिभावयन्ति। वही, ८.९

यन्निष्कारणदारुणेन विधिना तादृग्गुणैकाकरं
हम्मीरं हरतांजसा हृतमहो सर्वस्वमेवावनेः ॥ १४.७

युद्ध तथा क्रोध आदि के कठोर प्रसंग भाषा के ओज से दीप्त हैं। समास-बाहुल्य तथा टवर्ग आदि श्रुतिकटु वर्णो का प्राचुर्य ओज की सृष्टि का मूलाधार है। हम्मीरमहाकाव्य में यद्यपि इन प्रसंगो में भी भाषा श्रुतकटुता से अधिक आच्छादित नही है किन्तु वह अभीष्ट भाव को वाणी देने मे पूर्णतया समर्थ है। भोजदेव की दुर्दशा सुनकर अलाउद्दीन की यह चुनौती अमर्षानुकूल है।

कः कण्ठीरवकण्ठकेसरसटां स्प्रष्टुं पदेनेहते
कुन्ताग्रेण शितेन कश्च नयने कण्डूयितुं कांक्षति।
कश्चाभीप्सति भोगिवक्त्रकुहरे मातुं च दन्तावलीम्।
को वा कोपयितुं नु वाञ्छति कुधीरल्लावदीनं प्रभुम् ॥ १०.८२

हम्मीरकाव्य की भाषा इस विविधता से विशेषित है किन्तु नयचन्द्र मूलतः वैदर्भी के कवि हैं। समासाभाव अथवा अल्प समास एवं माधुर्यव्यजक वर्ण, दूसरे शब्दों मे भाषा की पारदर्शी सुबोधता तथा सरलता, वैदर्भी रीति के प्राण हैं। हम्मीरमहाकाव्य की भाषा अधिकतर प्रसादगुण से सम्पन्न है। ऐतिहासिक कथानक के सफल प्रतिपादन के लिये कदाचित् भाषा की सहजता आवश्यक थी। नयचन्द्र की विशेषता यह है कि मुख्य इतिवृत्त से सम्बन्धित युद्ध अथवा नगर का चित्रण हो या उससे असम्बद्ध वस्तु-वर्णन, हम्मीरकाव्य में प्रायः सर्वत्र वैदर्भी का उत्कर्ष दिखाई देता है। इस दृष्टि से वाग्भट की मन्त्रणा तथा जैत्रसिंह की राज्यशिक्षा विशेष उल्लेखनीय है।

शत्रुर्न मित्रतां गच्छेच्छतशः सेवितोऽपि सन्।
दीपः स्नेहेन सिक्तोऽपि शीतात्मत्वमियर्ति किम् ॥ ४.९५
मन्त्रान् बहूनामपि धीसखानां श्रेयस्तरान् नैव वदन्ति सन्तः।
गर्भस्य मातुश्च कुतः शिवाय करा बहूनां बत सूतिकानाम् ॥ ८.९९

सहजता से समवेत इस सुबोधता ने हम्मीरकाव्य की भाषा मे लालित्य का सचार किया है, जो बहुधा अनुप्रास की मधुरता तथा यमक की झंकृति से प्रसूत है। भाषात्मक रमणीकता के अतिरिक्त हम्मीरमहाकाव्य का कथानक भी कम सुन्दर नही है। परन्तु नयचन्द्र की कविता लालित्य के कारण जितनी प्रसिद्ध है, उतनी ही ख्याति उसे अपनी वक्रिमा के कारण प्राप्त हुई है।[५८] हम्मीरकाव्य के सन्दर्भ मे वक्रिमा का

५८. लालित्यममरस्यैव श्रीहर्षस्यैव वक्रिमा।
नयचन्द्रकवेः काव्ये दृष्टं लोकोत्तरं द्वयम् ॥ शिष्यकृता प्रशस्तिः, ३

तात्पर्य 'उक्तिवैचित्र्य' है, जिसमे प्रवीणता कवि की सफलता की कुंजी है[५९]। हम्मीरकाव्य की वक्रिमा प्रौढोक्तिमय अलंकारो के रूप में प्रकट हुई है, जिनमें उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति, विरोध तथा अर्थान्तरन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं। एक दो उदाहरण पर्याप्त होगे।

चापस्य यः स्वस्य चकार जीवाकृष्टिं रणे क्षेप्तुमनाः शरौघान्।
जवेन शत्रून् यमराजवेश्मान्नैषीत्तदेतन्महदेव चित्रम्॥ १.३९

यह श्लेष पर आश्रित विरोधालंकार है। राजा युद्ध मे बाण चलाने की इच्छा से इधर अपने धनुष की जीवाकृष्टि करता है और उधर उसके शत्रुओ का जीवाकर्षण अर्थात् प्राणान्त हो जाता है। यह विचित्र बात है कि जीवाकर्षण एक का हो और जीवान्त किसी अन्य का। यह जानते ही विरोध का परिहार हो जाता है कि धनुप के जीवाकर्षण का अर्थ उसकी डोरी को खीचना मात्र है।

यदीयकीर्त्यापहृतां समन्तान् निजां श्रियं स्वर्गधुनी विभाव्य।
पतत्प्रवाहध्वनिकैतवेन कामं किमद्यापि न फूत्करोति॥ १.४६

यह अतिशयोक्ति कितनी मनोहर है? जलप्रपात की ध्वनि को सुनकर उससे यह कल्पना करना कि यह गगा का मात्सर्ययुक्त फूत्कार है, कवि नयचन्द्र का ही काम है। गगा को शायद अपनी धवलिमा और स्वच्छता का अत्यन्त गर्व था। चक्री जयपाल की धवल कीर्ति ने गगा के इस गर्व को चूर कर दिया। बेचारी गगा फूत्कार न करती तो क्या करती?

अलंकार-विधान

हम्मीरमहाकाव्य रस-प्रधान रचना है। चित्रकाव्य से बाह्य चमत्कार उत्पन्न करना कवि को अभीष्ट नही है।[६०] अपने इस आदर्श का अनुसरण करते हुए नयचन्द्र ने आडम्बर के लिये अलंकारो का प्रयोग नही किया है। हम्मीरमहाकाव्य के अलकार काव्य-सौन्दर्य को व्यक्त करते हैं तथा भावाभिव्यक्ति को समृद्ध बनाते हैं, और इस प्रकार, वे काव्य के शरीर तथा आत्मा दोनो के सौन्दर्य को वृद्धिगत करने मे सहायक है। प्रौढोक्तिमय अलकारो मे नयचन्द्र की कुशलता का संकेत किया जा चुका है। नयचन्द्र की उपमाएँ बहुत मार्मिक हैं। गूढोपमा तथा श्लेपोपमा मे शायद कोई विरला ही उससे होड़ कर सके। दीक्षित वासुदेव के प्रताप के वर्णन मे प्रयुक्त इतनी सुन्दर गूढोपमा साहित्य मे कम मिलेगी।

सपत्नसंघातशिरोधिसन्धिच्छेदादसिं कुण्ठतरं निजे यः।
प्रतापवह्नावभिताप्य काममपाययत्तद्रमणीदृगम्बु॥ १.२८

लकडी आदि काटने से फरसे के कुन्द हो जाने पर उसे आग मे तपा कर

५९. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥ काव्यालंकार (भामह), १.३६

६०. पूर्वोद्धृत

तथा हथौडे से कूट कर उसकी धार बनाई जाती है, फिर उसे ठण्डा करने के लिये पानी मे बुझाया जाता है। दीक्षित वासुदेव की तलवार की धार शत्रुओ का गला काटने से कुण्ठित हो गयी है। उसे पुनः तेज़ करने के लिये वासुदेव ने पहले अपने प्रताप की अग्नि मे खूब तपाया, तत्पश्चात् उसे शत्रुओं की विधवाओं के अश्रुजल मे बुझा दिया। वासुदेव के शौर्य से उसके शत्रु नष्ट हो गये, इस तथ्य को कवि ने कितनी मार्मिकता से प्रकट किया है।

नयचन्द्र की अप्रस्तुत-योजना की निपुणता उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा आदि अलकारो मे भरपूर व्यक्त हुई है। काव्य मे एक से एक सुन्दर उत्प्रेक्षाओ की भरमार है। जलकेलि-प्रसग की यह उत्प्रेक्षा कल्पना-सौन्दर्य से चमत्कृत है।

> जानुदध्नमपि तत्सरसोऽम्भः कण्ठदध्नमभवद् द्रुतमेव।
> योषिदंगविगलल्लवणिम्ना स्फीततामुपगृहीतमिवोच्चैः ॥६.१८

अप्रस्तुत-विधान का यही कौशल अर्थान्तरन्यास में दृष्टिगत होता है, जो कवि का अन्य प्रिय अलकार है। उत्प्रेक्षा की भाँति यह भी कवि-कल्पना के विहार की उन्मुक्त स्थली है। जलक्रीड़ा के वर्णन मे प्रयुक्त यह अर्थान्तरन्यास अप्रस्तुत की मार्मिकता तथा उपयुक्तता के कारण उल्लेखनीय है।

> मुक्तगंधमपि वारिविहारैः पुष्पदाम न जहे शशिमुख्या।
> न स्वतोऽपि गुणवान् सुखहेयः किं पुनर्यदि स जीवनलीनः ॥६.३७

पृथ्वीराज के युद्धवर्णन के इस पद्य मे रेणुजाल, भ्रमरझंकृति और वीरो का सिहनाद, इन अनेक प्रस्तुतों का एक धर्म 'अमिलन्' के साथ सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलकार है।

> प्राग् रेणुजलानि ततः करेणुकुम्भभ्रमत्षट्पदझंकृतानि।
> ततो भटानां स्फुटसिंहनादाः सैन्यद्वयस्याप्यमिलंस्तदानीम् ॥३.३५

माघ की भांति नयचन्द्र भी श्लेष के बहुत शौकीन है। नयचन्द्र के विरोध, रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति, परिसंख्या आदि अन्य अलंकार श्लेष का आधार लेकर आते हैं। पृथक् रूप मे भी श्लेष का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। हम्मीर तथा अलाउद्दीन के द्वितीय दिन के युद्ध-वर्णन मे श्लेष का प्रयोग वर्णित भाव को सशक्त तथा स्पष्ट बनाने मे सहायक हुआ है।

> कस्याप्यपाकृतगुणोऽत्र मार्गणो लक्षाय धावति तदा स्म धावतु।
> कोटिद्वयेऽपि सति ननाम यद्धनुः सद्वंशजस्य न तदस्य साम्प्रतम् ॥ १२।७४

प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, व्यतिरेक, सन्देह, यथासंख्य, समासोक्ति, भ्रान्तिमान्, पर्याय, विभावना, उल्लेख, अनुप्रास, यमक, दीपक आदि भी काव्य-सौन्दर्य के वर्धन

मे योग देते हैं।[६१]

छन्दयोजना

नयचन्द्र की काव्यशास्त्रीय मान्यता मे निर्मल अर्थ तथा विशुद्ध शब्द के अतिरिक्त भावानुकूल मधुर छन्द कवि की कीर्ति का आधार है।[६२] हम्मीरमहाकाव्य मे छन्दो का प्रयोग कवि के इस सिद्धान्त की पूर्ति करता है। दसवें सर्ग मे नाना वृत्तों की योजना भी शास्त्रानुकूल है। इस सर्ग की रचना मे जो तेरह छन्द प्रयुक्त किये गये हैं, वे इस प्रकार है—वियोगिनी, स्वागता, स्रग्धरा, मंजुभाषिणी, शालिनी, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका, रथोद्धता, आर्या, शार्दूलविक्रीडित, कलहस तथा एक अर्द्धसमवृत्त। इनके अतिरिक्त नयचन्द्र ने शिखरिणी, मालिनी, तोटक; इन्द्रवशा, मन्दाक्रान्ता, ललिता, प्रमिताक्षरा, द्रुतविलम्बित, भुजंगप्रयात, अनुष्टुप् तथा प्रहर्षिणी से मिलता-जुलता एक छंद (म स ज र ग) को काव्य रचना का आधार बनाया है। हम्मीरमहाकाव्य मे चौबीस छन्द प्रयुक्त हुए है। उपजाति नयचन्द्र का प्रिय छन्द है।

नयचन्द्रसूरि के साहित्यिक आदर्श

काव्यकला के प्रति जागरूक नयचन्द्र ने चौदहवें सर्ग के अन्त मे अपनी काव्यशास्त्रीय धारणाओं का भी कुछ आभास दिया है। साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तो का निरूपण करना कवि का लक्ष्य नही है, किन्तु ये प्रासंगिक उल्लेख रोचक तथा विचारणीय है। नयचन्द्र का निर्भ्रान्त मत है कि सरस काव्य की रचना का आधार अनुभवमात्र नही है। कवि का कवित्व उतना ही स्वभावजन्य है जितना चपलनयना युवतियों का तारुण्य। वस्तुत:, बहुत सी बातें तो अनुभव के आधार पर सिद्ध ही नही होती। श्रृंगार-वर्णन के लिये अनुभव को आवश्यक मानना भी वास्तविकता के अनुकूल नहीं है। जगत् मे श्रृंगार का अनुभव तो अगणित व्यक्तियो को है, किन्तु वे सभी श्रृंगार के सिद्धान्तकार अथवा महाकवि नही है। इसके विपरीत कामशास्त्र के प्रणेता तथा श्रृगाररस के अनेक प्रतिभाशाली कवि वीतराग तपस्वी है। आचार्य वात्स्यायन तथा कवि अमर जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी थे। स्वयं वाग्देवी कुमारी है। तथ्य यह है कि अपनी वाणी के विलास से श्रृंगार-माधुरी की सृष्टि करने वाले रससिद्ध कवि तो श्रृंगार के प्रत्यक्ष अनुभव से शून्य हैं और जो उसके अनुभव से सम्पन्न है, उनमें से अधिकतर की काव्यरचना मे क्षमता तो दूर, साहित्य मे साधारण गति भी नही है। हाथी के दांत भी खाने के और होते है, दिखाने के और[६३]। इस प्रकार नयचन्द्र ने काव्य-सृजन मे अनुभव के महत्त्व को स्पष्ट अस्वीकार किया है।

६१. क्रमशः १. १२, ४.६५, ६.६६, ११.५२, ४.६७, १३.१४६, ६.१०, ६.५४, ६.७१, ४.१५७, ३.२४, ४.३६, २.८३..

६२. हम्मीरमहाकाव्य, १.४६

६३. वही, १४.२६-३३

नयचन्द्र ने यहां अनुभव शब्द का प्रयोग बहुत स्थूल अर्थ मे किया है। शृंगार के भोक्ता तथा शृंगार-रसात्मक कृति के प्रणेता की प्रकृति की भिन्नता के उदाहरण की यही ध्वनि है। इस सीमित अर्थ मे अनुभव निश्चित ही काव्यरचना का हेतु नही है। ऐसा न मानने से कवि-कर्म इतना सकुचित हो जाएगा कि स्वभुक्त यथार्थ की अभिव्यक्ति के बिना काव्य-सृजन की कल्पना करना भी असम्भव होगा। किन्तु अनुभव की इस स्थूल अर्थ में स्वीकृति काव्य-सृजन तथा अनुभूति की प्रक्रिया की निर्विवेक अस्वीकृति है। प्रत्यक्ष अनुभव के बिना भी संवेदनशील मस्तिष्क, रागात्मक स्तर पर, सहजात सस्कार द्वारा अनुभूति अर्जित करता है जिसके आधार पर उसे प्रच्छन्न अथवा परोक्ष वस्तु का प्रत्यक्षवत् साक्षात् होता है। तब वह विशेष भी निर्विशेष बन कर सर्वग्राह्य हो जाता है। विश्व के अधिकाश साहित्य की रचना के पीछे यही अनुभव निहित है। अत. कामशास्त्र के प्रणेताओ अथवा शृगारिक कवियों के ब्रह्मचारी होने मे कोई वैचित्र्य अथवा विरोध नही है क्योंकि उनमे भी सभी अनुभूतिया वासना-रूप मे विद्यमान रहती है। यदि नयचन्द्र का अभिप्राय सापेक्षिक दृष्टि से अनुभव की तुलना मे प्रतिभा को अधिक महत्त्व देकर उसकी अनन्त-निर्माण-क्षमता का सकेत करना है[६४], तो उनका मत सर्वथा अग्राह्य नही है।

काव्यहेतु का विस्तार से प्रतिपादन करने के पश्चात् नयचन्द्र ने काव्य के स्वरूप पर विचार किया है। उनके अनुसार तीव्र रसानुभूति का दूसरा नाम ही काव्य है[६५]। प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य की सार्थकता रसात्मकता मे मानी है। उत्तम काव्य वही है, जो रस की उच्छल धारा से परिपूर्ण हो तथा जिसे पढते ही हृदय आनन्द से आप्लावित हो जाए[६६]। काव्य मे प्रधानता किसी भी रस की हो, उसमे शृंगारपूर्ण वर्णन उतने ही आवश्यक है जितना भोजन मे नमक। जैसे नमक के बिना अन्यथा स्वादु भोजन भी नीरस है, उसी प्रकार शृगार के स्पर्श के बिना काव्य की रसात्मकता मे निखार नही आता। इस प्रकार नयचन्द्र के विचार मे रसप्रधान रचना ही काव्य-पद की अधिकारिणी है। उनका यह कथन विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्' से भिन्न नही है। उन्होने काव्य मे अर्थ की प्रधानता मानी है। शब्दाडम्बर हेय है, किन्तु नयचन्द्र ने शब्द की सर्वथा उपेक्षा नही की; इसका सकेत किया जा चुका है।

काव्यशास्त्रीय प्रसंग के अन्त मे नयचन्द्र ने काव्य की भाषा पर भी कुछ प्रकाश डाला है। उनके मत से शब्द और अपशब्द प्रायः मन के विकल्प है और शब्दशास्त्र मे सिद्धि भी कवि के अधीन है। सामान्यतः काव्य में अपशब्द के प्रयोग

६४. न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः। ध्वन्यालोक, ४.६
६५. हम्मीरमहाकाव्य, १४.३५
६६. वही, १४.३४

से बचना चाहिये। सिद्धान्ततः उचित होते हुए भी व्यवहार मे यह सदा सम्भव नहीं है। कालिदास-जैसे रससिद्ध कवियो की भाषा भी अपशब्दो से सर्वथा मुक्त नही है। अतः एकाध अपशब्द से काव्यत्व की हानि नही होती बशर्ते उसमे अर्थ-सामर्थ्य हो और वह रस की परिपुष्टि कर सके[६७]। नयचन्द्र का यह कथन व्यवहार-पुष्ट है। कोई भी दोष स्वरूपतः दोष नही होता। जब वह रसानुभूति मे बाधक होता है तभी वह दोष बनता है। अतः साधारण दोष के विद्यमान होने पर भी काव्यत्व पर आंच नही आती। मम्मट के काव्य-लक्षण मे प्रयुक्त 'अदोषौ' पद की खाल उधेडने वाले विश्वनाथ (साहित्यदर्पण, पृ० १७) को भी अन्तत. यह मानना पडा।

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥

नयचन्द्र ने काव्यशास्त्र की तीन महत्त्वपूर्ण समस्याओ पर अपने विचार प्रकट किये है। काव्य के स्वरूप तथा भाषा-सम्बन्धी उनके विचार भारतीय काव्यशास्त्र के मान्य सिद्धान्तो के अनुरूप है। काव्यहेतु के विषय मे उनका मत अस्पष्ट प्रतीत होता है[६८]।

हम्मीरमहाकाव्य की ऐतिहासिकता

ऐतिहासिक महाकाव्यो की परिपाटी के अनुसार यद्यपि हम्मीरमहाकाव्य में इतिहास को काव्य के आकर्षक परिधान में प्रस्तुत किया गया है और इसका काव्यात्मक मूल्य भी कम नही है, किन्तु इसका ऐतिहासिक वृत्त सुसम्बद्ध, प्रामाणिक तथा अलौकिक तत्त्वो से मुक्त है। काव्य के प्रारम्भिक भाग मे अवश्य ही कुछ त्रुटियाँ है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि ये घटनाएँ लेखक से बहुत प्राचीन है और इनके सत्यासत्य के परीक्षण के लिये उसे विश्वस्त सामग्री प्राप्त नही हो सकी।

चाहमानवंशीय इतिहास के अन्य विश्वसनीय साधनो से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि हम्मीरमहाकाव्य के प्रथम दो सर्गो की वशावली अनेक त्रुटियो से आक्रान्त है तथा इसमे वर्णित घटनाएँ भी भ्रामक है। उदाहरणार्थ—चक्री जयपाल को अजयमेरु (अजमेर) का संस्थापक मानना[६९] इतिहास-विरुद्ध है। इस नगर का निर्माण अजयराज ने सम्वत् ११६९ से कुछ पूर्व किया था। सिंहराज वप्पराज का पुत्र था, पौत्र नहीं। वह पराक्रमी अवश्य था किन्तु काव्य मे किया गया उसकी विजय का वर्णन[७०], अत्युक्ति मात्र है। आनल्लदेव (अर्णोराज) ने, जैसा नयचन्द्र ने कहा है, पुष्कर नही[७१] प्रत्युत आनासागर खुदवाया था। तृतीय सर्ग मे वर्णित पृथ्वी-

६७. प्रायोऽपशब्देन न काव्यहानिः समर्थतार्थे रससेकिमा चेत्। वही, १४-३९

६८. विस्तृत विवेचन के लिये देखिये—महावीर-जयन्ती-स्मारिका, जयपुर, १९७४ में प्रकाशित मेरा लेख "नयचन्द्रसूरि के साहित्यिक आदर्श" खण्ड २, पृ. ६३-६६

६९. हम्मीरमहाकाव्य, १.५२

७०. वही, १.९०-९७

७१. वही, २.५१

राज से सम्बन्धित अधिकांश घटनाएँ प्रमाण-पुष्ट है। हम्मीरमहाकाव्य में अन्तिम युद्ध से पूर्व पृथ्वीराज और सहाबुद्दीन के सात युद्धो की चर्चा है, किन्तु मुसलमान इतिहासकारो ने केवल दो युद्धो का उल्लेख किया है[७२], जो अधिक विश्वसनीय है। हम्मीरमहाकाव्य तथा मुस्लिम स्रोतो मे इस बात पर मतैक्य है कि पृथ्वीराज युद्ध मे बन्दी बनाया गया था, उसका वध नही किया गया था[७३]। पृथ्वीराज की पराजय का कारण नटारम्भ को मानना[७४] केवल कविकल्पना है। चतुर्थ सर्ग की प्रायः समस्त घटनाओ की प्रामाणिकता निर्विवाद है। जिस जल्लालदीन ने वीरनारायण को विष-प्रयोग से मरवा कर रणथम्भोर पर अधिकार किया था, वह शमशुद्दीन इल्तमिश था। तबकाते नासिरी के अनुसार यह घटना सन् १२२६ (६२३ हिज्री) की है। रणथम्भोर को यवनो से वापिस लेने का श्रेय वाग्भट को है, जो नयचन्द्र तथा मुसलमान इतिहासकारो के अनुसार प्रतापी शासक था। वाग्भट को यह विजय रजिया के राज्यकाल मे प्राप्त हुई थी।[७५] अतः नयचन्द्र का यह कथन कि मुग़लो द्वारा जल्लालदीन पर आक्रमण का लाभ उठाकर वाग्भट ने रणथम्भोर दुर्ग को घेरा था,[७६] चिन्त्य है।

हम्मीरकाव्य के अनुसार हम्मीर का राज्याभिषेक सम्वत् १३३९ की माघ शुक्ला पूर्णिमा, रविवार, को सम्पन्न हुआ था। प्रबन्धकोश मे अभिषेक का सम्वत् १३४२ दिया गया है। सम्भवतः जैत्रसिंह हम्मीर को अभिषिक्त करने के पश्चात् तीन वर्ष तक जीवित रहा। नवम सर्ग मे हम्मीर की दिग्विजय का वर्णन है। देश की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति हम्मीर जैसे प्रतापी योद्धा के अभियानों के लिये अनुकूल थी, परन्तु उसके बलवन—शिलालेख (सम्वत् १३४५) के साथ नयचन्द्र के विवरण की तुलना करने से प्रतीत होता है कि हम्मीर की दिग्विजय उस क्रमबद्ध रूप मे सम्पन्न नही हुई थी जैसे हम्मीरमहाकाव्य में वर्णित है। शिलालेख मे हम्मीर के दो कोटियज्ञों का उल्लेख है पर उसकी दिग्विजय का सूक्ष्म संकेत भी नही है। मालव-राज अर्जुन पर विजय ही हम्मीर की शिलालेख मे उल्लिखित सैनिक उपलब्धि है[७७]। हम्मीर की तथाकथित दिग्विजय मे यही एकमात्र ऐतिहासिक तथ्य प्रतीत होता है। इस सर्ग (नवम) मे नयचन्द्र ने जिस आक्रमण का उल्लेख किया है, वह, वस्तुतः जलालुद्दीन खल्जी के समय मे हुआ था[७८]। भीमसिंह की मृत्यु के कारण वाद्यवादन से

७२. तबकाते नासिरी, तारीखे फरिश्ता तथा तबकाते अकबरी
७३. हम्मीरकाव्य, ३.६४ तथा तबकाते अकबरी, १. पृ. ३९
७४. हम्मीरमहाकाव्य, ३.५८-६२
७५. तबकाते नासिरी, पृ. २३४
७६. हम्मीरमहाकाव्य, ४.१०१
७७. यः कोटिहोमद्वितयं चकार श्रेणीं गजानां पुनरानिनाय।
निर्जित्य येनार्जुनमाजिमूर्ध्नि श्रीमालवस्योज्जगृहे हठेन॥ बलवन-शिलालेख, पद्य ११.
७८. हम्मीरायण की भूमिका, पृ० ११६

कही अधिक गम्भीर रहे होगे। धर्मसिंह को दिया गया अमानुषिक दण्ड भी पराजय के कारणों की असाधारणता का सूचक है। धर्मसिंह की कथा को काल्पनिक मानने का कोई कारण नही है, यद्यपि हम्मीरविषयक अन्य किसी ग्रन्थ मे उसकी चर्चा नही हुई है।

नयचन्द्र ने हम्मीर की राजनीतिक भूलो तथा ग़लत आर्थिक नीतियों का विशद वर्णन किया है, जिनसे रुष्ट होकर प्रजा धीरे-धीरे उससे विमुख होती गयी। अन्य ग्रन्थो से भी इस धारणा की पुष्टि होती है कि हम्मीर के अन्तिम समय मे प्रजा उससे वहुत कुछ विरक्त हो चुकी थी[७९]। दसवें सर्ग मे वर्णित खल्जी सेना की पराजय तथा मुगल वंधुओ द्वारा जगरा की लूटपाट का वर्णन मुसलमानी तवारीखो मे नही मिलता। उनके लिये यह कोई गौरव की वात नही थी। ग्यारहवे सर्ग मे वर्णित विफल गढ़रोध तथा निसुरतखान की मृत्यु की प्रायः समूची कथा हिन्दू और अहिन्दू लेखको द्वारा समर्थित है। नयचन्द्र के कथनानुसार उल्लूखान और निसुरतखान सन्धि-वार्ता के व्याज से पहाड़ी घाटी मे घुसने मे समर्थ हुए[८०], किन्तु वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि यवन-सेना की अत्यधिक सख्या के कारण राजपूतो ने गढरोध सहना अधिक हितकर समझा[८१]। जिस वीरता से राजपूतो ने अलाउद्दीन के आक्रमण का मुँहतोड़ उत्तर दिया, उसका विशद वर्णन हम्मीरमहाकाव्य के अतिरिक्त अन्य अनेक काव्यग्रन्थो तथा मुसलमानी तवारीखो मे भी प्राप्त है। अमीर खुसरो के अनुसार यवनसेना रजव से जीकाद (मार्च-जुलाई) तक किले को घेरे रही। किले से वाणों की वर्षा होने के कारण पक्षी भी नही उड सकते थे। इस कारण शाही वाज भी वहाँ तक न पहुँच सके[८२]।

हम्मीरमहाकाव्य से स्पष्ट है कि अन्तत. अलाउद्दीन गढरोध से थक गया था। प्रकारान्तर से यह कथन तारीखे फिरोजशाही से समर्थित है। यदि रतिपाल, रणमल्ल आदि हम्मीर से विश्वासघात न करते तो घेरा अवश्य उठ जाता। उसके अतिरिक्त दुर्ग मे वस्तुतः दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। अमीर खुसरो ने लिखा है कि वे पत्थर खा रहे थे। चावल का एक दाना वे दो स्वर्णमुद्राओ से खरीदने को तैयार थे और यह उन्हे न मिलता था[८३]। अत. नयचन्द्र का यह कथन कि भण्डार अन्न से परिपूर्ण था और जाहड़ कोठारी ने गलत सूचना दी थी, ठीक

७९. हम्मीरमहाकाव्य, प्रास्ताविक परिचय, पृ. १९
८०. हम्मीरमहाकाव्य, ११.२३
८१. हम्मीरायण, भूमिका, पृ. १२१
८२. वही, पृ० १२७
८३. वही, पृ० ४७

नही है ।

हम्मीरकाव्य के अनुसार दुर्ग का पतन श्रावण कृष्णा ६, रविवार, सम्वत् १३५८ को हुआ । अमीर खुसरो की तिथि उससे दो दिन पूर्व है[८४]। हम्मीर के स्वर्गारोहण के वाद जाजा ने दो दिन तक और युद्ध किया था । नयचन्द्र ने उसी दिन दुर्ग का पतन माना है । तारीखे फरिश्ता मे भी महिमासाहि के वीरोचित उत्तर का उल्लेख है । क्रोधाविष्ट होकर अलाउद्दीन ने उसे मस्त हाथी के पैरो तले कुचलवा दिया, किन्तु उसके शव को अच्छी तरह दफनवाया । साहस और स्वामिभक्ति का वह सम्मान करता था[८५]।

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि नयचन्द्र के सृजन मे तत्त्वग्राही इतिहाकार तथा कुशल कवि का रासायनिक सम्मिश्रण है । इसीलिये हम्मीरमहाकाव्य, कवित्व की दृष्टि से, उच्चकोटि की रचना है जो संस्कृत के उत्तम काव्यों से होड़ कर सकता है । दूसरी ओर, सस्कृत के ऐतिहासिक महाकाव्यो में कदाचित् यही एकमात्र ऐसा काव्य है जिसे 'इतिहासग्रन्थ' कहा जा सकता है । काव्य और इतिहास के इस सन्तुलन में ही 'ऐतिहासिक महाकाव्य' संज्ञा की सार्थकता निहित है । खेद है, संस्कृत-साहित्य मे अधिक नयचन्द्र नही हुए ।

८४. हम्मीरमहाकाव्य में ऐतिहय सामग्री, पृ. ४१

८५. हम्मीरमहाकाव्य में वर्णित रणथम्भोर के इतिहास (सर्ग ४-१४) के विवेचन के लिए देखिये मेरा लेख—Hammīramahākāvya : A Unique Source of the History of Ranathambhor, Avagāhana, Saradarshahar, Vol. II. 1, P. 41-46.

१४. कुमारपालचरित : चारित्रसुन्दरगणि

प्रख्यात चालुक्यनरेश कुमारपाल की धर्म-प्रभावना का जिन प्रबन्धो मे कृतज्ञतापूर्वक प्रशस्तिगान किया गया है, उनमे चारित्रसुन्दरगणि का कुमारपालचरित[1] अधिक ज्ञात नही है। इतिहास-प्रथित नायक के चरित पर आश्रित होने के कारण कुमारपालचरित की गणना सामान्यतः ऐतिहासिक काव्यो के अन्तर्गत की जाती है, किन्तु इसका इतिहास-तत्त्व बहुधा अस्पष्ट तथा भ्रामक है। काव्य का अधिकांश कुमारपाल तथा उसके आध्यात्मिक गुरु हेमचन्द्रसूरि के सम्बन्धो तथा कलिकालसर्वज्ञ के निर्देशन मे उसके द्वारा किये गये जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के विस्तृत वर्णनो मे खपा दिया गया है।

कुमारपालचरित का महाकाव्यत्व

कुमारपालचरित आलोच्य युग की उन रचनाओ मे है, जिनमे महाकाव्य के परम्परागत लक्षणो का आंशिक पालन हुआ है। इसकी रचना सर्गबद्ध काव्य के रूप मे हुई है, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसके सर्गो को आगे वर्गों मे विभक्त किया गया है, जो स्वतन्त्र सर्गों से किसी प्रकार कम नही हैं। काव्य का कथानक कुमारपाल के जीवनवृत्त पर आधारित है, जो इतिहास का प्रतापी धीरोदात्त शासक तथा जैन धर्म का बहुमानित पोषक है। कुमारपालचरित मे वीररस की प्रधानता है, यद्यपि इसे काव्य के अंगी रस के पद पर आसीन करना सम्भवतः कवि को इष्ट नही है। करुण, रौद्र, वीभत्स तथा अद्‍भुत रसो को भी यथोचित स्थान मिला है। प्रस्तुत काव्य का उद्देश्य 'धर्म' माना जा सकता है। महापण्डित आचार्य के आदेशानुसार समूचे शासनतन्त्र की सहायता से आर्हत धर्म का अप्रतिहत प्रसार करना काव्य का प्रमुख लक्ष्य है। छन्दयोजना मे चारित्रसुन्दर ने मान्य परम्परा का पालन नही किया है। काव्य के अधिकतर सर्गो मे ही नही, वर्गो मे भी, नाना वृत्तो का प्रयोग किया गया है। महाकाव्य की रूढ परम्परा के अनुसार कुमारपालचरित का आरम्भ आशीर्वादात्मक मगलाचरण से होता है, जिसमें महावीर स्वामी, वाग्देवी तथा आचार्य हेमचन्द्र की स्तुति की गयी है। काव्य का शीर्षक तथा सर्गो का नामकरण और नगरवर्णन, सज्जन-प्रशंसा आदि रूढियो का निर्वाह भी शास्त्र के अनुकूल है।

१. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर से पत्राकार प्रकाशित, सम्वत् १९७३

इन लक्षणों को छोडकर कुमारपालचरित मे महाकाव्य का कोई अन्य तत्त्व दृष्टिगोचर नही होता। काव्य मे मुख्यतः कुमारपाल के धार्मिक उत्साह का वर्णन होने के कारण इसके कथानक मे अन्विति तथा विकास-क्रम का अभाव है। काव्य के कुछ सर्ग तो एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं। अतः काव्य की कथावस्तु मे नाटय-संधियाँ खोजना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त कुमारपालचरित मे न वस्तुव्यापार के महाकाव्य-सुलभ मनोरम वर्णन है, न समसामयिक युग की चेतना का स्पन्दन है, न प्रकृति-वर्णन की सरसता है। इसकी भाषा-शैली में महाकाव्योचित प्रौढता तथा उदात्तता नही है। कुमारपालचरित में वे सभी शाश्वत तत्त्व वर्तमान नही है, जिनके कारण महाकाव्य अमर पद को प्राप्त करता है। फिर भी इसे महाकाव्य मानना अन्याय्य नही क्योकि दण्डी के शब्दो मे कतिपय तत्त्वों के अभाव में किसी रचना का महाकाव्यत्व नष्ट नहीं हो जाता, यदि अन्य तत्त्व पुष्ट तथा समृद्ध हो। कवि ने भी इसे प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका मे महाकाव्य की सज्ञा दी है—"इति भट्टारकश्रीरत्नसिंहसूरिशिष्योपाध्यायश्रीचारित्रसुन्दरगणिविरचिते श्रीकुमारपालचरिते महाकाव्ये वशवर्णनो नाम प्रथम. सर्गः।"

कविपरिचय तथा रचनाकाल

काव्यप्रशस्ति मे चारित्रसुन्दर ने कुछ आत्मपरिचय दिया है। वृद्धतपोगण के प्रख्यात आचार्य रत्नाकरसूरि ज्ञान के साक्षात् सागर थे। उनके नाम के आधार पर तपोगण ने रत्नाकरगण के नामान्तर से ख्याति प्राप्त की। रत्नाकरसूरि के अनुक्रम मे क्रमशः अभयसिंह तथा जयचन्द्र पट्ट पर आसीन हुए। कुमारपालचरित के प्रणेता चारित्रसुन्दर जयचन्द्र के पट्टधर रत्नसिंहसूरि के शिष्य थे।[३] कुमारपालचरित के इस विवरण की पुष्टि चारित्रसुन्दर के महीपालचरित्र की प्रशस्ति से भी होती है।[४] चारित्रसुन्दर के साहित्य-गुरु सम्भवतः जयमूर्ति पाठक थे, इसका सकेत कुमारपालचरित के निम्नोक्त पद्य से मिलता है।

> ये मज्जाडचतमोऽहरन्निजवचोभाभिः प्रभावांचिता,
> विश्वोद्योतकरा प्रतापनिकरा दोषापहाः सूर्यवत् ।
> ते मोदं ददताममन्दमुदितानन्दाः सदानन्दनाः
> श्रीमच्छ्रीजयमूर्तिपाठकवरा योगीश्वराः सर्वदा ॥ १०.३८

कुमारपालचरित की रचना शुभचन्द्रगणि के अनुरोध पर की गयी थी, इसका

२. न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदंगैः काव्यं न दुष्यति ।
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः ॥ काव्यादर्श, १.२०

३. कुमारपालचरित, १०.३५

४. महीपालचरित्र (पत्राकार), जामनगर, सं० १९८८, प्रशस्ति, ४-६

उल्लेख स्वयं कवि ने किया है।

चक्रे यदभ्यर्थनया पवित्रं चरितमेतन्मया विचित्रम् ।
प्रवर्तिताशेषशुभः स नित्यं जीयाद् गणीशः शुभचन्द्रसंज्ञः ।। १०.३६

कुमारपालचरित का रचनाकाल निश्चित करने का कोई आधारभूत साधन उपलब्ध नही है। काव्य भी इस विषय मे सर्वथा मौन है। जिनरत्नकोश के अनुसार प्रस्तुत काव्य की रचना सम्वत् १४८७ (सन् १४३०) मे हुई थी।[5] जिनरत्नकोश के इस निष्कर्ष का क्या आधार है, यह ज्ञात नही।

चारित्रसुन्दर की अन्य कृतियो मे शीलदूत, आचारोपदेश तथा महीपालचरित्र प्रसिद्ध है। शीलदूत मेघदूत का समस्यापूर्ति-रूप विज्ञप्तिपत्र है।

कथानक

कुमारपालचरित दस सर्गो का महाकाव्य है। प्रथम सर्ग मे भीमदेव से जयसिंह तक कुमारपाल के पूर्वजो का वर्णन है। दिग्विजय से लौटने पर जयसिंह को जैनाचार्यो की ओर से दशवर्षीय शिशु सोमचन्द्र आशीर्वाद देता है। यही सोमचन्द्र पदाधिरोहण के पश्चात् हेमचन्द्र के नाम से ख्याति प्राप्त करता है। द्वितीय सर्ग मे सिद्धराज जयसिंह सतानहीनता से विकल होकर भगवान् शकर की आराधना करता है। महादेव कुमारपाल को उसका राज्यधर घोषित करते हैं। यह सोचकर कि कुमारपाल के जीवित रहते हुए मुझे पुत्र-प्राप्ति नही हो सकती, जयसिंह उसके समूचे परिवार को ध्वस्त करने का षड्यत्र बनाता है। पहले वह उसके पिता का वध करवा देता है, जिससे भीत होकर कुमारपाल को अपने प्राणों की रक्षा के लिये जगह-जगह असहाय भटकना पड़ता है। तृतीय सर्ग मे सिद्धराज के देहावसान के पश्चात् कुमारपाल के राज्याभिषेक तथा मन्त्रि-पुत्र आम्बड एवं कोकणनरेश मलिकार्जुन के युद्ध का वर्णन है। आम्बड़ चालुक्यनरेश को कोकणराज का सिर भेट करता है। चतुर्थ सर्ग मे कुमारपाल तथा हेमचन्द्र के सम्पर्क और आचार्य की प्रेरणा से उसके जैनधर्म स्वीकार करने का निरूपण है। वह मास, मदिरा आदि समस्त दुर्व्यसनो को छोड देता है तथा राज्य से भी उन्हे बहिष्कृत कर देता है। पचम सर्ग मे कुमारपाल को जैनधर्म मे दीक्षित हुआ सुन कर एक काशीवासी शैव योगी उसे पुनः पैतृक धर्म मे प्रवृत्त करने के लिये आता है। वह मन्त्र-बल से उसके दिवगत माता-पिता को प्रकट करता है, जो उसके धर्म परिवर्तन के कारण अपनी दुर्दशा का बखान करते है। हेमचन्द्र द्वारा ध्यानशक्ति से पुनः प्रकट किये जाने पर वे देवलोक मे अपनी सुखशन्ति का वर्णन करते है। मन्त्र-तन्त्र आदि से आचार्य को जीतने मे असफल होकर योगी देवबोध ने उन्हे तर्कवाद से पराजित करने का निश्चय किया, किन्तु, छल-बल का प्रयोग करने पर भी, उसे पराजय का

५. जिनरत्नकोश, भाग १, पृ. ९२

अपमान सहना पड़ा। छठे सर्ग में यवनराज के आक्रमण, कुमारपाल के हाथों शाकम्भरी-नरेश अर्णोराज की पराजय और सौराष्ट्र के शासक सुसर तथा कुमारपाल के मन्त्री उदयन के युद्ध का वर्णन है। उदयन सौराष्ट्र-नरेश का वध करने में सफल होता है परन्तु बाणो से क्षत-विक्षत होकर स्वयं भी वीरगति प्राप्त करता है। सातवें सर्ग मे कुमारपाल वाग्भट को मंत्री तथा आम्वड को दण्डपति नियुक्त करता है। कुमारपाल पुत्रतुल्य मन्त्री को राज्यभार सौंप कर धर्मकार्यों में प्रवृत्त हो जाता है। आठवे सर्ग मे कुमारपाल की दानशीलता, गुरुभक्ति, धार्मिक उत्साह, प्रजारंजन एव उदारता का वर्णन किया गया है। हेमचन्द्र की प्रेरणा से वह प्रजा को निष्ठा पूर्वक जैनधर्म मे दीक्षित करता है तभा अमानुपिक सम्पत्ति-अधिकार समाप्त कर देता है। नवें सर्ग मे कुमारपाल के आग्रह पर आचार्य हेमचन्द्र उसके पूर्व-भव का वर्णन करते है, जो उन्हे देवी पद्मा के द्वारा अर्हत्पति सीमन्धर से ज्ञात हुआ था। दसवे सर्ग मे कुमारपाल विमलगिरि तथा रैवतक तीर्थों की यात्रा करता है। तीर्थ-यात्रा से पूर्व डाहल-नरेश कर्ण के भावी आक्रमण की सूचना मिलती है, किन्तु, आक्र-मण करने से पूर्व ही, उसकी मृत्यु हो जाती है। सर्ग के शेपांश मे वाग्भट, आम्रभट (आम्वड), हेमचन्द्र और कुमारपाल की मृत्यु तथा उससे उत्पन्न व्यापक शोक का चित्रण है।

काव्य के उपर्युक्त सार से स्पष्ट है कि कवि ने अपने चरितनायक के जीवन वृत्त को लेकर दस सर्गो का वितान खड़ा किया है। यह वितान शिथिल तन्तुओं से बंधा हुआ है। इसलिये काव्य के कथानक में सुसम्बद्धता तथा अन्विति का अभाव है। काव्य के कतिपय वर्गो तथा सर्गो मे तो कोई पारस्परिक सम्वन्ध नही है।

रसयोजना

धर्मवृद्धि के सीमित उद्देश्य के पोषक कवि के लिये काव्य का महत्त्व रोचक माध्यम से अधिक नही है, पर चारित्रसुन्दर ने धार्मिक आवेश के कारण काव्य की आत्मा की उपेक्षा नहीं की, यह सन्तोप की वात है। उसने मनोभावों के सरस चित्रण के द्वारा काव्य मे मार्मिक स्थलो की श्लाघ्य सृष्टि की है। यद्यपि उसकी कल्पना तग परिधि मे वेष्टित है तथापि विभिन्न रसो का चित्रण करने मे उसने दक्षता का परिचय दिया है। इतिहास के पराक्रमी शासक के जीवन से सम्वन्धित होने के कारण कुमारपालचरित मे वीररस की प्रधानता मानी जा सकती है, भले ही यह काव्य की समग्र प्रकृति तथा वातावरण के वहुत अनुकूल न हो। तृतीय सर्ग मे आम्रड़ तथा कोंकणराज और छठे सर्ग मे कुमारपाल एवम् अर्णोराज के युद्धो के वर्णन मे वीररस का भव्य परिपाक हुआ है। चारित्रसुन्दर के वीररस मे योद्धाओं का एक दूसरे पर टूटना, अट्टहास करना, हाथियो का चिंघाड़ना आदि वीररसात्मक रूढियों का सकेत मिलता है, जो कालान्तर मे युद्धचित्रण की विशेपताएँ वन गयी।

निम्नलिखित पक्तियाँ जिनमे वीररस की मनोरम छटा दृष्टिगत होती है, उक्त प्रवृत्ति का आभास देती है।

आलोक्यारान्मन्त्रिराट् तं समेतमारुह्योच्चैर्हस्तिनं प्रत्यधावत्।
विश्वां विश्वां व्यापयन्नात्मसैन्यैर्यद्वद्दर्पात्पन्नगं वैनतेयः ॥ ३.३.२४
पूर्णं पूर्णं काहलानां निनादैर्युद्धारम्भे व्योम सैन्यद्वयस्य।
दुग्धं दुग्धान्तर्गतं लक्ष्यते नो यद्वत्तद्वत्सैन्ययुग्मं तदासीत् ॥ ३.३.२५
मुंचन्त्येके चाट्टहासान् भटौघा नश्यन्त्येके कातरा रावबन्तः।
तन्वन्त्येके युद्धमिद्धोद्धतांगाः पश्यन्त्येके पातितानात्मनैव ॥ ३.३.२७

पांचवे सर्ग मे कुमारपाल के दिवगत माता-पिता, शैव योगी के मन्त्रवल से प्रकट होकर, उसके धर्म-परिवर्तन के कारण अपनी दुरवस्था का वर्णन करते हैं। उनके गलित शरीर के चित्रण मे बीभत्स-रस की प्रगाढ़ निष्पत्ति हुई है।

दुर्गन्धरुद्धाखिलदिग्विभागौ कुष्ठेन नष्टावयवौ कृशांगौ।
भृशं स्रवत्पूतिभरावलिप्तौ विकीर्णकेशावृतदीनवक्त्रौ ॥ ५.१.२७
नाना प्रहारव्रणजर्जरांगौ पृष्ठिदेशे दृढबद्धहस्तौ।
दीनं रटन्तौ च निरीक्ष्य तौ ते शोकं च कुत्सां च दधुर्नृपाद्याः ॥ ५.१.२८

कुमारपाल के कुष्ठगलित विकलाग माता-पिता यहाँ आलम्बन विभाव है। उनके शरीर की दुर्गंध, अंगो से टपकती पीक, अस्त-व्यस्त केश, म्लान मुख तथा आर्त्त क्रन्दन उद्दीपन विभाव है। उपस्थित लोगो के द्वारा शोक तथा कुत्सा प्रकट करना अनुभाव है। आवेग, व्याधि, मोह आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे समर्थित स्थायी भाव, जुगुप्सा, बीभत्सरस मे परिणत हुआ है।

इसके विपरीत हेमाचार्य के ध्यानयोग से पुन. भूलोक मे आकर वे अपने देवलोक के सुखमय जीवन का वर्णन करते है और उस सुख-शान्ति को कुमारपाल के नव-धर्म का फल मानते है। उनके यान के अवतरण का वर्णन अद्भुत रस की सृष्टि करता है।

विजितविधुरुचिभ्यां पार्श्वयोश्चामराभ्याम्
अतिललिततनुभ्यां वीज्यमानं सुरीभ्याम्।
शिरसि विधृतचंचच्छत्रमालोक्य लोकाः
किमिदमिति मुहूर्तं तेऽभवन्मोहवन्तः ॥ ५.२.११

छठे सर्ग में देवलदेवी, पाटन आकर, पति द्वारा किये गये अपने अपमान की दुःखपूर्ण कहानी अपने भाई कुमारपाल को सुनाती है। बहनोई अर्णोराज की उद्दण्डता तथा दुर्व्यवहार की गाथा सुन कर कुमारपाल क्रोध से पागल हो जाता है। उसकी क्रोधपूर्ण चेष्टाओ के चित्रण मे रौद्र-रस के अनुभावो की बाकी झाकी देखने को मिलती है।

तं तं तेन कृतं कृतान्तसदृशेनागश्च यं शृण्वतो
रोषेणारुणदारुणाक्षियुगलस्योद्ध्वोत्थितरोमावले: ।
शत्रूणामनिशं विनाशपिशुन: केतुस्ततानास्पदं
तस्यास्ये भ्रकुटिच्छलेन विपुले व्योम्नीव भूमीपते: ।। ६.३.२४

यहाँ कुमारपाल का हृदयवर्ती क्रोध स्थायीभाव है। अर्णोराज आलम्बन विभाव है। बहिन देवलदेवी का अपमान तथा उनके द्वारा कुमारपाल के सामने उसका वर्णन उद्दीपन विभाव है। बहिन की दुर्दशा सुनकर कुमारपाल की आँखो का लाल होना, शरीर का क्रोध से रोमांचित होना तथा भौहो का चढना अनुभाव है। अमर्ष, मोह, आक्षेप आदि संचारी भाव है। इन विभावो तथा संचारी भावो से पुष्ट होकर स्थायी भाव क्रोध की परिणति रौद्र रस मे हुई है।

अधिकतर जैन कवियो ने जहाँ रोने-धोने मे करुणरस की सार्थकता मानी है, वहाँ चारित्रसुन्दर ने उसकी पैनी व्यजना से हृद्गत शोक का सकेत किया है। समरभूमि मे मन्त्री उदयन की मृत्यु का समाचार सुनकर राजा कुमारपाल का मुँह शोक से म्लान हो गया। 'श्यामवक्त्र' शब्द मे करुणा की असीम गहनता छिपी है।

ज्ञात्वा वृत्तं कुमारो मृतमिति शोचयन् (?) श्यामवक्त्र: ।
प्रोत्फुल्लास्यो जयेनाजयदसिततमामष्टमी रात्रिमेवम् ।। ६.४.३१

चरित्रचित्रण

कुमारपालचरित मे काव्यनायक के अतिरिक्त हेमचन्द्र, उदयन, वाग्भट, कृष्ण, आम्बड आदि कई पात्र हैं, परन्तु उनके चरित्र का समान विकास नही हुआ है। कुमारपाल तथा हेमचन्द्र के व्यतिवत्व की भी कुछ रेखाएँ ही काव्य मे अंकित हुई हैं।

कुमारपाल

कुमारपाल काव्य का नायक है। काव्य मे उसके चरित्र की दो विरोधी विशेपताएँ दृष्टिगत होती है—राजोचित पराक्रम एवं नीतिमत्ता और अविचल धार्मिक तत्परता। सिंहासनासीन होने से पूर्व उसे, जयसिंह की वैरपूर्ण दुर्नीति के कारण, विकट परिस्थितियो तथा हृदयवेधक कठिनाइयो से जूझना पडता है, किन्तु अपनी सूझबूझ तथा साधन-सम्पन्नता से वह उन सब पर विजय पाता है और कष्टों की उस भट्ठी से कुन्दन बनकर निकलता है। राज्याभिषेक के पश्चात् उसकी नीति-निपुणता को उन्मुक्त विहार का अवसर मिलता है। सिंहासनारूढ होते ही वह, कुशल तथा दूरदर्शी प्रशासक होने के नाते, अपनी शक्ति को दृढ बनाने मे जुट जाता है। वह विरोधी शासको को स्वय अथवा मन्त्रियो के माध्यम से धराशायी करता है। आज्ञा की बार-बार अवहेलना करने वाले कृष्ण को, भरी सभा मे, प्राणदण्ड देकर वह अपनी कठोर प्रशासनिक नीति तथा कार्य-तत्परता की निर्दय मिसाल पेश करता है।

अस्त्वेवमेवं निगदन्नरेशोऽलुनाच्छिरस्तस्य शितासिना सः ।
कृतान्ततुल्यं तमवेत्य सर्वः सभाजनः क्षोभमवाप बाढम् ॥ ३.२.२६

आचार्य हेमचन्द्र से सम्पर्क होने के पश्चात् उसकी जीवनधारा नया मोड़ लेती है । उनके आदेशानुसार वह पाटन मे अपने कुलदेवता भगवान् शंकर का मन्दिर बनवाता है । कालान्तर मे वह परम्परागत शैव धर्म छोड कर आर्हत धर्म स्वीकार करता है । उनकी सत्प्रेरणा से वह जीवहिंसा पर प्रतिबन्ध लगाता है, स्वयं मांस-मदिरा आदि दुर्व्यसन छोड देता है, तीर्थयात्रा करता है तथा सम्पत्ति-अधिकार का पाशविक नियम तथा पशुबलि की क्रूर प्रथा समाप्त कर देता है और आचार्य के मुख से तिरेसठ शलाकापुरुषो का चरित सुनता है । नव-धर्म के प्रति उसके उत्साह तथा निष्ठा का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि वह नाना पारितोपिक देकर प्रजाजनो को तत्परता से जैनधर्म मे दीक्षित करता है । वह जैनधर्म की अहिंसा का सन्देश जन-जन तक पहुँचाने को आतुर है । इसके लिये बल-प्रयोग करने मे भी उसे हिचक नही ।

कुमारपाल के चरित मे क्रूरता तथा दयालुता का विचित्र समन्वय है ।

हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्रसूरि कुमारपाल के आध्यात्मिक गुरु तथा पथप्रदर्शक है । वे महान् पण्डित तथा विभूतिसम्पन्न महापुरुप है । शैशव में ही उनकी दिव्यता का परिचय मिलता है । दस वर्ष की अल्पावस्था मे विजयी जयसिंह को भावपूर्ण आशीर्वाद देकर वे सबको विस्मित कर देते है । वे अपनी ध्यानशक्ति से कुमारपाल के दिवंगत माता-पिता को प्रकट करते है, मन्त्रबल से देवी कण्टेश्वरी तथा यवनराज को बाधते है तथा कुमारपाल के पूर्वजन्म का वर्णन करते है ।

कुमारपाल को जैनधर्म मे दीक्षित करने तथा उसे दुर्व्यसनो से उबार कर जनहित मे प्रवृत्त करने का श्रेय हेमचन्द्र को है । कुमारपाल उन्हे अपना सच्चा हितैषी तथा मार्गदर्शक मानता है और गाढ़े समय मे सदैव उनके परामर्श के अनुसार आचरण करता है । कुमारपाल के जीवन मे आचार्य इतने घुले-मिले है कि उनके बिना उसकी कल्पना करना सम्भव नही है । वह उनकी छाया-मात्र है । उनके स्वर्गारोहण से कुमार को जो प्रबल आघात लगा, वह आचार्य के गौरव तथा उनके प्रति कुमारपाल की असीम श्रद्धा का प्रतीक है ।

उदयन

उदयन चालुक्यनरेश का प्रिय मन्त्री है । वह रणकुशल तथा वीर योद्धा है । वह बलशाली सौराष्ट्रनरेश को परास्त करने मे सफल होता है किन्तु इस सफलता के लिये उसे अपने प्राणो की आहुति देनी पडती है । कुमारपाल को उसके निधन से बहुत दु:ख होता है, जो उसकी स्वामिभक्ति का द्योतक है ।

कृष्ण

कृष्ण कुमारपाल का बहनोई तथा सेनापति है। सिद्धराज के निधन के पश्चात् राज्य प्राप्त करने मे वह कुमारपाल की पर्याप्त सहायता करता है। परन्तु जब वह कुमारपाल को उसके प्रारम्भिक जीवन के विषय मे उपालम्भ देकर लज्जित करने लगा और समझाने-बुझाने पर भी नही माना तो कुमारपाल अपना मार्ग निष्कण्टक करने के लिए उसका सिर काट देता है।

भाषा

चारित्रसुन्दर ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए भाषा-सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान नही दिया है। कुमारपालचरित की भाषा प्रौढता से वंचित है। काव्य मे सरल तथा सुगम भाषा का प्रयोग किया गया है, जिससे वह साधारण पाठक के लिए भी बोधगम्य हो सके। इसीलिए वह क्लिष्टता तथा दुरूहता से सर्वथा मुक्त है। अपनी भाषा को सर्वजनगम्य बनाने के लिए कवि ने उसकी शुद्धता की बलि देने में भी संकोच नहीं किया है। काव्य में व्याकरण की दृष्टि से चिन्त्य प्रयोग भी दृष्टिगत होते है। 'प्राप्य' के स्थान पर 'आप्य' का (७.१.३३), सिद्धराजस्य तथा मल्लिकार्जुनराजस्य के लिए 'सिद्धराज्ञः' तथा 'मल्लिकार्जुनराज्ञः' (१.२.३६,३.३.१) का प्रयोग कवि ने इस सहजता से किया है मानो इसमे कुछ भी आपत्तिजनक न हो। यहाँ वह काव्यदोष है, जिसे साहित्यशास्त्र मे 'च्युतसंस्कार' कहा गया है। चारित्रसुन्दर की भाषा मे 'अधिक' दोष भी दृष्टिगत होता है। तारतम्यबोधक 'रुचिरतर' के साथ आधिक्यवाचक 'अति' का प्रयोग अनावश्यक है (२.३.४)। इसी प्रकार छन्दपूर्ति के लिए शब्दो के वास्तविक रूप को विकृत करने मे भी कवि को कोई हिचक नही है। कुमार के लिए अधिकतर कुमर का प्रयोग छन्द-प्रयोग मे कवि की असमर्थता का परिणाम है (२.२.७०; २.३.३७)। इसी अक्षमता के कारण कवि ने कही-कही सन्धि को भी तिलाञ्जलि दी है। 'वर्षाऋतौ' पद केवल छन्दपूर्ति के आधार पर क्षम्य हो सकता है। कुमारपालचरित की भाषा में 'निस्सान' (२.४.१४) तथा चंग (७.१.६) आदि कुछ देशी शब्द भी प्रयुक्त किये गये है। चारित्रसुन्दर के काव्य में यायावर पद्यो का समावेश करने की विचित्र प्रवृत्ति दिखाई देती है। 'आरभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः' तथा 'विजेतव्या लंका चरणतरणीयश्च जलधिः' आदि ऐसे पद्य हैं, जो साहित्य में पहले ही सुविज्ञात हैं।

फिर भी कुमारपालचरित की भाषा प्रसगानुकूल है। उसकी विशेषता यह है कि ओजपूर्ण प्रसंगो मे भी उनकी सरलता यथावत् बनी रहती है। अधिकतर एकरूप होने पर भी उसमे वर्ण्य भाव के अनुरूप वातावरण निर्मित करने की क्षमता है। हेमचन्द्र की मृत्यु तथा उससे उत्पन्न शोक के वर्णन की भाषा भाव की अनुगामिनी है।

अहह सृजसि धातर्विश्वविश्वावतंसं
पुरुषमखिलविद्यावन्तमुद्यत्प्रशंसम् ।
तमपि यमसमीपं प्रापयन्नात्मनैव
व्रजसि बत ! विनाशं किं कृतघ्नेश न त्वम् ॥ १०.२.१२

नीतिपरक प्रसगो मे सरलतम भाषा प्रयुक्त की गयी है। जनसाधारण मे नीतिकथनों को तुरन्त आत्मसात् करने तथा दैनिक जीवन मे उनका उपयोग करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। अत. इनकी भाषा का सहज तथा सुबोध होना परम आवश्यक है।

विवेकदीपो हृदि तावदेव स्फुरत्यहो दर्शितधर्ममार्गः ।
उन्मूलिताचारविचारवृक्षो न वाति यावत्किल कामवायुः ॥ १.२.६
उपकारोऽपकारो वा यस्य व्रजति विस्मृतिम् ।
पाषाणहृदयस्यास्य जीवतीत्यभिधा मुधा ॥ ४.१.१२
मितम्पचश्रीरधमोत्तमेच्छा सुरंगधूली कुसुमं वनस्य ।
छाया च कूपस्य विनाशमेते पंचापि तत्रैव किल प्रयान्ति ॥ १०.१.३४

कुमारपालचरित्र मे विभिन्न प्रसगो मे, कुछ सटीक सूक्तियाँ प्रयुक्त हुई है। उनमे से कुछ उल्लेखनीय है—पुत्रस्नेहो हि दुस्त्यजः (१ ३.४१), परकृते कुर्वन्ति किं नोत्तमाः (७.१.४१), अब्धिना क समस्तेन यद्वेला अपि दुस्तरा (८.२.३०), कर्माभुक्त क्षीयते नो (६.२.३८) ।

कुमारपालचरित की भाषा मे भले ही प्रौढता न हो, उसमे सरलता का सौन्दर्य है। यही उसका आकर्षण है।

अलंकार-विधान

कुमारपालचरित के कर्त्ता का उद्देश्य सरल-सुबोध भाषा मे जैनधर्म के एक समर्थ प्रभावक का चरित वर्णित करना है। इसलिये यह विद्वत्ता-प्रदर्शन के एक प्रमुख उपकरण, अनावश्यक अलकृति, से आक्रात नही है। उसकी शैली मे अलंकार स्वाभाविकता से प्रयुक्त हुए हैं। वे सदा भावभिव्यक्ति मे सहायक हों, यह तो नही कहा जा सकता, किन्तु उन्होने काव्य-सौन्दर्य को प्रस्फुटित अवश्य किया है।

शब्दालंकारों में, कुमारपालचरित मे, अनुप्रास का वाहुल्य है। अनुप्रास काव्य मे मधुरता का जनक है। जयसिंह की दिग्विजय-समाप्ति के निम्नोक्त पद्य मे अंत्यानुप्रास का माधुर्य देखिये—

इति जितनिखिलाशः सर्वसम्पूरिताशः कृतसुकृतविकाशः शत्रुकेतुप्रकाशः ।
कलितसकलदेशः सोत्सवं गुर्जरेशः स्वपुरमथ नरेशः स्वर्गतुल्यं विवेश ॥१.२.३६

यमक और श्लेप से भाषा मे अनावश्यक क्लिष्टता आती है तथा वे रसचर्वणा

में बाधक होते है, अतः कुमारपालचरित में उनका बहुत कम प्रयोग किया गया है। विजयी जयसिंह का यह प्रशस्तिगान यमक पर आधारित है।

जीव जीवसम। विद्यया सदानन्द। नन्दनसमान। समान।
नन्द नन्दसम। दाननिरस्तकर्ण। कर्णसुत। सिद्धनरेन्द्र॥१.२.६७

अर्थालंकारो मे रूपक, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, सहोक्ति, अतिशयोक्ति, व्याजस्तुति, विरोध, परिसंख्या, समासोक्ति आदि प्रसिद्ध अलंकारों को भाव प्रकाशन का माध्यम बनाया गया है। कुमारपाल के पूर्व-भव के वर्णन के प्रसग मे रूपक का यह रोचक प्रयोग दर्शनीय है।

गुरुवचनसुधाभिस्ताभिरेवं प्रसिक्तो
हृदयगहनवर्ती निर्ववौ कोपवह्निः। ६.२.११

योगी देवबोध की आत्मविकत्थना अतिशयोक्ति मे प्रकट हुई है। उसकी वाक्पटुता के समक्ष बृहस्पति, ब्रह्मा और महेश्वर भी मूक है।

बृहस्पतिः किं कुरुतां वराको ब्रह्मापि जिह्मो भवति क्षणेन।
मयि स्थिते वादिकरीन्द्रसिंहे नैवाक्षरं वेत्ति महेश्वरोऽपि॥५.३.४

निम्नोक्त पद्य मे कुमारपाल की प्रीति, प्रतीति, प्रभुता तथा प्रतिष्ठा का क्रमशः गुरु, धर्म, शरीर तथा त्रिलोकी के साथ सम्बन्ध होने के कारण यथासख्य अलकार है।

प्रीतिः प्रतीतिः प्रभुता प्रतिष्ठा तस्याभवद् भूमिपतेः प्रकृष्टा।
गुरौ च धर्मे वपुषि त्रिलोक्यां पक्षे सिते चन्द्रकलेव नित्यम्॥१०.१.२

आम्बड़ ने कोकणराज के छत्र के साथ ही उसकी कीर्त्ति को भूमिसात् कर दिया। यह सहोक्ति है।

कीर्त्या साकं कंकपत्रेण धात्र्यां शत्रोश्छत्रं पातयामास पश्चात्। ३.३.४६

छन्द योजना

छन्दों के प्रयोग मे कुमारपालचरित्र मे घोर अराजकता है। इसके अधिकतर सर्गो मे ही नही, वर्गों मे भी, नाना वृत्तों का प्रयोग किया गया है। जिन सर्गों तथा वर्गो में एक छन्द का प्राधान्य है, उनमे भी कवि ने बीच-बीच में अन्य छन्दों का समावेश कर ऐसा घोटाला कर दिया है कि इस द्रुत छन्द-परिवर्तन से पाठक झुंझला उठता है। छन्द-योजना में कवि ने जिस श्रम का व्यय किया है, यदि उसका उपयोग वह अन्यत्र करता तो उसकी रचना अधिक आकर्षक बन सकती थी।

कुमारपालचरित में, कुल मिलाकर, तेईस छन्द प्रयुक्त हुए है, जो इस प्रकार हैं—अनुष्टुप् इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, शालिनी, स्वागता, भुजंगप्रयात, द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, वसन्ततिलका, मालिनी, हरिणी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता,

शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, दण्डक, स्रग्विणी, वंशस्थ आर्या, और गाथा। दो छन्दों के नाम ज्ञात नही हो सके हैं। काव्य में उपजाति की प्रधानता है। इसके बाद अनुष्टुप् का स्थान है।

कुमारपालचरित में ऐतिहासिक सामग्री

कुमारपालचरित का ऐतिहासिक वृत्त सर्वत्र असदिग्ध अथवा विश्वसनीय नही है, किन्तु इससे अनहिलवाड़ के चौलुक्यवश, विशेपकर कुमारपाल के इतिहास की कुछ जानकारी मिलती है, जिसके सत्यासत्य का परीक्षण, वस्तुस्थिति से अवगत होने के लिये आवश्यक है।

काव्य का ऐतिहासिक वृत्त भीमदेव से प्रारम्भ होता है, जो गुजरात के चालुक्यवश के संस्थापक मूलराज का प्रतापी वशज था। चारित्रसुन्दर का कथन है कि उसके पुत्र क्षेमराज ने, राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी होते हुए भी, राज्यसत्ता स्वेच्छा से अपने विमातृज भाई कर्ण को सौंप दी थी।[६] यद्यपि प्रबन्धचिन्तामणि आदि मे भी ऐसा विवरण मिलता है, किन्तु क्षेमराज को सम्भवत: अपनी माता की चारित्रिक पृष्ठभूमि के कारण राज्याधिकार से वंचित रहना पड़ा था, जो वस्तुत: वारवनिता थी पर उसके रूप पर रीझ कर भीमदेव ने उसे अपने अन्त:पुर मे रख लिया था। काव्य मे कर्ण के लिये प्रयुक्त 'वर्णव्रजपूजितस्य' (१.१.४०) विशेपण की कदाचित् यही ध्वनि है कि क्षेमराज अभिजातवर्ग को मान्य नही था। उसे राज्यदान का श्रेय देना अतिरजना मात्र है। चारित्रसुन्दर के कथन से यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि क्षेमराज तथा कर्ण के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण थे और वे सौतेले भाइयों की परम्परागत डाह से मुक्त थे।

जयसिंह के वृत्तान्त मे भी सत्यासत्य का मिश्रण है। अष्टवर्षीय शिशु जयसिंह के ऊपर राज्य का दुर्वह भार लादने की कर्ण के लिये क्या विवशता थी, यह काव्य से स्पष्ट नही है। सिद्धराज की मालवविजय की घटना सत्य तथा प्रमाण-पुष्ट है।[८] वडनगरप्रशस्ति से ज्ञात होता है कि जयसिंह ने मालवप्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया था। किन्तु दिग्विजय के अन्तर्गत उसके द्वारा पराजित देशो की सूची-कर्णाटक, लाट, मगध, अंग, कलिंग, वग, कश्मीर, कीर तथा मरुप्रदेश[९]—परम्परागत प्रतीत होती है।

कुमारपाल के प्रति जयसिंह का अमानुषिक वैर इतिहास-प्रसिद्ध है। यह वैर

६. कुमारपालचरित, १.१.४०-४१

७. वही, १.२.२८

८. वही, १.२.३४-३५

९. वही, १.२.३८

कुमारपाल के नर्तकी का वशज होने के कारण नहीं था, जैसा मेरुतुंग ने माना है। इसके गम्भीरतर कारण थे। जयसिंह की सन्तानहीनता ने कुमारपाल को उसका भावी उत्तराधिकारी बना दिया था। यह सम्भावना सिद्धराज को सह्य नहीं थी। अतः उसने कुमारपाल को समाप्त करने का षड्यन्त्र बनाया, जिससे भीत होकर उसे सतत सात वर्ष अज्ञातवास करना पड़ा। कुमारपाल के इस प्रवास की पुष्टि मुस्लिम इतिहासकारों के विवरणों से भी होती है।[10] उसके पिता त्रिभुवनपाल का वध सिद्धराज के इसी ध्वंसकारी कुचक्र का परिणाम था।

जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् राज्य प्राप्त करने में कुमारपाल को अपने बहनोई सेनापति कृष्ण से यथेष्ट सहायता मिली थी। यह इतिहास की विडम्बना है कि जिस कृष्ण ने गाढे समय में कुमारपाल का मार्गदर्शन तथा सहायता की थी, उसे ही चालुक्यराज की तलवार का शिकार बनना पड़ा।[11] प्रबन्धचिन्तामणि से कुमारपाल की इस राजनीतिक कठोरता की पुष्टि होती है (पृ. ७९)।

काव्य मे कुमारपाल के विजय-अभियानो की भी चर्चा है। कोकणनरेश मलिकार्जुन को कुमारपाल का मन्त्री आम्वड़ द्वितीय आक्रमण में ही पराजित कर सका था। यह घटना सन् ११६२ से पूर्व की है क्योंकि उसी वर्ष मलिकार्जुन के उत्तराधिकारी अपरादित्य का शासन प्रारम्भ होता है।[12] सौराष्ट्र-युद्ध को जैन कवि ने धार्मिक चश्मे से देखा है। अजहत्या को युद्ध का कारण मानना हास्यास्पद है। श्री भगवानलाल का मत है कि यह युद्ध सन् ११४८ के करीब हुआ था।[13]

कुमारपालचरित मे कुमारपाल तथा शाकम्भरी-नरेश अर्णोराज के इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध का वर्णन है। चारित्रसुन्दर के विवरण के अनुसार कुमारपाल की बहिन देवलदेवी अर्णोराज की पत्नी थी। शतरंज खेलते समय एक दिन अर्णोराज ने गोटी के लिये मारि (हिंसा) शब्द का प्रयोग किया जिससे देवलदेवी की अहिंसात्मक भावना को ठेस पहुँची। उसके प्रतिवाद करने पर शाकम्भरी-नरेश ने उस पर पाव से प्रहार किया। अपनी बहिन के इस अपमान से उत्तेजित होकर कुमारपाल ने शाकम्भरी पर आक्रमण कर दिया। युद्ध मे अर्णोराज पराजित हुआ, पर बहिन के अनुरोध पर कुमारपाल ने उसका प्राणान्त नही किया।[14]

साधनो का बाहुल्य होते हुए भी इस चालुक्य-चौहान युद्ध का स्वरूप स्पष्ट नही

१०. आईने अकबरी, खण्ड २, पृ. २६३.
११. कुमारपालचरित, ३.२.२-११.
१२. लक्ष्मीशंकर व्यासः चौलुक्य कुमारपाल, पृ. ११४
१३. वही, पृ. ११५.
१४. कुमारपालचरित, ६.३.६-४५.

है। हेमचन्द्र तथा मेरुतुग के भिन्न विवरणों के आधार पर कुछ विद्वानों ने कुमारपाल तथा अर्णोराज के दो युद्धों की कल्पना की है। उनका विचार है कि प्रथम आक्रमण अर्णोराज की ओर से हुआ था। इसमे कुमारपाल पराजित हुआ और उसे आक्रान्ता शाकम्भरी-नरेश को अपनी वहिन देवलदेवी देने का अपमान सहना पड़ा। पराजय के अपमान का बदला लेने के लिये चालुक्यराज ने, अवसर पाकर, शाकम्भरी को घेर लिया। इस बार विजय उसे प्राप्त हुई।[१५]

खेल के परिहास को युद्ध का कारण मानना जैन कवि के धार्मिक उत्साह का विद्रूप है। देवलदेवी का उक्त युद्ध से कोई सम्बन्ध नही है। वस्तुतः कुमारपाल की देवलदेवी नामक कोई वहिन नही थी। सिद्धराज जयसिंह की पुत्री काचनदेवी अर्णोराज से विवाहित अवश्य थी परन्तु चालुक्य-चौहान सघर्ष मे उसकी कोई भूमिका नही रही है। देवलदेवी, जिस पर युद्ध का दायित्व थोपा गया है, जैन कवियों तथा प्रबन्धकारों की कल्पना की उपज है।[१६]

कुमारपाल तथा अर्णोराज की भिड़न्त अवश्य ही दो बार हुई थी, किन्तु उसके कारण शुद्ध राजनीतिक थे, जिनका रोचक विवेचन अन्यत्र पढा जा सकता है।[१७] वडनगरप्रशस्ति (श्लोक १४, १८) से विदित होता है कि यह युद्ध सम्वत् १२०८ (सन् ११५१) से पूर्व समाप्त हो चुका था।

चारित्रसुन्दर ने कुमारपाल के मालवयुद्ध का उल्लेख नही किया है, यद्यपि मालवविजय उसके राजनीतिक जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। गजनी के मलेच्छ को हेमचन्द्र द्वारा मन्त्रबल से वाधने की कल्पना सर्वथा अनैतिहासिक है।

इस प्रकार कुमारपालचरित मे, कतिपय प्रामाणिक तथ्यो को छोड़कर, बहुधा इतिहास का विपर्यास प्रस्तुत किया गया है। चारित्रसुन्दर ने जनश्रुति तथा जैन प्रबन्धों से कुमारपाल के विषय मे जो कुछ ज्ञात हुआ, उसे यथावत् स्वीकार कर लिया। उसके धार्मिक आवेश ने इतिहास के साथ न्याय नही किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चारित्रसुन्दर की प्रतिभा उसके उद्देश्य की वन्दिनी है। यदि वह धर्मोत्साह के तंग घेरे से निकल कर उन्मुक्त वातावरण में श्वास लेने का प्रयास करता तो उसकी काव्यकला का उत्कृष्ट रूप सामने आता और वह इतिहास के साथ भी न्याय कर पाता।

१५. हरविलास सारदा : स्पीचेस एण्ड राइटिंग्स, २८५-२८६
१६. भारतकौमुदी, भाग २, पृ. ८७८-७६
१७. वही, पृ. ८८२-८८४

१५. वस्तुपालचरित : जिनहर्षगणि

जिनहर्ष का वस्तुपालचरित भी ऐतिहासिक महाकाव्य माना जाता है। इसके आठ विशालकाय प्रस्तावो मे चौलुक्य-नरेश वीरधवल के नीतिनिपुण महामात्य वस्तुपाल की वीरता, उदारता, कूटनीतिक कौशल, लोककल्याण, साहित्य-प्रेम तथा जैन धर्म के प्रति अपार उत्साह तथा उसकी गौरव-वृद्धि के लिए किये गये अथक प्रयत्नो का सागोपाग वर्णन किया गया है। वस्तुतः काव्य मे वस्तुपाल तथा उसके अनुज तेज:पाल दोनों का जीवनचरित गुम्फित है, किन्तु वस्तुपाल के गरिमापूर्ण व्यक्तित्व के प्रकाश मे तेज.पाल का वृत्त मन्द पड़ गया है, यद्यपि दोनो के चरितों का काव्य मे ऐसा मिश्रण है कि एक को दूसरे से पृथक् करना प्रायः असम्भव है। वस्तुपाल की प्रधानता के कारण ही काव्य का नाम वस्तुपालचरित रखा गया है। ऐतिहासिक पात्रो को धर्मोत्थान का माध्यम बनाने की रीति नयी नही है, किन्तु जिस प्रकार कवि ने काव्य को अपने धार्मिक उत्साह का दास बनाया है, वह काव्य तथा इतिहास दोनो के प्रति अन्याय है।

वस्तुपालचरित का महाकाव्यत्व

वस्तुपालचरित की रचना मे जिन मानदण्डों का पालन किया गया है, उनका सम्बन्ध महाकाव्य की आत्मा की अपेक्षा शरीर से अधिक है। काव्य का कथानक वस्तुपाल के उदात्त चरित पर आश्रित है, जो मध्यकालीन भारतीय इतिहास का देदीप्यमान नक्षत्र है। वस्तुपाल धीरोदात्त श्रेणी का नायक है, यद्यपि वह क्षत्रियकुल-प्रसूत नही, वणिक्कुल का रत्न है। अन्य कतिपय जैन काव्यो की भाँति वस्तुपाल-चरित मे तीव्र रसव्यंजना का अभाव है। प्रसंगवश वीर तथा करुणरस का पल्लवन काव्य मे हुआ है। वीररस को ही वस्तुपालचरित का अंगी रस माना जा सकता है, जो शास्त्र के अनुकूल है। शास्त्रीय नियम के अनुसार वस्तुपालचरित के कथानक को आठ विभागो में विभक्त किया गया है, जिनकी संज्ञा यहाँ 'प्रस्ताव' है। प्रत्येक प्रस्ताव का कलेवर पर्याप्त विस्तृत है। वस्तुपालचरित को सामान्यतः सर्गबद्ध कहा जा सकता है, यद्यपि उसके हर प्रस्ताव मे नियमानुसार किसी एक प्रसंग का प्रतिपादन नही हुआ है बल्कि उनमें विविध प्रकार की सामग्री भरी पड़ी है। छन्दो के प्रयोग मे जिनहर्ष को शास्त्रीय विधान मान्य नही है। काव्य के प्रत्येक प्रस्ताव में नाना वृत्तों का प्रयोग किया गया है, जो स्पष्टतः मान्य परम्परा का उल्लंघन है

१. जामनगर से पत्राकार प्रकाशित, सम्वत् १९६८

क्योंकि महाकाव्य में छन्द-वैविध्य एक-दो सर्गों में ही काम्य है। जिनहर्ष की भाषा महाकाव्योचित प्रौढता से रहित है। महामात्य के समकालीन कवियो तथा साहित्य के अन्य बहुप्रचलित शताधिक पद्यो का काव्य मे समावेश करने से इसकी मौलिकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। इसकी यथावद्वर्णनात्मक तथा अपरिमार्जित शैली भी महाकाव्य के लिए अधिक उपयुक्त नही है। काव्य की रचना जैनधर्म के माहात्म्य के प्रकाशन तथा उसके प्रचार के सीमित उद्देश्य से हुई है। इस प्रकार वस्तुपालचरित मे महाकाव्य के स्वरूपविधायक कुछ तत्त्व ही दिखाई देते है। तो भी, जैन महाकाव्यो के सन्दर्भ मे, वस्तुपालचरित को सामान्यतः महाकाव्य मानने मे अधिक आपत्ति नही होनी चाहिए।

वस्तुपालचरित का स्वरूप

वस्तुपालचरित को ऐतिहासिक रचना माना जाता है। निःसंदेह इससे चौलुक्य-वंश, धौलका-नरेश वीरधवल, विशेपकर उसके प्रखरमति अमात्य वस्तुपाल तथा तेजपाल के विषय मे कुछ उपयोगी जानकारी प्राप्त होती है। किन्तु इन सूक्ष्म ऐतिहासिक संकेतो को पौराणिकता के चक्रव्यूह मे वन्द कर दिया गया है। ४५५६ पद्यो के इस वृहत् काव्य मे कवि ने ऐतिहासिक सामग्री पर २००-२५० से अधिक पद्य व्यय करना उपयुक्त नहीं समझा है। वस्तुपालचरित मे पौराणिक काव्यो की विशेपताएँ इतनी प्रवल तथा पुष्ट है कि इसकी ऐतिहासिकता उनकी पर्तो मे पूर्णतः दब गयी है।

पौराणिक काव्यो की भाँति वस्तुपालचरित जैनधर्म की गरिमा का वाहक है। प्रत्येक प्रस्ताव मे धर्मदेशना की योजना करना इसी दृष्टिकोण का दयनीय परिणाम है। धर्मोपदेश की यह प्रवृत्ति पंचम प्रस्ताव मे पराकाष्ठा को पहुँच गयी है। इन देशनाओ के द्वारा कवियो को अपने प्रचारात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिये अबाध स्वतन्त्रता मिल जाती है। जिनहर्ष ने इस स्वतन्त्रता का पूरा उपयोग किया है। जैनधर्म को सर्वोत्तम तथा अन्य मतो को हेय[२] बतलाने का आधार यही प्रचारवादी दृष्टिकोण है। इसी धार्मिक दुराग्रह के कारण नरवर्मा की सभा मे उपस्थित अन्य मतानुयायियो की विचारधारा अस्वीकार कर दी जाती है। वस्तुपालचरित मे, पुराणो की भाँति, पूर्व-भवो का वर्णन किया गया है। पाँचवें प्रस्ताव मे गणधर, सुर की अकारण हर्षानुभूति की व्याख्या उसके पूर्व-जन्म के वर्णन के द्वारा करते हैं। शत्रुंजय, रैवतक आदि धार्मिक स्थानो, तीर्थयात्राओ तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों का वर्णन भी ठेठ पौराणिक शैली मे हुआ है। वस्तुत. काव्य का अधिकाश तीर्थ-

२. (अ) प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयति शासनम्। वस्तुपालचरित, ४.५०३
(आ) अथ मिथ्यादृशः क्रूरस्वान्ताः शैवतपोधनाः। वही, ८.४८

माहात्म्यों, चैत्यनिर्माण, प्रतिमा-प्रतिष्ठा, जीर्णोद्धार आदि के अविराम वर्णनों से आच्छन्न है। काव्य मे अलौकिक घटनाओ की प्रचुरता है। जिनहर्ष के पात्र मन्त्र-वल से आकाश मे विहार करते है। दिव्य वस्तुओं की प्राप्ति के लिये देवताओं की आराधना की जाती है। अलौकिक शक्तियाँ स्वप्न में प्रकट होकर पात्रों का मार्ग-दर्शन करती है। पुराणो की तरह वस्तुपालचरित मे अतीत तथा वर्तमान की घट-नाओ को भविष्यत् काल के द्वारा वर्णित किया गया है; अपने मन्तव्य के समर्थन मे आगमो से उद्धरण दिये गये है तथा 'मदन उवाच', 'अत्र श्लोकसंग्रहः', 'यतः' आदि गद्यांशो को नवीन वक्तव्य प्रारम्भ करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। वस्तुपालचरित की समूची प्रकृति पौराणिक काव्यो के समान है। ऐतिहासिक इति-वृत्त के कारण केवल सौकर्यवश इसका विवेचन यहाँ ऐतिहासिक महाकाव्यों के अन्त-र्गत किया जा रहा है।

कवि-परिचय तथा रचनाकाल

वस्तुपालचरित के अन्त मे जिनहर्ष ने, काव्य-प्रशस्ति में, अपनी गुरु-परम्परा तथा रचनाकाल के सम्बन्ध मे उपयोगी जानकारी दी है। तपागच्छ के प्रवर्तक जगच्चन्द्र के पट्टधर देवेन्द्र गुरु थे। उनके देशना-समाज का सभापतित्व स्वयं महा-मात्य वस्तुपाल किया करते थे। उनकी समृद्ध शिष्य-परम्परा मे सोमसुन्दर का नाम उल्लेखनीय है। उत्कृष्ट गुणो के कारण उनकी तुलना गणधर सुधर्मा से की जाती थी।[३] उनके दो शिष्यों ने विशेष ख्याति अर्जित की। मुनि सुन्दरसूरि अपनी बौद्धिक उपलब्धियों के फलस्वरूप वृहस्पति नाम से ख्यात हुए। उनके दूसरे शिष्य जयचन्द्र-सूरि वस्तुपालचरित के कर्त्ता जिनहर्ष के गुरु थे। प्रस्तुत काव्य की रचना जिनहर्ष ने चित्रकूटपुर (चित्तौड) के जिनेश्वर मन्दिर में, सम्वत् १४९७ (सन् १४४०) में की थी।

विक्रमार्कान्विते वर्षे विश्वनन्दर्षिसंख्यया।
चित्रकूटपुरे पुण्ये श्रीजिनेश्वरसद्मनि ॥[४]

वस्तुपालचरित मे उसने अपने पूर्ववर्ती तथा समवर्ती अनेक कवियों के सैकड़ों पद्यों का समावेश किया है (८.६७४)। काव्य का प्रथम आदर्श जिनहर्ष के सुधी शिष्य सोमनन्दिगणि ने लिखा था।

सोमनन्दिगणीशिष्यो विनयी विदुराग्रणीः।
गुरुभक्त्या लिलेखास्य वृत्तस्य प्रथमां प्रतिम् ॥[५]

वस्तुपालचरित के अतिरिक्त उनकी रत्नशेखरकथा (चित्तौड़ मे रचित),

३. वस्तुपालचरित, प्रशस्ति, ८
४. वही, ११
५. वस्तुपालचरित, ८।६७४ (अ)

विंशति-स्थानक-विचारामृत (सम्वत् १५०२), प्रतिक्रमणविधि (सम्वत् १५२५) तथा आरामशोभाचरित्र अन्य रचनाएँ है।

कथानक

वस्तुपालचरित आठ प्रस्तावो की वृहत्काय काव्यरचना है। प्रथम प्रस्ताव मे महामन्त्री वस्तुपाल-तेजःपाल के पूर्वजो, वीरधवल के पूर्ववर्ती शासको, वीरधवल तथा वस्तुपाल के मिलन और वस्तुपाल-तेजःपाल को महामात्य पद पर नियुक्त करने का वर्णन है। वस्तुपाल इस शर्त पर यह पद स्वीकार करता है कि राज्य का सचालन न्यायपूर्ण रीति से किया जाए। द्वितीय प्रस्ताव मे वीरधवल के युद्धो तथा वस्तुपाल के धार्मिक कृत्यों का निरूपण किया गया है। वस्तुपाल प्रजारंजन को शासक का लक्ष्य मानकर राजकाज मे प्रवृत्त होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह राज-कोश को सम्पन्न बनाता है, सेना को सुगठित करता है और वीरधवल को दुष्टो को दण्डित करने के लिये प्रेरित करता है। वीरधवल वर्धमानपुर के शासक को युद्ध मे परास्त कर अपना करद बनाता है तथा वनस्थली के शासको—सागण और चामुण्ड—को मारकर विजय प्राप्त करता है। मरुदेश के तीन पराक्रमी राजकुमार, अपने अग्रज के दुर्व्यवहार से तग होकर, भद्रेश्वरनरेश प्रतिहारवशीय भीमसिंह की शरण लेते है। वीरधवल उसपर भी आक्रमण करता है किन्तु रणकुशल राजकुमार सामन्तपाल के प्रहार से वह युद्धभूमि मे घोडे से गिर पडता है। वस्तुपाल अपनी नीति से उन राज-कुमारो को अपने पक्ष मे मिला लेता है जिससे वह भीमसिंह का उच्छेद करने में सफल होता है। प्रस्ताव के शेषांश मे वस्तुपाल के धार्मिक कार्यों की विस्तृत तालिका दी गयी है। तृतीय प्रस्ताव मे गोध्रानरेश की पराजय तथा तेज.पाल के लोकोपकारी कार्यों का वर्णन है। गोध्रा का शासक वीरधवल की प्रभुता स्वीकार नही करता जिससे क्रुद्ध होकर वह तेजःपाल को उसे बन्दी बनाने का आदेश देता है। तेजःपाल उसे पिंजडे में डालकर, अन्यान्य बहुमूल्य वस्तुओं के साथ, अपने स्वामी को भेंट करता है। इस अपमान को सहन न कर सकने के कारण गोध्रानरेश आत्महत्या कर लेता है। प्रस्ताव का शेप भाग तेजःपाल द्वारा किये धर्मोद्धार के कार्यों के विस्तृत वर्णन से भरा पडा है। चतुर्थ प्रस्ताव मे वस्तुपाल को खम्भात का राज्यपाल नियुक्त किया जाता है। वहां वह भ्रष्ट समुद्री व्यापारी सादीक तथा उसके पक्षधर शंख को दण्डित करता है। पाँचवे प्रस्ताव मे धर्मदेशनाओ तथा तीर्थमाहात्म्यो की भरमार है। छठे प्रस्ताव मे महामात्यो की तीर्थयात्राओ का ८०१ पद्यों मे अतीव विस्तृत तथा नीरस वर्णन है। सातवें प्रस्ताव मे दिल्लीपति मोजदीन के आक्रमण की सूचना पाकर वस्तुपाल, आबूनरेश धारावर्ष की सहायता से, यवनसेना को दुर्गम घाटियो में घेर लेता है। सामूहिक प्रहार से म्लेच्छ सेना छिन्न-भिन्न हो जाती है। मुसलमान

तोवा-तोवा करने लगते हैं। वस्तुपाल मोजदीन के मित्र पूर्णसिंह को राजधानी मे बुलाकर उसे सम्मानित करता है तथा उसके साथ तीर्थयात्रा करता है। तेजःपाल सघसहित भृगुकच्छ की यात्रा पर जाता है। मोजदीन की माता हज के लिये जाती हुई खम्भात आयी। वस्तुपाल की शह से उसके अनुचर उसे लूट लेते हैं। उसके शिकायत करने पर वस्तुपाल उसका सारा धन वापिस करवा देता है तथा उसका माता के समान सत्कार करता है। वह महामात्य के व्यवहार से इतनी प्रसन्न हुई कि वापिस जाते समय वह उसे अपने साथ दिल्ली ले गयी। मोजदीन ने वस्तुपाल का भव्य स्वागत किया। आठवे प्रस्ताव मे अर्बुदगिरि का माहात्म्य सुनकर वस्तुपाल उसके शिखर पर नेमिनाथ का मन्दिर बनवाता है। पिता वीरधवल द्वारा निर्वासित करने पर वीरम ने अपने श्वसुर, जावालिदुर्ग के स्वामी उदयसिंह की शरण ली किन्तु उसकी दुर्नीति से तंग होकर उदयसिंह ने उसकी हत्या करवा दी। वीरधवल के पश्चात् उसका पुत्र विश्वल सिंहासन पर बैठा। वस्तुपाल अपने अनुज तथा पुत्र को प्रशासन का भार सौंप कर शत्रुंजय की यात्रा के लिये गया पर मार्ग मे, कापालिक ग्राम मे, उसका निधन हो गया। तेजःपाल ने शत्रुंजय पर उसकी अन्त्येष्टि की और उसकी स्मृति मे स्वर्गारोह नामक चैत्य बनवाया। तेजःपाल शंखेश्वर की यात्रा के मार्ग मे दिवंगत हो गया।

धर्मोपदेशो, माहात्म्यों, चैत्यनिर्माण आदि धार्मिक अनुष्ठानो के गोरखधन्धे से निकाल कर वस्तुपालचरित का मूलभूत कथानक यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इससे यह भ्रम नही होना चाहिये कि काव्य में मूल कथानक इतना स्पष्ट तथा सुसम्बद्ध है। वस्तुतः जैसा ऊपर-ऊपर कहा गया है, काव्य की कथावस्तु विषयान्तरो की भारी पर्तो मे दबी पडी है और उसका पुनर्निर्माण करना अतीव कष्टसाध्य कार्य है। जिनहर्ष का कथानक अस्तव्यस्त तथा विशृंखलित है। विषयान्तरों ने कथानक को नष्ट कर दिया है। वस्तुपाल का कर्त्ता पाठक से जिस धैर्य की आकांक्षा करता है, वह आधुनिक पाठक में नही है। वास्तव मे कवि का ध्यान कथानक के विनियोग की ओर नही है। वह धर्मानुष्ठानों के वर्णनों में आकण्ठ डूबा हुआ है।

धर्म तथा दर्शन

जिनहर्ष का मुख्य (वस्तुतः एकमात्र) लक्ष्य काव्य के द्वारा आर्हत धर्म की प्रभावना करना है। इस तथाकथित ऐतिहासिक काव्य में धर्मोपदेशो की अबाध योजना करना कवि की प्रचारवादी वृत्ति का द्योतक है। इन धर्म देशनाओ में कहीं-कही जैन धर्म तथा दर्शन के कुछ तत्त्वो का निरूपण हुआ है। इस दृष्टि से पंचम प्रस्ताव विशेष उल्लेखनीय है। इसमे कवि का दार्शनिक स्वर अधिक मुखर है।

जिनहर्ष के अनुसार आर्हत धर्म मुख्यतः सम्यक्त्व, दया, शील तथा तप के चार स्तम्भो पर आधारित है। सद्दर्शन इस धर्मतरु का मूल है। शंका आदि दोषों से मुक्त मानस मे देव, गुरु तथा विशुद्ध धर्मविधि के प्रति जो अतरग रुचि उदित होती है, उसे सम्यक्त्व कहते है। सम्यक्त्व पांच प्रकार का है—औपशमिक, सास्वादन, तार्त्तीयिक, वेदक तथा क्षायिक। औपशमिक सम्यक्त्व दो प्रकार का है—जीवार्जित-ग्रन्थिभेद तथा महोपशम। ग्रंथिभेद, ज्ञानदृष्टि से प्राणियो की परम स्थिति है। जीव के रागद्वेष के परिपाक को ग्रंथि कहते है। काठ की भाँति वह दुर्भेद्य तथा दुश्छेद्य है। ग्रंथि का भेदन होने से जो क्षणिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उसे औपशमिक कहा जाता है। यह नैसर्गिक औपशमिक है। ग्रंथिभेद यदि गुरु के उपदेश से हो, वह आधिगमिक सम्यक्त्व कहलाता है। जीव का मोह शान्त होने से द्वितीय औपशमिक की उत्पत्ति होती है। सम्यक्त्व का उत्कृष्ट परिणाम जब एक-साथ जघन्य पडावलि को धारण करता है, वह सास्वादन सम्यक्त्व है। मिथ्यात्व तथा क्षय के उपशम से जो सम्यक्त्व पुद्गलोदय के वेत्ता जीव मे उत्पन्न होता है, उसे तार्त्तीयिक कहते है। जीव जिस क्षीणप्राय. चरमांशक सम्यक्त्व को जानता है, वह वेदक है। पूर्व युक्ति से सप्तक के क्षीण होने पर क्षायिक संज्ञक पांचवां सम्यक्त्व है। यह पंचविध सम्यक्त्व गुणों के आधार पर तीन प्रकार का है—रोचक, दीपक तथा कारक। दृष्टान्त आदि के बिना ही जो तीव्र श्रद्धा होती है, वह रोचक सम्यक्त्व है। दूसरो के लिये प्रकाश करने के कारण वह दीपक कहलाता है। पंचाचार क्रिया के अनुष्ठान के कारण उसे कारक कहते है[६]।

जैन धर्म दो प्रकार का माना गया है—यतिधर्म तथा श्रावकधर्म। जिनोदित यतिधर्म के दस तत्त्व हैं—क्षमा, अक्रोध, मार्दव, आर्जव, मानमर्दन, छलत्याग, निर्लोभ, बारह प्रकार का तप तथा दस प्रकार का संयम। श्रावकधर्म में बारह व्रतों का पालन करने का विधान है।[७]

दान

वस्तुपालचरित मे दान की महिमा का रोचक निरूपण किया गया है। चतुर्विध सर्वज्ञ-धर्म मे दान सर्वोपरि है। वह तीन प्रकार का है। समस्त सम्पदाओं का कारणभूत तथा तत्त्वातत्त्व का विवेचक ज्ञानदान सर्वोत्तम है। अभयदान जनप्रिय तथा लोकोपयोगी है। अभयदान से आरोग्य, आयु, सुख, सौभाग्य की प्राप्ति होती है। दया के बिना धर्मकार्य व्यर्थ है। आहारादि दान की अपेक्षा दयादान अधिक महत्त्वपूर्ण है। समस्त दानों का फल कुछ समय के बाद क्षीण हो जाता है किन्तु दयादान

६. वही, ५.२०-४५

७. वही, ५.२५६-२६१

के फल का कभी क्षय नही होता। धर्मोपष्टम्भदान शय्या, चतुर्विध आहार, वस्त्र, पात्रादि भेद से नाना प्रकार का होता है। पात्र सात प्रकार का माना गया है—जैन बिम्ब, भवन, पुस्तकसंचय तथा चतुर्विध संघ[८]।

रसयोजना

वस्तुपालचरित में काव्यसौन्दर्य को वृद्धिगत करने वाले रसार्द्र प्रसंग बहुत कम है। सम्भवत जिनहर्ष का असंघटित कथानक इसके लिये अधिक अवसर प्रदान नही करता। काव्य मे एक-दो स्थलों पर प्रसंगवश, वीर तथा करुण रस की अभिव्यक्ति हुई है। यह भी 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' वाली बात है। वीर रस को, पौराणिकता से भरपूर इस रचना का मुख्य रस मानना तो काव्य का उपहास होगा किन्तु पल्लवित रसो मे इसकी प्रधानता है, यह मानने में आपत्ति नही हो सकती ! द्वितीय, चतुर्थ तथा सप्तम प्रस्तावो मे, युद्ध वर्णन के प्रसंगों में, वीर रस की छटा दृष्टिगत होती है पर इसका सफल परिपाक केवल तृतीय प्रस्ताव के अन्त, र्वर्ती तेज.पाल तथा गोध्रानरेश के युद्ध के निरूपण मे हुआ है। मन्त्रिराज तेज.पाल, योद्धाओ के देखते-देखते, गोध्रा के राजा को क्रौंचवन्ध मे बाध कर काठ के पिंजड़े में बन्द कर देता है।

> अथ दिव्यवलोल्लासाल्लीलया मंत्रिपुंगवः।
> अपातयत्क्षणादेव तमश्वाद्विश्वकण्टकम् ॥ ३.३३०
> भुजोपपीडमापीड्य तं ततः पापपूरितम्
> क्रौंचबन्धं वबन्धासौ जवेन सचिवाग्रणीः ॥ ३.३३२
> तं पश्यत्सु भयभ्रान्तसुभटेष्वखिलेष्वपि।
> शार्दूलमिव चिक्षेप जीवन्तं काष्ठपंजरे ॥ ३.३३३

वस्तुपाल के स्वर्गारोहण से उत्पन्न दुःख के चित्रण मे करुणरस की मार्मिक व्यंजना हुई है। वस्तुपाल का पुत्र, जैत्रसिंह, उसके आश्रित कवि तथा चालुक्य-नरेश सभी इस वज्रपात से स्तब्ध रह जाते है।

> शुष्कः कल्पतरुर्मदांगणगतश्चिन्तामणिश्चाजरत्
> क्षीणा कामगवी च कामकलशो भग्नो हहा दैवत।
> किं कुर्मः किमुपालभेमहि किमु ध्यायामः कं वा स्तुमः
> कस्याग्रे स्वमुखं स्वदुःखमलिनं संदर्शयामोऽधुना ॥ ८.५७८

स्वर्गस्थ वस्तुपाल यहाँ आलम्बन विभाव है। उसके उपकारों तथा दानशूरता आदि की स्मृति उद्दीपन विभाव है। कवियो का स्वय को असहाय तथा किंकर्त्तव्य-विमूढ अनुभव करना और विधि को उपालम्भ देना अनुभाव है। ग्लानि, स्मृति आदि सचारी भाव है। इनसे समर्थित होकर कवियों के हृद्गत स्थायी भाव शोक की परिणति करुण रस मे हुई है।

८. वही, ४.३९६-४१५

चरित्रचित्रण

काव्य मे वस्तुपाल तथा तेज.पाल के चरित्र का ही कुछ पल्लवन हुआ है। इन दोनो का चरित्र भी इस प्रकार मिश्रित है कि उनका पृथक् पृथक् चित्रण करना सम्भव नही है। अतः यहाँ दोनो के व्यक्तित्व की विशेषताओ का एक-साथ निरूपण किया जा रहा है।

वस्तुपाल (तथा तेज:पाल) के समूचे चारित्रिक गुण निम्नांकित पद्य मे समाहित है।

अन्वयेन विनयेन विद्यया विक्रमेण सुकृतक्रमेण च।
क्वापि कोऽपि न पुमानुपैति मे वस्तुपालसदृशो दृशोः पथि ॥ १.७

वे कुलीन, शिष्ट, विद्वान्, पराक्रमी तथा विनयसम्पन्न है। उनके सद्गुण दैनिक व्यवहार मे प्रतिम्बित है। प्रथम मिलन मे ही वे वीरधवल को अपने आभिजात्य से प्रभावित करते है। वह उनके शिष्टाचार तथा कुलीन व्यक्तित्व की प्रशसा इन शब्दो मे करता है।

आकृतिर्गुणसमृद्धिसूचिनी नम्रता कुलविशुद्धिशंसिनी।
वाक्क्रम : कथितशास्त्रसंक्रम : संयमश्च युवयोर्वयोऽधिक : ॥ १.२३५

वस्तुपाल तथा तेज·पाल का व्यक्तित्व मुख्यत: राजनीति तथा धर्म की भित्ति पर आधारित है। वे वीरधवल के नीतिकुशल तथा न्यायप्रिय मन्त्री है। वे उसका मन्त्रित्व तभी स्वीकार करते है जव वह उन्हे न्यायपूर्वक राज्य का संचालन करने का आश्वासन देता है[९]। यह उनकी राजनीतिक आदर्शवादिता का द्योतक है। महामात्यों की संहिता मे राजव्यापार के पांच फल है—सज्जनो का पोषण, दुष्टो का दमन, धन एव धर्म की वृद्धि तथा लोकरजन। प्रजापालन राजा का पुनीत कर्त्तव्य है। जो शासक प्रजा के कल्याण मे तत्पर रहता है, उसे प्रजा के धर्म का पष्ठाश प्राप्त होता है किन्तु कर्त्तव्य से विमुख राजा को प्रजा के अधर्म का छठा भाग भोगना पडता है। उसके राज्य मे धर्म तथा नीति का क्षय होता है तथा मात्स्यन्याय ससार को ग्रस लेता है[१०]। वे इन उदात्त आदर्शो के अनुसार ही राजतन्त्र का सचालन करते है। समय-समय पर अधिकारियो से आयशुद्धि माग कर वे प्रशासन से भ्रष्टता दूर करने का प्रयत्न करते है, राजकीय ऋणों को शीघ्र वापिस लेने की व्यवस्था करते है, राजकोश को सम्पन्न वनाते है तथा सेना को सुसगठित कर विपक्षी राजाओ का उच्छेद करते है।

वस्तुपाल-तेज:पाल रणबाकुरे वीर है। उनकी वीरता कूटनीति से परिचालित है। भद्रेश्वरनरेश भीमसिह, शख तथा गोध्रानरेश के विरुद्ध अभियानो मे उनकी रणनीति तथा शूरवीरता का यथेष्ट परिचय मिलता है। दुर्द्धर्ष मोजदीन के आकस्मिक

९. वही, १.२५५

१०. वही, २.२१४,२२४,२२६

आक्रमण को रोक कर म्लेच्छसेना को विक्षत कर देना वस्तुपाल के कुशल संचालन का प्रतीक है। उनकी कूटनीति सदा सक्रिय रहती है। वीरधवल जिस भीमसिंह को युद्धक्षेत्र मे पराजित न कर सका, वस्तुपाल उसे अपनी कूटनीति से परास्त कर देता है। दिल्लीपति मोजदीन को युद्ध मे दण्डित करके पुन. उसका विश्वास तथा प्रेम प्राप्त कर लेना उसकी कूटनीति की अन्य सफलता है।

वस्तुपाल-तेज.पाल साहित्य-रसिक मन्त्री है। उनकी साहित्यिक चेतना प्रशासन के मरुथल मे लुप्त नही हुई है। वे विद्वानो तथा कवियो को प्रश्रय देकर एक ओर साहित्य का पोषण करते है, दूसरी ओर अपनी काव्यमर्मज्ञता का परिचय देते है। काव्य मे जिन कवियो की सूक्तियो का सकलन हुआ है, उनमे से अधिकतर को उनका उदार आश्रय प्राप्त था। वस्तुपाल का विद्यामण्डल प्रसिद्ध है। वह स्वयं ख्यातिप्राप्त कवि था। सुमधुर पद्यो पर स्वर्णकोश लुटा देना उनकी काव्य-रसिकता का द्योतक है। इस दृष्टि से वे विक्रम, मुज, भोज आदि साहित्यरसिक दानवीरो की स्मृति ताजा करते है।

श्रीकर्ण-विक्रम-दधीचि-मुंज-भोजाद्युर्वीश्वरा भुवनमण्डन वस्तुपाल।
दानैकवीरपुरुषा सममेव नीताः प्रत्यक्षतां कलियुगे भवता कवीनाम्॥ ४.११५

महामात्य से बहुमूल्य उपहार पाकर विद्वानों का रूप इतना बदल जाता है कि उन्हे अपनी पत्नियो को भी विविध शपथो के द्वारा अपने व्यक्तित्व की वास्तविकता का विश्वास दिलाना पडता है[11]। अपने साहित्य-प्रेम के स्मारक-स्वरूप पुस्तकालयो की स्थापना करके वे जनता मे बौद्धिक चेतना जाग्रत करने मे प्रशंसनीय योग देते है।

उनकी यह दानशीलता लोकोपयोगी कार्यो मे भी प्रत्यक्ष है। अपने प्रजावात्सल्य तथा जनकल्याण की भावना को मूर्त रूप देने के लिये वे स्थान-स्थान पर प्रपाओ, धर्मशालाओ तथा कूपों का निर्माण करवाते है तथा सत्रागारो की व्यवस्था करते है।

वस्तुपाल-तेज:पाल के चरित्र की मुख्य विशेषता यह है कि वे आर्हत धर्म के महान् प्रभावक हैं। इस दृष्टि से, जैन धर्म के इतिहास मे, हेमचन्द्र तथा कुमारपाल के पश्चात् इन्ही का स्थान है। कवि के शब्दों मे उनका जन्म ही जैन धर्म के उन्नयन के लिए हुआ है (७.३९१)। आबू का नेमिनाथ-मन्दिर वस्तुपाल की धर्म-निष्ठा का शाश्वत स्मारक है। काव्य में उनकी तीर्थ-यात्राओ, बिम्ब-प्रतिष्ठा, जीर्णोद्धार आदि धार्मिक अनुष्ठानों की विस्तृत तालिका दी गयी है।

इस प्रकार वस्तुपाल-तेज.पाल के चरित्र में साहित्यप्रेम, वीरता, दानशीलता, धर्म तथा राजनीति का अपूर्व समन्वय है।

११. वही, ६.८१

भाषा

जिनहर्ष की भाषा उसके उद्देश्य के अनुरूप है। इस कोटि के साहित्य मे जिस सर्वजनगम्य भाषा का प्रयोग उपयुक्त है, वस्तुपालचरित मे आद्यन्त वही सरल-सुबोध भाषा दृष्टिगत होती है। काव्य मे पात्रो के मनोगत भावों के चित्रण का अधिक अवकाश नही है, इसलिये इसकी भाषा मे एकरूपता है। उसमे महाकाव्योचित वैविध्य का अभाव है। काव्य मे संगृहीत पररचित पद्यो की भाषा का जिनहर्ष की पदावली से भिन्न होना स्वभाविक है। जिनहर्ष की अपनी भाषा बहुधा कान्तिहीन है। उसका एकमात्र गुण सरलता है। वस्तुपालचरित की सरल भाषा की सुगमता विशेष उल्लेखनीय है। नीतिसाहित्य के अतिरिक्त साहित्य के नीतिपरक अंश समाज के सभी वर्गों की सम्पत्ति है। उसकी हृदयंगमता का आधार उसकी सुबोधता है। वस्तुपालचरित के नीति-प्रसंग, भाषा की सरलता के कारण पढते ही हृदय मे अंकित हो जाते है।

> **यथा नेत्रं विना वक्त्रं विना स्तम्भं यथा गृहम्।**
> **न राजते तथा राज्यं कदाचिन्मन्त्रिणं विना॥ १.२.७**
> **अवृत्तिभयमंत्यानां मध्यानां मरणाद् भयम्।**
> **उत्तमानां च मर्त्यानामपमानात्परं भयम्॥ २.३८४**
> **अनुचितकर्मारम्भः स्वजनविरोधो बलीयसा स्पर्धा।**
> **प्रमदाजनविश्वासो मृत्युद्वाराणि चत्वारि॥ २.५१६**
> **शीलसम्यक्त्वमुक्तात्मा त्याज्यो गुरुरपि स्वकः।**
> **दष्टोऽहिना यथांगुष्ठो मलः स्वांगभवो यथा॥ ६.१७**

जैन सस्कृत महाकाव्यो की परम्परा के अनुसार वस्तुपालचरित मे देशी शब्द भी प्रयुक्त किये गये है। यह मातृभाषा के कारण हो अथवा काव्य को सुबोध बनाने की आतुरता के कारण, यह प्रवृत्ति काम्य नही है। निस्सान, वीटक, बलानक, तोबा आदि शब्द विशेष उल्लेखनीय है। जिनहर्ष ने काव्य मे यत्र-तत्र भावपूर्ण सूक्तियों का भी प्रयोग किया है। अवीक्ष्य परसामर्थ्यं सर्वोऽपि खलु गर्जति (२.२७७), नीचा एव नीचानुपासते (४.१३५), नो निद्रा योगीन्द्राणां भवेत्क्वचित् (६.८६), सन्तो नांचन्त्यनौचितीम् [७.१११] आदि बहुत रोचक है।

अलंकारविधान

वस्तुपालचरित का प्रचार-पक्ष इतना प्रबल है कि उसने काव्य के अन्य सभी धर्मो को आच्छन्न कर लिया है। इसमे सामान्य अलकारो का ही प्रयोग किया गया है। अलंकार-कौशल का प्रदर्शन कवि का ध्येय नही है। शब्दालंकारो मे अनुप्रास, श्लेष तथा यमक को स्थान मिला है। मूलनायक के स्नानोत्सव-वर्णन के इस पद्य मे अनुप्रास की मनोरमता है।

अभिषेकतोयधारा धारेव ध्यानमण्डलाग्रस्य।
भवभवनभित्तिभागान् भूयोऽपि भिनत्तु भागवती ॥ ६.३३१

प्रस्तुत पक्तियो मे योगिनीपुर [दिल्ली] के वासियो का चित्रण श्लेप पर आधारित है।

नदीनाः पुण्यलावण्यगभीरा धीवरप्रियाः।
समुद्राः पुरुषाः सर्वे जनकान्तसंपदः ॥ ७.४

तेज.पाल द्वारा अश्ववोधतीर्थ मे निर्मित पुष्पवाटिका का वर्णन कवि ने पाद-यमक से इस प्रकार किया है।

पुराद् वहिरसौ पुष्पवनं तालतमालवत्।
चक्रे जिनार्चनविधावनंतालतमालवत् ॥ ४.६५६

धरणीतिलक के श्रेप्ठी के पुत्रजन्म के दुष्प्रभाव का प्रतिपादन करने मे उपमा का आश्रय लिया गया है। उसके जन्म से सम्पत्तियां कुलटाओ की तरह तत्क्षण नष्ट हो गयी।

क्रमेण सम्पदो नेशुः कुलटा इव तत्क्षणात्। ३.८८

महामात्य वस्तुपाल का तत्त्वचिन्तन कवि ने रूपक के द्वारा अभिव्यक्त किया है। विषय तथा ससार पर क्रमश मांस तथा श्वान का आरोप करने से यहाँ रूपक अलकार है।

विषयामिषमुत्सृज्य दण्डमादाय ये स्थिता :।
संसारसारमेयोऽसौ विभ्यत्तेभ्यः पलायते ॥ २.२०३

निम्नाकित पद्य मे पूर्व के सामान्य कथन की पुष्टि उत्तरार्द्ध की विशेष उक्ति से की गयी है। यह अर्थान्तरन्यास है।

कलावतां नृणां संपज्जायते हि पदे पदे।
समुद्रान्निर्गतश्चन्द्रः शम्भुमौलिमशिश्रियत् ॥ २.४१८

वस्तुपालचरित मे उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, विशेपोक्ति, परिसंख्या, विरोध, सहोक्ति आदि भी अभिव्यक्ति के माध्यम बने हैं।

छन्द-योजना

छन्दो के प्रयोग मे जिनहर्ष ने शास्त्रीय विधान का स्पष्ट उल्लघन किया है। वस्तुपालचरित संस्कृत के उन इने-गिने काव्यों मे है, जिनमे प्रत्येक सर्ग मे विविध छन्दो का प्रयोग हुआ है। इसके आठो प्रस्तावो मे अनुष्टुप् की प्रधानता है, जो कवि के उद्देश्य के लिये सर्वथा उपयुक्त है। किन्तु जिनहर्ष ने वीच-वीच मे अनेक छन्द डालकर पाठक के मार्ग मे अनावश्यक विघ्न पैदा किया है। प्रथम प्रस्ताव मे जो वारह छन्द प्रयुक्त हुए है, अनुष्टुप् के अतिरक्त वे इस प्रकार है—शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, उपजाति, वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा, शिखरिणी, रथोद्धता, शालिनी, वंश-

स्थ, वियोगिनी, मालिनी, तथा उपजाति (इन्द्रवंशा+वशस्थ)। द्वितीय तथा तृतीय प्रस्ताव मे नौ-नौ छन्द रचना के माध्यम बने है। द्वितीय प्रस्ताव के छन्दों के नाम है—अनुष्टुप्, उपजाति, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, पृथ्वी, मालिनी, स्रग्धरा स्वागता, वसन्ततिलका। द्वितीय प्रस्ताव के शिखरिणी, पृथ्वी तथा मालिनी का स्थान तृतीय प्रस्ताव में आर्या, वंशस्थ तथा इन्द्रवज्रा ने ले लिया है। शेप छन्द दोनो मे समान है। चतुर्थ प्रस्ताव में अनुष्टुप्, वियोगिनी, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, उपजाति, आर्या, स्रग्धरा, इन्द्रवज्रा तथा हरिणी, इन दस छन्दो को अपनाया गया है। पाँचवाँ प्रस्ताव ग्यारह छन्दों मे निबद्ध है। इसमे पूर्व-प्रयुक्त छन्दो से कोई नया छन्द दृष्टिगत नही होता। छठे प्रस्ताव मे सबसे अधिक, अठारह, छन्द प्रयुक्त है। उनके नाम इस प्रकार है—अनुष्टुप्, उपजाति, शार्दूलविक्रीडित, इन्द्रवज्रा, मालिनी, वसन्त-तिलका, मन्दाक्रान्ता, स्वागता, इन्द्रवशा, स्रग्धरा, पृथ्वी, आर्या, शिखरिणी, रथोद्धता, उपजाति (इन्द्रवशा+वंशस्थ+इन्द्रवज्रा)। तीन छन्दो (३१९,६६०,६६४ अ) के नाम ज्ञात नही हो सके है। सातवे प्रस्ताव में जिन नौ छन्दो का प्रयोग किया गया है, वे अनुष्टुप् के अतिरिक्त ये है—शार्दूलविक्रीडित, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, स्रग्धरा, वसन्त-तिलका, स्वागता, इन्द्रवज्रा तथा मालिनी। अष्टम प्रस्ताव में अनुष्टुप्, शार्दूल-विक्रीडित, उपजाति, आर्या, द्रुतविलम्बित, मालिनी, स्रग्धरा, वसन्ततिलका, रथोद्धता और इन्द्रवज्रा छन्द प्रयुक्त है। वस्तुपालचरित की रचना मे सब मिला कर चौवीस छन्दो का प्रयोग किया गया है।

वस्तुपालचरित का इतिहास-पक्ष

वस्तुपालचरित का काव्यगत मूल्य भले ही अधिक न हो, इसमे काव्यनायक से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक सामग्री समाहित है। बहुमुखी उपलब्धियो तथा दुर्लभ मानवीय गुणो के कारण महामात्य वस्तुपाल का व्यक्तित्व मध्यकालीन भारतीय इतिहास के मच पर सबसे अलग दिखाई देता है। अनेक समवर्ती तथा परवर्ती कवियो ने उसकी प्रशासनिक निपुणता, काव्य-रसिकता, असीम उदारता तथा रण-कौशल का गौरवगान किया है। वस्तुपालचरित की रचना मे इन समूची पूर्ववर्ती कृतियो का उपयोग किया गया है (८.६७४), जिसके फलस्वरूप इसका ऐतिहासिक अंश स्पष्ट तथा प्रमाणपुष्ट है।

वस्तुपाल अणहिलवाड के धनाढ्य प्राग्वाट-वंश का भूषण था। काव्य में उल्लिखित उसका आदि पूर्वज, चण्डप, चौलुक्यनरेश का मन्त्री था। उसके पुत्र चण्डप्रसाद का हाथ राजमुद्रा से कभी खाली नही रहता था। रत्नो के पारखी, उसके पुत्र सोम को, सिद्धराज जयसिंह ने अपना रत्नाध्यक्ष नियुक्त किया था। वस्तु-पाल का पिता अश्वराज इसी सोम का पुत्र था। अपने पूर्वजो की भाँति अश्वराज भी चौलुक्यनरेश का मन्त्री था। वस्तुपाल की माता कुमारदेवी, प्राग्वाटवशीय वणिक्,

दण्डपति आभू की पुत्री थी[12]। इस प्रकार वस्तुपाल के कुल का चौलुक्यशासको से पुराना सम्बन्ध था। जिनहर्ष के इस विवरण की कीर्तिकौमुदी से अक्षरश: पुष्टि होती है[13]।

अणहिलवाड के प्रथम शासक (चापोत्कट-चावड़ा) कुल के नरेशों की वशावली भी प्रथम प्रस्ताव मे उपलब्ध है, जिसके अन्तर्गत वनराज से लेकर सामन्त-सिंह तक सात शासको का सामान्य वर्णन है। काव्य के अनुसार वनराज ने वि० सम्वत् ८०२ में अणहिलवाड की स्थापना की थी। उसने साठ वर्ष तक शासन किया[14]। अरिसिंहकृत सुकृत-संकीर्तन मे दी गयी वंशावली तथा उपर्युक्त अनुक्रम में पर्याप्त भिन्नता है। यद्यपि सुकृतसकीर्त्तन वस्तुपाल की समकालीन रचना है, पर उसकी वशावली अधिक विश्वसनीय है, यह कहना सम्भव नही क्योंकि चावड़ावश के नरेशो के शासन का अनुक्रम अभी तक निश्चित नही है[15]।

चावडावश के अन्तिम शासक सामन्तसिंह की वहिन लीलादेवी कान्यकुब्जेश्वर राज से विवाहित थी। उनके पुत्र मूलराज से चौलुक्यवश का प्रवर्तन होता है। मूलराज ने अणहिलवाड़ के सिंहासन पर कैसे अधिकार किया, इसका उल्लेख काव्य में नही है। चौलुक्यनरेशो की, काव्य में दी गयी वंशावली प्राय. शुद्ध है। भीमराज तथा अर्णोराज के मध्यवर्ती शासको को, सम्भवत: महत्त्वहीन समझ कर छोड दिया गया है। प्रतीत होता है कवि ने इस वशावली का निर्धारण करने मे पूर्ववर्ती समस्त साधनो का उपयोग किया था। इसलिये यह अशुद्धियों से मुक्त है।

वस्तुपालचरित के अनुसार वीरधवल ने राजपुरोहित सोमेश्वर से वस्तुपाल तथा तेज:पाल का परिचय पाकर उन्हे अपना मन्त्री नियुक्त किया था[16]। कीर्त्तिकौमुदी, वसन्तविलास, प्रवन्धचिन्तामणि तथा प्रवन्धकोश मे भी ऐसा वर्णन है, किन्तु वस्तुपाल के स्वरचित नरनारायणानन्द से ज्ञात होता है कि वह पहले भीमराज द्वितीय की सेना मे था। धौलका-नरेश वीरधवल को उसकी सेवाएँ कालान्तर मे प्राप्त हुई थी। धौलका के राजदरवार में वस्तुपाल की महामात्य पद पर नियुक्ति १२२० ई० मे की गयी थी[17]।

१२. वही, १.२२-६५.
१३. कीर्त्तिकौमुदी, ३.६-२२
१४. वस्तुपालचरित, १.१५८-१६१
१५. भोगीलाल सांडेसरा : लिट्रेरी सर्कल ऑफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० ६५ तथा इसी पृष्ठ पर पा० टि० १
१६. वस्तुपालचरित, १.२३१-४२
१७. लिट्रेरी सकल ऑफ महामात्य वस्तुपाल (पूर्वोक्त), पृ० २८

द्वितीय तथा तृतीय प्रस्ताव में वर्णित ऐतिहासिक घटनाएँ सच्ची है। प्रबन्धकोश से पता चलता है कि वीरधवल ने वनस्थली के शासकों को पराजित किया था। भद्रेश्वरनरेश भीमसिंह को समरांगण मे परास्त करने मे असफल होकर वीरधवल के द्वारा उसके साथ सन्धि करने का उल्लेख भी प्रबन्धकोश मे हुआ है। मरुस्थल के राजकुमारो को अपने पक्ष मे मिला कर भीमसिंह को जीतने की घटना के सत्यासत्य का परीक्षण करने का कोई साधन नही है। तेज.पाल द्वारा गोध्रानरेश घूघुल को युद्ध मे वन्दी वनाने तथा पिंजड़े मे डालकर चौलुक्यनरेश के सामने लाने तथा अपमान न सह सकने के कारण घूघुल द्वारा आत्महत्या करने की पुष्टि भी प्रबन्धकोश से होती है[१८]।

कीर्तिकौमुदी, प्रबन्धकोश, पुरातन-प्रबन्धसग्रह आदि ग्रन्थो से तुलना करने पर चतुर्थ प्रस्ताव मे वर्णित प्रसंगों की प्रामाणिकता मे सदेह नही रह जाता। वस्तुपालचरित की भाँति इनसे भी विदित होता है कि वस्तुपाल खम्भात का राज्यपाल नियुक्त किया गया था। उसने अयोग्य, प्रमादी तथा घूसखोर अधिकारियो को दण्ड देकर प्रशासन मे व्याप्त मात्स्यन्याय का उच्छेद किया तथा इसी निमित्त धनाढ्य समुद्री व्यापारी सादीक तथा उसके पक्षपोषक लाटनरेश शख को दण्डित किया।

वीरधवल के शासनकाल मे दिल्ली के सुल्तान ने गुजरात पर आक्रमण किया था किन्तु नीतिनिपुण वस्तुपाल की कूटनीति ने उसे विफल कर दिया था, इस तथ्य के समर्थन के लिये प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है। जैन कवि जयसिंहसूरि ने अपने 'हम्मीरमर्दन' नाटक मे इस घटना को रूपायित किया है। काव्य के अनुसार वस्तुपाल ने आबू के परमार-शासक धारावर्ष के सहयोग से म्लेच्छ-सेना को आबूपर्वत की दुर्गम घाटी मे घेर लिया। सामूहिक प्रहार से वह छिन्न-भिन्न हो गयी।[१९] यही वर्णन प्रवन्धकोश मे पढा जा सकता है।[२०] मोजदीन की पहचान विद्वानों ने सुल्तान इल्तमिश (१२११-१२३६ ई०) से की है। समकालीनता की दृष्टि से यह बहुत उपयुक्त है[२१]।

वस्तुपालचरित तथा प्रवन्धकोश मे इस वात पर भी मतैक्य है कि हजयात्रा के लिये जाती हुई मोजदीन की माता को वस्तुपाल के अनुचरो ने, उसके ही भडकाने से, लूट लिया था किन्तु वाद मे वस्तुपाल ने उसके साथ सद्व्यवहार किया था। उक्त स्रोतो से यह भी ज्ञात होता है कि वस्तुपाल के वर्ताव से वह इतनी प्रसन्न हुई

१८. प्रवन्धकोशः पृ० १०३, १०४, १०७
१९. वस्तुपालचरित, ७.३४
२०. प्रबन्धकोश, पृ० ११७
२१. लिट्रेरी सर्कल ऑफ महामात्य वस्तुपाल (पूर्वोक्त), पृ० ३१, पा. टि. ४.

कि हज से लौटते समय वह उसे अपने साथ दिल्ली ले गयी। मोजदीन ने महामात्य का सम्मानपूर्वक स्वागत किया। वस्तुपाल ने अपनी व्यवहारकुशलता से पूर्व-पराजित शत्रु को मित्र बना लिया। उसकी इस कूटनीति के कारण धोलका का राज्य एक शक्तिशाली शत्रु के आतक से मुक्त हो गया[२२]।

आठवे प्रस्ताव मे वर्णित वीरम का वृत्त कवि की कल्पना से प्रसूत है। इतिहास वीरधवल के वीरम नामक पुत्र से अनभिज्ञ है। अतः वस्तुपाल के साथ उसके दुर्व्यवहार तथा अपने पिता के निधन के पश्चात् राज्य पर बलपूर्वक कब्जा करने के प्रयास की बात[२३] मिथ्या है।

वस्तुपालचरित से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वीरधवल के अधिकारी वीसलदेव तथा वस्तुपाल में वैमनस्य पैदा हो गया था। काव्य में उल्लिखित कारण तथा वैमनस्य की घटनाएँ[२४] (जैन साधु को दण्डित करना) तो अतिरंजित प्रतीत होती हैं, किन्तु इनसे यह संकेत अवश्य मिलता है कि वस्तुपाल तथा नवीन शासक के बीच मनमुटाव हो गया था। शासन-परिवर्तन के साथ राजा तथा मन्त्री के सम्बन्धों मे परिवर्तन होना आश्चर्यजनक नहीं है।

जिनहर्ष का कथन है कि अपने मामा की दुष्प्रेरणा से वीसलदेव ने तेज.पाल को मन्त्रित्व से च्युत कर दिया था तथा उसके स्थान पर नागड़ को नियुक्त किया था[२५]। अन्य स्रोतो से ज्ञात होता है कि नागड को मन्त्रिपद तेजःपाल के निधन के पश्चात् ही प्राप्त हुआ था[२६]।

वस्तुपालचरित के अनुसार वस्तुपाल का देहान्त सम्वत् १२९८ मे हुआ था[२७]। महामात्य के समवर्ती बालचन्द्र ने यह घटना सं० १२९६ की मानी है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि एक-दो स्थलो को छोडकर वस्तुपालचरित का ऐतिहासिक पक्ष प्रामाणिक तथा विश्वसनीय है।

काव्य की दृष्टि से वस्तुपालचरित का मूल्य नगण्य है किन्तु यह वस्तुपाल तथा गौणतः तेजःपाल और चौलुक्यवंश के इतिहास का अत्यन्त उपयोगी स्रोत है। जिनहर्ष में समर्थ ऐतिहासिक बुद्धि है।

२२. वस्तुपालचरित, ७.२२१-२८, प्रबन्धकोश, पृ० ११९
२३. वही, ८.३७४-९१, तथा ८.४३०-४३१
२४. वही, ८.३२०, ३२२,५२१
२५. वही, ८.४७८-४७९
२६. लिट्रेरी सर्कल ऑफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० ३४
२७. वस्तुपालचरित, ८.५३६

१६. सोमसौभाग्य : प्रतिष्ठासोम

प्रतिष्ठासोम का सोमसौभाग्य[1] विवेच्य युग का एक अन्य ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसमें, हम्मीरकाव्य अथवा कुमारपालचरित की भांति, इतिहास के किसी पराक्रमी शासक के उत्थान-पतन या विजय-अभियानों की गाथा वर्णित नही है वल्कि इसके दस सर्गों मे तपागच्छीय आचार्य सोमसुन्दरसूरि के धार्मिक जीवन का ललित शैली में निरूपण किया गया है। धर्माचार्य के वृत्त पर आधारित काव्य को ऐतिहासिक रचना मानने में आपत्ति हो सकती है, किन्तु इतिहास को वैभवशाली सम्राटों, युद्धों तथा कूटनीतिक उपलब्धियो तक सीमित रखना इतिहास के प्रति अन्याय होगा। एक धर्मनिष्ठ संयमधन साधु भावी पीढ़ियों के लिये उतना ही मान्य तथा स्मरणीय है जितना एक दिग्विजयी सम्राट्। जैन धर्म के इतिहास में वैसे भी ये आचार्य सम्राट् की भांति मान्य थे तथा उनकी आज्ञा राजशासन के समान अटल एवम् अनुलंघनीय थी। वास्तविकता तो यह है कि इस कोटि के काव्यों में ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा अन्य अधिकांश तथाकथित ऐतिहासिक महाकाव्यों की अपेक्षा कहीं अधिक तत्परता से की गई है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन काव्यों के प्रणेता राजाश्रयी चाटुकार कवि नही अपितु निस्स्पृह साधु है, जो तथ्य के यथावत् प्रतिपादन में ही अपनी भारती की सार्थकता मानते हैं। उन्हे धन,मान आदि सांसारिक प्रलोभनों की आकांक्षा नही है। अतः सम्वन्धित आचार्यों का जीवनवृत्त जानने के के लिए ये कृतियां वहुत उपयोगी हैं।

सोमसौभाग्य का महाकाव्यत्व

जहां तक सोमसौभाग्य के महाकाव्यत्व का प्रश्न है, इसमे प्राचीन भारतीय आलंकारिको द्वारा निर्धारित महाकाव्य के प्राय. सभी स्थूल तत्त्वो का निष्ठापूर्वक पालन किया गया है। सोमसौभाग्य मे महाकाव्य के लिये आवश्यक अष्टाधिक—दस—सर्ग हैं। इसका आरम्भ सात पद्यो के मगलाचरण से हुआ है, जिनमे क्रमशः आदिप्रभु, शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, सरस्वती तथा विद्यागुरु की स्तुति है। इनमे कुछ पद्य आशीर्वादात्मक है, कुछ नमस्कारात्मक। काव्य का शीर्षक काव्य-नायक के नाम पर आधारित है। सर्गो के नाम उनमे प्रतिपादित विषयो के अनुरूप रखे गये है। प्रह्लादनपुर के ललित वर्णन से, महाकाव्य के आरम्भ मे, सन्नगरीवर्णन की परम्परा का निर्वाह किया गया है। क्षेत्र के सीमित होते हुए भी मोमसौभाग्य में

१. जैन ज्ञानप्रसारक मण्डल, वम्बई से गुजराती अनुवाद-सहित प्रकाशित, सन् १९०५

नगर, सरोवर, मानवसौन्दर्य, तीर्थयात्रा आदि के अभिराम वर्णन मिलते है । छन्दों के प्रयोग मे भी प्रतिष्ठासोम ने शास्त्रीय विधान का पालन किया है ।

महाकाव्य के स्वरूप-विधायक आन्तरिक तत्त्वों का प्रतिष्ठासोम ने इस तत्परता से पालन नही किया । सोमसौभाग्य का नायक वणिक्कुलोत्पन्न सोमसुन्दर है, जिन्हें उनकी संयमपूर्ण चर्या तथा वीतराग प्रकृति के कारण धीरप्रशान्त कोटि का नायक माना जायगा । यह पूर्णतया शास्त्र के अनुकूल नही है किन्तु देवों अथवा इतिहास-प्रसिद्ध प्रतापी राजाओ के अतिरिक्त चरित्रवान् कुलीन महापुरुषों को नायक के पद पर प्रतिष्ठित करके जैन कवियों ने संस्कृत-महाकाव्य को यथार्थता का धरातल प्रदान किया है । धर्माचार्य के उदात्त जीवनवृत्त तथा उसकी धर्मप्रभावना से सम्बन्धित होने के कारण सोमसौभाग्य के कथानक को, शास्त्रीय शब्दावली में,'सदाश्रित' माना जा सकता है । रस की दृष्टि से सोमसौभाग्य की स्थिति असंतोषजनक है । इसमें, मुख्य रस के रूप मे, शास्त्रसम्मत किसी रस का पल्लवन नही हुआ है । शान्तरस का स्वर काव्य में यदा-कदा अवश्य सुनाई पडता है । वात्सल्यरस शान्त का पोषक है । चतुर्वर्ग में से धर्म को इसका उद्देश्य माना जा सकता है । धर्मोपदेशो तथा अन्य धार्मिक कृत्यो का निरूपण करके आर्हत धर्म का प्रचार करना सोमसौभाग्य का मुख्य लक्ष्य है । इन स्थूलास्थूल तत्त्वों के अतिरिक्त इसमे समसामयिक समाज का यत्किंचित् चित्रण भी दृष्टिगत होता है । इसकी भाषा सौष्ठव तथा माधुर्य से परिपूर्ण है । वास्तव में, धार्मिक व्यक्ति से सम्बन्धित काव्य को धर्मकथा बनने से बचाने का अधिकांश श्रेय इसकी सरस भाषा-शैली को है । सोमसौभाग्य की भाषा आधुनिक रुचि के बहुत अनुकूल है । स्वयं कवि ने दसवे सर्ग की पुष्पिका में काव्य को 'सुललित' विशेषण से अभिहित किया है ।

इस प्रकार सोमसौभाग्य में महाकाव्य के प्रायः सभी तत्त्व कमबेश विद्यमान है । किन्तु जहाँ जैन कवि धर्मकथाओं तथा चरितो को भी महाकाव्य घोषित करने में संकोच नही करते, वहाँ प्रतिष्ठासोम ने अपनी कृति को कही भी महाकाव्य नाम से अभिहित नही किया है । पुष्पिकाओ मे तथा अन्यत्र इसे केवल 'काव्य' कह कर सन्तोष कर लिया गया है[२] । क्या प्रतिष्ठासोम के महाकाव्य-सम्बन्धी कुछ अन्य मान-दण्ड थे ? अथवा उसने नम्रतावश सोमसौभाग्य को काव्य की संज्ञा दी है ?

कवि तथा रचनाकाल

सोमसौभाग्य के अन्तिम पद्यो मे इसके प्रणेता तथा रचनाकाल के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचना निहित है । प्रतिष्ठासोम काव्यनायक सोमसुन्दर के विनीत शिष्य

२. प्रज्ञाप्रकर्षरहितः स्वहिताय सोम-
सौभाग्यनाम सुभगं रचयामि काव्यम् ॥ सोमसौभाग्य, १.१०

थे। उन्होने इस मनोरम तथा सुगम काव्य का प्रणयन सम्वत् १५२४ (सन् १४६७) में किया था।

> पारावारकरस्मरेषुहिमरुक्वर्षेऽतिहर्षाद् व्यधात्
> विज्ञानां हृदयंगमं च सुगमं क्लृप्तेंदिरासंगमम्।
> काव्यं नव्यमिदं विदग्धहृदयः शिष्यः प्रतिष्ठादिमः
> सोमः श्रीयुतसोमसुन्दरगुरोर्मेरोर्गरिम्ण. श्रिया॥ १०.७३

कवि के शब्दो मे यह काव्य दोपो से मुक्त है। यह कथन सामान्यतः सत्य माना जा सकता है। सोमसौभाग्य का सशोधन सुमतिसाधु ने किया था। ये वही सुमति-साधु हैं, जिनके जीवनवृत्त पर आधारित 'सुमतिसम्भव' काव्य की विवेचना इसी अध्याय मे आगे की जाएगी।

> धीगुणप्रगुणरत्नसिधुना साधुना सुमतिसाधुनादरात्।
> नव्यकाव्यमिदमस्तदूषणं प्राप्तभूषणगणं च निर्ममे॥ १०.७४

कथानक

सोमसौभाग्य दस सर्गो का महाकाव्य है। काव्य का आरम्भ प्रह्लादनपुर के ललित वर्णन से हुआ है, जिसकी स्थापना अर्बुदाचल के अधिपति प्रह्लादन ने की थी। प्रथम सर्ग के शेप भाग मे वहाँ के धनाढ्य व्यापारी सज्जन तथा उसकी सुन्दरी पत्नी माल्हणदेवी के गुणो तथा धार्मिक वृत्ति का वर्णन है। माल्हणदेवी सज्जन को उसी प्रकार प्रिय थी जैसे चातक को पावस, हाथी को शल्लकी तथा मुमुक्षु को मुक्ति। द्वितीय सर्ग में सज्जन की पत्नी को स्वप्न मे चन्द्रमा दिखाई देता है जो उसके चन्द्रतुल्य पुत्र के भावी जन्म का सूचक था। सम्वत् १४३० में माल्हणदेवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। पिता ने उसके रूप के अनुरूप उसका सार्थक नाम सोम रखा। पांच वर्ष की अवस्था मे, लेखशाला मे प्रविप्ट होकर उसने शीघ्र ही विविध शास्त्रों के सागर को पार कर लिया। तृतीय सर्ग मे महावीर प्रभु, उनके कतिपय गणधरों तथा जैन धर्म के अन्य महापुरुपो के सरसरे वर्णन के पश्चात् जगच्चन्द्र से जयानन्द तक तपागच्छ के पूर्वाचार्यो की परम्परा का निरूपण है। चन्द्रगच्छीय आचार्य सर्व-देव ने आबू पर्वत की उपत्यका मे, वटवृक्ष की सघन छाया मे, आठ महाबुद्धि श्रमणों को सूरि पद पर प्रतिष्ठित किया जिससे चन्द्रगच्छ का नाम वटगच्छ अथवा बृहद्गण पड़ा। इसी गच्छ के जगच्चन्द्रसूरि के द्वादशवर्षीय कठोर तप के कारण उनका गण तपागच्छ नाम से प्रख्यात हुआ। चतुर्थ सर्ग मे सोम अपनी वहिन के साथ, सात वर्ष की अल्पावस्था मे, सम्वत् १४३७ मे, आचार्य जयानन्द से दीक्षा ग्रहण करता है। पचम सर्ग मे जयानन्द के निधन के पश्चात् देवसुन्दर के गच्छनायक बनने, ज्ञान-सागरसूरि द्वारा सोमसुन्दर की विधिवत् शिक्षा तथा उसके (सोमसुन्दर के) क्रमशः गणी, वाचक तथा सूरिपद पर प्रतिष्ठित होने का वर्णन है। वे सम्वत् १४५० मे,

बीस वर्ष अल्पावस्था में, वाचक पद पर आसीन हुए। सात वर्ष पश्चात्, सम्वत् १४५७ मे, इभ्य नरसिंह के अनुरोध से देवसुन्दर उन्हें अणहिल्लपत्तन में सूरिमन्त्र प्रदान करते है। छठे सर्ग मे, देवसुन्दर के स्वर्गारोहण के बाद सोमसुन्दर गच्छ के नेतृत्व का भार संभालते है और एक अनाम नगर में महेभ्य देवराज की अभ्यर्थना पर, अपने विद्वान् शिष्य वाचक मुनिसुन्दर को सूरिपद पर अभिषिक्त करते हैं। मुनिसुन्दर तर्कपूर्ण संस्कृत भाषा के मेधावी वक्ता तथा आशुकवि थे। उनके काव्य की गगा कलिकाल के कलुष का प्रक्षालन करती थी तथा उनके स्तवन आचार्य सिद्धसेन की कृतियो का स्मरण कराते थे! श्रेष्ठी देवराज ने नवाभिषिक्त आचार्य के साथ शत्रुजय तथा रैवतक तीर्थों की यात्रा की। सातवें सर्ग में ईडरनरेश रणमल्ल के पुत्र पुज का कृपापात्र यथार्थनामा गोविन्द तारणगिरि पर कुमारपाल द्वारा निर्मित विहार का जीर्णोद्धार करवाता है। गच्छनायक सोमसुन्दर उसकी प्रार्थना से जयचन्द्र वाचक को सूरिपद प्रदान करते है। जयचन्द्र की पदप्रतिष्ठा के पश्चात् गोविन्द ने संघसहित शत्रुजय, रैवतक तथा सोपारक तीर्थों की यात्रा की। उनके अधिष्ठाता देवों, आदिनाथ तथा नेमिप्रभु की वन्दना करके उसे भवसागर गोष्पद के समान प्रतीत होने लगा। गोविन्द ने आचार्य से तारणगिरि पर अजितनाथ की प्रतिमा की स्थापना भी करवाई। वहीं ऊटकपुरवासी शकान्हड ने गच्छनायक से तपस्या ग्रहण की तथा वादिराज श्रीपण्डित को वाचक पद प्रदान किया गया। इन अवसरो पर गोविन्द ने गुरु की अभूतपूर्व अर्चा तथा संघ की परिधापनिका की। आठवे सर्ग मे आचार्य सोमसुन्दर सर्वप्रथम, देवकुलपाटक (देलवाड़ा) मे, संघपति निम्ब के अनुरोध पर,वाचक भुवनसुन्दर को सूरिपद पर प्रतिष्ठित करते है। कर्णावती के बादशाह के आदरपात्र गुणराज के बन्धु आम्रसाधु ने गुरु के सुधावर्षी उपदेश से प्रबोध पाकर उनसे प्रव्रज्या ग्रहण की। गुणराज ने आचाय के साथ शत्रुजय की यात्रा की। वापिस आते समय सोमसुन्दरसूरि ने मधुमती (महुवा—सौराष्ट्र) मे जिनसुन्दर को सूरिमन्त्र प्रदान किया। रैवतक पर्वत पर संघपति ने गुरु के साथ नेमिप्रभु को प्रणिपात किया। नवां सर्ग गुरु सोमसुन्दर के निर्देशन तथा नेतृत्व मे सम्पादित अनेक धार्मिक कृत्यो की विशाल तालिका से परिपूर्ण है। दसवें सर्ग मे उनके पट्टधरो तथा अन्य शिष्यो की परम्परा का वर्णन है।

सोमसौभाग्य मे आचार्य सोमसुन्दर के जीवनवृत्त के परिप्रेक्ष्य मे दीक्षा, पदप्रतिष्ठा, प्रतिमास्थापना तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानो के विस्तृत वर्णन किये गये हैं, जिन्हे पढता-पढता जैनेतर पाठक ऊब सकता है, किन्तु जैनाचार्य के जीवन की सार्थकता तथा गरिमा इन्ही कृत्यो मे निहित है। धार्मिक उपलब्धियो से शून्य धर्मनेता का जीवन निरर्थक है। उधर प्रतिष्ठासोम ने अपनी सुरुचिपूर्ण शैली से काव्य को सरस बनाने का श्लाघ्य प्रयास किया है, और इसमे वह सफल भी हुआ है। जिन-

हर्ष की भाँति उसने अनियन्त्रित तथा अनावश्यक वर्णनों से मूल कथा को अवरुद्ध नही किया है। कालिदास की तरह वह पाठक की मनःस्थिति से परिचित है। इससे पूर्व कि पाठक का धीरज छूटे वह कथासूत्र को पकड कर आगे वढा देता है। इसी लिए धार्मिक इतिहास से सम्वन्धित होते हुए भी इस काव्य में रोचकता का अभाव नही है। कथानक को गतिमान् रखने के प्रति कवि की सजगता का यह स्पष्ट प्रमाण है कि आठवें सर्ग में शत्रुंजयमाहात्म्य का अवकाश होते हुए भी उसने उसका संकेत करके ही संतोष कर लिया है। कठिनाई यह है कि सोमसौभाग्य महाकाव्य के लिए आवश्यक विविधता से शून्य है। इसके अधिकांश सर्गो में धार्मिक कार्यों के एक समान वर्णन है जिन्हें कवि ने विभिन्न शव्दावली मे प्रस्तुत किया है। इसलिए सोम-सौभाग्य के ये सर्ग प्रवन्ध से विच्छिन्न स्वतन्त्र काव्यखण्ड प्रतीत होते है। कवि ने इन्हे आचार्य सोमसुन्दर के गौरवशाली व्यक्तित्व के सूत्र में वाध कर समन्वित करने का प्रयत्न किया है।

समीक्षा

सोमसौभाग्य के धार्मिक परिवेश मे काव्यधर्मो का अधिक महत्त्व नही है। प्रकृतिचित्रण के नाम पर समूचे काव्य मे समेला-तटाक का वर्णन है, जिसकी स्वाभाविकता उल्लेखनीय है (६.७-६)। अज्ञातनामा नगर के वर्णन में स्वाभाविक तथा अलंकृत शैलियो का सम्मिश्रण है (६.१४-१६)। सोमसौभाग्य मे शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण अधिक तत्परता से किया गया है यद्यपि इसमें परम्परागत पद्धति से कोई नवीनता दिखाई नही देती। काव्यनायक की माता का सौन्दर्य व्यतिरेक द्वारा चित्रित किया गया है (१।५६-६१)। कुमार के चित्रण मे नखशिखविधि का आश्रय लिया गया है।

रसात्मकता की दृष्टि से सोमसौभाग्य को सफल नही कहा जा सकता। इसमे किसी शास्त्रविहित रस का, अगी रस के रूप मे, परिपाक नही हुआ है। वैराग्य, विपयत्याग आदि के अधिक महत्त्व के कारण एक-दो स्थानो पर शान्तरस की व्यंजना हुई है। शिशु सोम की वालकेलियों मे वात्सल्य रस की मधुरता है (३.४४)।

चरितचित्रण

सोमसौभाग्य मे असख्य पात्र हैं। उनमें से कुछ का तो काव्य मे उल्लेख मात्र हुआ है, कुछ की विशेपताओं का सकेत मात्र किया गया है, कुछ अन्य के चरित्र का विकास नही हो सका है। सज्जन, माल्हणदेवी तथा काव्यनायक सोमसुन्दर के चरित्र भी अधिक स्पप्ट नही हैं।

सज्जन प्रह्लादनपुर का धनवान् व्यापारी है। वह धर्मपरायण व्यक्ति है।

शमरस से परिपूर्ण उसके हृदय मे जिनधर्म उसी प्रकार-विहार करता है जैसे मानसरोवर में हंस[३]। अपनी धर्मनिष्ठा के कारण वह मुनिजनो की देशनाएँ सुनता है। शत्रुजय आदि तीर्थों की यात्रा से उसने आर्हत धर्म को ऐसे दीप्त कर दिया जैसे गगन को सूर्य।[४]

सज्जन गुणों का पुंज है। औदार्य, धैर्य, शौर्य, गाम्भीर्य आदि गुण उसमें आकर ऐसे बस गये मानो अन्यत्र उनके लिये कोई स्थान न हो। वह शैशव से ही मिथ्यात्व आदि दूषणों से मुक्त है। सम्यक्त्व उसकी बहुमूल्य निधि है। उसकी दानशीलता से कल्पवृक्ष भी लज्जित हो जाते है। याचक-जनों के प्रति उसकी उदारता के कारण उसकी कीर्ति दिग्दिगन्त मे व्याप्त हो गयी है।[५]

सज्जन पुत्रवत्सल पिता है। पुत्रजन्म का समाचार सुनकर वह आनन्द से झूम उठता है। इसके उपलक्ष्य में वह प्रीतिभोज का ठाटदार आयोजन करता है तथा याचको को मुक्तहस्त से दान देता है। इसी पुत्रप्रेम के कारण वह सोम को श्रामण्य की दुर्वहता का आभास देकर, प्रव्रज्या ग्रहण करने से रोकने का प्रयत्न करता है।

माल्हणदेवी सज्जन की पत्नी है। वह परम सुन्दरी तथा गुणो से सम्पन्न है। उसमे सीता, दमयन्ती, सुलसा, अंजना आदि प्राचीन इतिहास की गौरवशाली नारियो के गुणों का समन्वय है। उसके अनवद्य सौन्दर्य के सामने देवागनाएँ तथा विद्याधरियाँ भी निष्प्रभ है। अपने विविध गुणो के कारण वह पति को इस प्रकार प्रिय है जैसे मुमुक्षु को मुक्ति। इन्द्र तथा शची की भाँति उनका दाम्पत्य जीवन सुखमय तथा प्रेमपूर्ण है।[६]

सोमसुन्दर काव्य का नायक है। वह चन्द्रमा (सोम) की तरह सुन्दर है। उसका जन्म यद्यपि वैभवशाली परिवार मे हुआ था किन्तु उसे सासारिक आकर्षणों तथा विषयो मे कोई रुचि नही है। मुनि जयानन्द की देशना के जल से सिक्त होकर उसमें वैराग्य का अंकुर फूट पड़ता है। फलतः वह सात वर्ष की अल्पावस्था में ही चारित्र्यव्रत ग्रहण कर लेता है। क्रमशः सूरिपद प्राप्त करके वे ४२ वर्ष तक गच्छ का कुशल नेतृत्व करते है। सोमसुन्दर अद्भुत प्रतिभाशाली है। उनकी प्रतिभा का अनुमान इस तथ्य से किया जा सकता है कि लेखशाला मे तथा दीक्षा-प्राप्ति के पश्चात् गुरु के सान्निध्य मे रहकर वे अविलम्ब विविध शास्त्रों में सिद्धहस्तता प्राप्त कर लेते है। सोमसुन्दर के जीवन की कहानी आर्हत धर्म के उत्थान की गौरवपूर्ण

३. वही, १.४१-४३
४. वही, १.४६
५. वही, १.४५
६. वही, १.६२-६३

गाथा है। जिनधर्म के व्यापक प्रसार के लिये उनके कृत्यों की काव्य मे विस्तृत तालिका है।

भाषा

सोमसौभाग्य की भाषा आद्यन्त लालित्य तथा सौष्ठव से ओतप्रोत है। वस्तुतः, जैसा पहले कहा गया है, धर्माचार्य के इतिहास पर आश्रित इस काव्य की परिणति यदि माहात्म्यग्रन्थ अथवा धर्मकथा मे नही हुई है, इसका सबसे अधिक श्रेय इसकी सहज-मधुर भाषा को है। सर्वत्र प्राजलता से विशिष्ट होती हुई भी प्रतिष्ठासोम की भाषा कथानक की विभिन्न स्थितियो को, तदनुकूल-शब्दावली मे, अभिव्यक्ति देने में समर्थ है। इसलिये वह पात्रों की मन.स्थिति के समान कही हर्ष से प्रफुल्ल है, कही श्रद्धा से तरलित तथा कही तर्क से परिपुष्ट। दीक्षावधू का पाणिग्रहण करने के लिये जाते हुए कुमार सोम का चित्र उसके मानसिक आह्लाद के अनुरूप सरलता तथा उल्लास से परिपूर्ण है[7] तो जयानन्दसूरि को सम्बोधित किये गये शब्द शिष्योचित श्रद्धा तथा नम्रता को व्यक्त करते है।[8] पुत्र को प्रस्तावित दीक्षा से विरत करने के लिये सज्जन जिस पदावली का प्रयोग करता है, उसमे तर्क की प्रधानता है।

श्रामण्यभारः कथमुह्यते त्वया विमुह्यते यत्र महत्तरैर्नरैः।
प्रौढोक्षभिर्वोढुमशक्यमप्यवानस्तर्णकैः पुत्र कथं हि चाल्यते ॥
यो खड्गधारोपरि चंक्रमीत्यथो यो दुस्तरं वा तरतीह वारिधिम्।
यो वा दुरारोहसुपर्वपर्वतं पद्भ्यां समारोहति पुष्करस्पृशम् ॥
राधाक्षिवेधं विदधाति यो बुधो ज्वालावलीर्यो ज्वलनस्य वा पिबेत्।
अतुच्छबुद्धे सुत सोऽपि संयमं धर्तुं हि मर्त्यश्चरिर्कात्त साहसम् ॥ ४.३७-३९

सोमसौभाग्य की भाषा मे वर्ण्य विषय का यथातथ्य चित्र अंकित करने की पर्याप्त क्षमता है। सूक्ष्म पर्यवेक्षण से उपस्थित किये गये उसके शब्दचित्रों मे वर्ण्य वस्तु मूर्त हो जाती है। खागहड़ी के जैन मन्दिर का प्रस्तुत वर्णन पढकर मानस-पटल पर मन्दिर का यथार्थ रूप अंकित हो जाता है।

रूप्याचलप्रोज्ज्वलतुंगशृंगभृत् सुवर्णकुंभोच्छ्रितदण्डमण्डितम्।
ध्वजाग्रजाग्रद्वरकिंकिणीस्वनैः प्रमोदितप्रेक्षकलोकमण्डलम् ॥
अभ्रंलिहैः खण्डितपापमण्डलैः श्रीमण्डपैर्मण्डितमुज्ज्वलैः कलैः।
सर्वेन्दिरासुन्दरजैनमन्दिरं यः खागहड्यां पुरि चार्वकारयत् ॥ ८.४-५

सोमसौभाग्य का रचयिता उपयुक्त शब्दो के चयन तथा गुम्फन मे सिद्धहस्त है। यथोचित पदशय्या के विवेकपूर्ण प्रयोग से काव्य में श्रुतिमधुर नाद का समावेश

७. वही, ४.५२-५४

८. वही, ४.५६.

हुआ है। अनुप्रास तथा यमक इस दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं। ईडरनरेश रणमल्ल का प्रस्तुत वर्णन, इस सन्दर्भ में, उल्लेखनीय है।

तस्याधिपः समभवद् भवदेवभक्तो
युक्तो गुणैरविधुरो विधुरोचिरिद्धः।
दोर्वीर्यनिर्जितरणो रणमल्लभूपः
कंदर्परूपकलितः कलितापमुक्तः॥ ७.४

प्रतिष्ठासोम ने एक पद्य के द्वारा अपना रचना-कौशल अथवा शाब्दी क्रीडा प्रदर्शित करने की चेष्टा भी की है। इस पद्य में पुल्लिग 'यत्' के सातों विभक्तियों के एकवचन के रूपों का प्रयोग किया गया है। इसे चित्रकाव्य कहना तो न्यायोचित नहीं किन्तु यह प्रवृत्ति उसी ओर संकेत करती है।

दध्रे कृष्णसरस्वतीति विरुदं यो, यं च विद्वत्प्रभुं
प्राहुर्विज्ञनरा, महार्णवसमस्तीर्णो भवो येन च।
यस्मै भूपगणो नमस्यति, शुभं यस्माच्च, यस्योज्ज्वला
मूर्तिः स्फूर्तियुता, परा गुणभरा यस्मिश्च वासं व्यधुः॥१०.५१

सोमसौभाग्य में प्रायः सर्वत्र प्रसादगुणसम्पन्न पदावली का प्रयोग हुआ है, जो नियमतः समासरहित अथवा अल्पसमास-युक्त होती है। परन्तु काव्य मे, कतिपय स्थलों पर, समासान्त पदावली भी दृष्टिगम्य होती है। यह अवश्य है कि उसकी समासान्त भाषा में भी क्लिष्टता नहीं है। पूर्वोद्धृत समेला-तटाक का वर्णन समासान्त पदावली में होता हुआ भी सरल तथा सुबोध है।

सोमसौभाग्य की भाषा में कुछ दोष भी विद्यमान हैं। प्रतिष्ठासोम के कुछ प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से चिन्त्य हैं। 'गाहमाने नभोंगणम्' के स्थान पर 'नभोंगणे' (२.५७), हृदयं दयेद्धं.........प्रवरोऽध्युवास' के लिए 'हृदये दयेद्धे', (५.६) 'दृक्पथमायाता.' की जगह 'दृक्पथेष्वायाता.' (५.५९) 'जज्ञिरे' के स्थान पर 'जज्ञुः' (६.१, २६), वरसूरिपदप्रतिष्ठाकारणेन के लिए... ...कारम्पणेण (७.२२), तथा 'विभुना समः' की जगह 'विभोः समः' (८.६१) का प्रयोग पाणिनीय शास्त्र का उल्लंघन है। 'विचिन्त्येति ततः पुण्यैस्ततः' (२.२५), अन्यदोर्व्यां गुर्व्यां (३.४०), भ्रातानुजः (६.२०), शुचिवाचमूचे (६.२३), पीयूषयूषमपि तं मधुरत्वयुक्तम् (७.८०); सौवमात्मानं (९.१), स्वात्मानं न हि केवलं (१०.६१) तथा बहुधामभृद्भाक् (१.६०) पदो मे अधिक दोष है। 'रमाश्रितांगः' के लिए 'कंसमथनांगनयाश्रितांगः' (४.६२) का विचित्र प्रयोग 'क्लिष्टत्व' दोष से दूषित है। चेल्लाति दीक्षाम् (४.२८) तथा चेत्स्थापयामि (५.२७) पदो में 'चेत्' का पद के आरम्भ में प्रयोग वामन के विधान—न पदादौ खल्वादयः—का अतिक्रमण होता हुआ भी जैन कवियो को मान्य है।

अन्य जैन काव्यो की तरह सोमसौभाग्य मे नफेरी, घोल, जेमनवार, ढौल्ल,

सेर, चग, नारंग, बुरग, घुटन, चूरण आदि देशी शब्द प्रयुक्त हुए है तथा कतिपय लोकोक्तियो का भी समावेश किया गया है, जो इसे रोचकता प्रदान करती है। कुछ सूक्तियाँ उल्लेखनीय है।

१. दुस्सहो हि महतामिह मानभंगः। १.४४

२. स्याल्लज्जितश्च विजितश्च हि दूरवर्ती। १.५७

३. विद्या ह्यन्तर्गतं वित्तम्। २.५०

४. महतामीहितमखिलं सफलं सम्पद्यते। ८.६३

अलंकारविधान

सोमसौभाग्य गुरु के प्रति कवि की साहित्यिक श्रद्धांजलि है। चित्र-विचित्र अलंकारों के द्वारा अपनी विद्वत्ता बघारना अथवा पाठक को चमत्कृत करना उसे अभीष्ट नही। भावाभिव्यक्ति को विशद बनाने के लिए सोमसौभाग्य मे शब्दालकार तथा अर्थालंकार दोनो को प्रयुक्त किया गया है। अनुप्रास तथा यमक के प्रति कवि का विशेष अनुराग है। वस्तुत. काव्य के अधिकांश मे इनकी अन्तर्धारा है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि काव्य का लालित्य एव नाद-सौन्दर्य अनुप्रास तथा यमक की नीव पर ही आधारित है। इनके हृदयावर्जक उदाहरणो से काव्य भरा पड़ा है! पूर्वाचार्यो की परम्परा के वर्णन में अनुप्रास का माधुर्य है।

एतेभ्य इभ्येन्द्रनतेभ्य आसन् गच्छा अतुच्छा भुवि वार्द्धिसंख्याः।
नामानुरूपाः विमलस्वरूपाः विनम्रभूपाः शमवारिकूपाः॥ ३.१८

प्रतिष्ठासोम का यमक अनुप्रास की भाँति ही मधुर तथा स्पष्ट है। अतः उससे काव्यबोध मे बाधा नही आती। काव्य में अधिकतर सभग यमक का प्रयोग किया गया है। अभिनव गच्छनायक देवसुन्दर का यह वर्णन यमक पर आधारित है।

ये भाग्यभंगिसुभगाः सुभगानयोग्य-
स्फूर्जद्गुणाः श्रमणसंश्रितपादपद्माः।
पद्माश्रयाः कृतसमस्तमहीविहारा
हारा इवोरसि बभुर्यतिधर्मलक्ष्म्याः॥ ५.४

सोमसौभाग्य में श्लेष का प्रयोग कम हुआ है। कवि की सुरुचि उसे दुरूहता से बचाने में समर्थ है। निम्नोक्त पंक्तियो में पुरसुदरियों तथा उद्यानों का श्लिष्ट वर्णन बहुत मनोरम है।

रम्भाभिरामा नगरस्य यस्यारामाश्च रामाः सदृशा विरेजुः।
उच्चैः सनारंगधराः प्रवालश्रियाश्रिताः पत्रलसत्कुचाढ्याः॥ ६.१६

शब्दालकारो की भांति अर्थालकार भी काव्यसौन्दर्य को प्रस्फुटित करने मे सहायक बने है। प्रस्तुत पद्य में उपमा का प्रयोग है। कुमार सोम के सद्गुणों की

तुलना यहां हसो से की गयी है जो गुणों के श्वेत रंग के कारण बहुत सटीक है। काव्य मे अन्यत्र श्लेषोपमा का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है।[9] मालोपमा के भी कतिपय उदाहरण उपलब्ध है।[10]

प्रगुणैः सद्गुणैः सोमः शुशुभे स शुभेक्षणः।
कासार इव वाःसारः सितद्युतिसितच्छदैः॥ २.७१

पदप्रतिष्ठा के लिए सजे हुए, इभ्य देवराज के घर के वर्णन में उत्प्रेक्षा की छटा दर्शनीय है। यहां देवराज के घरो में श्रद्धापूर्ण हृदयो की सम्भावना की गयी है।

वातोर्मिवेल्लच्छुचिकेतनानि निकेतनानि व्यवहारिनेतुः।
वभासिरे तस्य गुणान्वितस्य श्रद्धोज्ज्वलानीव लसन्मनांसि॥ ६.४४

निम्नोक्त पंक्तियो मे सोमसुंदर के एक पट्टधर रत्नशेखरसूरि तथा चन्दन-वृक्ष के वर्णन में विम्ब-प्रतिविम्व भाव है। अतः यह दृष्टांत अलंकार है।

आशैशवादपि नयी विनयी विभाति विज्ञो मनोज्ञगुणभृत् त्रिजगद्गुरुर्यः।
किं चन्दनद्रुरुदयन्नपि नो लभेतोच्चैर्निर्मलं परिमलं भुवनप्रशस्तम्॥ १०.२६

गुरु सोमदेव की वाग्मिता के ज्ञापक इस पद्य में विशेष कथन का सामान्य उक्ति से समर्थन किया गया है। इसलिए इसमें अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

वादोर्वरां भजति यत्र हि काकनाशं नेशुः प्रवादिनिकरा मुखरा अपि श्राक्।
क्ष्वेडां वितन्वति वने प्रवले मृगेन्द्रे निःशूकशूकरगणाः प्रसरन्ति किं ते॥१०.३५

प्रह्लादनपुर के प्रस्तुत वर्णन मे क्रमश. कथित धनुप से गुणवान् का, शारि से जन का तथा खड्ग से पुरनायक का व्यवच्छेद होने के कारण परिसंख्या अलंकार है।

दृश्येत यत्र धनुषो गुणभंगभावो
लोकस्य नो गुणवतः स कदाचनापि।
मारिस्तु शारिषु न चैव जनेषु, खड्गे
पूर्नायके भवति नो दृढमुष्टिता च॥ १.२३

लक्ष्मीसागरसूरि के वाक्कौशल के प्रस्तुत पद्य में उनके वचनो से श्रेताओं के हृदयो के आर्द्र होने तथा कोमल वाणी से पत्थर के फूटने के वर्णन में विरोध अलकार है।

आर्द्रीकृतानि वचनैर्हि सचेतनानां
चित्तान्यतुच्छतपगच्छपुरन्दरस्य।

९. भ्रातानुजस्तस्य च हेमराजो रराज राजेव स राजमान्यः।
स्वगोविलासैर्नयते विकाशं यं कौमुदं [पापतमःप्रहंता॥ सोमसौभाग्य, ६.२०

१०. वही, १.५१,६२ आदि

किं चित्रमस्य तु गिरा सुकुमारयापि
श्राक् भिद्यते दृषदिह ध्रुवमेकशोऽपि ॥

उपर्युक्त अलंकारो के अतिरिक्त सोमसौभाग्य मे रूपक, व्यतिरेक, सहोक्ति यथासंख्य, भ्रान्तिमान्, सदेह आदि भी अभिव्यक्ति के माध्यम वने है।

छन्दयोजना

सोमसौभाग्य के प्रत्येक सर्ग में एक छन्द की प्रधानता है। सर्गान्त मे छन्द वदल जाता है। प्रथम दो सर्गों का मुख्य छन्द क्रमश: वसन्ततिलका तथा अनुष्टुप् है। दोनो का अन्तिम पद्य शार्दूलविक्रीडित में है। तृतीय तथा चतुर्थ सर्ग मे उपजाति की प्रधानता है। तृतीय सर्ग के अन्त मे वसन्ततिलका, शिखरिणी तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द प्रयुक्त हुए है। चतुर्थ सर्ग की उपजाति में इन्द्रवंशा तथा वशस्थ का मिश्रण है। सर्गान्त के तीन पद्य वसन्ततिलका तथा शार्दूलविक्रीडित मे है। पाँचवे तथा सातवें सर्ग में वसन्ततिलका और शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग किया गया है। छठे तथा आठवें दोनों सर्गों मे प्रधानत: उपजाति को स्थान मिला है। सर्ग के अन्त मे शार्दूलविक्रीडित को अपनाया गया है। नवे सर्ग की रचना आर्या मे हुई है। अन्त के छह पद्य शार्दूलविक्रीडित में निवद्ध हैं। दसवें सर्ग में वसन्ततिलका, मालिनी तथा शार्दूलविक्रीडित इन तीन छन्दों को रचना का आधार वनाया गया है। कुल मिला कर सोमसौभाग्य में छह छन्द प्रयुक्त हुए है। इनमे उपजाति की प्रधानता है। तत्पश्चात् वसन्ततिलका का स्थान है।

सोमसौभाग्य में समाजचित्रण

सोमसौभाग्य का साहित्यिक मूल्य कुछ भी हो, इसमे तत्कालीन समाज के कतिपय पक्षों का विशद चित्रण हुआ है। आजकल की भाँति उस समय भी पुत्रजन्म अपूर्व हर्षोल्लास का अवसर था तथा नाना आमोद-प्रमोद एव नृत्य-गायन से उसका अभिनन्दन किया जाता था। माता-पिता को पुत्रजन्म की बधाई देने वाले व्यक्तियों को अक्षत चावल भेट किये जाते थे। पिता प्रसन्नतावश अन्य नानाविध दान देता था। स्त्रियाँ सजधज कर मंगल गीत गाती थी। इस शुभ अवसर पर धनवानों के घरो मे मोतियो से शुभ स्वस्तिक चिह्न वनाने की प्रथा थी। आम के पत्तो से मांगलिक तोरण वनाए जाते थे। पेशेवर गायक सरस गीत गाया करते थे तथा वेश्याएँ नृत्य करती थीं। दीक्षाग्रहण, पदप्रतिष्ठा आदि के अन्य प्रसंगो मे पण्यांगनाओ के नृत्य का उल्लेख काव्य में किया गया है। सम्भवत: समाज मे उनके कर्म के विपरीत उनका नृत्यकौशल गर्हित नही माना जाता था। जिनालयों मे इस अवसर पर विशेप पूजा की जाती थी तथा विविध उत्सवो का आयोजन किया जाता था।[११]

जन्म के बारहवें दिन शिशु का नामकरण किया जाता था।[१२] उच्चवर्ग भाव-

११. वही, २.१३-१६
१२. वही, २.२१

पूर्ण तथा सार्थक नाम पसन्द करता था।[१३] नामकरण के अवसर पर शिशु का पिता अपने वन्धु-बान्धवो को ठाटदार भोज देता था क्योंकि अन्नदान सर्वोत्तम पुण्य है। अन्य दान अन्न-दान के पासंग भी नही हैं। सामूहिक भोज मे लोग पंगत मे वैठ कर भोजन करते थे। भोजन सोने, चांदी तथा कांसे के पात्रो में परसा जाता था।[१४] प्रतिष्ठा-सोम ने काव्य मे कई स्थानो पर तत्कालीन खाद्य पदार्थों की विस्तृत सूची दी है। उससे विदित होता है कि भोजन में सर्वप्रथम द्राक्षा, अखरोट, चारुवल्ली आदि फल तथा खांड दी जाती थी। मोदक, फाणित, खज्जक, घृतपूर्ण वड़े, लपसी, गुड़, सोमाल, कूर, दाल, भात, मंडक, तैल, सुगन्धित घी तथा विविध पकवानो का उल्लेख भी काव्य मे आया है।[१५] पगत मे वैठे लोगो को गृहपति पंखों तथा वस्त्राचलो से हवा करता था।[१६] भोजन के अन्त में अतिथियों को पान देने की प्रथा थी।[१७] स्वर्णकणो तथा मणियो से युक्त विशेप पान का भी काव्य मे उल्लेख किया गया है।[१८] पद-प्रतिष्ठा तथा विम्व-स्थापना आदि अन्य विशिप्ट अवसरो पर भी इसी कोटि का सामूहिक भोज आयोजित किया जाता था[१९]।

शिक्षा का समाज मे वहुत महत्त्व था। विद्या को समस्त सम्पदाओ की जननी तथा कीर्ति का सोपान माना जाता था। समाज विद्याधन से सम्पन्न रंक को भी धनवान् मानता था। चित्त के अभेद्य कोश मे स्थित इस धन को वांटना अथवा चुराना सम्भव नही। समाज का दृढ़ विश्वास था कि विद्याहीन पुरुष, संस्कारहीन मणि की भाँति ग्राह्य नही है[२०]। विद्या प्राप्ति का नियमित स्थान स्वभावतः विद्यालय था। स्वयं पिता शिशु को प्रविप्ट कराने के लिये जाता था। विद्यारम्भ आमोद-प्रमोद तथा दान-गान का पवित्र अवसर था। शिशु घोड़े पर वैठकर ठाट से प्रवेश के लिए लेखशाला जाता था। वहाँ पिता अपने पुत्र के अभ्युदय के लिए वाग्देवी सरस्वती की वन्दना करता था, याचको को धन-वस्त्र आदि देता था और अध्यापको तथा छात्रो को मधुर खाद्य पदार्थ भेंट करता था। विद्याध्ययन पाँच वर्ष की अवस्था में आरम्भ किया जाता था।[२१]

१३. सान्वर्था ह्युत्तमानां स्यादाख्या ख्याता क्षमातले। वही, २.३६
१४. वही, २-२६ तथा ७.७८
१५. वही, २.२७-३२, ५.५८, ६.५५,७.७७
१६. वही, २.३३
१७. भोजनान्ते च ताम्वूलवीटकानि समर्प्य सः। वही, २.३५ तथा ८.१२
१८. कलधौतहेमटंकैः कलितं ताम्वूलमतुलमदात्। वही, ६.६४
१९. वही, ५.५८, ६.५५ आदि
२०. वही, २.४७-५३
२१. वही, २.५६-६२

पाठशाला मे अध्ययन का प्रारम्भ स्वभावत. वर्णमाला से किया जाता था। वर्णज्ञान से पूर्व ॐ का उच्चारण मांगलिक माना जाता था।[२२] तत्कालीन पाठ्यक्रम मे धर्मसूत्र, व्याकरण, छन्दशास्त्र, लिंगानुशासन, नाममाला, शारीरिक धातुओ का ज्ञान, अकगणित तथा गायनकला निर्धारित थी।[२३] यह लेखशाला का पाठ्यक्रम था। दीक्षित होने के पश्चात् मुनि सोमसुन्दर ने दशवैकालिक सूत्र तथा नदिसूत्र, इन जैन शास्त्रो के अतिरिक्त शब्दशास्त्र, साहित्य, छन्द, तत्त्वज्ञान, तर्क, अलंकार तथा उपनिषदो का विधिवत् अभ्यास किया था।[२४] ये विषय यद्यपि दीक्षित साधु के लिये निश्चित थे किन्तु इन्हें सामान्यत. तत्कालीन पाठ्यक्रम माना जा सकता है। इस प्रकार पन्द्रहवी शताब्दी मे छात्र के बौद्धिक विकास के लिये वहुमुखी पाठ्यक्रम निर्धारित था। सोमसौभाग्य मे 'काव्यप्रकाश' के अध्यापन का उल्लेख (१०.६) साहित्यशास्त्र, विशेषत. मम्मट के ग्रन्थ के प्रचलन तथा महत्त्व का सूचक है। अध्ययन के लिये तीव्र स्मरणशक्ति का महत्त्व निर्विवाद है। सोम ने स्मरणशक्ति के कारण ही, अल्पायु मे, शास्त्रसागर को पार कर लिया था।[२५]

सोमसौभाग्य मे कतिपय वस्त्रों तथा आभूषणो की चर्चा हुई है। पद-प्रतिष्ठा के समय प्रभावना आदि के अतिरिक्त आचार्य तथा संघ की परिधापनिका की जाती थी, जिसमे समूचे संघ को बहुमूल्य वस्त्र भेंट किये जाते थे। भुवनसुन्दर वाचक की सूरिपद पर प्रतिष्ठा के अवसर पर विदेशी वस्त्र दिये जाने का उल्लेख काव्य मे हुआ है।[२६] प्रचलित आवभूणो मे हार, अर्धहार, मुकुट, कुण्डल, केयूर, वीरवलय, मणि, मुद्रिका[२७] तथा कर्णचूल सम्मिलित थे।

प्रतिष्ठासोम के समसामयिक समाज का शकुनो तथा मुहूर्तो पर दृढ़ विश्वास था। सभी कार्य मौहूर्तिको द्वारा निश्चित शुभ दिन अथवा लग्न मे किए जाते थे। कुछ जैनाचार्य भी ज्योतिर्विद्या के पारंगत आचार्य थे। धार्मिक अनुष्ठान उन्ही की सम्मति से शुभ समय पर सम्पन्न होते थे। सज्जन ने जिस दिन अपने पुत्र को पाठशाला में प्रविष्ट कराया था, वह ज्योतिषी द्वारा निर्धारित किया गया था। मांगलिक मुहूर्त आदि के प्रति समाज की इस आस्था के कारण स्वभावत. ज्योतिषियो को सम्मानित पद प्राप्त था। शुभाशुभ शकुनो के विचार का इतिहास भी वहुत प्राचीन है। सोमसौभाग्य मे सधवा स्त्री का जलपूर्ण घट लेकर सामने आना, सुभूषित पण्यागना का दीखना तथा खर, शण्ड और अश्व का वायी ओर शब्द करना शुभ शकुन

२२. ॐकारमातृकापाठप्रारम्भं समकारयत्। वही, २.६०
२३. वही, २ ६४-७०
२४. ५.६ ११-१२,४६
२५. वही २.६८
२६. वही, ८.१२
२७. वही, ५.५५, ७ ६७

माने गए हैं।[२८] श्रेष्ठी गुणराज के ससंघ यात्रा के लिए प्रस्थान करते समय भी सभी उत्साहवर्द्धक शकुन हुए थे।

धर्म

सोमसौभाग्य यद्यपि जैन धार्मिक इतिहास से सम्बन्धित रचना है किन्तु इसमें जैन दर्शन अथवा धर्म के गूढ़ तत्त्वों का विवेचन नहीं हुआ है। जयानन्दसूरि की देशना में जैन धर्म की सामान्य चर्चा है। आर्हत धर्म के अन्तर्गत श्रमणों तथा श्रावकों के लिए पृथक् आचारों का विधान था। औपासिक धर्म से तो क्रम से ही मुक्ति प्राप्त होती है किन्तु यतिधर्म व्रतधारियों को इसी लोक में मोक्ष प्रदान करता है। जैन समाज में, आजकल की भाँति, उस समय भी दीक्षा को मोक्ष का द्वार माना जाता था। समाज को विश्वास था कि दीक्षा कल्पवल्ली के समान मानव की समस्त इच्छाओं की पूर्ति करती है।[२९]

सोमसौभाग्य में अन्य महत्त्वपूर्ण संकेत

प्रतिष्ठासोम के काव्य में प्रसंगवश प्राचीन इतिहास के कतिपय प्रतापी सम्राटों, मन्त्रियों, जैनाचार्यों तथा कवियों एवं विद्वानों का उल्लेख किया गया है। गुजरात-नरेश कुमारपाल तथा महामात्य वस्तुपाल जैन धर्म के अद्वितीय प्रभावक तथा साहित्य-पोषक थे। वस्तुपाल को काव्य में सबसे अधिक—तीन बार—स्मरण किया गया है। वस्तुपाल देवेन्द्रसूरि की वाक्कला से इतने अभिभूत थे कि व्याख्यान सुनते समय उनका सिर झूमने लगता था।[३०] रैवतक पर स्थित उनके 'प्रासाद' का जीर्णोद्धार अहमदाबाद के धनाढ्य व्यापारी समरसिंह ने किया था।[३१] कुमारपाल का प्रथम उल्लेख उनके तारणगिरि के विहार के जीर्णोद्धार के प्रसंग में हुआ है।[३२] प्रतिष्ठासोम ने लक्ष्मी की अस्थिरता को नव नन्दों, विक्रम, नल, मुंज, भोज तथा हाल—इन इतिहास-प्रसिद्ध सम्राटों के नामशेष वैभव के उदाहरण से रेखांकित किया है।[३३] गुणराज की उदारता तथा दानशीलता की तुलना राजा सम्प्रति के अतिरिक्त कुमारपाल तथा वस्तुपाल के साथ की गयी है।[३४] मेवाड़-नरेश कुम्भकर्ण (राणा कुम्भा) गुरु सोमदेव की काव्यकला के प्रबल समर्थक थे।[३५] जैन धर्म के महापुरुषों तथा

२८. वही, ८.३३-३५
२९. वही, ४.१३-१४
३०. वही, ३.२८
३१. वही, ६.७७
३२. वही, ७.१०-११
३३. वही, ६.२६-२७
३४. वही, ८.४९-५०
३५. वही, १०.३८

विद्वानो मे मानदेव, मानतुग, वप्पभट्टि, हेमचन्द्रसूरि, सिद्धसेन तथा वज्रस्वामी को आदरपूर्वक स्मरण किया गया है। स्थूलभद्र द्वारा कोशा को प्रतिवोध देने का भी काव्य में प्रन्यक्ष संकेत है।

सोमसुन्दरसूरि का शिष्यमण्डल : उसकी उपलब्धियां

सोमसौभाग्य के दसवे सर्ग मे गच्छपति सोमसुन्दर के पट्टधरो का संक्षिप्त वर्णन तथा उनकी साहित्यिक एवं धार्मिक उपलब्धियो का निरूपण है। इस सर्ग मे तपागच्छ के इन आचार्यों के विषय मे अतीव मूल्यवान् सामग्री निहित है। सोमसुन्दरसूरि के प्रथम पट्टधर आचार्य मुनिसुन्दर ने अपने निर्मल चरित्र तथा अदम्य धर्मोत्साह से जैन शासन के अभ्युदय मे अद्भुत योग दिया। उनकी प्रेरणा से रोहिणी नगर के शासक ने स्वयं मृगया का परित्याग किया तथा अपने राज्य मे प्राणिहिंसा पर प्रतिवन्ध लगा दिया। मुनिसुन्दर देलवाड़ा मे शान्तिस्तवन से महामारि के भयंकर प्रकोप को शान्त करके पहले ही विलक्षणता प्राप्त कर चुके थे। उनकी धर्म-प्रभावना की तुलना मानदेव तथा मानतुंग जैसे प्राचीन आचार्यों से की जाती थी।[36] जयचद्रसूरि विभिन्न शास्त्रो के पारगामी विद्वान् थे। उनकी साहित्यशास्त्र, विशेपत. काव्यप्रकाश, की मर्मज्ञता की काव्य मे विशेप चर्चा हुई है। वहुमुखी पाण्डित्य के कारण उन्हें 'कृष्णवाग्देवता' की अनुपम उपाधि से अलकृत किया गया था।[37] जिनसुदर ग्यारह अंगसूत्रो के अधिकारी तथा सर्वमान्य विद्वान् थे! अगसूत्र उनके मानस में ऐसे स्थित थे जैसे (प्रलयकाल मे) समस्त लोक विष्णु के उदर मे समा जाते है।[38] सूरिराज लक्ष्मीसागर तपागच्छ के विलक्षण आचार्य थे। वे महान् शास्त्रार्थी, वाक्कला के वृहस्पति, सद्गुणों के भण्डार तथा परम धर्मोत्साही यति थे। काव्य मे उनकी विविध उपलब्धियो का ग्यारह पद्यो मे सविस्तार निरूपण किया गया है। उन्होंने जूनागढ़ के शासक की सभा मे, शास्त्रार्थ मे, विजय प्राप्त करके अपनी वहुश्रुतता तथा वाक्कौशल प्रमाणित किया था। उनकी कोमल वाणी मे सुधावर्पी व्याख्यान सुनकर श्रोताओ का हृदय द्रवित हो जाता था। राजा सोमदास के विश्वासपात्र सल्हसाधु द्वारा रचित महोत्सव मे उन्होने लक्ष्मी की पीतल की प्रौढ (भारी) प्रतिमा की प्रतिष्ठा की, दक्षिण देश के महादेव के अनुरोध पर चलाटापल्ली मे दो साधुओ को वाचकपद प्रदान किया, ७२ जिनालयो मे चौवीस तीर्थकरो के विम्वपट्ट प्रतिष्ठित किए तथा वाचक शुभरत्न को प्रवर सूरिपद पर अभिपिक्त किया।[39] सोमदेव

३६. वही, १०.१-४

३७. विद्वत्तया प्रथितयामितयात्र कृष्णवाग्देवतेति विरुदं गुरु यो दधार। वही १०.५
अध्यापयद्विवुधमंतिषदां महार्थं काव्यप्रकाशवरसम्मतिमुख्यशास्त्रम्। वही, १०.६

३८. अंगानि योऽन्तरुदरं दरहृद्धधार रुद्रप्रमाणि भुवनानि यथा मुकुन्दः। वही, १०.८

३९. वही, १०.२१-३१

प्रतिभावान् कवि तथा शास्त्रार्थ की कला में पारंगत थे। शास्त्रार्थ-मण्डप में उनके प्रविष्ट होने पर प्रवादियों का दर्प चूर हो जाता था। काव्यकला के कारण उन्हें राजदरबार में सम्मान प्राप्त था। राणा कुम्भा उनकी काव्य-प्रतिभा के इतने प्रशंसक थे कि वे उन्हें श्रीहर्ष से भी श्रेष्ठ कवि मानते थे! जूनागढ़ के राजा के माण्डलिक उनके समस्यापूर्ति के कौशल से चमत्कृत हो उठते थे। दुरूह ग्रन्थों को हृदयंगम करने की उनमें अद्वितीय क्षमता थी। वस्तुतः वे पृथ्वी लोक के बृहस्पति थे।[४०] रत्नमण्डन विद्वद्‌गोष्ठी के रत्न थे। उनमें मधुर-गम्भीर पद्य तथा हृदयग्राही गद्य की अविराम रचना करने का अद्‌भुत कौशल तथा सामर्थ्य था।[४१] शुभरत्नसूरि ने अपनी दार्शनिक प्रतिभा से वाचस्पति को भी पछाड़ दिया था। सप्त गूढ़ नयों मे उनकी प्रवीणता अतुल थी।[४२] वाचक हेमहंस संस्कृत भाषा के पटु वक्ता तथा वादियो के दर्प के वैद्य थे।[४३] पण्डित विवेकसागर विपक्षी शास्त्रार्थियो की गजघटा के लिए साक्षात् सिंह थे। तर्कशास्त्र में उनकी गहरी पैठ थी।[४४] पण्डित रत्नप्रभ दुरूह एवं क्लिष्ट शास्त्रो के अध्यापन में विशेष कुशल थे।[४५]

सोमसौभाग्य प्रतिष्ठासोम की काव्यप्रतिभा का उन्मेष है। इसमें तत्कालीन समाज का व्यापक चित्र समाहित है और इससे तपागच्छ के विभिन्न आचार्यों की धार्मिक तथा साहित्यिक उपलब्धियों की महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। सीमित-सा कथानक चुनकर भी प्रतिष्ठासोम ने अपनी सुरुचि तथा ललित शैली से काव्य को रोचक बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। कठिनाई यह है कि काव्य में उसकी प्रतिभा के विहार के लिए अधिक अवकाश नहीं है। यदि वह किसी व्यापक कथानक को लेकर काव्य-रचना करता तो उसकी प्रतिभा साहित्य को उत्कृष्ट कृति प्रदान कर सकती थी।

४०. वही, १०.३२-४३
४१. वही, १०.४४-४५
४२. वही, १०.४६
४३. वही, १०.५३
४४. वही, १०.५४
४५. वही, १०.६०

१७. सुमतिसम्भव : सर्वविजयगणि

तपागच्छीय आचार्यों के जीवनवृत्त पर रचित महाकाव्यो की शृंखला में सर्वविजयगणि का सुमतिसम्भव, काव्यात्मक गुणो तथा ऐतिहासिक तथ्यो की प्रामाणिकता के कारण विशेष उल्लेखनीय है। काव्य के शीर्षक मे, आपाततः, जैन तीर्थंकर सुमति तथा सम्भव के नाम ध्वनित हैं किन्तु उनका काव्य से कोई सम्बन्ध नही है। सोमसौभाग्य की भांति इसमे भी तपागच्छ के एक आचार्य, सुमतिसाधु, के धर्मनिष्ठ चरित को निबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। संस्कृत के प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्यों की परम्परा के अनुरूप सुमतिसम्भव मे जैनाचार्य का वृत्त अलंकृत काव्य-शैली का आंचल पकड़ कर आया है जिसके फलस्वरूप इसमे काव्य-रूढियो का तो तत्परता से पालन किया गया है किन्तु सोमसौभाग्य की तरह इसमे काव्य-नायक की सामाजिक एव धार्मिक चर्या की अधिक जानकारी उपलब्ध नही है। सुमतिसाधु के श्रद्धालु भक्त, माण्डवगढ के धनवान् श्रावक, जावड के अतुल वैभव, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा धर्मपरायणता के बारे मे, काव्य मे, कही अधिक उपयोगी तथा अत्यन्त रोचक सामग्री निहित है।

सुमतिसम्भव की एकमात्र ज्ञात हस्तलिखित प्रति (७३०५) एशयाटिक सोसाइटी बगाल, कलकत्ता मे सुरक्षित है।[1] आठ सर्गों का यह काव्य उन्नीस पत्रो पर लिखा गया था। इनमे से पॉचवा तथा छठा, दो पत्र अनुपलब्ध हैं। आठवें सर्ग का एक अंश (पद्य ३०-४३ तथा चवालीसवे पद्य के प्रथम तीन चरण) भी नष्ट हो चुका है। अन्यत्र भी काव्य कई स्थलो पर खण्डित तथा अशुद्धियो से दूषित है। प्रत्येक पृष्ठ पर तेरह पक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति मे चालीस अक्षर है। कही-कही व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ भी लिखी हुई है। प्रस्तुत विवेचन सुमतिसम्भव की उक्त हस्तप्रति की फोटो-प्रति पर आधारित है, जो हमे श्री अगरचन्द नाहटा के सौजन्य से प्राप्त हुई थी।

सुमतिसम्भव का महाकाव्यत्व

काव्यशैली के प्रति कवि की प्रतिबद्धता के कारण सोमसौभाग्य की अपेक्षा सुमतिसम्भव का महाकाव्यत्व अधिक पुष्ट तथा प्रभावी है, यद्यपि इसमे भी महाकाव्य

१. द्रष्टव्य : भंवरलाल नाहटा 'श्रीसुमतिसम्भव नामक ऐतिहासिक काव्य की उपलब्धि', जैन सत्यप्रकाश, वर्ष २०, अंक २-३, पृ ४४-४५.

के समूचे परम्परागत तत्त्व विद्यमान नही है। मंगलाचरण, सर्ग-सख्या, उनके नाम-करण, काव्य-शीर्षक, छन्दो के विधान आदि महाकाव्य के वाह्य तत्त्वों में सर्वविजय ने शास्त्र का यथावत् पालन किया है। चित्रकूट तथा काव्यनायक के जन्मस्थान ज्यायपुर के विस्तृत वर्णन से नगर-वर्णन की रूढि की पूर्ति की गयी है। पर्वतमाला सन्ध्या, चन्द्रोदय, सूर्योदय, आदि वस्तुव्यापार के ललित वर्णन एक ओर काव्य में वैविध्य का सचार करते है और दूसरी ओर काव्य-शैली के प्रति कवि की निष्ठा के सूचक है।

महाकाव्य के आन्तरिक स्वरूप विधायक तत्त्वो की दृष्टि से सुमतिसम्भव की स्थिति सोमसौभाग्य से अधिक भिन्न नही है। सोमसुन्दर के समान प्रतिष्ठित इभ्य कुल मे उत्पन्न सुमतिसाधु इसके नायक है जिन्हे, उनकी शमवृत्ति के प्राधान्य के कारण, धीरप्रशान्त मानना अधिक उचित होगा। काव्य में वर्णित उनका चरित, गरिमा तथा ख्याति के कारण, शास्त्रीय विधान के अनुकूल है। चतुर्वर्ग में से सुमति-सम्भव का उद्देश्य धर्म है। धनकुबेर जावड की धर्मचर्या के निरूपण के द्वारा मानव जीवन मे, अर्थ तथा काम को मर्यादित करते हुए, धर्म की सर्वोपरि महत्ता का प्रतिपादन करना कवि का अभीष्ट है। काव्य की भाषा मे प्रसाद तथा प्रौढ़ता का मनोरम मिश्रण है। चित्रकाव्य के द्वारा सर्वविजय ने अपनी भाषा मे चमत्कृति उत्पन्न करने का प्रयास भी किया है। इस स्थूल शरीर के होते हुए भी सुमतिसम्भव आत्मा से प्राय पूर्णतया वंचित है। महाकाव्योचित रसवत्ता का न होना इसकी वहुत बड़ी त्रुटि है। चरित्र-विश्लेषण के प्रति भी कवि अधिक सजग नही है। परन्तु सुमतिसम्भव को, उक्त तत्त्वों के अभाव मे भी, महाकाव्य मानना उचित होगा।[२] प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में कवि ने इसे आग्रहपूर्वक महाकाव्य की सज्ञा दी है।

कवि-परिचय तथा रचनाकाल

सुमतिसम्भव के कर्त्ता के विषय मे काव्य से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वह पण्डित शिवहेम का शिष्य तथा जिनमाणिक्य का छात्र था। सर्वविजय ने प्रव्रज्या शिवहेम से ग्रहण की थी, किन्तु उसके विद्यागुरु जिनमाणिक्य थे।

शिवहेमपण्डितानां शिष्यशिशुर्वाचकेन्द्रचन्द्राणाम्।
श्रीजिनमाणिक्यानां छात्र: शास्त्रं व्यधत्तेदम्॥ ८.४५

सर्वविजय तपागच्छ का अनुयायी था। उसकी मुनि परम्परा तपागच्छ के पचासवे गच्छधर आचार्य सोमसुन्दरसूरि तक पहुँचती है। पूर्ववर्ती गच्छनायको के जीवन-वृत्त पर काव्य लिखने की परम्परा जैन साहित्य में चिरकाल से चली आ रही है।

२. न्यूनमपि यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यमत्र न दुष्यति।
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विद.॥ काव्यादर्श, १.२०

काव्य मे उपलब्ध सूत्रों के आधार पर इसका रचनाकाल निश्चित करना कठिन नहीं है। सुमतिसम्भव की एकमात्र ज्ञात हस्तप्रति सम्वत् १५५४ मे इलदुर्ग (ईडर) मे लिखी गयी थी।[3] काव्य में, जावड द्वारा सम्वत् १५४७ मे की गयी प्रतिमा-प्रतिष्ठा[4] का वर्णन होने के कारण यह उस वर्ष (सवत् १५४७) तथा पूर्वोक्त हस्तप्रति के प्रतिलिपि-काल, सम्वत् १५५४, के मध्य लिखा गया होगा। अन्तिम भाग के नष्ट हो जाने से यह कहना सम्भव नही कि काव्य मे नायक के निधन का उल्लेख था अथवा नहीं। किन्तु इसके शीर्षक को देखते हुए अधिक सम्भव यही है कि यह वर्णन काव्य मे नहीं था। अत: काव्य-रचना की अन्तिम सीमा सम्वत् १५५१ निश्चित होती है। सर्वविजय का अन्य काव्य, आनन्दमुन्दर, इससे पूर्व की रचना है क्योंकि उसमे सुमतिसाधु, जिनका स्वर्गारोहण सम्वत् १५५१ मे हुआ था, के जीवित होने का सकेत है।[5]

कथानक

सुमतिसम्भव के आठ सर्गो मे जैनाचार्य सुमतिसाधु का जीवनवृत्त वर्णित है। काव्य का प्रारम्भ दो पद्यों के मगलाचरण से हुआ है, जिनमे क्रमश. आदिदेव तथा वाग्देवी की स्तुति की गयी है। तत्पश्चात् प्रथम सर्ग मे मेवाड, उसकी राजधानी चित्रकूट (चित्तौड), उसके शासको तथा पर्वतमाला का कवित्वपूर्ण वर्णन है। अपने अतुल वैभव के कारण मेवाड सम्राट्-सा प्रतीत होता है। उसके शासको मे राजा कुम्भकर्ण (राणा कुम्भा) के पराक्रम, दानशीलता तथा अन्य सद्गुणो का विस्तृत वर्णन किया गया है। द्वितीय सर्ग के उपलब्ध भाग मे ज्यायपुर, वहाँ के धनवान् श्रावको, श्रेष्ठी सुदर्शन तथा उसकी रूपवती पत्नी सपूरदेवी का रोचक वर्णन है। सुदर्शन तथा संपूरदेवी सम्भवत: काव्य-नायक के माता-पिता थे। इस सर्ग के लुप्त भाग मे सपूरदेवी के स्वप्नदर्शन तथा गर्भाधान का वर्णन रहा होगा। तृतीय सर्ग की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि इसके प्रथम तीस पद्यो मे, जो नष्ट हो चुके हैं, कुमार के जन्म तथा शैशव का चित्रण किया गया था। प्राप्त अग में कुमार प्रारम्भिक विद्याभ्यास के पश्चात् चारित्र्यलक्ष्मी का पाणिग्रहण करने का निश्चय करता है। चतुर्थ सर्ग मे कुमार दीक्षा ग्रहण करने के लिये प्रस्थान करता है। यहीं उसे देखने को लालायित पौर युवतियो की चेष्टाओ का मनोरम चित्रण हुआ है। दुर्भाग्यवश उसके प्रव्रज्या-ग्रहण के वर्णन वाले पद्य का वह अश नष्ट हो चुका है, जिसमे सम्वत्

३. सम्वत् १५५४ वर्षे श्रीइलदुर्गमहानगरे हर्षकुलगणयः सुमतिसम्भवग्रंथमलो लिखल्लेखकेन। —लिपिकार की अन्त्य टिप्पणी।

४. अथैप वर्षे तिथिवेदलोकप्रतिमे। सुमतिसम्भव, ४.७

५. द्रष्टव्य : डॉ० क्राउझे—'जावड़ ऑफ माण्डू' मध्यप्रदेश इतिहास-परिषद् की पत्रिका, अंक ४, पृ० १३४-१३५

दिन आदि का उल्लेख था। यह सोचकर कि यह अपनी सुमति से कल्याण-साधन करेगा तथा उत्तम साधु बनेगा, गुरु ने उसका नाम सुमतिसाधु रखा। उसने शीघ्र ही हैमव्याकरण, तर्क, उपनिषद्, सिद्धान्त, ज्योतिष तथा साहित्य में सिद्धहस्तता प्राप्त कर ली। शास्त्रार्थ तथा काव्यरचना में भी उसकी प्रशंसनीय गति थी। स्मरपराजय नामक पंचम सर्ग मे काम तथा संयमधन साधु के प्रतीकात्मक युद्ध तथा काम के वध का अतीव रोचक वर्णन है। छठे सर्ग के पूर्वार्ध मे पूर्वाचार्यों की पट्ट-परम्परा का वर्णन है। उत्तरार्ध में ईडर के शासक भानु के अनुरोध से गुरु लक्ष्मीसागर सुमति-साधु को सूरिपद पर अभिषिक्त करते हैं। अन्तिम दो सर्ग संघपति जावड़ का इतिहास प्रस्तुत करते है। इन सर्गों में उसके सामाजिक गौरव तथा धर्मनिष्ठा का सूक्ष्म वर्णन है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि काव्य मे सुमतिसाधु के जीवन की कतिपय घटनाओं का ही दिग्दर्शन कराया गया है। काव्य के लुप्त भाग में भी उनके विषय मे अधिक जानकारी नहीं रही होगी। कवि अधिकतर विषयान्तरों मे उलझा रहा है। अन्तिम दो सर्ग तो पूर्णत. जावड़ की धार्मिक गतिविधियों का निरूपण करते हैं, यद्यपि उनके पीछे भी आचार्य की सत्प्रेरणा निहित है। अन्य सर्गों में भी देश, नगर, चन्द्रोदय, प्रभात, युद्ध आदि के प्रासंगिक-अप्रासंगिक वर्णनों की भरमार है। वास्त-विकता तो यह है कि सुमतिसम्भव काव्यनायक की अपेक्षा जावड़ के इतिहास का स्रोत है।

रसयोजना

सुमतिसम्भव मे यद्यपि जैनाचार्य का वृत्त काव्य का आकर्षक परिधान पहन कर आया है, किन्तु उसमे मनोभावों के विश्लेषण अथवा निरूपण के लिये स्थान नही है। इसीलिये इसमें किसी भी रस का यथेष्ट पल्लवन नही हो सका है। महा-काव्योचित तीव्र रसव्यंजना की आकांक्षा करना तो यहाँ निरर्थक होगा। काव्य की मूल प्रकृति तथा इस कोटि के अन्य जैन काव्यों की परम्परा के अनुसार इसमें शान्त-रस का प्राधान्य अपेक्षित था किन्तु कवि ने उसका स्मरण मात्र करके सन्तोष कर लिया है—रसोऽत्र शान्तः (४.४२)। काव्य मे इसकी क्षीण आभा भी दिखाई नहीं देती। रसार्द्रता का यह अभाव सुमतिसम्भव की गरिमा को आहत करता है।

पंचम सर्ग मे, रतिपति काम तथा सुमतिसाधु के प्रतीकात्मक युद्ध मे वीररस का पल्लवन माना जा सकता है, यद्यपि इस युद्ध की परिणति वैरशोधन में नही अपितु निर्वेद में होती है। इसका कारण वीतराग साधु की जितेन्द्रियता है। फिर भी यहाँ सामान्यतः वीर रस का उद्रेक मानने में हिचक नही होनी चाहिए। कवि ने इस संघर्ष को ठेठ संग्राम का रूप देने की चेष्टा की है। विश्वविजेता काम संयमी साधु को

अपने सर्वभक्षी अंकुश से मुक्त जानकर तत्काल सम्राट् की भाँति उसके विरुद्ध प्रयाण करता है ! दूत द्रोह के द्वारा प्रतिपक्षी को सचेत करके वह युद्ध के धर्म का पालन करता है। दूत की अमर्यादित उक्तियो का उत्तर संयमधन यति 'ब्रह्मास्त्र' से काम का प्राणान्त करके देता है !

तत्रानयोः प्रवलयोर्वलयोः प्रयोगवृत्ते रणः प्रववृते प्रलयोपमेयः ।
यत्रोत्पतत्पतदनेकपकुम्भकूटैर्भूमीतटं स्फुटदिति प्रतिभासु भाति ।। ५.४३
केचिद् भटा घनघटा इव तीव्रतेजोविद्युल्लतावलयितास्ततगर्जितोर्ज्जाः ।
तत्रोन्नतेर्निगमयन्ति शरावलीभिर्वृष्टिं द्विषकटकयद् भटकण्ठसीम्नि ।। ५.४४
सैन्यद्वयेऽपि वहुधा वहुधावदश्च सक्रोधयोधयदुदीरितपांशुपूरैः ।
आच्छादिते दिनकरे न करेणवोऽपि दृग्गोचरं चरचरेति चरन्ति किं नु ।। ५.४७
एवंविधे युधि विरोधिशिरोधिहारो मारोऽपि सन्नवधिरेव धनुर्धरेषु ।
ब्रह्मायुधादवधि येन तत. प्रसिद्धस्तेनैव स त्रिभुवने स्मरसूदनेति ।। ५.४९

काव्य मे एक-दो स्थलों पर शृंगार के आलम्बन पक्ष का भी चित्रण हुआ है। कुमार को देखने को उत्सुक पुरसुन्दरियो के चित्रण तथा काम के प्रयाण के प्रसग में शृंगार का यह पक्ष दृष्टिगत होता है।

परा कटिन्यस्तकरा सरागमालोकयन्ती स्वकटाक्षलक्ष्यम् ।
चक्रे प्रचक्रे किमु काम-नाम-गुरोः पुरो धन्वकलाविलासम् ।। ४.२६

काव्यनायक तथा जावड के इतिवृत्त ओर विपयान्तरो मे कवि इतना लीन है कि काव्य के मर्म, रस की ओर उसका ध्यान नही गया है। द्वितीय सर्ग के लुप्त अंश मे कुमार के शैशव के चित्रण के अन्तर्गत वात्सल्यरस की अभिव्यक्ति हुई होगी, इस श्रेणी के अन्य काव्यो के शिल्प को देखते हुए यह कल्पना करना कठिन नही है।

प्रकृतिचित्रण

सुमतिसम्भव के ऐतिहासिक इतिवृत्त मे प्राकृतिक दृश्यो तथा उपकरणो का तत्परता से चित्रण किया गया है। यह, एक ओर, काव्यशैली के प्रति कवि की प्रतिबद्धता का प्रतीक है, जिसके अन्तर्गत महाकाव्य मे रोचकता तथा वैविध्य के लिये प्रकृति-चित्रण को अनिवार्य माना गया है, दूसरी ओर, उसके प्रकृति-प्रेम को व्यक्त करती है। काव्य के आठ मे से चार सर्गो मे, किसी न किसी प्रकार प्रकृति-वर्णन का प्रसग है। प्रथम सर्ग मे पर्वतमाला, तृतीय मे सन्ध्या, चतुर्थ मे चन्द्रोदय तथा सूर्योदय और पाँचवे सर्ग मे वसन्त का हृदयग्राही कवित्वपूर्ण वर्णन है। सर्व-विजय का प्रकृतिवर्णन परम्परागत रूढ कोटि का है। इस दृष्टि से उसमे नवीनता का अभाव है। सर्वविजय ने शैली की नवीनता की कमी को अपनी काव्य-प्रतिभा से

पूरा करने का प्रयास किया है। विविध अलंकारों तथा कल्पनाओ के द्वारा प्रकृति का सश्लिष्ट चित्र अकित करने मे वह सिद्धहस्त है। प्रकृति का अलंकृत चित्रण उस युग की बद्धमूल प्रवृत्ति थी जिसकी उपेक्षा करना प्रतिभाशाली कवियों के लिये भी सम्भव नही था। सर्वविजय के प्रकृति-चित्रण की विशेषता यह है कि वह प्रौढोक्तिमय होता हुआ भी उसकी कल्पनाशीलता के कारण बराबर रोचकता से परिपूर्ण है।

मेवाड़ की पर्वतमाला, चन्द्रोदय आदि के चित्रण मे प्रौढोक्ति की ओर कवि का आग्रह रहा है। पर्वत की गुफाओ मे स्थित किन्नरियो के गान की मधुर तान पर मुग्ध होकर चन्द्रमा का मृग आत्मविभोर हो जाता है जिससे चन्द्रमा को चलने में विलम्ब हो जाता है। मेवाड़ की पर्वत-शृंखला पर रात भर चाँदनी छाई रहने का कारण सर्वविजय ने ढूँढ लिया है। पर्वतो के स्फटिक-पाषाणो की किरणो से चन्द्र-मण्डल के आच्छादित हो जाने के कारण राहु उसे नही पहचान सकता। उसके भय से मुक्त होकर चन्द्रमा वहाँ आनन्द मनाता रहता है, यद्यपि पर्वत-वासिनी विद्याधरियो के मुख के सौन्दर्य से पराजित होकर उसे लज्जित होना पड़ता है। सूर्य की किरणे प्रात काल पर्वतो के अधोभाग पर क्यो पड़ती है? कवि की कल्पना है कि उनकी गगनचुम्बी चोटियों मे अपने घोडो के अटकने की आशंका से सूर्य अपने करों (किरणो-हाथो) से उनका चरणस्पर्श करके उन्हें विघ्नमुक्त करने के लिये मनाता है! गुफाओं मे स्थित सर्पो, तलहटियों मे ध्यानमग्न योगियो तथा अधित्यका पर वर्तमान देवताओं के कारण वह पर्वतमाला तीनों लोकों का सामूहिक प्रतिनिधित्व करती है।

यद्गुहागहनगर्भसंचरकिन्नरीकलितकाकलीरवैः ।
व्यग्रिते सति मृगे निजांकगे शंकितः किल विलम्बितो विधुः ॥ १.३६
स्फाटिकाश्मकिरणैं करम्बितो राहुणा दुरवबोधविम्बभृत् ।
व्यन्तरीवदनलज्जितोऽप्यसौ यत्र तु तुष्यति तुषारदीधितिः ॥ १.४०
यस्य सानुचयवृद्धिमुच्चकैर्भाविनीं ननु विभाव्य भाविभुः ।
वाजिनामनृजुशंकया करस्पृष्टपाद इव सांत्वनेऽभवत् ॥ १.४३
भोगिभिस्तलगुहाभिर्योगिभिर्मेखलावलय·······लिभिर्नरैः ।
निर्जरैरुपरिभूमिगत्वरैः यस्त्रिलोकविषयो विलोक्यते ॥ १.४८

चन्द्रोदय का कवित्वपूर्ण वर्णन भी बहुधा प्रौढोक्ति पर आधारित है। चन्द्रमा के उदित होने से सूर्य क्यो छिप जाता है? कवि ने प्रजापति दक्ष तथा उनके जामाता (शकर) द्वारा यज्ञध्वंस के पौराणिक रूपक से इसका स्पष्टीकरण किया है। सूर्य दक्ष है, चन्द्रमा उसका जामाता। सूर्य (दक्ष) अपने जामाता (चन्द्रमा) का मृग देखकर, ध्वस से बचने के लिये, भाग जाता है। कवि को सूर्य के अस्त होने का निश्चित कारण मिल गया है! उधर उसे विश्वास है कि ओषधपति चन्द्रमा नित्यप्रति

किसी दिव्य औषधि का सेवन करता है। इसीलिये यद्यपि चकोर उसका सतत पान करते रहते है तथापि उसका क्षय नही होता।

प्रव्राजयिष्यन्निव दक्षमुख्यं तं दक्षजाया दयितो हितैषी।
अदर्शयत्तस्य न कृष्णसारं चरन्तमन्तस्तृणवत्तमांसि ॥ ४.२
दिव्योषधीं काममपि सौषधीनामधीश्वरः किं बिभरांचकार।
न चकोरकैर्यन्निजनेत्रपत्रपेपीयमानोऽपि न याति हानिम् ॥ ४.७

अलंकृत चित्रण के आवरण के नीचे सुमतिसम्भव मे यदा-कदा प्रकृति के आलम्बनपक्ष का चित्रण भी दिखाई देता है। केवल चतुर्थ सर्ग मे, सूर्योदय के वर्णन मे, यह प्रवृत्ति मिलती है। कवि ने यद्यपि यहाँ भी अलकारों का सहारा लिया है किन्तु इसे प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण माना जा सकता है।

पूर्वाचलोच्चैस्तरचूलिकायां व्यभाद्विभानां निलयः स भानुः।
पोस्फूर्यते वासरसिन्धुरस्य सिंदूरपूरः शिरसीव दीव्यन् ॥४·१३
निर्वास्यदंतर्विरहानलोग्रां धूमाग्रधारामिव निस्सरन्तीम्।
सेवालमालां कलयन् किलास्ये समाजगामागनया रथांगः ॥ ४.१५

सर्वविजय ने प्रकृति को मानवी रूप भी दिया है। सुमतिसम्भव की प्रकृति कई स्थानो पर मानव की तरह विविध भावनाओ तथा चेष्टाओ से स्पन्दित है। वाल्मीकि से आरम्भ होकर प्रकृति का मानवीकरण कालान्तर मे एक रूढि बन गया जिसका पालन करते हुए उत्तरवर्ती कवियो ने इसे काव्य-परम्परा का रूप दे दिया है। सुमनिसम्भव मे काम के दूत वसन्त के प्रयाण के समय लताएँ, पौरांगनाओं की भाँति, पुष्पो के अक्षत वरसा कर तथा भ्रमर-गुजन के मागलिक गीत गाकर उसका अभिनन्दन करती है। वनदेवियाँ चम्पक के दीपो से उसकी आरती उतारती है। वनपक्ति किसलय रूपी हाथ हिला कर, नटी के समान, उसके सामने नृत्य करती है। इस अपूर्व स्वागत से गर्वित हुआ वसन्त आम्रमञ्जरी के बाण का संधान करके युद्ध के लिये तैयार हो जाता है।

अनुवनभवनं ताः किल लताः पौरकान्ताः पतदसमसुमैश्चावाकिरन्नक्षतैस्तम्।
भ्रमरविरवणैस्तद्गानमानन्दवात्या विदधाति दलदीव्यन्नीलचेलावृताश्च ॥
निरुपमतमसंपच्चम्पकैर्दीपकैः किं विरलतरविसर्प्पत्षट्पदस्तोमधूमैः।
ज्वलति पथिकचित्तैः किंशुकोद्यत्कृशानौ तमनु च वनदेव्यो मंजु नीराजयन्ति ॥
प्रतिपदमनिलेनांदोल्यमाना वनाली प्रकटयति नटीवन्नाटकं पुरस्तात्।
किशलकरतलाग्रं चालयन्ती समंतात् समसमयसमुद्यद्भृंगवारांगहारैः ॥
इति नवनवनसेनासंगमैर्जातरंगः परभृतशतवन्दिस्तूयमानोऽभिमानी।
मधुरयमरुधत्तं योद्धुमुद्धूतचूतांकुरनिकरमतुल्यं शल्यमुल्लालयंश्च ॥ ५.२८-३१

चाण्डाल के सम्पर्क से अपवित्र हुआ व्यक्ति जिस प्रकार अपवित्रता को दूर

करने के लिये तुरन्त स्नान करता है, वैसे ही दिशाओं के मातंगों (हाथियो-चाण्डालों) को अपने हाथ से छूने वाले सूर्य के सम्पर्क से तारे अपवित्र हो गये हैं। उस पाप को धोने के लिए वे अमृतसागर (सुधांशु) में स्नान कर रहे है।

दिक्तुंगमातंगलगत्करात्''''''मालिन्यमुपार्जि सूर्यात्।
तरापघस्तद्व्ययनाय नार्यं सायं मुधा स्नानमधत्सुधांशौ ॥४.३

सौन्दर्य-वर्णन

सर्वविजय की सौन्दर्यान्वेषी दृष्टि मानव के नश्वर शारीरिक सौन्दर्य से विमुख नही है। कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग के पार्वती के लावण्य के हृदयहारी वर्णन ने परवर्ती कवियों के हाथ मे पड कर एक रूढि का रूप धारण कर लिया है। उत्तरवर्ती कवियो के सौन्दर्य-चित्रण मे अलकृति तथा विच्छित्ति की प्रवृत्ति अधिक है। कालिदास की मार्मिकता तथा ताजगी का उसमें अभाव है। सर्वविजय ने भी अपने काव्य मे मानव-सौन्दर्य का चित्रण करके इस रूढि का पालन किया है। सुमतिसम्भव में नारी-सौन्दर्य का चित्रण श्रेष्ठी सुदर्शन की रूपसी पत्नी संपूरदेवी के वर्णन मे दृष्टिगत होता है। दुर्भाग्यवश सम्बन्धित सर्ग इस वर्णन के बीच ही समाप्त हो गया है। प्राप्त अंश से स्पष्ट है कि कवि को नखशिखविधि से इभ्यपत्नी के विभिन्न अवयवो का वर्णन करना अभीष्ट था। संपूरदेवी के सौन्दर्य की व्यंजना करने के लिये कवि ने यद्यपि बहुधा परम्परागत उपमान ग्रहण किये है किंतु उसका सौन्दर्यचित्रण सजीवता से रहित नही है।

संपूरदेवी की वेणी अप्रतिहत योद्धा काम की तलवार है, जिसकी तीक्ष्णता तीनो लोको को जीतने से और बढ़ गयी है। उसके माथे पर तिलक, सैन्यभूमि मे भाग्य-तुरंग के पगचिह्न के समान प्रतीत होता है। उसकी भौंह को देखकर गर्वीला काम अपने धनुष पर डोरी नही चढाता। दन्तावली मे मानो लक्ष्मी का माणिक्य-कोष छिपा हो। और कटाक्षावली विश्वविजेता पुष्पायुध के स्वागतार्थ बांधी गयी मांगलिक वन्दनवार-सी प्रतीत होती है।

यद्वेणिदम्भात्किमयं कृपाणः सप्राणपुष्पायुधयोधपाणेः।
जगत्त्रयनिर्जयनात्ततेजाः सूक्तं (?) द्विधाराजितकेशवेशः ॥२.३६
विभाति यद्भालतलछलायां खलूरकायां तिलकालिकूटात्।
परिस्फुरद्भाग्यतुरंगमस्य पदालिरेषा खुरलीकृतः किमु ॥ २.३७
नाकी जितः सोऽपि मया पिनाकी सज्जं धनुः किं नु मुधा दधामि।
इतीव यद्भ्रूनिभतः स्मरोऽस्त्रं गर्वी स मौर्वीरहितं वितेने ॥ २.३८
दन्तावली दाडिमबीजदीप्तिर्देदीप्ति नित्या वदने यदीया।
माणिक्यकोशः किमगोपि कोऽपि पद्मे निजे सद्मनि पद्मयेह ॥ २.४०

कटाक्षलक्षां क्षणमायताक्षी चिक्षेप लक्ष्यं प्रति या वलक्षाम् ।
मेने सुमेषुस्त्रिजगज्जिगीषुस्तां मीनमालामिव मंगलार्थम् ।। २.४१

कुमार का सौन्दर्य-वर्णन पुरुष-सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ भी कवि ने परम्परागत नखशिख-प्रणाली को सौन्दर्य-चित्रण का माध्यम बनाया है, किंतु इसमे व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारो का प्रयोग अधिक तत्परता से किया गया है। इस विधि से निरूपित कुमार के सौन्दर्य के सम्मुख काम का लावण्य भी मन्द पड़ जाता है।

किमधिकं बहुभिः किल जल्पितैस्तदुपमा स्वपरैरपि कल्पितैः ।
स भुवि तादृगभूत्सुषमाधिभूर्यदणुतां वृणुतां कमनः स नः ।। ३.४४

चरित्रचित्रण

सुमतिसम्भव की कथावस्तु मे केवल तीन उल्लेखनीय पात्र है, किन्तु उनके चरित्र का भी यथेष्ट विकास नही हो सका है, यह बहुत खेद की बात है। काव्य-नायक सुमतिसाधु धनकुबेर परिवार मे जन्म लेकर तथा सुख-वैभव मे पलकर भी सासारिक बन्धनो से मुक्त है। माता-पिता के विवाह-सम्बन्धी प्रस्ताव को ठुकरा कर वे चारित्र्यलक्ष्मी का वरण करते है। उनका जीवन संयम, साधना तथा त्याग का कठोर जीवन है। वे निरन्तर धर्मोद्धार मे तत्पर है। पदप्रतिष्ठा, प्रतिमास्थापना आदि उनके धार्मिक कृत्य आर्हत मत के उन्नायक है।

माण्डू का धनी व्यापारी जावड सुमतिसाधु का श्रद्धालु भक्त है। वह आबू तथा जीरपल्ली की संघयात्रा करके सघपति की गौरवशाली उपाधि प्राप्त करता है। गुरु की प्रेरणा से वह श्रावक के द्वादश व्रत ग्रहण करता है, मूर्ति-प्रतिष्ठा करवाता है तथा उदारतापूर्वक दान देकर पुण्यार्जन करता है। उसका समूचा जीवन गुरु के बुद्धिपूर्ण मार्गदर्शन से परिचालित है।

गजराज ज्यायपुर का यशस्वी शासक है। उसका यश स्वर्गंगा के तट तक फैला हुआ है। वह धनाढ्य इभ्य है। उसकी धन-सम्पदा असीम है। ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मी अपने कष्टपूर्ण आवास (सागर) को छोडकर उसके घर मे रह रही हो ! गजराज के लिए धन की सार्थकता दान मे है। उसके त्याग के क्षीरसागर मे न वाडवाग्नि है, न कालकूट। वह जैन धर्म के उद्धार के प्रति इतना जागरूक है कि उसकी तुलना सम्प्रति आदि प्राचीन प्रभावको से की गई है।

भाषा

(अ) सुमतिसम्भव की कथावस्तु की प्रकृति ऐसी है कि उसमे विविध मन.-स्थितियो के चित्रण का अधिक अवकाश नही है। इसीलिए इसकी भाषा मे महा-काव्योचित वैविध्य नही है। काव्य मे प्राय सर्वत्र प्रसादगुणसम्पन्न प्राजल भाषा का

प्रयोग हुआ है। भाषा में भावानुकूल परिवर्तन कवि के भाषाधिकार का द्योतक है। प्रकृति-वर्णन, सौन्दर्यचित्रण आदि प्रसंगों में कवि के भाषा-कौशल का दिग्दर्शन किया गया है। सर्वविजय ने भाषा के प्रयोग में परम्परा को यथावत् ग्रहण किया है। काव्य में सर्वत्र प्रसाद की अन्तर्धारा प्रवाहित है। प्रसादगुण पर आधारित वैदर्भी रीति में माधुर्यव्यंजक वर्णों तथा समासरहित अथवा अल्पसमासयुक्त पदावली के प्रयोग का विधान है। वसन्त, शृङ्गार, पौर युवतियों के सम्भ्रम-चित्रण आदि प्रसंगों मे सरल, मृदुल, अनुप्रासमय तथा अल्पसमासयुक्त भाषा से वैदर्भी के प्रति कवि का पक्षपात स्पष्ट है। काम का दूत वसन्त मलयमारुत के मदमस्त हाथी पर बैठ कर, सम्राट् की तरह, पूरे ठाटबाट से सुमतिसाधु को विचलित करने के लिए प्रस्थान करता है।

> स किल मलयवातं मत्तमातंगनाथं प्रकटपरिमलोद्यद्भृंगमालामनाथम्।
> तमधि समधिरुह्य प्राचलत्कोकिलालिक्वणितनिभृतभेरीभाकृतिपूरिताभ्रः॥
> चलति सवलमस्मिन् विस्मितानेकलोके भयमयहृदयाः के के न चेलुस्त्रिलोक्याम्।
> तरुवनघनकंप्रैश्चोपपन्नाः कुलेन प्रतिकुलमचलास्ते प्राक् चलन्तीति शंके॥
> तरुरिह सहकारः कोकिलाकिंकिणीभिः सह वहति विनीलछत्रतामस्य मौलौ।
> प्रतिदिशमुडुपालीपांडरा पुण्डरीकावलिरलभत चंचच्चामरत्वं च तस्य॥५.१६.१८

भावानुकूल भाषा की दृष्टि से कुमार को देखने को लालायित पौर नारियों की अधीरता का चित्रण उल्लेखनीय है। यद्यपि सर्वविजय ने इसे केवल कविसमय के रूप मे, काव्य मे, स्थान दिया है और यह पूर्ववर्ती कवियो के वर्णनों से अनुप्राणित तथा प्रभावित हे तथापि कवि ने जिस पदावली के द्वारा उसे चित्रित किया है, वह पुर-सुन्दरियों की उत्सुकता, सम्भ्रम तथा अधीरता को व्यक्त करने मे पूर्णतया सक्षम है।

> उच्चार्य चाटूनि चिरं वचांसि मोमोचयेत् कुत्रचनावकाशम्।
> काचिन्मृगाक्षी स्वसखीजनेन गवाक्षगा मंक्षु निरीक्षणाय॥ ४.२५
> काचिच्च कान्ता निजनेत्रमेकं शलाकया सांजनमारचय्य।
> अनंजनेनापरलोचनेन विलोकनार्थं कुतुकादचालीत्॥ ४.२७

गर्वीले काम तथा वीतराग सुमतिसाधु के प्रतीकात्मक युद्ध के वर्णन की भाषा को सामान्यतः ओजपूर्ण कहा जा सकता है, किन्तु, वास्तव मे, वह भी प्रसाद से ओत-प्रोत है। इसका कारण यह है कि यह राज्यलोलुप राजाओं का युद्ध नही है, न इसकी परिणति नरसहार मे हुई है।

(आ) पाण्डित्य-प्रदर्शन : चित्रकाव्य

ललित तथा सुबोध भाषा सर्वविजय की सुरुचि की परिचायक है। किन्तु वह चित्रकाव्य-शैली के आकर्षण से पूर्णतः नही बच सका है। भारवि से प्रारम्भ होकर

शाब्दी-क्रीडा उत्तरवर्ती महाकाव्यो मे एक रूढ़ि के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी। जैन कवि भी इन भाषात्मक कलावाजियो मे पीछे नही रहे है। सुमतिसम्भव के छठे सर्ग मे, पट्टपरम्परा के वर्णन मे, कवि ने भाषा के उत्पीड़न के द्वारा अपना रचनाकौशल प्रदर्शित किया है। इस सर्ग मे उसने कुछ ऐसे पद्यो की रचना की है, जिनमे केवल एक, दो अथवा अवर्गीय वर्णो का ही प्रयोग हुआ है। यह भाषायी जादूगरी काव्य में चमत्कार तो उत्पन्न करती है किन्तु इससे काव्य की बोधगम्यता मे अनावश्यक बाधा आती है। टीका के बिना इस चित्रकाव्य के मर्म को समझना प्रौढ़ पण्डितों के लिए भी सम्भव नही। सुमतिसम्भव में ऐसे पद्यो की संख्या अधिक नही, यह सन्तोष की बात है। कतिपय पद्य यहाँ उद्धृत किए जाते है, जिनसे सर्वविजय के भाषाधिकार का आभास मिल सकेगा।

रत्नशेखर के पट्टधर गुरु लक्ष्मीसागर के वर्णन-प्रसग के निम्नोक्त पद्य में मुख्यत केवल एक व्यंजन 'त्' प्रयुक्त किया गया है।

तातंतं तततातांऽति ततौ नु ते ततांततम्।
अतंति ते तं तांतौ तं तोमुतं नूततेतिता ॥ ६.२७

प्रस्तुत पद्य की रचना केवल दो व्यंजनो—द् तथा र् के आधार पर हुई है। इसमे देवसुन्दरसूरि का वर्णन किया है। काव्य मे इस कोटि के तीन अन्य पद्य उपलब्ध है।

इंदिदरोऽदरोदारादर दारेंदिरोदरे।
अदाददारेदो दारे दुरोदरादिरोदरे ॥ ६.१६

लक्ष्मीसागरसूरि के चरित के सन्दर्भ मे सबसे अधिक चित्रकाव्यात्मक पद्यों की रचना की गयी है। उपर्युक्त पद्यो के अतिरिक्त, यह पद्य स्पर्श व्यंजनो से पूर्णतया रहित है।

लीलावलयवल्लास्यविलासी लावशाशये।
शशाले यस्य शालोऽसाविलशैलो रसालयः। ६ ३१

निम्नोक्त पद्य में दन्त्य व्यजनो के अतिरिक्त अन्य किसी व्यंजन का प्रयोग नही हुआ है।

अनाददानो निदानं निदानं दाननोदने।
अनेनो नंदनोऽदीनो नदीननिनदेंदवः ॥ ६.४६

अलंकारविधान

किन्तु विद्वत्ता का प्रदर्शन करना कवि को अभीष्ट नही है। उसका प्रमुख उद्देश्य जैनाचार्य के गौरवगान के द्वारा धर्म की प्रभावना करना है। इसीलिए सुमतिसम्भव अलकृति के भार से आक्रान्त नही है। काव्य में बहुत कम अलंकारो का प्रयोग हुआ है। जहाँ वे सहज भाव से आए है, वहाँ भावाभिव्यक्ति को स्पष्टता मिली

है। अनुप्रास तथा श्लेप कवि के प्रिय अलंकार है। काव्य के अधिकतर भाग में ये दोनो अलंकार स्वतंत्र अथवा अन्य अलंकारो के अवयवो के रूप में विद्यमान है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए गुरु से प्रार्थना करते हुए कुमार के वर्णन मे अनुप्रास की मधुरता है।

इत्याद्युदन्तं समुदं वदन्तमेतं समेतं स्वजनैरनेकैः।
विमायवाचापि स निश्चिकायाचिराय चारित्रधुराधुरीणम् ॥ ४.३५

सुमतिसम्भव मे यद्यपि श्लेप को पर्याप्त स्थान मिला है किन्तु उसका स्वतंत्र प्रयोग केवल चित्रकूट के वर्णन में हुआ है। प्रस्तुत पद्य मे यौवन एवं भवन तथा नूपुर एवं पुर का श्लिष्ट निरूपण किया गया है।

यौवनानि भवनानि यत्प्रजाः शोभयन्ति परमत्तवारणैः।
नूपुराणि च पुराणि चक्रिरे सर्वदारचितमोहनान्यहो ॥ १.२१

पौर ललनाओं के सम्भ्रम के चित्रण मे एक युवती, कुलीन होती हुई भी पण्यागना का-सा व्यवहार कर रही है। उसके आचरण मे विरोधाभास है।

योषा मुखान्तर्गतनागवल्लीदला चलकुण्डलकर्णदोला।
काचित्कुलीनापि कुतूहलेन पण्यांगनारंगमरं ररंग ॥ ४.३०

इस प्रसग मे कुछ सुन्दर स्वभावोक्तियाँ भी दृष्टिगत होती है। कोई स्त्री पैर पर महावर लगा रही थी। तभी उसे कुमार के आगमन की सूचना मिली। वह महावर बीच में छोडकर गवाक्ष की ओर दोड गयी। गीले यावक से गवाक्ष तक उसके पगचिह्नो की कतार बन गयी।

अन्या च धन्या पदयोः प्रदाय तदायतं यावकमार्द्रभावात्।
तद्वीक्षणाक्षिप्ततयाऽऽगवाक्षादभूषयद् भूतलमंघ्रिपातैः ॥ ४.२८

निम्नलिखित पद्य मे श्रेष्ठी गजराज के यश को आकाशगंगा के तट पर क्रीडा करते हुए चित्रित किया गया है। अतः यहाँ अतिशयोक्ति है।

यदीयदीव्यद्यशसां कलापः स्वर्वापिकासैकतकेलिलोलः।
रवैः किमैरावणमिद् करोति दानाय विद्वन्मधुपानुदास्यान् ॥ २.२८

इनके अतिरिक्त सुमतिसम्भव मे उत्प्रेक्षा, मालोपमा, अर्थान्तरन्यास, दृष्टात, यमक, यथासख्य, सन्देह आदि को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। कुछ अलंकारो का सकर भी हुआ है।

छन्दयोजना

सुमतिसम्भव मे छन्दो का विधान शास्त्र का अनुगामी है। कुल मिलाकर काव्य मे २२ छन्द प्रयुक्त किये गये है। इनमे उपजाति की प्रधानता है।

प्रथम सर्ग का मुख्य छन्द रथोद्धता है। प्रारम्भ के दो तथा अन्तिम दो पद्य क्रमश शार्दूलविक्रीडित, पृथ्वी, पुष्पिताग्रा तथा आर्या मे है। द्वितीय सर्ग का उपलब्ध

सारा भाग उपजाति में लिखा गया है। तृतीय सर्ग के प्राप्त अंश में द्रुतविलम्बित की प्रधानता है। अन्त में उपजाति, पुष्पिताग्रा, औपच्छन्दसिक, मन्दाक्रान्ता तथा आर्या छन्द प्रयुक्त हुए है। चतुर्थ सर्ग की रचना उपजाति मे हुई है। सर्गान्त के पद्य शार्दूल-विक्रीडित तथा आर्या मे है। पांचवे, छठे तथा सातवें सर्ग मे क्रमशः मालिनी, अनुष्टुप् तथा वियोगिनी को रचना का आधार बनाया गया है। छठे सर्ग का प्रथम पद्य गीति मे है। सर्गान्त मे रामगिरी राग, अनुष्टुप् तथा आर्या का प्रयोग किया गया है। सप्तम सर्ग के अन्तिम तीन पद्य क्रमशः द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीडित तथा आर्या मे निबद्ध है। अष्टम सर्ग के प्राप्त भाग मे जो छन्द प्रयुक्त हुए हैं, वे इस प्रकार हैं— द्रुतविलम्बित, उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका, स्रग्विणी, भुजगप्रयात, रथोद्धता, वंशस्थ, इन्द्रवशा, मालिनी, पृथ्वी तथा आर्या। इस सर्ग में दो पद्य इस प्रकार खण्डित है कि उनका छन्द ज्ञात करना कठिन है।

सुमतिसम्भव में ऐतिहासिक वृत्त

पहिले कहा गया है कि सुमतिसम्भव सघपति जावड के इतिहास का प्रामाणिक स्रोत है। सर्वविजयगणि जावड़ और उसके परिवार का विश्वसनीय इतिहासकार है। काव्य मे उसने संघपति के वंश, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा धार्मिक गतिविधियो का यथातथ्य चित्र अकित किया है।

सुमतिसम्भव के लेखक ने अपना विवरण जावड के पितामह गोल्ह से प्रारम्भ किया है। जावड का पिता राजमल्ल लक्ष्मी का साक्षात् कोश था[६]। कवि के अन्य काव्य आनन्दसुन्दर मे जावड के परिवार की पूरी वशावली दी गयी है। उसकी यहाँ आवृत्ति करना कवि ने आवश्यक नही समझा। सुमतिसम्भव जावड के पूर्वजो की सामाजिक तथा राजनीतिक उपलब्धियो के विषय मे मौन है, किन्तु अन्य स्रोतो से ज्ञात होता है कि हापराज को छोडकर उसके सभी पूर्वज सघपति थे। जावड के तीन पूर्वज तो मालव के शासको के दरबार मे प्रतिष्ठित पदो पर आसीन थे[७]। इन्ही स्रोतो से पता चलता है कि जावड़ को भी राजदरबार मे सम्मानित पद प्राप्त था। सुलतान ग्यासुद्दीन ने उसे 'उत्तम व्यवहारी' की उपाधि से विभूषित तथा कोषाध्यक्ष नियुक्त किया था[८]। सुमतिसम्भव मे उसके लिए प्रयुक्त 'लघुशालिभद्र[९]' विरुद उसकी असीम समृद्धि को व्यक्त करता है।

जावड़ ने, विशाल संघ के साथ, आबू तथा जीरपल्ली की यात्रा की थी।

६. निधानवच्छ्रियाम्। सुमतिसम्भव, ७.१६

७. आनन्दसुन्दर, पृ० ७,९,११

८. व्यवहारिशिरोरत्नानुकारि तथा गंजाधिकारी। आनन्दसुन्दर की पुष्पिका

९. सुमतिसम्भव, ७.२१

सुमतिसम्भव के अनुसार इस संघ-यात्रा पर उसने अनन्त धन व्यय किया था[१०]। इस यात्रा के फलस्वरूप ही उसे सघनायक की गौरवसूचक उपाधि प्राप्त हुई थी[११]। सेठ जावड ने कोई और तीर्थयात्रा की थी अथवा नहीं, यह उसके इतिहास के किसी आधारग्रंथ से ज्ञात नहीं होता।

अपने पिता की भाँति जावड़ ने भी अपने गुरु, सुमतिसाधुसूरि को गुजरात से माण्डू मे निमन्त्रित किया तथा एक भव्य आयोजन के द्वारा उनका अभिनदन किया था। इस अवसर पर किस प्रकार सजे हुए हाथियो तथा घोड़ो का जलूस निकाला गया, किस प्रकार वादको ने विविध वाद्य बजा कर गुरु का स्वागत किया, किस प्रकार समाज के सभी वर्ग—हिन्दू, मुसलमान आदि—उनके आगमन से हर्षित हुए तथा सेठ ने किस उदारता से याचको मे बहुमूल्य परिधान तथा अन्य बेशकीमती वस्तुएँ वितरित की, इसका रोचक वर्णन सुमतिसम्भव मे विस्तारपूर्वक किया गया है[१२]।

गुरु के सान्निध्य तथा देशना से जावड को सर्वप्रथम जो कार्य करने की प्रेरणा मिली, वह था श्रावक के बारह व्रतों का ग्रहण करना। इनमे से प्रथम पांच 'अणुव्रत' के नाम से ख्यात हैं। 'गुणव्रत' नामक द्वितीय व्रत-समुदाय के अन्तर्गत छठा, सातवाँ तथा आठवाँ व्रत आता है। अन्तिम चार व्रत 'शिक्षाव्रत' कहलाते हैं। जावड ने इन सभी व्रतो का निष्ठापूर्वक पालन किया। किन्तु कुछ व्रतो का पालन करने की उसकी विधि बहुत विचित्र थी। उदाहरणार्थ चतुर्थ व्रत, ब्रह्मचर्य के अंतर्गत उसने दाम्पत्य निष्ठा को निभाते हुए बत्तीस स्त्रियाँ रखने का अपना अधिकार सुरक्षित रखा[१३]। निस्सन्देह यह उसने पूर्वोक्त शालिभद्र के अनुकरण पर किया। जावड़ की वस्तुत. चार धर्मपत्नियाँ थीं[१४]। प्राचीन राजपूती परम्परा के अनुरूप, जो कुछ पीढियों पूर्व तक राजपूत-मूलक जैन परिवारो मे भी प्रचलित थी, अन्य स्त्रियाँ उसकी रखैलें रही होंगी।

अपरिग्रह नामक पचम व्रत मे, जिसके अनुसार निजी सम्पत्ति को सीमित करना होता है, जावड़ ने निम्नोक्त क्रम मे, इन वस्तुओं को अपने अधिकार मे रखा—१००,००० मन अनाज, १००,००० मन तेल तथा घी, १००० हल, २००० बैल, १० भवन तथा मण्डियाँ, ४ मन चाँदी, १ मन सोना, ४ मन मोती, ३०० मन मणियाँ, १० मन साधारण धातुएँ (तांबा, पीतल आदि), २० मन प्रवाल, १००,००० मन गुड, २०० मन अफीम, २००० गधे, १०० गाड़ियाँ, १५०० घोड़े,

१०. वही, ७.२४
११. वही, ७.६९
१२. वही, ७.२६-३३
१३. वही, ७ ३९
१४. आनन्दसुन्दर, पृ० १७

५० हाथी, १०० ऊँट, ५० खच्चर, २,०००,००० टंक"[15]। इन अको से प्राचीन माण्डू के 'व्यवहारिशिरोरत्न' की समृद्धि का अन्दाज किया जा सकता है।

सातवे व्रत के अनुसार, जो दैनिक खपत तथा प्रयोग की वस्तुओं की सख्या और परिमाण को सीमित करता है, उसने प्रतिदिन अधिकाधिक इन वस्तुओ का प्रयोग करने का प्रण किया—चार सेर घी, पाच सेर अनाज, पेय जल के पाच सौ घडे, सौ प्रकार की सब्जियाँ, सख्या मे पाच सौ तथा तौल मे एक मन फल, चार सेर सुपारी, २०० पान, एक लाख मूल्य के आभूषण, सौ टक कीमत के प्रसाधन, एक मन फूल, स्नानीय जल के आठ कलश, परिधान के सात जोडे तथा इसी प्रकार सीमित अन्य वस्तुएँ, जिनकी सूची बहुत लम्बी है[16]।

अपनी धर्मनिष्ठा के अनुरूप जावड ने सम्वत् १५४७ में, माण्डू मे जिन-प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा कराई। इनका अभिषेक उसके गुरु, आचार्य सुमतिसाधु ने किया था। वे प्रतिमाएँ सख्या मे १०४ थी—अतीत के २४ तीर्थंकरो की एक-एक, भविष्य के २४ तीर्थंकरों की एक-एक, वर्तमान २४ तीर्थकरो की एक-एक, २० विहरमाण तीर्थकरो की एक-एक, उक्त प्रति २४ तीर्थकरो के तीन सामूहिक मूर्तिपट्ट, बीस विहरमाण तीर्थंकरो का एक सामूहिक मूर्तिपट्ट तथा ६ पचतीर्थियाँ। २३ सेर की एक चाँदी की मूर्ति तथा ११ सेर की एक स्वर्ण-प्रतिमा को छोडकर शेप सभी मूर्तियाँ पीतल की बनी हुई थी। उन्हे मणि-खचित छत्रो तथा बहुमूल्य आभूपणो से सजाया गया था। मूर्ति-स्थापना के उपलक्ष्य मे आयोजित उत्सवो, जावड द्वारा दिये गये उपहारो तथा भारत के कोने-कोने से आए हुए सघों का भी सूक्ष्म वर्णन काव्य मे किया गया है[17]।

इससे महेभ्य जावड की सम्पन्नता, उदारता, संयम, सामाजिक सम्मान तथा धर्मपरायणता की कल्पना सहज ही की जा सकती है[18]।

अपनी परिसीमाओ मे सुमतिसम्भव अच्छा काव्य है। इस श्रेणी के काव्यों मे किसी व्यापक जीवन-दर्शन अथवा उदात्त कवित्व की आशा नही की जा सकती। फिर भी, सर्वविजय साहित्य को ऐसा काव्य देने मे समर्थ हुआ है, जो कवित्व की दृष्टि से उपेक्षणीय नही है। जावड के इतिहास की तो यह अमूल्य निधि है।

१५. सुमतिसम्भव ७.४०-४६
१६. वही, ७.४६-५७
१७. वही, ८.३-२४
१८. जावड़ का इतिहास प्रस्तुत करने में हमें 'मध्यप्रदेश इतिहास-परिषद्' की पत्रिका, अंक ४, १९६२, पृ० १३१-१४४ में प्रकाशित डॉ० काउझे के उत्तम निबन्ध 'जावड़ ऑफ माण्डू' से पर्याप्त सहायता मिली है। इसके लिए हम उनके आभारी है।

रूप से नायक-पद के अधिकारी है। महाकाव्य मे एकाधिक नायको के अस्तित्व की परम्परा वहुत प्राचीन है। निस्स्पृह धर्माचार्य के सर्वत्यागी जीवन से ओतप्रोत काव्य मे शान्तरस की प्रधानता स्वाभाविक है। रौद्र, वात्सल्य, करुण आदि रसो का भी विजयप्रशस्ति मे यथास्थान चित्रण हुआ है, जो अंगी रस से मिलकर काव्य मे रसवत्ता की यथेष्ट सृष्टि करते है। विजयसेन के तपागच्छ के महान् प्रभावकों मे प्रतिष्ठित होने के कारण विजयप्रशस्ति के कथानक को 'प्रख्यात' मानना न्यायोचित है। इसकी रचना का मूलाधार धर्म-प्राप्ति का उदात्त उद्देश्य है। कवि के शब्दो मे 'धर्म भवसागर का पान करने वाला अगस्त्य है'[3]। धन-वैभव की अनित्यता तथा निस्सारता को रेखांकित करके समाज को धर्म मे प्रवृत्त करना काव्य का लक्ष्य है। विजयप्रशस्ति मे महाकाव्य के अन्य तात्त्विक लक्षणो का नितान्त अभाव है। इतिवृत्त मे लालित्य तथा माधुर्य का सचार करने वाले प्रकृति तथा वस्तुव्यापार के रोचक वर्णनो के लिए काव्य मे अवकाश नही है। चरित्र-विश्लेषण से भी कवि पूर्णतया उदासीन है। सारा काव्य प्रव्रज्या-ग्रहण, विहार, प्रवेशोत्सव आदि के वर्णनो से परिपूर्ण है, जो कही-कही कवित्वपूर्ण होते हुए भी वहुधा नीरस है। किन्तु विजयप्रशस्ति को सामान्यत: महाकाव्य मानने मे आपत्ति नही हो सकती।

रचनाकाल

विजयप्रशस्ति मे प्रान्तप्रशस्ति का अभाव है, अत इसका निश्चित रचनाकाल ज्ञात नही है। गुणविजय ने टीकाप्रशस्ति मे इसका कुछ सकेत किया है। टीका-प्रशस्ति के अनुसार विजयप्रशस्ति हेमविजय के साहित्यिक प्रासाद का स्वर्ण-कलश है[4]। इसका सीधा अर्थ है कि यह कवि की अन्तिम रचना है, जो उसकी मृत्यु के कारण अधूरी रह गयी थी। गुणविजय ने अन्तिम पाच सर्ग जोड़ कर इसे पूरा करने की चेष्टा की है। उसने इस पर 'विजयप्रदीपिका' टीका भी लिखी, जिसकी पूर्ति स्वयं उसके कथनानुसार, सम्वत् १६८८ मे हुई थी।

विजयप्रशस्तिकाव्यप्रकाशिका विजयदीपिका टीका।
विदधे विक्रमनृपतेर्वर्षे वसुवसुनृपप्रमिते ॥५॥

हेमविजय का पार्श्वनाथचरित सम्वत् १६३२ की रचना है। ऋषभशतक की पूर्ति सं० १६५६ मे हुई। कथारत्नाकर सम्वत् १६५७ में लिखा गया। विजयप्रशस्ति के हेमविजय द्वारा रचित सोलह सर्गो मे सम्वत् १६५५ तक की घटनाएँ वर्णित है। प्रतीत होता है कि ऋषभशतक, कथारत्नाकर, विजयप्रशस्ति आदि कई

३. संसारनीराकरकुम्भजन्मा धर्मस्तथाभ्यां वहुमन्यते स्म। विजयप्रशस्ति, ११.२९
४. इत्यादिग्रन्थविधौ सौधे कलशाधिरोपणसवर्णम्।
विजयप्रशस्तिकाव्यं तेन कृतं विजयसेनगुरो:॥ टीकाप्रशस्ति, ५५

ग्रन्थों का प्रणयन एक साथ चल रहा था। ऋषभशतक तथा कथारत्नाकर तो पूरे हो गये, विजयप्रशस्ति कवि के निधन के कारण अधूरी रह गयी। अतः हेमविजय का मूल काव्य निश्चित रूप से १६५५ सं० के वाद की रचना है। सतरहवें सर्ग का आरम्भ सम्वत् १६५६ मे विद्याविजय को पट्टधर प्रतिष्ठित करने के प्रसंग से होता है। अन्तिम पाच सर्ग स्पष्टतः सम्वत् १६५६ के पश्चात् लिखे गये होंगे। समूचे काव्य को सम्वत् १६५५ तथा १६८८ (टीका का रचना काल) अर्थात् सन् १५९८ तथा १६३१ ई० की मध्यवर्ती रचना मानना युक्तिपूर्ण होगा।

कथानक

काव्य का प्रारम्भ मेवाड की प्रसिद्ध नगरी नारदपुरी (नड्डुलाई) तथा वहाँ के धनवान् व्यापारी कमा तथा उसकी रूपसी पत्नी कोडिमदेवी के वर्णन से होता है। द्वितीय सर्ग मे उक्त दम्पती के पुत्र काव्यनायक का जन्म, शैशव तथा विद्याध्ययन वर्णित है। तृतीय सर्ग में पूर्वाचार्यो, विशेपतः विजयदानसूरि तक तपागच्छ के आचार्यो की परम्परा का निरूपण किया गया है। चतुर्थ सर्ग मे विजयदानसूरि के भावी पट्टधर हीरविजय के जन्म, प्रव्रज्या तथा क्रमशः पण्डित, उपाध्याय एवं आचार्य पद प्राप्त करने का वर्णन है। हीरहर्ष (हीरविजय) को, मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी, सम्वत् १६१० को सिरोही में आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया गया। पाचवे सर्ग मे जयसिंह, सूरत मे, अपनी माता के साथ विजयदानसूरि से तापस-व्रत ग्रहण करता है। यहीं कुमार जयसिंह को देखने को लालायित पुरसुन्दरियो के सम्भ्रम का रोचक चित्रण किया गया है। छठे सर्ग में विजयदान, जयविमल (जयसिंह का दीक्षोत्तर नाम) की शिक्षा तथा अनुशासन का दायित्व हीरविजय को सौंपते है। विजयदान के निर्वाण (सम्वत् १६२१) के पश्चात् हीरविजय गच्छ के सूत्रधार बनते हैं। शासनदेव के आदेश से वे जयविमल को क्रमश. उपाध्याय तथा आचार्य पद प्रदान करते है। इसके बाद जयविमल विजयसेन नाम से ख्यात हुए। आठवें सर्ग में हीरविजय, अहमदाबाद मे, पौष कृष्णा दशमी, सम्वत् १६३० को अपने पट्टधर विजयसेन का वन्दनोत्सव सम्पन्न करते है। चतुर्मास के लिये हीरविजय गन्धार प्रस्थान करते है, विजयसेन पाटन की ओर। नवे सर्ग में मुगल सम्राट् अकबर के निमन्त्रण पर हीरविजय, सम्वत् १६३९ की ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी को, गन्धार से फतेहपुरी पहुँचते है। अकबर ने परमात्मा के स्वरूप के विषय में हीरसूरि के साथ दो बार गम्भीर विमर्श किया तथा आचार्य की प्रेरणा से वर्ष मे बारह दिन के लिये राज्य में जीवहत्या वर्जित कर दी। दसवें सर्ग में विजयसेन, पाटन मे, खरतरगच्छीय श्रीसागर को चौदह-दिवसीय विवाद में परास्त करते हैं। ईडरवासी महेभ्य स्थिर का पुत्र, वासकुमार, अपनी माता के साथ अहमदाबाद मे, सम्वत्

१६४३, माघ शुक्ला दशमी को विजयसेन से तापसव्रत ग्रहण करता है। ग्यारहवें सर्ग में अकबर के अनुरोध से हीरविजय विजयसेन को, सम्राट् को प्रतिबोध देने के लिये लाहौर भेजते है। अकबर शत्रुंजय-यात्रा को करमुक्त कर देता है और उसका अधिकार हीरसूरि को प्रदान करता है। बारहवे सर्ग मे विजयसेन लाहौर पहुँचकर जैनधर्मविषयक परमात्मा के स्वरूप के बारे मे सम्राट् का सन्देह दूर करते है तथा भानुचन्द्र का नन्दि-उत्सव सम्पन्न करते है जिस पर अकबर के प्रधानमन्त्री अबुल-फजल ने मुक्तहस्त से व्यय किया। तेरहवें तथा चौदहवें सर्ग मे क्रमश उन्नतपुर (ऊना) मे हीरविजय की रुग्णता तथा निधन (स० १६५३, भाद्रपद शुक्ला एकादशी) का वर्णन है। शोकाकुल विजयसेन गच्छ का आधिपत्य ग्रहण करते है। अगले दो सर्गो मे विजयसेन अहमदाबाद तथा सिकन्दरपुर मे जिनप्रतिमाओ की स्थापना करते है और विद्याविजय (वासकुमार) को पण्डित-पद पर प्रतिष्ठित करते है। गुणविजयकृत अन्तिम पाच सर्गो मे विजयसेन द्वारा विद्याविजय को पट्टधर अभिषिक्त करना, प्रतिमा, प्रतिष्ठा, फिरगियो के समक्ष आर्हत धर्म का तत्त्व-विवेचन करना आदि घटनाएँ वर्णित है। अपने शासनकाल मे आचार्य विजयसेन ने आठ शिष्यो को उपाध्यायपद प्रदान किया तथा सैकडो को पण्डित-पद पर प्रतिष्ठित किया, जो विभिन्न विषयों के दिग्गज विद्वान् हुए।

विजयप्रशस्ति मे इस प्रकार हीरविजय तथा उनके पट्टधर विजयसेन का धार्मिक चरित निबद्ध है। मूल रचना (१६ सर्ग) मे आचार्य हीरसूरि का व्यक्तित्व प्रमुख है। इस भाग मे विजयसेन के जीवन की कुछ ही घटनाओ की चर्चा हुई है। अन्तिम पाच सर्ग विजयसेनसूरि के इतिवृत्त को आगे बढाते हैं।

रसयोजना

विजयप्रशस्ति इतिवृत्तप्रधान काव्य है। इसके कथानक की प्रकृति तथा वातावरण के अनुरूप इसमे महाकाव्यसुलभ तीव्र रसवत्ता का अभाव है। यह इसकी बहुत बडी त्रुटि है। शान्तरस के प्रति कवि के पक्षपात के कारण इसे काव्य का अंगी रस माना जा सकता है। शान्तरस की अभिव्यक्ति के काव्य मे अनेक स्थल है। विविध पात्रो के प्रव्रज्या ग्रहण करने तथा धर्मोपदेशो आदि के अन्तर्गत काव्य में शान्तरस की व्यजना हुई है। कवि के साहित्यशास्त्र मे शान्तरस रसराज के पद पर आसीन है (श्रीशान्तो रसाधिप.-१२.१५३)। सवेगोत्पत्ति के पश्चात् कुमार जयसिंह को संसार असार, नारी मोक्षमार्ग की अर्गला तथा गृहस्थता मदिरा के समान भ्रम-जनक प्रतीत होती है। उसे सयम मे ही सच्चा सुख दिखाई देता है। उसकी यह शमवृत्ति शान्तरस मे परिणत हुई है।

अपि शिवाध्वनि निबद्धधियां नृणामघनिदानमभाणि जिनेन या।
मम तदम्ब ! गृहस्थतया तया किमधुना मधुना महतामिव ॥ ५.१०

न विरसासु मरुष्विव हस्तिनां भवति यासु रतिः सुखकृद् नृणाम् ।
बुधजनैः पथिकाः पथि पाप्मनः सुनयना नयनाशकृतः स्मृताः ।। ५.११

विजयप्रशस्ति मे रौद्र, वात्सल्य तथा करुण अंगी रस के पोषक हैं, यद्यपि रौद्र की शान्तरस से स्पष्ट विसगति है। हेमविजय ने रौद्ररस को पल्लवित करने की चेष्ट भी नही की है। स्वप्नदृष्ट सिंह वन्य हाथियो को डराने के लिये दहाड़ छोड़ता हुआ, आँखो से आग बरसाता हुआ और जीभ लपलपाता हुआ साक्षात् रौद्र रस प्रतीत होता है।

स्तम्बेरमत्रासनिदाननादक्षुब्धाखिलक्षोणितलं सहेलम् ।
सोद्द्योतविद्युद्द्युतिजित्वराक्षिद्वयीकमद्वैततरोवरोरुम् ।। २.२
गुंजातुले तालुनि पद्मपत्रमित्रं रसज्ञांकुरमादधानम् ।
व्यात्ताननं काननकुंजराजं रौद्रं रसं मूर्त्तमिवोग्रमूर्त्तिम् ।। २.३

शैशव-वर्णन वात्सल्य की निष्पत्ति की उर्वर भूमि है। शिशु जयसिंह की वालकेलियो के चित्रण मे वात्सल्यरस की मधुर अभिव्यक्ति हुई है। वह अपनी भोली तथा अस्पष्ट वाणी, वालसुलभ चपलताओ तथा अन्य चेष्टाओ से माता-पिता का मन मोहित कर लेता है।

रिखन् प्रजल्पन्निपतन् प्रपश्यन्नश्नन् विनिघ्नन् प्रहसन् पिवंश्च ।
पित्रोर्मुदेऽभूज्जयसिंहशावः सतां समस्तं हि मुदा निधानम् । २.५६
हंसीव फुल्लं नवपुण्डरीकं हृष्टा हृदाम्बाऽथ तमालिलिंग ।
पुष्पं सदामोदमिवालिनी तं माता मुहुश्चारु चुचुम्ब मूर्ध्नि ।। २.६७

मध्ययुगीन साहित्य मे करुणरस का चित्रण एक निश्चित ढर्रे पर हुआ है। उसका आदर्श भवभूति है, जिन्हे करुण रस के मुकुटहीन सम्राट् के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। भवभूति के समान मध्यकालीन कवियो की करुणा तीव्रता तथा मार्मिक व्यजना से शून्य है। क्रन्दन को ही उसका पर्याय मान लिया गया है। विजय-प्रशस्ति का करुणरस भी इसी कोटि का है। आचार्य हीरविजय की मृत्यु से उद्भूत व्यापक शोक को कवि ने विजयसेन तथा श्रावको के विलाप के रूप में व्यक्त किया है।

विहाय नित्यं मलिनामिहत्यां तनुं मनोज्ञां च सुपर्वयोनेः ।
गुरुर्गुणी ग्रामधुर्नीं विमुच्य नभोनदीं हंस इव प्रपेदे ।। १४.३६
पदे पदे मूर्च्छदपारवाष्पा महेभ्यमुख्या गृहमेधिनश्च ।
महोत्सवाडम्बरसुन्दरं ते सुरा इवैनां शिविकामथोहुः ।। १४.४१
सगन्धसारागुरुमुख्यदारुभराचितायां शुचिमच्चितायाम् ।
तदाथ संस्कारमकार्षुरेते प्रभोस्तनोः किं तमसो निजस्य । १४.४२

यहाँ आचार्य के अनुयायियो का मनोगत शोक स्थायीभाव है। हीरविजय

का शव आलम्बन विभाव है। अर्थी उठाना, चिता बनाना तथा गुरु की अन्त्येष्टि करना उद्दीपन विभाव है। श्रावकों का आँसू बहाना तथा पग-पग पर मूर्च्छित होना अनुभाव हैं। विषाद, जडता, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव है। इनके घात-प्रतिघात से स्थायी भाव शोक, करुण रस मे परिणत हुआ है।

सौन्दर्यवर्णन

विजयप्रशस्ति के विस्तृत फलक पर प्राकृतिक सौन्दर्य की एक रेखा भी अंकित नही, यह बहुत आश्चर्य की बात है। प्रकृति से गृहीत अप्रस्तुतो के द्वारा कवि ने इस अभाव की पूर्ति करने का कुछ प्रयास किया है, यद्यपि उन्हें प्रकृतिचित्रण का स्थानापन्न नही माना जा सकता। हेमविजय ने मानव-सौन्दर्य के अकन में अधिक रुचि ली है। यह उसके सौन्दर्यबोध का परिचायक है। काव्य में स्त्री तथा पुरुष दोनो का सौन्दर्य चित्रित किया गया है। हेमविजय की सौन्दर्यचित्रण की निश्चित प्रणाली नही है। परम्परागत नखशिखविधि के अतिरिक्त उसने व्यतिरेक तथा अन्य अलंकारो के माध्यम से मानव सौन्दर्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है।

नारी-सौन्दर्य का चित्रण काव्यनायक की माता कोडिमदेवी के वर्णन का सहज अवयव है। इसमे मुख्यत व्यतिरेक के द्वारा उसके अनवद्य सौन्दर्य की व्यजना की गयी है। उसके मुख तथा नयनो से विजित चन्द्रमा तथा मृग आकाश मे छिप गये (२.५९), मधुर कण्ठ से परास्त कोकिलाओ ने वन की शरण ली (२.६०), रम्भा, लक्ष्मी, गौरी आदि तो उसकी तुलना कैसे कर सकती है ? (२.६७)। कोडिमदेवी के पांवो के नखो का सौन्दर्य, उरोजो की पुष्टता तथा कटि की क्षीणता क्रमशः उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यास का स्पर्श पाकर और चमत्कारजनक बन गयी है। शुभ चिह्नो से अकित उसके अरुण नख ऐसे प्रतीत होते थे मानो चरण-वन्दना करते समय दिक्कुमारियो के ललाट के सिन्दूर से तिलक अकित हो गये हो। उसके स्तनों की पुष्टता की सम्पदा देखकर कटि ईर्ष्या से क्षीण हो गयी। जड तथा दुर्मुख लोगों की विभूति से किसे ईर्ष्या नही होती ?

> चक्रांकुशध्वजसरोजमुखांकिते य-
> त्पादद्वये दशनखा अरुणाः स्म भांति।
> लग्नाः समं किमु दिगब्जदृशां ललाट-
> पट्टात्प्रणत्यवसरे वरधीरपुण्ड्राः॥ २.६१
> पीनत्ववित्तमतिशायि निरीक्ष्य यस्या
> वक्षोजयोः कृशिमभाक् कटिरीर्ष्ययेव।
> स्तब्धात्मनामसिततुण्डभृतां विभूति-
> मालोक्य कस्य भुवि न प्रभवत्यसूया॥ २.६२

कुमार जयसिंह का सौन्दर्यचित्रण काव्य मे पुरुष-सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व

करता है। इसका आधार परम्परागत नखशिख प्रणाली है। इसमें कुमार के विभिन्न अंगो के वैशिष्ट्य का निरूपण किया गया है, जो विविध अलंकारों की योजना से और प्रस्फुटित हो गया है (२.३२-३९)। सौन्दर्य-चित्रण के अन्तर्गत कवि ने सहज सौन्दर्य मे वृद्धि करने वाले प्रसाधनो तथा आभूषणो का भी काव्य मे वर्णन किया है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिये जाते समय कुमार जयसिंह के भूषणों का वर्णन, इस दृष्टि से, उल्लेखनीय है।

> रूपमस्तु सुभगं खलु मा दृग्दोषदूषितमस्य मुखस्य।
> अंजनं न्यधित पौरपुरन्ध्री काचिदस्य दृशि धन्यधियेति ॥ ५.६४
> अस्य कुन्दकुमुदेन्द्वनुकारः शोभते स्म हृदि हार उदारः।
> उल्लसल्लवणिमैकपयोधेः फेनपिण्ड इव पाण्डिमपूर्णः ॥ ५.६७
> कुण्डले कनककान्तमणीरुग्मण्डले शिशुमुखे शुशुभाते।
> राहुभीतिचकितौ रविचन्द्रौ निर्भयं शरणमेनमितौ किम्?॥ ५.६८

चरित्रचित्रण

हेमविजय ने जिन पात्रो से सम्बन्धित कथानक को काव्य का विषय बनाया है, वे सुविज्ञात हैं। अन्य अनेक कवि पहले ही उनके चरित पर काव्य-रचना कर चुके थे। अत. हेमविजय ने उन्हे जिस परिवेश मे ग्रहण किया, काव्य मे उन्हीं रेखाओ की सीमा मे प्रस्तुत किया है जिसके फलस्वरूप उनके चरित्र-चित्रण में नवीनता नही है।

विजयसेन

विजयसेन यद्यपि काव्य के नायक हैं, किन्तु उनका चरित्र हीरविजय के व्यक्तित्व की गरिमा के भार से दब गया है। विजयसेन प्रतिभासम्पन्न नायक हैं। शैशव मे ही उनकी प्रतिभा की कुशाग्रता का परिचय मिलता है। वे समस्त विद्याओं को इस प्रकार हृद्गत कर लेते हैं, जैसे दर्पण बिम्ब को (२.९१)। हीरविजय जैसे विद्वान् आचार्य भी इस मेधावी शिष्य को पाकर धन्य हो जाते है। वे प्रत्युत्पन्नमति तथा अध्ययनशील व्यक्ति है। गुरु हीरविजय के सान्निध्य मे उनकी प्रतिभा और परिपक्व हो जाती है। अपनी बहुश्रुतता के कारण विजयसेन सरस्वती के साक्षात् अवतार के रूप मे मान्यता प्राप्त करते हैं।

> विनेय एव प्रभुपूज्यपुंगवैर्मेनेतमां मूर्त्तिमती सरस्वती ॥७.१८

गुरु के प्रति उनके हृदय मे असीम श्रद्धा है। वे अनन्य भाव से आचार्य की सेवा करते है और तत्परता से उनके आदेशो का पालन करते है। गुरु के निधन से उन्हे जो वेदना हुई, उसे उनका हृदय ही जानता है (अलं स एवावगमे तदीये-१४.४६)।

दीक्षित जीवन में विजयसेन आर्हत धर्म के सच्चे सन्देशवाहक है। वे प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, धर्मोपदेश आदि से जैन धर्म की प्रभावना करते है। उनके व्यक्तित्व की पवित्रता तथा उपदेशो की निर्मलता से अकबर जैसे अन्यधर्मी सम्राट् के मानस मे भी करुणा का उद्रेक होता है जिसके फलस्वरूप वह राज्य के समस्त बन्दियो को मुक्त कर देता है और निस्सन्तान व्यक्ति के सम्पत्ति-सम्बन्धी क्रूर नियम को समाप्त कर देता है। फिरगियो द्वारा उन्हे धर्म-गोष्ठी मे निमन्त्रित करना उनकी चारित्रिक उदात्तता तथा धार्मिक उपलब्धि का द्योतक है।

हीरविजय

काव्यनायक विजयसेन के गुरु आचार्य हीरविजयसूरि निस्स्पृहता तथा त्याग की जीवन्त प्रतिमा है। कुलागत वैभव तथा अतुल समृद्धि को तृणवत् त्याग कर वे प्रव्रज्या का कण्टीला मार्ग ग्रहण करते है। हीरविजय को प्रतिभा का अद्‌भुत वरदान प्राप्त है। उनकी प्रतिभा की अभिव्यक्ति शास्त्रशीलन तथा गच्छ के कुशल सचालन मे हुई है। उन्होने शास्त्ररस का इस आतुरता से पान किया जैसे ग्रीष्म से सन्तप्त धरती वर्षा की प्रथम बौछार को तत्काल पी जाती है।

> **सोऽप्रमत्तः पपौ सर्वं शास्त्रं स्वं स्वगुरोः सुधीः।**
> **ग्रीष्मतप्तो भुवां भाग इवाब्दान्निपतत् पयः ॥१४.९८**

उनकी विद्वत्ता, चारित्रिक उदात्तता एव धार्मिक उपलब्धियो की ख्याति सम्राट् अकबर तक पहुँचती है। वह यतिराज को धर्मगोष्ठी के लिये निमन्त्रित करता है तथा परमात्मा के स्वरूप के विषय मे उनके साथ गम्भीर चर्चा करता है। सम्राट् हीरसूरि की तर्क-प्रणाली तथा व्यक्तित्व की गम्भीरता तथा शालीनता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने, जैन साधु की इच्छा के अनुसार, वर्ष मे कुछ दिनो के लिये जीव-हत्या बन्द कर दी, बन्दियो को मुक्त कर दिया, जजिया समाप्त कर दिया और हीरविजय को शत्रुजयतीर्थ का अधिकार प्रदान किया। व्यक्तिगत जीवन मे भी अकबर को अहिंसा की ओर प्रवृत्त करना हीरविजय जैसे वीतराग तपस्वी के लिये ही सम्भव था।

हीरविजय के व्यक्तित्व की समूची उदात्तता उनकी अपरिग्रह भावना में प्रतिभासित होती है। उन्हे जीवन मे कुछ भी ग्राह्य नही है। वे अकबर के सर्वथा निर्दोष उपहार—ग्रथसग्रह—को भी मर्यादाविरोधी मानकर अस्वीकार कर देते है। सम्राट् के अत्यधिक आग्रह से जब वे ग्रथ ग्रहण करते है, तो उन्हे सार्वजनिक प्रयोग के लिए आगरा के एक पुस्तकालय मे रख देते है। अकबर जैन साधु की निरीहता से गद्‌गद् हो जाता है।

> **नृपो विशेषाद् मुमुदे निरीहतां**
> **निरीक्ष्य सूरेरतिशायिनीमिमाम् ॥ ९.४१**

कमा

कमा काव्यनायक का पिता है। वह मुख्यतः धार्मिक व्यक्ति है, जिनेन्द्र के चरणकमलो का भ्रमर। उसके संयत सेवन के कारण अर्थ और काम भी उसके लिये धर्ममय बन गये है (१४८)। वह धनाढ्य व्यापारी है, किन्तु उसके लिये धन की सार्थकता दान द्वारा पुण्यार्जन मे है। इसीलिये धनवत्ता तथा उदारता, परस्पर विरोधी होती हुई भी, उसके पास एक-साथ रहती है।

देवो तथा यतियो के प्रति उसकी गहन श्रद्धा है। जिनभक्ति, यति-प्रणति तथा सुपात्रदान—ये तीनो गुण उसमे एक-साथ विद्यमान है। सचमुच उसमे असंख्य गुण ऐसे प्रविष्ट हो गये है, जैसे अनगिन नदियाँ सागर मे लीन हो जाती हैं (१५२)। वह कर्ण के समान दानी तथा कार्त्तिकेय की भाँति सच्चरित्र है (१.५०)।

समाजचित्रण

विजयप्रशस्ति महाकाव्य से तत्कालीन समाज की कतिपय गतिविधियो तथा विश्वासो का आभास मिलता है, जो, सीमित अर्थ में, कवि की संवेदनशीलता का द्योतक है।

पुत्रजन्म सदैव की भाँति हर्षोल्लास का अवसर था। धनाढ्य लोग दान-मान से पुत्रजन्म का अभिनन्दन करते थे। कमा ने जयसिंह के जन्म के समय याचको को इतना दान दिया कि वह साक्षात् कल्पवृक्ष प्रतीत होता था[5]। पुत्र को पाठशाला में प्रविष्ट कराने से पूर्व धनवान् पिता भव्य उत्सव आयोजित करता था। नया विद्यार्थी सर्वप्रथम पाठशाला मे वाग्देवी की अर्चना करता था क्योंकि उसकी कृपा के बिना विद्या-प्राप्ति सम्भव नही है[6]। वह गुरुजन तथा सहपाठियों को भी यथोचित उपहार देता था, जो गुरु के प्रति उसकी श्रद्धा तथा छात्र बन्धुओ के प्रति उसके सौहार्द के प्रतीक थे।

तत्कालीन समाज मे स्वप्नो तथा शकुनो पर अटूट विश्वास था। सूर्योदय के समय देखा गया स्वप्न शुभ फल का दायक माना जाता था[7]। शुभ शकुन अक्षय क्षेम के पूर्वसूचक थे (क्षेमस्य चिह्नैः शकुनैश्च शोभनैः—७.४६)। जयविमल के प्रस्थान तथा पाटन मे प्रवेश के समय अनेक शकुन हुए थे। बैल की गर्जना, दर्पण, दधि, पकवान से भरा बर्तन, सधवा नारी का मिलना सुखद समझा

५. पुंरूप एष त्रिदशद्रुमस्तैर्मेने यथा भूवलयावतीर्णः। वही, २.३६

६. यदर्चिता कल्पलतेव दत्ते
सद्यः सतां वाछितमर्थमेषा ॥ वही २.८८

७. गुर्वी गुरुः प्रापदपापदृग् मुदं
दृष्ट्वा शुभं स्वप्नमिवोदये रवेः। वही १०.६६

जाता था।

दर्शन

काव्य मे किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नही है। मुगल सम्राट् अकवर की सभा मे धर्मचर्चा के अन्तर्गत परमात्मा के स्वरूप के विषय मे विजयसेन जैन धर्म की मान्यता का निरूपण करते है। जैन दर्शन मे परमात्मा करुणा से परिपूर्ण, रागद्वेष से रहित, त्रिकालज्ञ तथा प्रमाणज्ञेय है। वह अजन्मा, अशरीरी, अच्छेद्य, अभेद्य अव्यय, चिदात्मा, अचिन्त्य-स्वरूप तथा अनघ है (७.१५१-७४)। जिस परमात्मा को शैव शिव कहते है, वेदान्ती ब्रह्म, वौद्ध बुद्ध, मीमासक कर्म, नैयायिक कर्त्ता, जैन उसी को अर्हत् कहते है। जैन दर्शन मे परमात्मा को दो प्रकार का माना गया है। प्रथम कोटि का परमात्मा समवसरण मे स्थित केवलज्ञानी है। वह साकार, नाना अतिशयो से युक्त तथा गौरवपूर्ण है।

तत्राद्यः सोऽस्ति समवसरणे शरणं श्रियाम्।
सुरासुरनरश्रेणिसेवितांघ्रिद्वयः स्थितः ॥१२.१८०

दूसरी कोटि का परमात्मा निराकार, अनादि, अजन्मा, मुक्तात्मा तथा चिन्मय है।

सदानादिमजन्मानं मुक्तात्मानं च चिन्मयम्।
द्वितीयमद्वितीयं तं वदामः परमेश्वरम् ॥१२.२११

भाषा

हेमविजय का मुख्य उद्देश्य स्वधर्म की प्रभावना करना है। इसके लिये उसने काव्य का जो माध्यम अपनाया है, उसे वोधगम्य वनाने के लिये कवि ने आद्योपान्त सरल एवं सुबोध भाषा का प्रयोग किया है। उसके पार्श्वनाथचरित मे भी भापा की यही प्राजलता दृष्टिगत होती है। विजयप्रशस्ति की भाषा की सुगमता में ऐसा परिष्कार है, जो इसके नीरस इतिवृत्त मे रोचकता वनाए रखता है। टीकाकार गुण-विजय ने कवि के जिस वाग्लालित्य की प्रशसा की है, वह इसी भाषात्मक परि-मार्जन का दूसरा नाम है। वस्तुत भाषा के इस सौष्ठव ने ही काव्य को अपठनीय बनने से वचाया है।

विजयप्रशस्ति में विविध स्थितियो अथवा मानसिक द्वन्द्वो का चित्रण करने का कोई अवकाश नही है। इसीलिये इसमे भापा की उस विविधता का अभाव है, जो महाकाव्य की महार्घ विशेषता है। काव्य मे आद्यन्त एक समान भापा प्रयुक्त हुई है। प्रसाद से परिपूर्ण होने के कारण उसमे लालित्य तथा प्रांजलता है। उसमे प्रौढ़ता की भी कमी नही है।

काव्य मे अधिकतर प्रसादगुण-सम्पन्न भापा का प्रयोग किया गया है। उसमे दीर्घ समासो तथा क्लिष्ट पदावली का अभाव है। पुत्रजन्म मे आनन्दित

होकर कमा वैभव का कोश लुटा देता है। उसके दान के वर्णन की भाषा सरलता तथा प्राजलता से ओतप्रोत है। गृहशोभा के वर्णन की भाषा मे भी यही गुण विद्यमान है।

आकर्ण्य कर्णोत्सवमात्मजन्मजन्मातिशर्माथ मेहभ्यमुख्यः।
हर्षं स लेभे प्रसभं प्रवर्हं वर्हीव गर्जरिवमम्बुदस्य ॥ २.३४
द्वाःपार्श्वयोस्तस्य गृहस्य रम्भास्तम्भौ व्यभातां नवपर्णपूर्णौ।
धम्मिल्लफुल्लोत्पलशालिमौली सरस्वतीसिन्धुसुते किमेते ॥ २.४२

हेमविजय विविध भावो को अनुकूल पदावली मे अभिव्यक्त करने मे समर्थ है, इसका आभास आचार्य हीरविजय के निधन पर विजयसेन के विलाप के प्रसंग मे मिलता है। यहाँ समासहीन तथा कातर पदावली के द्वारा शोक की समर्थ अभिव्यक्ति की गयी है।

ममाभवद् या भगवंस्त्वदंघ्रिसरोजयोः श्रीः पुरतः स्थितस्य।
त्वदाननन्यस्तविलोचनस्य सुदुर्लभा साथ नभोलतेव ॥१४ ४६
त्वयि प्रयातेऽस्तमनन्तकान्तौ पयोजिनीभर्तरि भव्यपद्मे।
ध्रुवं भवित्री भरतावनीयं कुपाक्षिकोल्लूकतमःप्रसारा ॥ १४.५६

विजयप्रशस्ति मे सबसे सरल भाषा संवादो में दृष्टिगत होती है। विजयसेनसूरि तथा सम्राट् अकबर के वार्तालाप में भाषा की यही सहजता है।

अस्ति शस्तं शरीरे वः परिवारे च पेशले।
इहागतिकृलमासीद युष्माकं क्षेममध्वनि ॥ १२.११४
क्व सन्ति सकलप्राणिप्रीणनप्रवणाशयाः।
श्रीहीरविजयाः सूरिसिन्धुराः साधुबन्धुराः ॥ १२.११५

विजयप्रशस्ति की भाषा सुबोध तथा परिष्कृत है। काव्य की सुगमता के कारण ही विद्वान् इस पर टीका लिखना अनावश्यक समझते थे।

केचित् सुगमा हैमी कृतिरिति तस्याष्टीका निरर्थेव ॥[8]

अलंकारविधान

ग्रामवधूटी की भाँति हेमविजय की कविता अपने स्वाभाविक लावण्य से अलंकृत है। कवि ने उस पर अलंकार लादने की चेष्टा नही की है। यह उसका उद्देश्य भी नही है। हेमविजय के लिये अलकार भावाभिव्यक्ति का माध्यम है।

हेमविजय उपमा के मर्मज्ञ है। पार्श्वनाथचरित से भी उपमा के प्रयोग मे उनके कौशल का यथेष्ट परिचय मिलता है। वर्ण्य भाव की स्पष्टता के लिये वे मूर्त तथा अमूर्त दोनों प्रकार के उपमानो का समान अधिकार तथा सहजता से प्रयोग कर सकते है। लोक से ग्रहण किये गये अप्रस्तुत विशेष रोचक है। उपमान

८. टीकाप्रशस्ति, ५७

के सुपरिचित होने से वर्णनीय विषय तुरन्त हृदयंगम हो जाता है। कमा के हृदय को विरक्ति ने इस प्रकार प्रकाशित कर दिया जैसे तेल से भरे दीपक की वाती घर को आलोकित करती है (१.५७)। जयसिंह माता के साथ ऐसे शोभित हो रहा था जैसे दया से पुण्यवान् व्यक्ति (५.५१)। परदर्शन में गति प्राप्त करना उतना ही कठिन है जितना धन के विना वेश्यागृह मे प्रविष्ट होना (५.१०)।

हेमविजय ने अधिकतर उपमान प्रकृति से लिए है। ये उनकी प्रकृति के प्रति सहानुभूति के परिचायक है। दोहद की अपूर्ति से उत्पन्न पीड़ा तथा भावी पुत्रजन्म की प्रसन्नता ने कोडिमदेवी को ऐसे व्याप्त कर लिया जैसे दिन-रात एक-साथ मेरु पर्वत पर छा जाते है (२.२४)। विजयसेन पर गुरु की अनुज्ञा के साथ गच्छ की चिन्ता का भार इस प्रकार आ गया जैसे अनुरागवती रात्रि के साथ चाँदनी, चन्द्रमा को प्राप्त होती है।

अनुज्ञया साकमत्र गच्छचिन्तात्मको भार इयाय शिष्ये।
ज्योत्स्नागमः शीतमरीचिबिम्बे त्रियामयेवानुरागमय्या ॥ ८.३१

हेमविजय ने शास्त्र से भी कुछ अप्रस्तुत ग्रहण किए है। निम्नोक्त उपमा गणित पर आधारित है। नास्तिको का मार्ग अकरहित विन्दु (जीरो) के समान निरर्थक है।

जगन्मूलं न मन्यन्ते ये मूढाः परमेश्वरम्।
तेषां पन्थाः वृथांकेन विना बिन्दुरिव ध्रुवम् ॥ १२.१४४

विजयप्रशस्तिकार की उत्प्रेक्षाएँ भी उसकी अप्रस्तुतविधान की निपुणता को प्रकट करती है। कमा के घर के आगन में दूव के अकुर ऐसे लगते थे मानो गृह-लक्ष्मी के केश हो।

विरेजिरे द्वारजिरे तदीये दूर्वांकुरास्तत्र भृशं लसन्तः।
निकेतनाम्भोनिधिनन्दनाया मनोहराः केशभरा इवामी ॥ २.४३

अप्रस्तुत कार्त्तिकेय की अपेक्षा प्रस्तुत विजयदानसूरि की विशिष्टता वताने के कारण निम्नोक्त पद्य में व्यतिरेक अलंकार है।

न ब्रह्मचार्यप्यजनिष्ट तुल्यः शीलेन यैर्जह्नुसुतासुतोऽत्र।
यतो यमध्वंसिनि बद्धरागो बभार यस्तारकवैरितां च ॥ ३.५२

प्रह्लादनपुर की नारियो के प्रस्तुत वर्णन मे आपाततः उनकी निन्दा प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुत. इस निन्दा के व्याज से उनकी प्रशंसा की गयी है। यह व्याज-स्तुति श्लेष पर आधारित है।

मत्तमातंगगामिन्यः सुरार्थाश्चलदर्शनाः।
निन्द्या अपि मुदे सन्ति यत्र त्रस्तमृगीदृशः ॥ ४.११

जूनागढ के क्रूर शासक खुर्रम के स्वभाव का वर्णन दृष्टान्त के द्वारा किया गया है। गुरु के भाग्य से वह निर्दय राजा शान्त हो गया। चन्द्रमा के सम्पर्क से

१९. श्रीधरचरित : माणिक्यसुन्दरसूरि

अचलगच्छ के प्रख्यात आचार्य तथा प्रतिभावान् कवि माणिक्यसुन्दरसूरि का श्रीधरचरित[1] विवेच्य युग का अनूठा महाकाव्य है। इसके नौ माणिक्यांक सर्गों में मगलपुर-नरेश जयचन्द्र के पुत्र विजयचन्द्र का जीवनचरित, पौराणिक तथा रोमाचक परिवेश मे, निवद्ध है। विजयचन्द्र पूर्वजन्म का श्रीधर है।[2] काव्य का शीर्षक उसके भवान्तर के इस नाम पर आधारित है। इस दृष्टि से यह काव्य के प्रतिपादित विपय की समग्रता को ध्वनित करने में समर्थ नही है। कवि का उद्देश्य चरित-निरूपण के साथ संस्कृत छन्दशास्त्र के अपने असंदिग्ध पाण्डित्य तथा उसे यथेष्ट रूप से उदाहृत करने की क्षमता की प्रतिष्ठा करना है। इसीलिए काव्य मे वर्णवृत्तो तथा मात्रावृत्तों के ऐसे भेदों-प्रभेदो तथा कतिपय अज्ञात अथवा अल्पज्ञात छन्दो का प्रयोग किया गया है, जो साहित्य मे अन्यत्र शायद ही प्रयुक्त हुए हो। छन्दशास्त्र के प्रायोगिक उदाहरण प्रस्तुत करने के कारण श्रीधरचरित शास्त्रकाव्य का स्पर्श करता है; किन्तु माणिक्य-सुन्दर का यह लक्ष्य, शास्त्र अयवा नानार्थक काव्यों की भाँति, काव्य के लिए घातक नही है क्योकि उसकी काव्यप्रतिभा को छन्दो के परकोटे मे भी स्वतंत्र विहार के लिए विशाल गगन उपलब्ध है।

श्रीधरचरित का महाकाव्यत्व

श्रीधरचरित की रचना मे महाकाव्य के स्वरूपविधायक सभी स्थूलास्थूल तत्त्वो का पालन किया गया है। इसका कथानक 'प्रख्यात' है। नायक धीरोदात्त गुणों से सम्पन्न राजवंशोत्पन्न कुमार है। श्रीधरचरित का अंगी रस शृंगार माना जाएगा यद्यपि काव्य का पर्यवसान शान्तरस मे होता है। वीर, अद्भुत, भयानक, रौद्र आदि इसकी रसवत्ता को सघन वनाने मे, गौण रूप से, सहायक है। काव्य का उद्देश्य 'मोक्ष' है। दैहिक भोगो मे लिप्त विजयचन्द्र केवलज्ञानी मुनि जयन्त की धर्म-देशना से राज्यादि समस्त सासारिक विषयो को त्याग कर परम पद को प्राप्त होता है।[3]

१. सम्पादक : मुनि ज्ञानविजय, श्रीचारित्रस्मारकग्रन्थमाला, ४८, अहमदावाद, सम्वत् २००७

२. पूर्वे जन्मनि भूपतिर्भुवि वभौ नाम्ना किल श्रीधर—
स्तार्तीयैकभवे स एव विजयश्चन्द्रोत्तरोऽभून्नृपः। श्रीधरचरित १.३१

३. चिरं सौख्यं भेजे शिवपदगतः सम्मदमयम्। वही, ९.२४९

महाकाव्यसुलभ कुमारजन्म, दूतप्रेषण, युद्ध, प्रभात, सूर्योदय, नगर, पर्वत आदि के रोचक वर्णन काव्य मे यथास्थान विद्यमान है। छठे तथा नवे सर्ग में चित्रकाव्य के द्वारा कवि ने अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करते हुए चमत्कृति उत्पन्न करने का प्रयास किया है जिसमे भारवि से प्रचलित इस परम्परा का निर्वाह हुआ है। काव्य का आरम्भ आठ पद्यो के मगलाचरण से हुआ है जिनमे कतिपय तीर्थंकरो, जैनभारती तथा गणधर गौतम की स्तुति की गयी है। श्रीधरचरित की विशेपता यह है कि इसका प्रत्येक सर्ग मंगलाचरण से शुरू होता है। काव्य का शीर्षक पूर्णतया शास्त्रसम्मत तो नही है, किन्तु इससे शास्त्र की पूर्ण अवहेला भी नही होती। छन्दो के विधान की दृष्टि से श्रीधरचरित निराली रचना है। ज्ञाताज्ञात छन्दों के प्रायोगिक उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए निवद्ध काव्य मे शास्त्रीय नियम की परिपालना का प्रश्न ही नही है।

श्रीधरचरित का कथानक व्यापक अथवा सुसम्बद्ध नही है, तथापि इसे यथा-शक्य अन्वितिपूर्ण वनाने के लिए, इसमे, शास्त्रविहित पाँच नाट्यसन्धियो का विनि-योग करने की चेप्टा की गयी है। द्वितीय सर्ग से तृतीय सर्ग तक सिद्धपुरुष के राज-प्रासाद मे अवतीर्ण होने तथा उसके द्वारा सन्तानहीन जयचन्द्र को पुत्रदायिनी गुटिका देने के वर्णन में मुखसंधि है क्योकि यहाँ कथावस्तु के वीज का वपन हुआ है। चतुर्थ सर्ग से पंचम सर्ग तक विजयचन्द्र के जन्म, उद्धत अश्व के उसे वीहड़ वन मे ले जाने, वहाँ उसके असहाय भटकने, हस्तिनापुर का राज्य प्राप्त करने तथा पिता के निमन्त्रण पर उसके राजधानी लौटने के प्रसंगों में वीज का कुछ लक्ष्य तथा कुछ अलक्ष्य रूप में विकास होता है, अतः यहाँ प्रतिमुखसन्धि है। छठे सर्ग से आठवें सर्ग के प्रारम्भिक अंश तक एक ओर सुलोचना के साथ विवाह होने से विजयचन्द्र के हृदय में आशा का उद्रेक होता है, दूसरी ओर कश्मीरराज प्रताप से युद्ध होने के कारण चिन्ता उत्पन्न होती हैं। प्रसन्नता और चिन्ता के इस द्वन्द्व मे यहाँ गर्भसन्धि का निर्वाह हुआ है। इसी विशालकाय सर्ग में सुलोचना के अपहरण तथा अनेक उत्थान-पतन और चित्र-विचित्र घटनाओं के पश्चात् वज्रदाढ को परास्त करके उसकी पुन.प्राप्ति तथा नवें सर्ग के आरम्भिक भाग मे उसके साथ विजयचन्द्र के अविराम विषयोपभोगो के वर्णन मे प्रकारान्तर से फल-प्राप्ति की पृष्ठभूमि के अधिक निश्चित होने से विमर्शसन्धि मानी जा सकती है। नवम सर्ग के शेष भाग में निर्वहणसन्धि की योजना हुई है। यहाँ विजयचन्द्र तेजपिण्ड नारी के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से जगत् की अनित्यता तथा भोगों की निस्सारता से त्रस्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण करता है और अन्ततः शिवत्व प्राप्त करता है। यही श्रीधरचरित का फलागम है। मनोरम काव्यकला, गम्भीर रसव्यंजना, महाकाव्योचित प्रौढ भापा, विद्वत्ता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति आदि गुण उक्त परम्परागत लक्षणो को परिपुष्ट कर श्रीधरचरित को सम्मानित पद पर आरूढ करते हैं।

श्रीधरचरित का स्वरूप

श्रीधरचरित मे महाकाव्य की पौराणिक, शास्त्र तथा शास्त्रीय शैलियो का अविच्छेद्य गठबन्धन है। भवान्तर-वर्णन तथा व्यक्ति के वर्तमान आचरण तथा परिस्थितियो को पूर्वजन्मो के कर्मो एव सस्कारो से परिचालित मानने की पौराणिक प्रवृत्ति श्रीधरचरित की मुख्य विशेषता है। काव्य मे प्राय. सभी पात्रों के पूर्व अथवा भावी भवो का वर्णन किया गया है। जयचन्द्र के राजमहल मे अवतरित सिद्धपुरुष पूर्व-जन्म मे वेदज्ञ ब्राह्मण अग्निमित्र का पुत्र था। राजा दुर्ललित के पुत्र तथा पुत्री का युगल छह भवो मे घूम कर रत्नपुर के शासक रत्नागद के पुत्र-पुत्री के रूप मे जन्म लेता है। अष्टम सर्ग मे ही विजयचन्द्र तथा सुलोचना के पूर्ववर्ती सात जन्मों का विस्तृत वर्णन है। विजय तथा वज्रदाढ पूर्वजन्म के सहोदर श्रीधर तथा चन्द्र है। श्रीधर की पत्नी गौरी सात भवो के उपरान्त सुलोचना के रूप मे उत्पन्न होती है। पूर्वजन्म के अनुराग के कारण श्रीधर का अग्रज चन्द्र मेरुपर्वत पर गौरी से रति की याचना करता है तथा विद्याधर वज्रदाढ के रूप मे विजयचन्द्र की नवोढा प्रिया सुलोचना को हर ले जाता है। श्रीधरचरित मे मुख्य कथा के भीतर अवान्तर प्रसग गुम्फित करने की पुराणसम्मत रीति का विद्रूप दिखाई देता है। चतुर्थ सर्ग मे विजयचन्द्र के वनगमन की कथा मे हस्तिनापुर-नरेश गजभद्र, नरमेधी योगी तथा रत्नावली की कथाएँ अन्तर्निहित है। अष्टम सर्ग मे, यह प्रवृत्ति चरम सीमा को पहुँच जाती है, जहाँ, सुलोचना-हरण के प्रसंग मे, कवि ने अगणित कथासूत्रो को लेकर आख्यानो का विचित्र तानावाना बुन दिया है। पौराणिक महाकाव्यो की प्रकृति के अनुरूप प्रस्तुत काव्य मे अलौकिक तथा अतिप्राकृतिक घटनाओं की भरमार है। सिद्धपुरुष आकाश से उतर कर जयचन्द्र को एक गुटिका प्रदान करता है जिसके फलस्वरूप उसे पुत्र की प्राप्ति होती है। चेटक तो विजयचन्द्र के लिये रामबाण है जो गाढे समय मे, स्मरण मात्र से, तत्काल उपस्थित होकर उसके सम्भव-असम्भव सब काम सिद्ध कर देता है। विजयचन्द्र गारुड मन्त्र से, मृत कनकमाला को पुनर्जीवित करता है, अवस्वापिनी विद्या से शत्रु-सेना को सुला कर निश्चेष्ट बना देता है पर करुणा से द्रवित हो कर स्वपर-पक्ष के मृत सैनिको को मृतजीवनी-विद्या से प्राणदान देता है। विजया (पहले जन्म की विजयचन्द्र की माता) कुमार (विजयचन्द्र) को अपने पति के पास नागलोक मे ले जाती है तथा उसे यथासमय रूप परिवर्तित करने के लिये एक गुटिका देती है। काव्य के अन्तिम दो सर्ग इन्ही अतिमानवीय घटनाओ से आच्छन्न है। श्रीधरचरित मे कतिपय लोककथा की रूढियो का भी प्रयोग हुआ है, जो इसकी पौराणिकता को रोमांचकता की सीमा तक पहुँचा देती है। विजयचन्द्र के शुक का रूप तथा श्रीधर की पत्नी गौरी के हसी का रूप धारण करने और मानववत् वार्ता-

लाप करने[४], नारीहरण[५], पक्षी को पत्रवाहक बनाने[६], मनुष्य के भूतो से साक्षात् बातचीत करने[७] तथा पक्षियो के पुनः वास्तविक आकार मे प्रकट होने मे[८] लोक-कथाओ का प्रभाव स्पष्ट है। इष्टसिद्धि के लिये मन्त्रसाधना करने तथा नरवलि देने और सयमश्री के दिव्य नारी के रूप मे अवतीर्ण होने आदि मे भी लोककथाओ की उपजीव्यता लक्षित होती है। पुराणो की भाँति प्रस्तुत काव्य में भावी घटनाओं का वर्णन किया गया है। अष्टम सर्ग मे यज्ञो के पुनः प्रचलित होने की भविष्यवाणी के अन्तर्गत मुलसा तथा याज्ञवल्क्य का प्रसंग इसका उदाहरण है। इसमे प्रचारवादी धर्मदेशनाओं को व्यापक स्थान मिला है तथा जैन धर्म की सर्व श्रेष्ठता[९] एवं अन्य धर्मो की हीनता[१०] का तत्परता से निरूपण किया गया है। श्रीधरचरित की कथा का पर्यवसान शान्त रस मे होता है जो पौराणिक काव्यों की मुख्य प्रवृत्ति है। इन पौराणिक तत्त्वो के अतिरिक्त श्रीधरचरित मे वर्ण्य विपय तथा वर्णन-शैली में विपमता, भापा-शैलीगत उदात्तता, तीव्र रसानुभूति, वस्तुव्यापार के मनोज्ञ वर्णन आदि शास्त्रीय काव्य के लक्षण भी विद्यमान है जिनके कारण इसे शास्त्रीय काव्य माना जा सकता है। छन्दो को उदाहृत करने से इसकी शास्त्रकाव्यो में गणना करना न्यायोचित होगा। परन्तु पौराणिकता की प्रवलता के कारण इसे पौराणिक काव्यों मे स्थान दिया गया है। श्रीधरचरित को पौराणिक काव्य बनाने वाले इसके अन्तिम दो सर्ग हैं।

कवि-परिचय तथा रचनाकाल

प्रस्तुत महाकाव्य तथा अपनी अन्य कृतियो मे माणिक्यसुन्दर ने विस्तृत आत्म-परिचय दिया है जिससे उनकी गुरु-परम्परा तथा स्थिति-काल के सम्बन्ध में महत्त्व-पूर्ण सामग्री प्राप्त है। आचार्य चन्द्र की परम्परा में दोपान्धकार के उच्छेत्ता तथा सूर्य के समान तेजस्वी आर्यरक्षित ने विशेप ख्याति अर्जित की थी। उनके पट्टानुक्रम मे मेहतुंगसूरि हुए जो परम वाग्मी, प्रतिष्ठित शास्त्रार्थी, आचार्यो के चूडामणि तथा अचल गच्छ के साक्षात् मार्तण्ड थे[११]। श्रीधरचरित के रचयिता ने इसी महान्

४. वही, ८.१३०,१३४,१३५,४८६,५०३-५०६,५२५,५३३
५. पूर्वानुरागभाग् जह्रे वज्रदाढः सुलोचनाम्। वही, ५.५५७
६. अद्राक्षीं नभसा यान्तं पत्रिणं पत्रिकामुखम्। वही, ८.१७३
७. वही, ८.२१६-२१७
८. पक्षित्वं परित्यज्य सोऽयं सिद्धिनरोऽभवत्। वही, ८.१७५ तथा ८.५३३ आदि
९. सर्वमेव सुलभं भवेऽगिनां जैनधर्म इह दुर्लभः पुनः। वही ३.२८
१०. वही, ८.२३४-३०८
११. वही, १.९-१०

आचार्य से दीक्षा ग्रहण की थी[12]। इस तथ्य की पुष्टि कवि के अन्य ग्रन्थो से भी होती है[13]। अंचलगच्छ-पट्टावली के अनुसार मेरुतुग का जन्म सम्वत् १४०३ मे नाणाग्राम में हुआ था तथा वे सम्वत् १४७३ मे, जूनागढ में, दिवगत हुए[14]। पूर्व-विवेचित जैनकुमारसम्भव के यशस्वी प्रणेता जयशेखरसूरि माणिक्यसुन्दर के विद्यागुरु थे। माणिक्यसुन्दर का कविजीवन इन्ही गुरुवर की प्रेरणा एव प्रोत्साहन का पाथेय लेकर विकसित हुआ[15]।

प्रान्त-प्रशस्ति के अनुसार श्रीधरचरित की रचना सम्वत् १४६३ (सन् १४०६) मे, मेवाड के प्रख्यात नगर देवकुलपाटक (देलवाडा) मे, सम्पन्न हुई थी।

> श्रीमेदपाटदेशे ग्रन्थो माणिक्यसुन्दरेणायम् ।
> देवकुलपाटकपुरे गुणरसवार्धीन्दुवर्षे व्यरचि ॥[16]

काव्य की स्वोपज्ञ दुर्गमपदव्याख्या सम्वत् १४८८ मे, मूलरचना के पच्चीस वर्ष पश्चात्, श्रीपत्तन मे लिखी गयी थी। व्याख्या-सहित काव्य का प्रथम आदर्श उनके मेधावी शिष्य कीर्त्तिसागर ने तैयार किया था[17]। कवि के गुणवर्म-चरित की रचना सम्वत् १४८४ मे हुई थी[18]। मूल श्रीधरचरित इससे पूर्व की तथा काव्य की व्याख्या इसके बाद की रचना है।

माणिक्यसुन्दर सर्वशास्त्रविशारद विद्वान् थे। श्रीधरचरित के अतिरिक्त उनके शुकराजकथा, गुणवर्मचरित, पृथ्वीचन्द्रचरित, धर्मदत्तकथा, अजापुत्रकथा ग्रन्थ तथा कुछ टीकाएँ उपलब्ध है।

कथानक

श्रीधरचरित का कथानक नौ सर्गो मे विभक्त है, जिनमे पूरे १३१३ पद्य है। अन्तिम दो सर्ग, परिमाण मे, शेप सात सर्गो से दूने है।

प्रथम सर्ग काव्य की प्रस्तावना मात्र है। इसमे कवि ने अपनी गुरु-परम्परा तथा छन्दशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। द्वितीय सर्ग मे एक सिद्ध पुरुप मगलपुर-नरेश जयचन्द्र के सभाभवन मे अवतीर्ण होता है। तृतीय सर्ग मे औपचारिक शुभाशंसा तथा कुशलप्रश्न के पश्चात् वह जयचन्द्र की जिनभक्ति से

१२. वही, १.१२ तथा उसकी वृत्ति
१३. गुणवर्मचरित, १.४,८ तथा शुकराजकथा, प्रशस्ति, १
१४. श्रीधरचरित, प्रास्ताविकम्, पृ० १
१५. श्रीधरचरित, १.१४
१६. वही, ग्रन्थकार-प्रशस्ति, २
१७. वही, व्याख्याकारप्रशस्ति, २-३
१८. गुणवर्मचरित,प्रान्तप्रशस्ति, ३
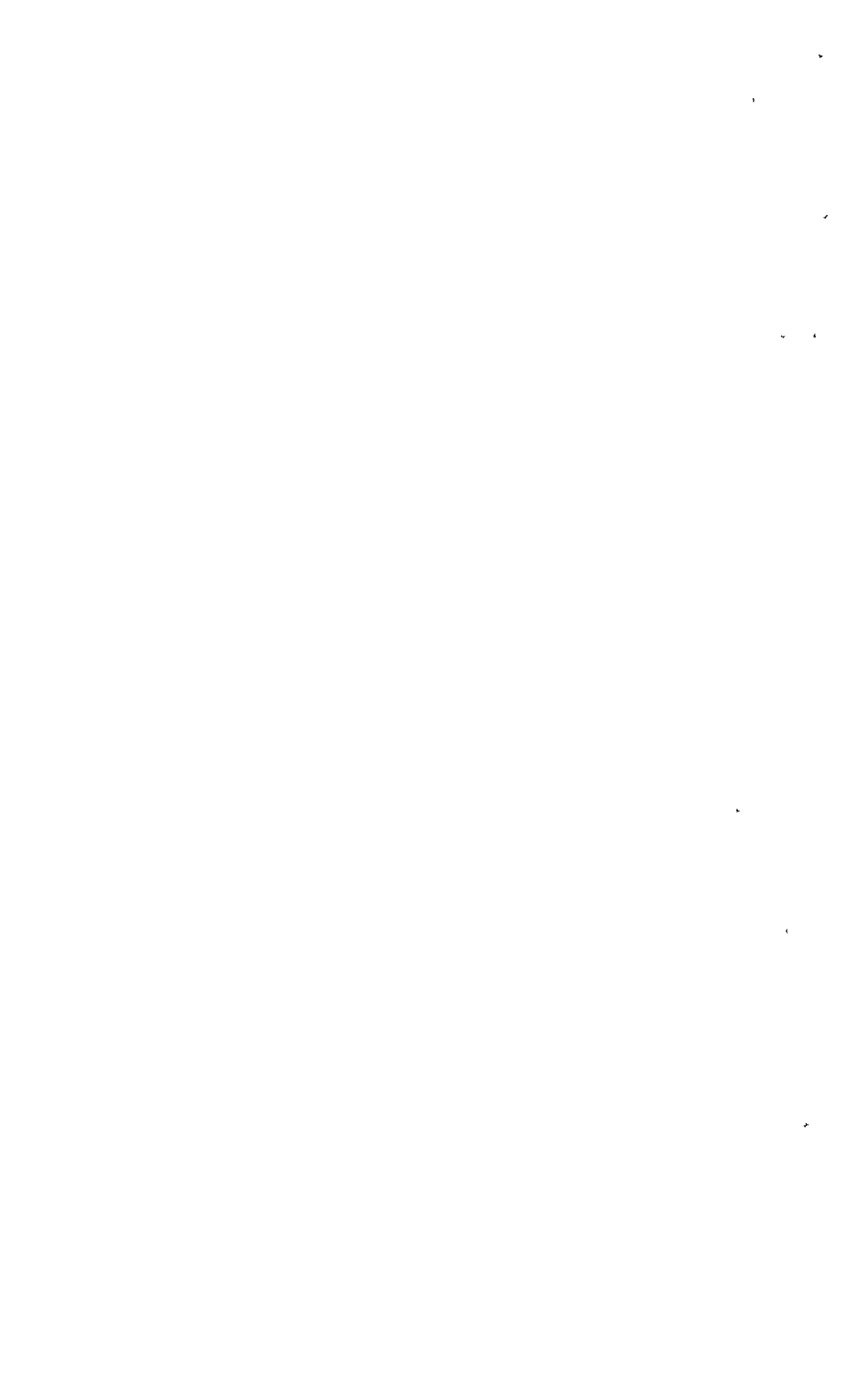
बाहुल्य है। इसे महाकाव्योचित परिवेश देने के लिये कवि ने अपना कथानक विविध वस्तु-वर्णनो से मांसल बनाकर ग्रथित किया है। काव्य के उत्तरार्द्ध मे कवि की वर्णनात्मक प्रवृत्ति विकराल रूप धारण कर लेती है यद्यपि पूर्वार्द्ध में भी गजभ्रम, रत्नावली तथा कनकमाला की अवान्तर कथाओ का समावेश किया गया है। छठा सर्ग पर्वत, प्रभात, सूर्योदय तथा रत्नपुर के वर्णनो से तथा सप्तम सर्ग स्वयम्वर-वर्णन से परिपूर्ण है, जो रोचक होते हुए भी कथानक के प्रवाह में बाधक है। आठवें सर्ग के साथ हम काव्य के विचित्र वातावरण मे पदार्पण करते हैं। आठवे तथा नवे सर्ग का ससार यक्षो, विद्याधरो, सिद्धो, नागो, युद्धो, नरमेध, स्त्रीहरण, विद्या-साधना, रूप-परिवर्तन तथा चमत्कारो का अजीव ससार है। इनमे अतिप्राकृतिक तत्त्वों, अबाध वर्णनो तथा विषयान्तरो का इतना प्राचुर्य है कि ये सर्ग (विशेषत: अष्टम सर्ग) काव्य की अपेक्षा रोमाचक कथा प्रतीत होते है। ८३२ पद्यो के इन सर्गो की वेदी पर कवि को बलिविरोधी होते हुए भी मूलकथा की बलि देनी पडी है। काव्य की जो कथा सातवे सर्ग तक लगडाती चली आ रही थी, वह आठवे सर्ग मे आकर एकदम ढेर हो जाती है। अपने चरितनायक की शूरता, साधनसम्पन्नता, कष्टसहिष्णुता तथा कार्यनिष्ठा की प्रतिष्ठा करने के लिये कवि ने इस सर्ग का अनावश्यक विस्तार किया है तथा सार्वजनिक वाहन की भाँति इसमे विविध प्रकार की सामग्री भर दी है। ऐसा करके वह कथानक से भटक गया है।

माणिक्यसुन्दर को प्राप्त पूर्ववर्ती कवियों का दाय

श्रीधरचरित के कुछ अंशो की रचना मे माणिक्यसुन्दर कालिदास के रघुवश तथा माघकाव्य के ऋणी है। शिशुपालवध के प्रथम सर्ग मे सिहासनासीन श्रीकृष्ण आकाश से अवतरित होते नारद को देखकर उनके विषय मे नाना तर्क-वितर्क करते है। कुशल-प्रश्न तथा स्वागत-अभिवादन के पश्चात् नारद श्रीकृष्ण को शिशुपाल का वध करने को प्रेरित करते है। श्रीधरचरित के द्वितीय सर्ग मे मगलपुरनरेश के सभाभवन मे, गगन से एक सिद्धपुरुष के अवतीर्ण होने का वर्णन है। जयचन्द्र तथा उसके सभासद् उसकी वास्तविकता जानने के लिये ऊहापोह करते है। नारद की भाँति उसका भी यथोचित अभिनन्दन किया जाता है।

कालिदास का प्रभाव काव्य के सातवे सर्ग मे परिलक्षित होता है, जहाँ राजकुमारी सुलोचना के स्वयम्वर का वर्णन किया गया है। महाकवि की तरह माणिक्यसुन्दर ने भी, कुमारी के मण्डप मे प्रविष्ट होने पर, पहले आगन्तुक राजाओं की कामजन्य चेष्टाओ का चित्रण किया है जो सुलोचना को पाने की उनकी अधीरता की समर्थ अभिव्यक्ति है। तत्पश्चात् सुनन्दा के समान वेत्रधारिणी यशोधरा कुमारी को उपस्थित राजाओं का वैशिष्ट्ययुक्त परिचय देती है। देश के जिन भूभागों के राजा स्वयम्वर मे आए थे, उनमे से कुछ के नाम रघुवश तथा श्रीधरचरित की

सूचियो मे एक समान है। दोनो काव्यो मे सर्वप्रथम मगधराज का परिचय दिया गया है। इस वर्णन के अन्तर्गत दोनो काव्यो मे, कई स्थलो पर, भाव-सादृश्य भी दृष्टिगत होता है। शूरसेन देश के अधिपति के विषय मे कालिदास का कथन है—

अध्यास्य चाम्भःपृपतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥ रघु० ६.५१

द्वारिकाधीश का वर्णन करते समय माणिक्यसुन्दर ने कालिदास के उपर्युक्त भाव को ग्रहण किया है।

किन्नरीवृन्दगांधर्वगीर्वन्धुरे नित्यपर्जन्यतूर्यरवाडम्बरे।
केकिनृत्यं यदि प्रेक्षितं रैवते चित्रमेतं भज द्वारकेशं ततः॥ श्रीधर०, ७.४३

कालिदास इन्दुमती को महेन्द्राद्रि के शासक को चुनकर उनके साथ सागरतट पर विहार करने का प्रलोभन देते हैं तो यशोधरा अपनी सखी को कोसलनरेश का वरण करके सरयू के तीरवर्ती कानन का उपभोग करने को प्रेरित करती है।

अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः॥ रघुवंश, ६.५७

अभिरतिर्यदि ते सरयूजलप्लवनशाड्वलकाननकेलिषु।
क्षितिपतेस्तदमुष्य भव प्रिया मुररिपोरिव गौरि! हरिप्रिया॥
श्रीधर०, ७.३६

परित्यक्त नरेशो की म्लानता का चित्रण दोनो काव्यो मे सचारिणी दीप-शिखा के उपमान द्वारा किया गया है[२१]। दोनो कवियो ने स्वयम्वर के पश्चात् विजयी राजकुमार तथा हताश राजाओ के युद्ध का वर्णन किया है। यह ज्ञातव्य है कि इन्दुमती-स्वयम्वर के वर्णन पर आधारित होता हुआ भी माणिक्यसुन्दर का स्वयम्वर-वर्णन उसका अन्धानुकरण नही है वलिक मानव-हृदय के सूक्ष्म चित्रण, कमनीय कल्पना तथा भाषा-माधुर्य के कारण वह सजीवता तथा रोचकता से ओतप्रोत है। इस कोटि के वर्णनो मे सुलोचना-स्वयम्वर का निश्चित स्थान है।

रसयोजना

रसात्मकता की दृष्टि से श्रीधरचरित आलोच्य युग के महाकाव्यो मे गौरव-मय पद पर प्रतिष्ठित है। काव्य मे प्रायः सभी प्रमुख रसो की अभिव्यक्ति हुई है, जो पाठक को वास्तव मे प्रपानक-रस का आस्वादन कराते है। श्रीधरचरित का अंगी रस शृगार है। शान्तरसपर्यवसायी काव्य मे शृगार की प्रधानता स्वीकार करने मे हिचक हो सकती है, किन्तु जैन पौराणिक महाकाव्यो की प्रवृत्ति कुछ ऐसी है कि

२१. रघुवंश, ६.६७ तथा श्रीधरचरित, ७ ६२

इनमे नायक तथा अन्य पात्र पहले विषयों का जी भर कर भोग करते है किन्तु, कालान्तर मे, किसी घटना-विशेष के कारण विरक्ति का उदय होने से वे भोग-विलास आदि समूची आसक्तियो को छोडकर सयमव्रत ग्रहण करते है और उस सोपान से मुक्ति की अट्टालिका मे प्रवेश करते है। श्रीधरचरित मे शृगार की यही स्थिति है और इसी अर्थ मे वह काव्य का अगी रस है। माणिक्यसुन्दर शृंगार के विविध पक्षो तथा स्थितियो का चित्रण करने मे निष्णात है। स्वयम्वर मे आगत राजाओ की कामजन्य चेष्टाओ के वर्णन मे उनके सात्त्विक भावों का मनोरम वर्णन किया गया है किन्तु उनका सर्वोत्तम निरूपण सुलोचना की उस स्थिति के चित्रण मे हुआ है, जब वह विजयचन्द्र को वरमाला पहिना कर आनन्दातिरेक से अभिभूत हो जाती है।

सा रोमालिस्तम्भे तुंगस्तनकलश उरसि भवने निवेश्य यमस्मरत्
तं ध्यानादध्यक्षीभूतं विजयनृपतिकुसुमविशिखं समीक्ष्य सुलोचना।
स्वेदाम्भोभिः क्लृप्तस्नानेव विमलवरतरवरणस्रजा प्रमदाकुला
चंचद्रोमांचा तं च द्राक् समुचितमिदमिति चतुरः शशंस न ता च कः॥ ७.७७

उनकी विवाहोपरान्त कामकेलियो के मधुर चित्रण मे सम्भोग-शृगार का हृदयग्राही चित्रण है। विजयचन्द्र, परिवर्तित ऋतुओ के अनुसार, सुलोचना के साथ भोग-विलास मे मग्न रहता है।

भुजोपपीडं भेजे तां व्यक्तरागधरामिव।
शीतकाले स कालेयपंकालेपपरां भृशम्॥६ १२
तपर्त्तौ वर्तुलव्यक्तमुक्ताप्रलम्बशीतले।
शिश्येऽसौ चन्द्रशालासु तस्याः काम्यकुचस्थले॥ ६.१३
स नाभीदघ्ननीरासु दीर्घाक्षी दीर्घिकासु तां।
कदापि रमयामास मराल इव वारलाम्॥ ६.१४

अन्य अधिकाश जैन कवियो की तरह माणिक्यसुन्दर का यह शृगार-चित्रण केवल औपचारिकता का निर्वाह प्रतीत होता है क्योकि उसने काव्य मे जी भरकर नारी की निन्दा की है। शृगार की आसक्ति तथा जैन साधु की विरक्ति मे पूर्ण तादात्म्य सम्भव नही है। फलत माणिक्यसुन्दर की दृष्टि मे नारी मलमूत्र के पात्र के अतिरिक्त कुछ नही है[22]। इसीलिये कामकेलि मे आचूड निमग्न विजयचन्द्र भी विषयभोग के पश्चात्ताप के द्वारा शृगार की निस्सारता प्रमाणित करता है[23]।

श्रीधरचरित मे वीररस की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। कश्मीरनरेश प्रताप

२२. पुरीषमूत्रमूषासु योषासु जडताभृतः।
मुह्यन्ति मोहनव्यग्राः महामोहविमोहिताः॥ श्रीधरचरित, ६.१४४

२३. वही, ६.१६८-१७३

के नेतृत्व मे निराकृत राजाओ और विजयचन्द्र के युद्ध मे वीररसात्मक रूढ़ियों को अधिक महत्त्व दिया गया है। कवि ने घोडों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिघाड, योद्धाओं के भुजास्फोट तथा द्वन्द्व-युद्ध के वर्णन में ही वीररस की चरितार्थता मानी है। दैवी शक्तियों के हस्तक्षेप तथा अतिप्राकृतिक तत्त्वो ने युद्ध को यथार्थ की अपेक्षा काल्पनिक बना दिया है (८.१७,१६)! और विजय की दयालुता तथा शत्रु को पराजित करने की लालसा के अन्तर्द्वन्द्व ने युद्ध को हास्यास्पदता की सीमा तक पहुँचा दिया है (८ २४)। विजय द्वारा प्रयुक्त अवस्त्रापिनी विद्या से जन्य प्रमीला से अभिभूत होकर विपक्षी सेना उसका प्रभुत्व स्वीकार करती है। यह अविश्वसनीय स्थिति है, जिसे पाठक से स्वीकार करने की अपेक्षा की गयी है। अलौकिक शक्तियो के हस्तक्षेप ने विजय तथा वज्रदाढ के युद्ध को भी कल्पनालोक की वस्तु बना दिया है। उधर विजय की 'कृपा' युद्ध के उद्देश्य पर पानी फेर देती है। वह मृतजीवनी-विद्या से स्वपर दोनो पक्षो के मृत सैनिको को पुनर्जीवित कर देता है और पुन. नरसंहार के पाप से बचने के लिये सैन्ययुद्ध का परित्याग करता है किन्तु द्वन्द्वयुद्ध मे दोनो ओर से आग्नेय, वायव्य आदि संहारक अस्त्रो का खुलकर प्रयोग किया जाता है[२४]। यह चलायमान आचरण उसकी हिंसा के प्रति जन्मजात घृणा तथा काव्यनायक के वीरोचित दर्प का समन्वय करने की चेष्टा के द्वन्द्व को प्रतिबिम्बित करता है।

श्रीधरचरित के कथानक का पर्यवसान शान्तरस मे हुआ है। काव्य के प्रायः सभी पात्र राज्य-वैभव, विषयभोग आदि सासारिक बन्धनो को छोडकर सयम का मार्ग ग्रहण करते है। इसके लिये मुनि के धर्मोपदेश अथवा अन्य किसी वैराग्यजनक घटना की प्रेरणा पर्याप्त है। भोगविलास मे पूर्णतया लिप्त व्यक्ति के हृदय मे विरक्ति के उदय के लिये इस प्रकार की घटना अपर्याप्त अथवा असमर्थ प्रतीत हो सकती है किन्तु यह मानव-मनोविज्ञान के प्रतिकूल नही है। अतिशय भोग की परिणति योग में होती है। जैन काव्यो का उद्देश्य पाठक को कविता के सरस माध्यम से वैराग्य की ओर उन्मुख करना है। शृंगार का पर्याप्त चित्रण होने पर भी श्रीधरचरित का मूल स्वर निर्वेद का स्वर है। सांसारिक वैभव तथा भोग तात्कालिक सुख दे सकते है किन्तु शाश्वत आनन्द सयम एव त्याग मे निहित है, यह प्रस्तुत काव्य का सचित सार है। काव्य के इस उद्देश्य के अनुरूप जयन्त मुनि की निवृत्तिप्रधान धर्मदेशना सुन कर तथा उनसे सयमश्री के स्वरूप की यथार्थता जानकर, दैहिक भोग मे लीन विजयचन्द्र सर्वस्व त्याग कर मोक्ष के द्वार, प्रव्रज्या मे प्रवेश करता है। उसकी यह मनःस्थिति निर्बाध भोग से उद्विग्न व्यक्ति के मानस की द्योतक है। उसकी इस मानसिक स्थिति की भूमि मे शान्तरस की उद्दाम धारा प्रवाहित है।

२४. वही, ८.४३२-४३६

अक्षैः केलिकृता कामकितवेन समं कथम् ?
नारीनितम्बफलके हा मया जन्म हारितम् ॥९.१७०
स्पृहयामि ततो नाहं बाह्यराज्याय सर्वथा।
अथामी मेनिरे चित्ते विषया विषवन्मया ॥९.१७९
भवाम्बुधेस्तितीर्षा मे वुवूर्षा संयमश्रियः।
मारमोहादिशत्रूणां संजिहीर्षा च साम्प्रतम् ॥९.१८०
ध्वजांचलाब्धिकल्लोलचपलागोलवच्चलः।
असार एष व्यापारः सारो धर्मश्च निश्चलः॥ ९.१९०
तपःखड्गधरो जित्वा स्मरारिं सति यौवने।
संयमं संजिघृक्षामि प्रवयाः किं करिष्यति॥ ९.१९१

नवे सर्ग मे, कामासक्त विजयचन्द्र को भोगविलास से विरत करने के लिये सयमश्री दिव्यनारी के रूप मे प्रकट होती है। तेजपिण्ड से प्रादुर्भूत उस गौरागी युवती के चित्रण मे अद्भुत रस की निष्पत्ति हुई है।

जगर्ज गगनं कर्णकटुभिर्गर्जितैस्ततः।
नेत्रे निमीलयन्नस्य तेजःपिण्डः पपात च ॥९.८२
कान्तिविद्युल्लताभ्रान्तिकारिणीं तारहारिणीम्।
चन्द्रास्यां शुभ्रशृंगारां चलत्कंकणकुण्डलाम्॥ ९.८४
शुकहस्तां श्रितस्कन्धमरालद्वयशालिनीम्।
कांचित् कांचनगौरीं स वशां वीक्ष्य विसिष्मिये ॥९.८५

श्रीधरचरित मे करुण[२५], रौद्र[२६] तथा भयानक[२७] रसो का भी भव्य परिपाक हुआ है, जो इन रसो के चित्रण मे कवि की कुशलता का परिचायक है।

प्रकृतिचित्रण

श्रीधरचरित के फलक पर प्रकृतिचित्रण को अधिक स्थान नही मिला है। प्रथम पाच तथा अन्तिम तीन सर्गो मे तो प्रकृति की एक भी झलक दिखाई नही देती। अन्तिम दो सर्ग जिस कोटि की सामग्री से भरपूर है, उसमे प्रकृतिचित्रण जैसी सौन्दर्याभिरुचि की अभिव्यक्ति का अवकाश ही नही है। छठे सर्ग मे कवि ने अष्टापद, सूर्योदय तथा रत्नपुर के ललित वर्णनो से महाकाव्य के इस अभाव की पूर्ति करने की चेष्टा की है। प्रतिष्ठित परम्परा के अनुरूप माणिक्यसुन्दर ने प्रकृतिचित्रण में बहुधा कलात्मक शैली का प्रयोग किया है। श्रीधरचरित मे प्रकृति के सहज पक्ष के

२५. वही, ८.१०४-१०६
२६. वही, ८.१२७
२७. वही, ८.२४१-२४३

चित्र अत्यन्त दुर्लभ है। सूर्योदय का प्रस्तुत वर्णन काव्य में शायद एकमात्र ऐसा चित्र है जिसे स्वाभाविक कहा जा सकता है। सूर्य के उदय से कुमुद बन्द हो जाते हैं, कमल खिल उठते हैं और उदयाचल का शिखर सूर्य की नव किरणों से लाल हो जाता है। इस पद्य में प्रातःकालीन प्रकृति का यह सहज रूप अंकित है।

निमीलकः कैरविणीवनानामुन्मीलकः पद्मवनालीषु।
बालांशुकिर्म्मीरितशैलसानुरुदेति राजेन्द्रसहस्रभानुः ॥ ६.६५

प्रकृति के सहज-संश्लिष्ट चित्र श्रीधरचरित में उतने दुर्लभ नहीं हैं। इस श्रेणी के चित्रों में विविध अलंकारों की भित्ति पर प्रकृति के आलम्बन पक्ष का चित्रण किया जाता है। अलंकार प्रकृति को आक्रान्त करने का प्रयत्न करते हैं किंतु कुशल कवि उनमें सन्तुलन बैठाकर प्रकृति-चित्रण की प्रभविष्णुता में वृद्धि करता है। श्रीधरचरित में प्रकृति के कुछ ऐसे चित्र अंकित हुए हैं। सूर्य के गगनांगन में प्रवेश करते ही अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है। यह अति सामान्य दृश्य है जिसे कवि ने रूपक, अनुप्रास तथा उपमा की सुरुचिपूर्ण योजना से ऐसे अंकित किया है कि इसका सौन्दर्य अनायास प्रस्फुटित हो गया है।

उच्चैः करं प्राच्यगिरेर्विहारी चिकेलिपुर्व्योममहातडागे।
उन्मूलयन्नेष तमस्तमालीर्विभाति हस्तीव गभस्तिमाली ॥ ६.६३

माणिक्यसुन्दर ने प्रकृति को अधिकतर मानवी रूप दिया है। समासोक्ति अलंकार इस दृष्टि से अतीव उपयोगी है। मानव-प्रकृति की गहन परिचिति तथा प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन के कारण कवि मानव-जगत् तथा प्रकृति की भावनाओं एवं चेष्टाओं में आश्चर्यजनक तादात्म्य स्थापित करने में सफल हुआ है। सूर्योदय के प्रस्तुत चित्रण में चन्द्रमा, सूर्य तथा आकाश (द्यौ) पर क्रमशः जार, पति तथा नायिका का आरोप किया गया है। पति के सहसा आगमन से जैसे जार जान बचा कर भाग जाता है, उसी प्रकार रात भर आकाश-नायिका को भोगने वाला चन्द्रमा, उसके स्वामी (पति) सूर्य को देखकर सम्भ्रमवश भाग गया है और आकाश-नायिका रति के कारण अस्तव्यस्त अपने अन्धकार-रूपी केशों को समेट रही है। मानवीकरण से, चन्द्रमा के अस्त होने तथा सूर्योदय से अन्धकार के मिटने की साधारण घटना में अद्भुत सजीवता का समावेश हो गया है।

दिवं शशांकः परिभुज्य मित्रागमात् पलायिष्ट रयात् त्रपालुः।
धम्मिलतां सापि तमःशिरोजभारं नयत्याशु रतिप्रकीर्णम् ॥ ६.८८

प्रकृति को मानवी रूप देने में कवि ने इतनी तत्परता दिखाई है कि उसके अधिकांश चित्रों में मानवहृदय की थिरकन सुनाई पड़ती है। निम्नोक्त पद्य में कमलिनियाँ रागवती नायिकाओं की भाँति भ्रमराजन आज कर प्रवास से लौटे अपने

पति का स्वागत कर रही है ।

समागतं वीक्ष्य विदूरदेशादिनं दिनादौ किल पद्मिनीभिः ।
सौरभ्यलीनभ्रमरालिदम्भादानंजिरे पंकजलोचनाभिः ॥ ६.६१

इस संक्षिप्त प्रकृतिवर्णन से स्पष्ट है कि प्राकृतिक सौन्दर्य का अंकन करने मे माणिक्यसुन्दर सिद्धहस्त है । काव्य का प्रकृतिचित्रण उसकी पर्यवेक्षण-शक्ति तथा प्रकृति-प्रेम का प्रतीक है ।

सौन्दर्यवर्णन

माणिक्यसुन्दर की तूलिका ने मानव-सौन्दर्य के भी अभिराम चित्र अकित किये है, जो प्रकृतिचित्रण की भाँति, उसकी कलात्मक अभिरुचि तथा सौन्दर्य-बोध के द्योतक है । श्रीधरचरित मे नारी-सौन्दर्य का चित्रण किया गया है । कवि ने परम्परागत नखशिखप्रणाली से नारी के अगो-प्रत्यगो का चित्रण नही किया है वल्कि विविध अलकारो का आश्रय लेकर उसके सौन्दर्य के समग्र प्रभाव की अभिव्यक्ति की है । इस रीति से वर्णित कलावती का सौन्दर्य रम्भा और गौरी के लावण्य को भी मात करता है ।

शशिमण्डलीव सकला सकलकलाकेलिकेलिगृहममला ।
कमला हरेरिव कला कलावती तस्य कान्तासीत् ॥२.११
भीतो हृदि स कलंकं किं नो बिभर्त्ति शशी ।
वीक्ष्य यदाननकमलं न न कमलं कलयति स्म दुर्गजलम् ॥२.१४
यद्रूपेऽननुरूपे निरूपिते बोभवीति स्म ।
रम्भाऽरं भारहिता गौरी गौरी रमाप्यरमा ॥ २ १५

चरित्रचित्रण

श्रीधरचरित मे अनेक दैवी तथा मानवी पात्रो का जमघट है किन्तु उनमे से अधिकतर क्षण भर के लिये काव्य के मच पर आते है और दृष्टि से ओझल हो जाते है । पिता-पुत्र जयचन्द्र तथा विजयचन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी पात्र के चरित्र का विकास नही हो सका है ।

जयचन्द्र

जयचन्द्र मगलपुर का कुशल तथा न्यायप्रिय शासक है । न्यायपरायणता के कारण उसे प्रजा का अविचल विश्वास प्राप्त है । उसके प्रताप के सूर्य के समक्ष शत्रु दीपक की भाँति निष्प्रभ है । जयचन्द्र धर्मपरायण व्यक्ति है । जिनभक्ति की कलहसी ग्रीष्म मे भी उसके हृदय-सरोवर मे यथावत् क्रीड़ा करती है । उसकी धर्मनिष्ठा से प्रसन्न होकर सिद्धपुरुष स्वयं उसके सभाभवन मे आकर उसे एक गुटिका प्रदान करता है, जिसके प्रभाव से उसे पुत्र की प्राप्ति होती है । सिद्धपुरुष का वह

जो सम्मानपूर्वक अभिनन्दन करता है, वह उसके आतिथ्य, शिष्टता तथा पूज्य-पूजा का प्रतीक है।

विजयचन्द्र

काव्यनायक विजयचन्द्र का चरित्र राजोचित विशेषताओं के अतिरिक्त कतिपय दुर्लभ मानवीय सद्गुणों से विभूषित है। वह अतीव सुन्दर है। यौवन-कोकिल के कूकने पर उसका शरीर लावण्य की वसन्तश्री से व्याप्त हो जाता है। वस्तुतः वह शरचापहीन काम है। अनुपम सुन्दरियाँ उसे देखने मात्र से कामाभिभूत हो जाती है।

विजयचन्द्र पितृवत्सल पुत्र है। उसकी आचारसंहिता मे पिता की आज्ञा अनुलंघनीय है। पिता का सन्देश मिलते ही वह हस्तिनापुर का समृद्ध राज्य तृणवत् छोडकर तुरन्त पिता की राजधानी लौट आता है। पिता के आदेश से ही वह सुलोचना के स्वयंवर मे भाग लेने के लिए रत्नपुर जाता है।

विजयचन्द्र का हृदय पर-दुःखकातरता तथा दया के अदम्य प्रवाह से आप्लावित है। वह रत्नावली को नरमेध के वचाने के लिए निष्ठुर योगी को, उसके वदले मे, अपना मास देने को तैयार है। मृत युवती कनकमाला के स्वजनो के करुण क्रन्दन से उसका कोमल हृदय द्रवित हो जाता है। फलतः वह उसे गारुडमंत्र से पुनर्जीवित कर देता है। पर-दु खकातरता के कारण ही वह शरणागत की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता है। निशाचर महाकाल की समस्त धमकियो तथा प्रलोभनों को ठुकरा कर वह शरणागत हव्य पुरुषों को नरमेध से वचाने के लिए कृतसंकल्प है और इसके लिए अपने प्राणो की आहुति देने को भी तैयार है। दूसरे के प्राणों से अपनी रक्षा करना तो उसके लिए विषभक्षण के समान है (९.६१)।

वह राजोचित तेज से सम्पन्न है। वाराणसी-नरेश तो उसके अतिशय की सूचना-मात्र से आत्म-समर्पण कर देता है। वज्रदाढ आदि भी उसकी वीरता से भूमिसात् हो जाते है। अवश्य ही उसे चेटक की सहायता उपलब्ध है, किन्तु इन विजयों का श्रेय उसके भुजवल तथा सूझवूझ को कम नही है।

वह धर्मपरायण युवक है। यौवन मे मुनीश्वर से अपने भावी भव तथा शिवत्वप्राप्ति की भविष्यवाणी सुनकर वह तत्परता से पार्श्वभक्ति में लीन हो जाता है। जयन्त मुनि से संयमश्री का यथार्थ स्वरूप जानकर उसमे विरक्ति का उद्रेक होता है और वह राजसुलभ वैभव छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर लेता है।

अन्तिम दो सर्गो मे उसके चरित्र मे अनेक वैचित्र्यो तथा विरोधों का समावेश दृष्टिगम्य होता है। भूतो की वाणी सुनना, मन्त्रसाधना करना, स्वेच्छा से रूप-परिवर्तन करना आदि कुछ ऐसी वाते है, जो एक लोककथा के नायक के लिए अधिक उपयुक्त हैं। इन सर्गो मे उसका आचरण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी तर्कसंगत नही

है। वह स्वाभिमान की रक्षा के लिए युद्ध करता है किन्तु पराजित होते समय (और विजयी होते हुए भी) उसमे सहसा दया का उद्रेक हो जाता है जिससे उसमे युद्ध से विरत होने की लालसा वलवती हो जाती है। इसी प्रकार वह घोर विलास मे मग्न रहता है किन्तु कालान्तर मे, मुनि के धर्मोपदेश से ही सही, वह ससार से घृणा करने लगता है, अपने पूर्व आचरण पर पश्चात्ताप करता है और अन्तत. जगत् से विरक्त हो जाता है। सम्भवत इसका कारण कवि की दोलायमान चित्तवृत्ति है। वह अपने नायक को महाकाव्य-नायक के अनुरूप शौर्यसम्पन्न तथा युद्धविजयी वनाना चाहता है किन्तु उसकी धार्मिक आस्था उसे तुरन्त हिंसा तथा ससार की नश्वरता के प्रति विद्रोह करने को विवश कर देती है।

वज्रदाढ

वज्रदाढ को काव्य का प्रतिनायक माना जा सकता है। वह विजयचन्द्र का पूर्वजन्म का अग्रज चन्द्र है। श्रीधर (पूर्वभव का विजयचन्द्र) की पत्नी गौरी के प्रति अनुरक्ति के कारण वह सुलोचना (गौरी) को हर ले जाता है। वज्रदाढ परा-क्रमी तथा वलवान् है। विजयचन्द्र की तरह उसे भी दैवी सहायता प्राप्त है। उसके भुजवल से एक वार तो विजय की सेना मे भगदड़ मच जाती है। मुनि से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर वह सर्वविरति स्वीकार करता है।

समाज-चित्रण

श्रीधरचरित मे तत्कालीन समाज के कतिपय विश्वासो, मान्यताओ तथा अन्य गतिविधियो का कुछ सकेत मिलता है। शकुनो की फलवत्ता पर समाज को अटूट विश्वास था। अपशकुनो का परिणाम भयावह तथा अनर्थकारी माना जाता था। वज्रदाढ ने अपशकुनो की उपेक्षा करके विजयचन्द्र के विरुद्ध प्रयाण किया था। फलत: उसे पराजय का मुँह देखना पडा।[२८] आजकल की भाँति उस समय भी काक का स्वर प्रिय के आगमन का सूचक माना जाता था। प्रिय-मिलन के लिए अधीर युवतियाँ इसीलिए कव्वे को स्वर्ण-पिंजरे मे डालकर उसकी आवाज सुनने को लालायित रहती थी।[२९]

रत्नांगद के पुत्र-पुत्री के पूर्वभव के प्रसग में, काव्य में सहजात भाई-वहिन के विवाह का उल्लेख है। आश्चर्य यह है कि यह विवाह उनके पिता द्वारा आयोजित किया गया था। परन्तु यह सर्वमान्य सामाजिक नियम का अपवाद प्रतीत होता है। समाज मे इसे घृणित तथा धर्मनाशक कुकर्म माना जाता था।[३०]

२८. वही, ८.३६३

२९. वही, ८.१४१

३०. वही, ८.५५,६१

काव्य में नरमेध तथा पशुमेध का विस्तृत वर्णन यद्यपि वैदिक धर्म की, विशेषत. यज्ञव्यवस्था की, खिल्ली उडाने के लिए किया है, किन्तु इससे इस क्रूर प्रथा के किसी रूप मे प्रचलन का संकेत अवश्य मिलता है। राजा चन्द्रवल द्वारा एक साथ १०८ व्यक्तियो की वलि देने का उल्लेख काव्य मे आया है।[३१]

युद्ध मे पहली रात शस्त्रजागरण करने की प्रथा थी।[३२] शत्रुपक्ष को आतंकित एव पराभूत करने के लिए युद्ध मे अन्यान्य शस्त्रास्त्रों के अतिरिक्त विविध विद्याओ का आश्रय लिया जाता था, जो सदैव निर्दोप नही थी। विजयचन्द्र ने प्रताप के नेतृत्व मे लडने वाले राजाओ के सैनिको को अवस्वापिनी विद्या से सुलाकर निश्शस्त्र किया था।[३३] मृतजीवनी-विद्या के वल से मृत सैनिको को पुनर्जीवित किया जाता था। वज्रदाढ के साथ युद्ध मे विजयचन्द्र ने अपने तथा विपक्ष के मृत योद्धाओ को इसी विद्या के द्वारा जीवन प्रदान किया था।[३४] सैनिकों को समरांगण मे प्रयाण करने की सूचना देने के लिए रणभेरी वजाई जाती थी।[३५]

काव्य से स्त्रीहरण, अगम्यागमन आदि कुरीतियों के प्रचलन का भी संकेत मिलता है, किन्तु उन्हें गर्हित तथा निन्द्य माना जाता था। कंठपाश से आत्महत्या करने का उल्लेख भी काव्य मे आया है।[३६]

धर्म

काव्य मे धर्मोपदेशो के अन्तर्गत धर्म के कतिपय सामान्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। काव्य मे निरूपित विचारधारा के अनुसार मानवजीवन का सार धर्म है और धर्म का मर्म दया। दया को जो आयाम जैन धर्म ने दिया, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसीलिए जैन धर्म सर्वश्रेष्ठ है। दया के विना धर्म उसी तरह व्यर्थ है जैसे पुतली के विना आँख तथा जल के विना सरोवर। मनुष्य चार व्रतो का पालन करे अथवा पांच का या वारह व्रत धारण करे, इन सव का मूलाधार दया है। अहिंसा (दया) का फल मोक्ष है।[३७] दूसरे के प्राणो से अपने प्राणो की रक्षा करना विपभक्षण के समान है।[३८]

३१. वही, ८.२१९-२२०
३२. वही, ८.३९६
३३. वही, ८.२४-२५
३४. वही, ८.४००
३५. वही, ८.३९१
३६. वही, ८.१९७
३७. वही, ४.१९-२० तथा २२
३८. वही, ९.६१

धर्म समस्त मगल, सुख तथा यश का शाश्वत स्रोत है[३९]। संसार मे मनुष्य के परित्राण के लिए धर्म से बढ कर कोई अन्य उपाय नही है। अत: मनुष्य को पुण्यार्जन के द्वारा धर्माराधन मे निष्ठापूर्वक तत्पर रहना चाहिए।[४०] भवसागर को पार करने के लिये धर्म विश्वसनीय नौका है। सदाचार उसका चप्पू है।[४१] मोहान्ध लोग यौवन मे धर्माचरण छोड़ कर विपयो मे आसक्त रहते है परन्तु जो विपयो को त्याग कर कालान्तर मे भी धर्म का पालन करते है, वे भी प्रशसा के पात्र है।[४२]

दर्शन

श्रीधरचरित मे किसी दार्शनिक सिद्धान्त का क्रमबद्ध विवेचन नही किया गया है। जैन दर्शन के आधारभूत कर्मसिद्धांत की अपरिहार्यता की चर्चा काव्य में अवश्य हुई है। जव तक तप द्वारा कर्म की निर्जरा नही होती, मनुष्य को अपने शुभाशुभ कर्म का फल अनिवार्यत: भोगना पडता है।[४३] सत्कर्मों से प्रेरित धर्म का फल स्वर्ग है।[४४] असत्कर्मों के कारण धर्म तथा नय से भ्रष्ट होकर मनुष्य को नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ती है।[४५] इस तथ्य को काव्य मे वार-वार रेखांकित किया गया है। कुमार विजयचन्द्र अपनी नववधू के पूर्वभवों का वर्णन सुनकर कर्मगति की प्रभविष्णुता से चकित रह जाता है।

भूपो व्यचिन्तयच्चित्ते कीदृशं भवनाटकम् ।
जन्तवो यत्र नृत्यन्ति वहुधा निजकर्मभिः ॥ ८.९४

काव्य मे प्रतिपादित धर्म तथा दर्शन का सार निम्नोक्त पद्य से संचित है।

सुलभं जगति जन्म मानुषं
तत्र जैनवचनं सुदुर्लभम् ।
कश्चिदेव लभते च भाग्यवान्
सिद्धिनायकसुतांगसंगमम् ॥ ८.१४८

श्रीधरचरित मे सांख्य के पुरुष, योग के अष्टागों तथा वौद्धदर्शन के विज्ञानवाद का भी उल्लेख हुआ है।[४६]

भाषा

श्रीधरचरित का प्रमुख आकर्षण इसकी मधुर भाषा है। माणिक्यसुन्दर ने

३९. वही, ३.१७
४०. वही, ९.७४, ७६
४१. वही, ८ ५४२
४२. वही, ९.१४६-१४७
४३. वही, ८.५०
४४. वही, ८ ६६
४५ वही, ८.६५
४६. वही. क्रमशः ८ २३, ९.१५९ तथा ९.२८

महाकाव्य की गरिमा की रक्षा करते हुए जिस प्राजल भाषा का प्रयोग किया है वह अरस्तू के भाषा-सम्बन्धी आदर्श की पूर्ति करती है। मध्यकालीन संस्कृत-काव्य में भापा की यह प्रांजलता कम देखने को मिलती है। श्रीधरचरित की भापा आद्यन्त सौष्ठव तथा माधुर्य से ओत-प्रोत है। इसका आधार अनुप्रास तथा अक्लिष्ट यमक का सविवेक प्रयोग है। काव्य मे प्रायः सर्वत्र अनुप्रास की अन्तर्धारा प्रवाहित है। श्रीधरचरित में, विशेषकर अन्तिम दो सर्गो मे, कवि का आधारफलक इतना विस्तृत है कि उस पर आकाश-पाताल, नागों, विद्याधरो, भूतो आदि का एकसाथ चित्रण किया गया है। श्रीधरचरित में, इन विविध स्थितियो के अनुपात मे, भापा का वैविध्य नही है किन्तु माणिक्यसुन्दर प्रसंग को तदनुकूल भाषा मे व्यक्त करने मे समर्थ है। कुशल जड़िया की भाँति वह प्रसंग-विशेप मे जिस भापा को टांक देता है, उसे, प्रसंग का सौन्दर्य नष्ट किये विना, परिवर्तित करना प्रायः असम्भव है। अपने शव्दचयन के कौशल के कारण सिद्धहस्त वुनकर की तरह जव वह प्रसगानुकूल शव्दावली का गुम्फन करता है, तो स्वतः कान्त पदावली की सृष्टि होती चली जाती है। श्रीधरचरित मे अधिकतर जो भापा प्रयुक्त हुई है, उसमे वह गुण वर्तमान है जिससे चित्त मे द्रवीभाव का उद्रेक होता है। इस प्राजलता के कारण माणिक्यसुन्दर की भापा को पढ़ते ही भावाव-बोध हो जाता है। स्वयम्वर मे उपस्थित राजाओ के परिचयात्मक वर्णन की भापा मे कही-कही तो असीम कोमलता तथा मधुरता है। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होगे।

अमलकमलकोमलवरवदनं स्फुरदुरुरुचिर्निर्जिततरमदनम्।
गजपुरपतिमुन्नतगुणसदनं भज भज गजगामिनि ! नृपमदनम् ॥७.४६
नवयौवनकाननकेलिकरं करपल्लवनिर्जितपद्मवरम्।
वररत्नममुं वृणु सर्वकलं कलय त्वमतस्तरुणत्वफलम् ॥७.४०

वैराग्यजनक पश्चात्ताप के चित्रण की भाषा भी इसी सरलता तथा सुवोधता से परिपूर्ण है किन्तु उसमे आत्मग्लानि का मिश्रण है, जो पात्र की विशिष्ट मनोदशा के अनुरूप है। प्रवोधप्राप्ति के पश्चात् विजयचन्द्र के ये उद्गार इसका अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करते है।

कान्तागदेशं रोमालिकाननं नाभिकन्दरम्।
व्रजता विषयस्तेनैः हा मया जन्म हारितम् ॥६.१७१

सिद्धपुरुप के अवतरण-वर्णन की भाषा सभासदो के कुतूहल को मूर्त करने में समर्थ है। पार्षदो की विकल्पात्मक मनःस्थिति के अनुरूप उक्त प्रकरण की पदावली ऊहा को व्यक्त करती है।

अयि ! कोऽयमनुत्तरच्छविः किं रविरेति भुवं विहायसः ?
अथ पुस्तकहस्ता तां दधत् पुंरूपैव सरस्वती न किम् ? ॥२.२३

भापा-प्रयोग के कौशल ने माणिक्यसुन्दर की वर्णनशक्ति को सामर्थ्य प्रदान किया है। वह प्रत्येक वर्ण्य विषय का रोचक तथा प्रभावी चित्रण कर सकता है।

अष्टापद तथा रत्नपुर के वर्णन इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। अष्टापदपर्वत के शिखरो की नीलमणियों मे विम्बित आकाश की नीलिमा और गहरा गयी है। वह ऐसा प्रतीत होता है मानो भगवान् विष्णु शेषशय्या पर सो रहे हों।[47] रत्नपुर के रत्ननिर्मित महलो मे वितानो के मोतियो की प्रतिच्छाया पृथ्वी पर पड रही है। लगता है आकाश पृथ्वी पर उतर आया है। प्रतिविम्बित मोतियो के रूप मे तारे ही चमक रहे हैं।[48]

श्रीधरचरित की भाषा मे कतिपय दोष भी विद्यमान है, जिनकी ओर संकेत करना आवश्यक है। काव्य मे प्रयुक्त कुछ रूप व्याकरण की दृष्टि से चिन्त्य है। 'त्वयि रोचते' (५ ३०), प्रेक्षतः (६.१०)ह्वातुम् (६.४६), सहन् (८.६८), सुश्रूषयन् (८.१६७), सहन्तः (९.१३४) आदि प्रयोग च्युतसस्कारत्व से दूषित है। माणिक्य-सुन्दर की शुद्धभाषा के प्रयोग की क्षमता को देखते हुए ये व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग आश्चर्यजनक है। यह 'गच्छतः स्खलनम्' है अथवा छन्दोभंग से वचने के लिये जान-बूझ कर गढे गये प्रयोग, निश्चत कहना सम्भव नही। श्रीधरचरित मे यत्र-तत्र देशी शब्दो का भी प्रयोग हुआ है—कटारि (३.१६), वाह्याली (४.४३), पीद (५.५४); माढिः (६.९८), चुण्ढि (८.४८०), चुणित्वा (९.८८)।

पाण्डित्य-प्रदर्शन

माणिक्यसुन्दर ने खड्गवन्ध, मुरजवन्ध, गोमूत्रिका आदि चित्रकाव्य से वौद्धिक व्यायाम कराने का प्रयास तो नही किया है, किन्तु वह समवर्ती प्रवृत्ति से अप्रभावित नही रह सका। पण्डित-वर्ग के वौद्धिक रजन के लिये उसने छठे सर्ग मे, पार्श्वस्तुति के प्रसग मे, ऐसे पद्यो की रचना की है जो यथार्थतः चित्रकाव्य न होते हुए भी उसी प्रवृत्ति का संकेत देते है। इनमे कही कर्त्ता, कर्म, क्रिया, विशेषण आदि छह गुप्त है, कही तेरह। कोई पद्य नामचित्र का उदाहरण प्रस्तुत करता है, तो कोई विभ्र-मचित्र का। निम्नाकित पद्य मे त्रयोदश गुप्त है।

कमलनाथ ! मनोहरहंसवद् भवतमोऽपि विभा विभवालय।
गुरुगुणव्रजगौरव ! ते गुणान्मम मुदा स्तुवतः स्तुतिगोचरम्॥ ६.७०

अत्र त्रयोदश गुप्तानि, तथाहि १. क—कर्मगुप्तम्। २. अल—क्रियागुप्तम्। ३. न—शब्दगुप्तम्। ४. अथ—शब्दगुप्तम्। ५. मनः—कर्मगुप्तम्। ६. हर—क्रियागुप्तम्। ७. हसवत्—अर्थगुप्तम्। ८. विभा—कर्मगुप्तम्। ९. विभो—सम्वोधनगुप्तम्। १०. आलय—क्रियागुप्तम्। ११. व्रज—अर्थगुप्तम्। १२. गौः—कर्तृविशेषणगुप्तम्। १३. अव—क्रियागुप्तम्।

निम्नाकित पद्य मे 'अपभ्रंशभाषाचित्र' है।

४७. वही, ६.५९
४८. वही, ६.१०६

मोरु हंस महसीहर माडी, राहि मानन शिवेन भवे त्वत् ।
आज देव किरि पाप पखाली मोहमेव न जलाशयपाला ।। ६.७४

ये पद्य विद्वत्ता को चुनौती हैं। टीका के विना इनका वास्तविक अभिप्राय समझना विद्वानो के लिये भी सम्भव नही है। माणिक्यसुन्दर को धन्यवाद; उसने इन पद्यो को स्वोपज्ञ व्याख्या से सुगम बना दिया है।

आठवे सर्ग मे, हंसी तथा विजयचन्द्र के वार्तालाप के अन्तर्गत, प्रहेलिकाओं तथा समस्यापूर्ति से पाठक को चमत्कृत किया गया है। दोनों का एक-एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

पूजायाः किं पदं प्रोक्तं कृतज्ञो मन्यते च किम् ?
किं प्रियं सर्वलोकानामुपदेशो मुनेस्तु कः ? ।। ८.५०३
हंसी—"सुकृतं कार्यम्"
अथ पुरोधाः प्रोचे—'यूकया गलितो गजः' ।
हंसी—वटपत्रस्थवालस्योदरस्थं चेज्जगत्त्रयम् ।
तदाऽकस्मादिदं न स्याद् यूकया गलितो गजः ।। ८.५०५

अलंकार-विधान

अलंकार किस सीमा तक भावाभिव्यक्ति मे सहायक हो सकते हैं, इसका निदर्शन श्रीधरचरित की अलंकार-योजना में देखा जा सकता है। जो भाव अन्यथा दवे रह सकते थे, वे विविध अलंकारों का स्पर्श पाकर सहसा स्फूर्त हो गये हैं। अनुप्रास तथा यमक कवि के विशेप अलकार हैं। काव्य के अधिकाश मे ये दो अलंकार, किसी न किसी रूप मे, सदैव विद्यमान हैं। अन्य अलंकारों में भी बहुधा ये अनुस्यूत है। कवि का अनुप्रास उसका मानस-पुत्र है। काव्य के पच्चानवें प्रतिशत पद्यो मे अनुप्रास का प्रयोग मिलेगा। अनुप्रास की सुरुचिपूर्ण योजना काव्य में मधुर झंकार को जन्म देती है। विजयचन्द्र के विलासवर्णन मे अनुप्रास का माधुर्य दर्शनीय है।

रमणो रमणीयांगीं रममाणो रमामयम् ।
रमारमणवन्मेने रमणीनां मणिमिमाम् ।। ६.३५

अन्त्यानुप्रास का काव्य मे इतना व्यापक प्रयोग हुआ है तथा इसके इतने मधुर उदाहरण काव्य मे भरे पडे है कि पाठक चयन करते समय असमंजस में पड़ जाता है। दो ललित उदाहरण पहले उद्धृत किये जा चुके है। यमक को भी काव्य मे व्यापक स्थान मिला है। कवि ने अभग तथा सभग दोनों प्रकार के यमक का उदारता से प्रयोग किया है। इस पद्य मे दोनो कोटियो का यमक प्रयुक्त किया है। माणिक्यसुन्दर के यमक मे प्राय· क्लिष्टता नही है। इसीलिये यह काव्य की प्रभावशीलता तथा सौन्दर्यवृद्धि मे सहायक बना है।

साभून्ननु मा रजनी मारजनी साप्युदेति मारजनी ।
रुचिनिर्जितमारजनी न तत्र तल्पं ममार जनी ।। ८.१८८

श्लेप से काव्य मे क्लिष्टता का भय रहता है, अत. माणिक्यसुन्दर ने श्लेप का वहुत कम प्रयोग किया है । काव्य मे यद्यपि अभंग तथा समग दोनो प्रकार का श्लेप दृष्टिगत होता है किन्तु वह दुरूहता से मुक्त है । अभग श्लेप का एक रोचक उदाहरण देखिए—

निशि ध्वान्ते भुजंगेन गृहीता करपल्लवे ।
जीवितेनोज्झिता युक्तं सा याति पितृमन्दिरम् ।। ४-९७

श्रीधरचरित मे अर्थालकार भी भावाभिव्यक्ति के साधन है । उन्हे वलपूर्वक काव्य मे ठूसने का दुष्प्रयास नही किया गया है । उपमा यद्यपि कवि का प्रिय अलकार नही है फिर भी श्रीधरचरित मे कुछ मनोरम उपमाएँ प्रयुक्त हुई है । कही-कही अन्य अलंकारो के साथ उसका संकर है (९.४४) । सद्यःस्नाता सुलोचना के वर्णन मे उपमा से प्रेपणीयता आई है । स्नान के पश्चात् शरीर से जलकण पोंछने पर कचनवर्णी सुलोचना प्रभातवेला के समान प्रतीत होने लगी जिसमे तारागण अस्त हो गये है (७ ३) । निम्नोक्त उपमा साहित्यशास्त्र तथा व्याकरण पर आधारित है । इसमे विजयचन्द्र तथा उसके साथ वैराग्य ग्रहण करने वाले मन्त्रियो की तुलना क्रमशः औचित्य एव गुण तथा सूत्र एव वार्त्तिको मे की गई है ।

राजर्पिमुख्यास्तद्भक्तिदक्षास्तेऽपि तमन्वगुः ।
सर्वे गुणा इवौचित्यं सूत्रं वा वार्त्तिकादयः ।। ९.२२६

माणिक्यसुन्दर ने वर्ण्य भावो को स्पष्ट बनाने के लिये काव्य मे उल्लेख, असगति, व्याजोक्ति, विशेपोक्ति, सहोक्ति, स्वभावोक्ति, सार, कारकदीपक, परिसंख्या, विरोधाभास, प्रतिवस्तूपमा, यथासंख्य तथा रूपक आदि का सटीक प्रयोग किया है । प्रस्तुत श्लोक मे स्वेद आदि सात्त्विक भावो के गोपन के लिये स्वयम्वर मे आया एक राजा, गर्मी के व्याज से पखा करने लगता है । यह व्याजोक्ति है ।

धरापतिः कोऽपि स्मरातुरः स्मरन्निमां सात्त्विकधर्मसंकुलः ।
अहो महोष्मेति वदन्नचीचलत् करेण केलिव्यजनं मुहुर्मुहुः ।। ७.१७

विरोधाभास से मंगलपुरवासियो का स्वरूप साकार हो गया है । वे शिव होते हुए भी रुद्र नही, कार्त्तिकेय होते हुए भी स्वामी नही और लक्ष्मीपति होते हुए भी वैकुण्ठवासी नही है ।

शिवरूपोऽपि न रुद्रो न घनसुहृद्वाहनोऽपि स्वामी ।
यत्र न्यविशत लोको लक्ष्मीकान्तो न वैकुण्ठः ।।२.७

निम्नोक्त पद्य मे वर्णित वस्तुओ का उत्तरोत्तर उत्कर्ष वतलाने के कारण 'सार' अलकार है ।

अस्मिन् संसारे सारं तावन्नृणां भवः ।
तत्रापि धर्मो धर्मेऽपि कृपां विद्धि नृपांगज ॥४.१८

रत्नागद के राज्य की सुव्यवस्था का निरूपण परिसंख्या पर आधारित है। यहाँ भारभीति का चौरभीति तथा शत्रुभीति से व्यवच्छेद किया गया है ।

नक्तं दिने वा दिवसावसाने तन्मण्डलेऽव्वन्यधूश्चरन्ती ।
विभूषणं मुंचति भारभीत्या न चौरभीत्या न च शत्रुभीत्या ॥६.३०

सूर्योदय के वर्णन मे कवि ने प्रकृति पर मानव व्यवहार के आरोप से समासोक्ति का पर्याप्त प्रयोग किया है, इसका संकेत प्रकृति-चित्रण के प्रसंग मे किया जा चुका है। इस पद्य मे प्रस्तुत चन्द्रमा, सूर्य तथा आकाश पर क्रमशः अप्रस्तुत जार, पति तथा नायिका के व्यवहार का आरोप किया गया है ।

दिवं शशांकः परिभुज्य मित्रागमात् पलायिष्ट रयात् त्रपालुः ।
धम्मिलतां सापि तमःशिरोजभारं नयत्याशु रतिप्रकीर्णम् ॥६.८८

श्रीधरचरित का शास्त्रपक्ष—छन्दविधान

शास्त्रकाव्य की भाँति श्रीधरचरित कवि के छन्दशास्त्र के पाण्डित्य का दर्पण है। माणिक्यसुन्दर का उद्देश्य चरितवर्णन के साथ-साथ छन्दो के प्रायोगिक उदाहरणो से विद्वानो को चमत्कृत करना है[४९]। इस दृष्टि से श्रीधरचरित की शास्त्रकाव्यों में गणना करना न्यायोचित होगा। कवि के विचार में लक्ष्यलक्षण-सहित छन्दो का प्रदर्शन दुग्धतुल्य काव्य मे शर्करा के समान है[५०]। इसीलिये उसने अपने छन्दशास्त्र का काव्य मे विधिवत् विवेचन किया है। प्रथम सर्ग मे छन्दशास्त्र के आधारभूत नियमो का प्रतिपादन किया गया है। इसमे आठ गणो की व्यवस्था तथा उनके क्रम का विधान, छन्दो का मात्रा तथा वर्णवृत्तो मे विभाजन, वर्णवृत्तो के उपभेद, गुरु-लघु अक्षरो का विधान तथा छब्बीस जातियो का उल्लेख है। एकाक्षर पाद मे एक-एक अक्षर की वृद्धि करके भिन्न-भिन्न छन्द हो जाते है। पाद में अक्षरवृद्धि तब तक हो सकती है जब तक छब्बीस अक्षर वाला पाद न हो जाए। छब्बीस अक्षर की जाति से आगे चण्डवृष्टि से दण्डक तक छन्द कहे गये है। कथित छन्दों से अन्य छन्द 'गाथा' है, शेष षट्पदिका आदि[५१]। माणिक्यसुन्दर का यह विवरण वृत्तरत्नाकर के अनुसार है। केवल सयुक्त र के पूर्ववर्ती अक्षर की स्थिति के विषय मे दोनों मे मतभेद है। जहाँ वृत्तरत्नाकर मे सयुक्ताक्षर से पूर्व स्थित प्रत्येक अक्षर को गुरु मान कर सयुक्त र से पहले अक्षर को केवल विशेष परिस्थिति मे ह्रस्व मानने का विधान

४९. कृतपण्डितसौहित्यं साहित्यं वच्मि किंचन । वही, १.१५
५०. लक्ष्यलक्षणसंयुक्तं छन्दसो यत्प्रदर्शनम् ।
स्निग्धदुग्धसमे ग्रन्थे नूनं तच्चारुशर्करा ॥ वही, १.१६
५१. वही, १ २४-२५

है, माणिक्यसुन्दर सर्वत्र उसकी ह्रस्वता के पक्ष मे है[५२]।

प्रथम सर्ग मे आधारभूत नियमो के निरूपण के पश्चात् माणिक्यसुन्दर ने द्वितीय सर्ग मे आर्या, अत्यार्या, गीति, उद्गीति, उपगीति, आर्यागीति, वैतालीय, प्राच्यवृत्ति, चारुहासिनी तथा अपरान्तिका के लक्षण दिये हैं, जिन्हें दूसरे तथा तीसरे सर्ग मे उदाहृत किया गया है। चतुर्थ सर्ग में श्लोक, वानवासिका, मात्रासमक, उपचित्रा, चित्रा, पादाकुलक, वदनक, अडिल्ला और पद्धटिका[५३] की परिभाषा दी गयी है, जिनके प्रायोगिक उदाहरण पांचवें सर्ग के अन्त तक चलते हैं। छठे सर्ग में कवि ने एकाक्षरी 'श्री' से लेकर ३५ वर्णो के चण्डकाल तक समवृत्तो, आख्यानकी, विपरीत आख्यानकी, पुष्पिताग्रा, उपचित्र, हरिणप्लुता, अपरवक्त्र तथा द्रुतमध्या अर्द्धसमवृत्तो और पदचतुरुर्ध्व, षट्पदी तथा विषमाक्षरा विषमवृत्तो के लक्षणो की विस्तृत तालिका दी है। इनके उदाहरण सप्तम सर्ग के अन्त तक चलते है। आठवे सर्ग के आरम्भ मे आर्या आदि छन्दो का प्रस्तार समझाया गया है। तत्पश्चात् उसके 'नष्ट' तथा 'उद्दिष्ट' नामक भेदों का लक्षण और समवृत्तो के प्रस्तार आदि की विधि का निरूपण है। काव्य के कलेवर में इन्हे उदाहृत करना मानव-कौशल तथा क्षमता से बाहर है। अत. माणिक्यसुन्दर ने उनके सैद्धान्तिक विवेचन से ही सन्तोष किया है। इस प्रकार श्रीधरचरित मे काव्य तथा छन्दशास्त्रीय ग्रन्थ (लक्षणग्रन्थ) का अनूठा समन्वय है। सम्भवत. इस उद्देश्य से रचित यही एकमात्र महाकाव्य है।

प्रथम सर्ग की रचना शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, आर्या, उपजाति, रथोद्धता तथा अनुष्टुप् में हुई है। द्वितीय सर्ग मे आर्या, अत्यार्या, गीति, उद्गीति, उपगीति, आर्यागीति, वैतालीय, औपच्छन्दसिक, प्राच्यवृत्ति, वैतालीय चारुहासिनी, औपच्छन्दसिक चारुहासिनी, वैतालीयापरान्तिका, औपच्छन्दसिकापरान्तिका, हरिणी तथा भुजंगप्रयात, ये पन्द्रह छन्द प्रयुक्त किये गये है। तृतीय सर्ग का मुख्य छद अपरान्तिका है। अन्तिम दो पद्य क्रमश. उपजाति तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द मे हैं। चतुर्थ सर्ग मे मुख्यत: अनुष्टुप् का प्रयोग हुआ है। सर्गान्त के दो पद्य क्रमश. मालिनी तथा शिखरिणी मे रचित है। पंचम सर्ग मे प्रयुक्त १४ छन्दो के नाम इस प्रकार हैं—अनुष्टुप्, उपजाति, स्वागता, आर्या (!), वानवासिका, मात्रासमक, उपचित्रा, चित्रा, पादाकुलक, वदनक, अडिल्ला, पद्धटिका, शार्दूलविक्रीडित तथा शिखरिणी। छठे सर्ग की रचना मे २४ छन्दो को आधार बनाया गया है। उनके नाम हैं— उक्ता जाति का श्री, स्त्री, नारी, कन्या, शशिवदना, मधु, विद्युन्माला, हलमुखी, शुद्धविराट्, रुक्मवती, मत्ता, एकरूप, दोधक, ग्यारह अक्षरी श्री, भद्रिका, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, सकर

५२. वृत्तरत्नाकर, भारद्वाज पुस्तकालय, लाहौर, १९३७, १.९-११, श्रीधरचरित, १.२१

५३. वृत्तरत्नाकर में अडिल्ला तथा पद्धटिका छन्द नहीं हैं।

(उपजाति), मालिनी, द्रुतविलम्बित, स्वागता, रथोद्धता, अनुष्टुप् तथा शार्दूलविक्रीडित। सप्तम सर्ग मे छन्दवैविध्य चरम सीमा को पहुँच जाता है। इसमें प्रयुक्त ५५ छन्द इस प्रकार है—**समवृत्त** · स्वागता, रथोद्धता, शालिनी, वंशस्थ, इन्द्रवंशा, उपजाति, द्रुतविलम्बित, मौक्तिकदाम, तोटक, भुजंगप्रयात, स्रग्विणी, वैश्वदेवी, तामरस, चन्द्रवर्त्म, सुदत्त, वसन्ततिलका, प्रहरणकलिका, मणिगुणनिकर, मालिनी, मृदंग, कामक्रीडा, प्रियंवदा, प्रमिताक्षरा, जलधरमाला, मणिमाला, प्रहर्षिणी, नन्दिनी, रुचिरा, वाणिनी, शिखरिणी, हरिणी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, कुसुमितलता, मेघविस्फूर्जिता, शार्दूलविक्रीडित, सुवदना, स्रग्धरा, भद्रक, अश्वललित, तन्वी, क्रौंचपदा, भुजंगविजृम्भित, चण्डवृष्टिदण्डक, चण्डकाल। **अर्द्धसमवृत्त** : आख्यानकी, विपरीताख्यानकी, पुष्पिताग्रा, उपचित्र, हरिणाप्लुता, अपरवक्त्र, द्रुतमध्या। **विषमवृत्त** . पदचतुरुर्ध्व, षट्पदी, विषमाक्षरा। अष्टम सर्ग का मुख्य छन्द अनुष्टुप् है। स्रग्धरा, आर्या, वसन्ततिलका, उपजाति, वशस्थ, शिखरिणी तथा शार्दूलविक्रीडित इस सर्ग में प्रयुक्त अन्य छन्द है। नवे सर्ग मे भी श्लोक का प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त इस सर्ग में उपजाति, इन्द्रवज्रा, रथोद्धता, शार्दूलविक्रीडित तथा शिखरिणी का प्रयोग किया गया है। सब मिलाकर श्रीधरचरित मे ९९ छन्द प्रयुक्त किये गये हैं। निस्सन्देह प्रस्तुत काव्य कवि के अगाध छंदशास्त्रीय पाण्डित्य का प्रतीक है। छन्दों के प्रायोगिक उदाहरण प्रस्तुत करने के कारण श्रीधरचरित छन्दों के वोध के लिये लक्षणग्रन्थों से भी अधिक उपयोगी है।

श्रीधरचरित पौराणिक काव्य होता हुआ भी शास्त्रीय काव्य का आनन्द देता है। छन्दो के विनियोग की दृष्टि से यह शास्त्र-काव्य का स्पर्श करता है। माणिक्यसुन्दर प्रतिभाशाली तथा सुरुचि-सम्पन्न कवि है। उसके उद्देश्य तथा धार्मिक वृत्ति ने यद्यपि उसकी प्रतिभा को सीमित किया है तथापि वह ऐसे काव्य की रचना करने में सफल हुआ है, जो समर्थ कवित्व, कमनीय कल्पना तथा मधुर भाषा के कारण साहित्य मे सम्मानित पद का पात्र है।

परिशिष्ट

श्रीधरचरित में प्रयुक्त कुछ छन्दो के लक्षण तथा उदाहरण :—

१. वानवासिका : मात्राष्टकात् न्ले जे वा वानवासिका।

अथो नरेन्द्र. प्रधानवर्गान्, महोत्सवानां विधौ न्यदीक्षत्।
विभूपितं तैः पुरं च चचद्ध्वजव्रजाद्यैः समं समन्तात्॥ ५.४८

२. वदनक : षट्कलाच्चतुष्कलद्वय ततो द्वे कले वदनकम्।

पुरतश्चाचलिरद्भुतरूप, वर्णयति स्म गुणैरिति भूपम्।
मागधजनता वलितग्रीव तं पश्यन्ती महसा पीदम्॥ ५.५४

३. अडिल्ला : तद्यमितमन्तेऽडिल्ला ।
भुजवलकलिताऽखिलवसुधाकर !
देशस्थितवहुमणिवसुधाकर !
दानकला दिवमिव न सुधा कर-
मुञ्झति तव निजवंशसुधाकर !! ५.५५

४. पद्धटिका : चतुष्कलचतुष्कं पादान्तेऽनुप्रासे पद्धटिका ।
नात्र विषमे ज कार्योऽन्ते तु जः चतुर्लो वा ।।
जयचन्द्रधवलकीर्त्तिपूर ! जय चन्द्रवदन ! रुचिविजितसूर !
जय चन्द्रकलाम्वुजराजहंस ! जय विजयचन्द्र ! वीरावतस !।।५.५७

५. श्री : जातौ ग् श्री ।
गीः श्री धी. स्तात् । ६.१

६. हलमुखी : र् न स हलमुखी
पूर्वशैल इव तरणिं विन्ध्यशैल इव करिणम् ।
अंकग क्षणमथ वहन्नथ नरपतिरभात् ।।६.६

७. सुदत्तम् : स्यौ स्जौ ग. सुदत्तम् ।
समरे यशोवीजमिवोप्तमर्वतां, हलवत् खुरैः क्षुण्णमहीतलेऽधुना । ७.४७

८. मृदङ्ग : त भौ जौ रो मृदङ्ग. ।
आनन्दयत्वथ मनस्तव सैष मैथिल-
श्चन्द्रानने ! कमलचन्द्र इति क्षितीश्वरः । ७.५२

९. क्रौंचपदा : भ् म स्ना नौ नौ गः क्रौंचपदा द्विशरैर्वसुमुनिभिश्च ।
शंकरमानन्दादिव गौरी स्मरपरिभवकरशुचिरुचिनिकर
वीक्ष्य मरालीजैत्रगतिं ता विजयनृपतिमभिसरमसचलिताम् । ७.७६

१०. चण्डवृष्टि : नौ सप्न राश्चण्डवृष्टि ।
कुलममलमिदं धरामण्डले धन्यमिक्ष्वाकुरत्नांगदक्ष्मापतेर्वन्धुरं,
जगति खलु सुलोचना कन्यका सापि धन्या वृतं सुष्ठु इत्युद्गिरन्तो
गिरम् ।। ७.७८

११. चण्डकाल :
जलदरवजैत्रनिर्घोपनिर्दोपविश्वौक-
सन्तोपकृच्चगरंगन्मृदंगादिवाद्यानि नेदुस्तदा,
ललितवचनैर्वुधा मागधास्ते सुधासन्निभं
सारमाशीर्वच· प्रोच्चरन्ते स्म विस्मेरचित्ता मुदा । ७.७९

१२. आख्यानकी : ओजे तौ जो गौ युजि ज त जा गौ आख्यानकी ।
आनन्दयत्राननकैरवाणि वरेण्यराजेन्दुनिरीक्षकाणाम् ।
निस्तन्द्रचन्द्रातपवत् प्रसस्निरिति क्षणस्तत्र वभूव भूयान् ।। ७.८०

१३. षट्पदी :

अकुण्ठोत्कण्ठमप्यस्याश्लेपसौख्यं सिषेविषुः,
कण्ठे वरस्रजं न्यस्य वरस्य वलिता वधूः ।
अल्पारम्भा क्षेमकरा इति रीतिमिवास्मरत् ॥ ७.८९

२०. यशोधरचरित्र : पद्मनाभकायस्थ

यशोधर की सुप्रसिद्ध कथा पर आधारित पद्मनाभकायस्थ का यशोधरचरित आलोच्य युग का रोचक पौराणिक महाकाव्य है। यशोधर, जीवहत्या के जघन्य पाप के कारण नाना अधम योनियो मे भटक कर, अपनी पुत्रवधू के गर्भ से अभयरुचि के रूप मे जन्म लेता है। अभयरुचि का वक्तव्य ही यशोधरचरित्र है। काव्य में अधिकतर अभयरुचि के भवान्तरो की कथा वर्णित होने से वर्तमान शीर्षक इसकी कथावस्तु पर पूर्णतया लागू नही होता। पद्मनाभ का लक्ष्य काव्य के व्याज से जैनधर्म के सिद्धान्तों का विश्लेषण करके जनता को आर्हत धर्म की ओर प्रवृत्त करना है। इसीलिए काव्य में कवि का प्रचारवादी स्वर अधिक मुखर है।

यशोधरचरित्र की कुछ हस्तप्रतियाँ आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर में उपलब्ध है। उनमे से एक प्रति (सख्या ९११) हमे अध्ययनार्थ डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। १२ × ५½ इच आकार के चालीस पत्रों की यह प्रति शुद्ध तथा स्पष्ट है। उसी के आधार पर यह विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

यशोधरचरित्र का महाकाव्यत्व

यशोधरचरित्र के प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका मे इसे आग्रहपूर्वक महाकाव्य कहा गया है। इसके रचयिता ने महाकाव्य के बाह्याबाह्य लक्षणो का पालन भी किया है। यशोधरचरित्र के मंगलाचरण के तीन पद्यो में चद्रप्रभ तथा रत्नत्रय की वन्दना की गयी है। पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अनेक कवियो की रचनाओ का विपय होने के कारण इसके कथानक को 'प्रख्यात' मानना उचित है। नायक यशोधर राजवश में उत्पन्न अवश्य हुआ है, किन्तु काव्य मे उसका व्यक्तित्व उसके पूर्वभवो के वर्णनो से इस तरह परिवेष्टित है कि उसमे उन गुणो का विकास नही हुआ, जिनके आधार पर उसे परम्परागत नायकों की श्रेणी मे रखा जा सके। सामान्यत: उसे धीरप्रशान्त कहा जा सकता है। पौराणिक काव्य होने के नाते इसमे शान्तरस की प्रधानता है। शृगार, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत रस, अगी रस मे मिलकर, काव्य की रसवत्ता को तीव्र बनाते हैं। यशोधरचरित्र जैनदर्शन की गरिमा के प्रतिपादन तथा जिनधर्म के प्रचार की अदम्य भावना से अनुप्राणित है। काव्य का शीर्पक अभयरुचि के पूर्वजन्म के नाम (यशोधर) पर आश्रित है। यह पूर्णतया शास्त्रसम्मत तो नही है किन्तु इससे महाकाव्य के स्वरूप पर आंच नही आती। इसके प्राय: सभी सर्ग मुख्यत: अनुप्टुप् मे निवद्ध है। यह अरस्तू के छन्द-सम्बन्धी आदर्श के अधिक अनुकूल है। इसकी सहज-

सरल भाषा काव्य के लिए अनुपयुक्त नही है। ऋतु, उद्यान, प्रभात, सूर्योदय आदि के महाकाव्योचित वर्णन यशोधरचरित्र के कथानक को नीरसता से बचाने मे सहायक है। इस प्रकार इसमे, नाटचसन्धियों को छोड़कर, महाकाव्य के सभी तत्त्व विद्यमान है। अतः यशोधरचरित्र को महाकाव्य मानना उपयुक्त है।

यशोधरचरित्र की पौराणिकता

यशोधरचरित्र पौराणिक महाकाव्य है। पौराणिक काव्यों की प्रमुख प्रवृत्ति, भवान्तरो का वर्णन, इसमे पग-पग पर परिलक्षित होती है। काव्य में प्रायः सभी पात्रो के पूर्व तथा भावी जन्मो का विस्तृत वर्णन किया गया है तथा वर्तमान के सदसत् कर्मो तथा प्रवृत्तियो को पूर्वजन्म से नियन्त्रित माना गया है। गन्धर्वराज के मन्त्री का पुत्र, जितशत्रु, यशोधर के रूप मे जन्म लेता है। उसकी पत्नी गन्धर्वश्री अमृतमती बनती है। कुवडा हाथीवान पूर्वजन्म मे गन्धर्वश्री का देवर भीम था। उसके साथ यौन सम्बन्ध होने के कारण अमृतमती उस विकलांग पर अनुरक्त हो जाती है। यशोधन, प्राणिवध के कारण निकृष्ट योनियो में पड़कर, दारुण यातनाएँ झेलता है तथा अजा के रूप में उत्पन्न अपनी माता को भोगता है। मुनिकन्या अपनी विपत्ति को पूर्वभव के किसी कुकर्म का फल मानती है। पौराणिक काव्यों की भाँति इसमे 'उक्तं च' कहकर पाराशर, उशनाः आदि शास्त्रकारों के वचन, अहिंसा के समर्थन में, उद्धृत किये गये है। यशोधरचरित्र में आर्हत धर्म को सर्वोत्तम धर्म तथा अर्हत् को परम देव की पदवी दी गयी है[1]। पौराणिक रचनाओ के समान यशोधर-चरित्र की कथा का पर्यवसान शान्तरस में होता है। काव्य के प्रायः सभी पात्र पाप से परित्राण पाने तथा जीवन का चरम सुख प्राप्त करने के लिए चारित्र्यव्रत ग्रहण करते हैं।

कवि-परिचय तथा रचनाकाल

यशोधरचरित्र से इसके लेखक पद्मनाभ के सम्बन्ध में इतना ही ज्ञात होता है कि उसने जैन दर्शन का अध्ययन भट्टारक गुणकीर्त्ति के सान्निध्य में किया था तथा इन्ही की प्रेरणा से वह काव्यकला में प्रवृत्त हुआ था[2]। यशोधरचरित्र की रचना गोपाद्रि (ग्वालियर)-नरेश वीरमेन्द्र के राज्यकाल मे[3], उसके महामात्य कुशराज के अनुरोध से की गयी थी। इस तथ्य का उल्लेख कवि ने प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में किया है[4]। सर्ग के प्रारम्भ मे कुशराज का आग्रहपूर्वक प्रशस्तिगान करने का यही तात्पर्य है। पूर्व-विवेचित हम्मीरमहाकाव्य के प्रसंग में कहा गया है, यह तोमरवशीय

१. यशोधरचरित्र, ८.१८०

२. वही, ९.१०७

३ काव्यप्रशस्ति, ४

४. इति यशोधरचारित्रे······महाकाव्ये साधुश्रीकुशराजकारापिते······।

शासक सन् १४२२ तक वर्तमान था। अमरकीर्त्ति के षट्कर्मोपदेश की आमेर प्रति मे, जो सं० १४७९ (सन् १४२२) मे लिखी गयी थी, ग्वालियर में वीरमदेव के राज्य का उल्लेख है। आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वदीपिका (प्रवचनसार की टीका) भी वीरम के शासनकाल मे (सन् १४१२ मे) लिखी गयी थी[५]। पूर्वनिर्दिष्ट युक्ति के अनुसार वीरम का राज्यकाल १३८२ से १४२२ ई० तक माना जा सकता है। प्रतीत होता है, पद्मनाभ कायस्थ तथा आचार्य अमृतचन्द्र, नयचन्द्रसूरि के अवरज समवर्ती विद्वान् थे। इससे यह मानना तर्कसंगत होगा कि यशोधरचरित्र पन्द्रहवी शताब्दी के प्रथम चरण मे, सन् १४०० से १४२२ ई० तक, किसी समय लिखा गया होगा। इस प्रकार वीरम के राज्यकाल को, साहित्य को दो महत्त्वपूर्ण काव्य प्रदान करने का गौरव प्राप्त है।

कथानक

यशोधरचरित्र नौ सर्गो का महाकाव्य है, जिसमे पूर्वजन्म के यशोधर की कथा वर्णित है। प्रथम सर्ग मे यौधेयदेश के अन्तर्वर्ती राजपुर का शासक मारिदत्त, खेचरी विद्या प्राप्त करने के लिये, योगी भैरवानन्द की दुष्प्रेरणा से, काली को नरवलि से प्रसन्न करने की योजना बनाता है। उसके अनुचर एक मुनिकुमार तथा मुनिकन्या को पकड़कर लाते है। उनकी सौम्य आकृति तथा वाक्कौशल से प्रभावित होकर मारिदत्त उन्हें छोड देता है तथा उनका परिचय प्राप्त करने का आग्रह करता है। द्वितीय सर्ग से मुनिकुमार का आत्मपरिचय प्रारम्भ होता है, जो काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। मुनिकुमार पूर्वजन्म का उज्जयिनी-नरेश यशोर्घ का पुत्र यशोधर है। उसका विवाह विराटनगरी के शासक विमलवाहन की रूपवती कन्या अमृतमती से हुआ था। तृतीय सर्ग मे महाराज यशोर्घ पलित केश को वार्धक्य का अग्रदूत मानकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं तथा राज्य का शासनसूत्र यशोधर को सौप देते है। अमृतमती से यशोधर को एक पुत्र, यशोमति, की प्राप्ति होती है। अमृतमती कुबडे हाथीवान की गायन-कला पर मुग्ध होकर उसे आत्मसमर्पण कर देती है। एक दिन स्वयं यशोधर उसे कुबडे के साथ रमण करती देखता है। चतुर्थ सर्ग मे वह इस अपमान से आहत हो जाता है किन्तु अपनी व्याकुलता को दुःस्वप्न का परिणाम बताकर उसके शमन के लिये, हिंसा को घोर पाप मानता हुआ भी, माता के आग्रह से, कुलदेवता को पिष्टि का एक मुर्गा भेंट करता है और उसे देवता का प्रसाद समझ कर खा जाता है। कुलटा अमृतमती अपने पति यशोधर और उसकी माता चद्रमती को विष देकर मार देती है। पाचवे सर्ग मे यशोधर तथा चन्द्रमती के भवान्तरो का वर्णन है। जीवहत्या के फलस्वरूप वे श्वान, मत्स्य, अज आदि निकृष्ट योनियों मे भटकते है। छठे सर्ग मे उनका जीव कुक्कुटों के रूप में जन्म लेता है, जिनका पालन-

५. जैनग्रंथ-प्रशस्ति-संग्रह, भाग १, प्रस्तावना, पृ० ७

पोषण एक चाण्डाल करता है। मुनि सुदत्त उनके पूर्व-भवो का वर्णन करता है। वे मरकर यशोमति की पत्नी की कोख से अभयरुचि तथा अभयमती के रूप में पैदा होते हैं। सातवें सर्ग में मुनि से अपने पिता तथा पितामही की, भवान्तरो में, दुर्गति का हृदयद्रावक वर्णन सुनकर यशोमति का मन आत्मग्लानि से भर जाता है। मुनि से प्रतिवोध पाकर वह तापसव्रत ग्रहण करता है। आठवाँ सर्ग जैन दर्शन के सिद्धांतो की विवेचना से भरपूर है। अभयरुचि से हिंसा के दुष्परिणाम सुनकर देवी चण्डमारी तथा मारिदत्त को भी अपने कुकृत्यों से ग्लानि होती है। नवें सर्ग मे, मारिदत्त की प्रार्थना से, मुनि सुदत्त, चन्द्रमती, अमृतमती, मारिदत्त, अशोकलता आदि सबके पूर्व भवों का वर्णन करते हैं। मारिदत्त तथा देवी मुनि से तापस व्रत ग्रहण करते है और सभी मरकर सद्गति को प्राप्त होते हैं।

यशोधरचरित्र का कथानक ठेठ पौराणिक रूप मे प्रस्तुत किया गया है। अतः इसमे अन्विति का अभाव है। जो कथासूत्र काव्य के तानेवाने के आधार हैं, वे वहुत ढीले तथा असंभव-से हैं। काव्य के तीन सर्ग मुख्य पात्रो के भवान्तरों के वर्णनों तथा दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन पर व्यय कर दिये गये हैं। अन्य सर्ग भी गौण पात्रों के पूर्व-जन्मों के वर्णनों से भरे पड़े हैं। वस्तुतः, कवि का उद्देश्य कर्मसिद्धान्त की अपरिहार्यता का निरूपण करना है। काव्य के विविध पात्रों के जन्म-जन्मान्तरों के कर्मो और उनसे प्राप्त फलों का वर्णन करके इसी उद्देश्य की पूर्ति की गयी है। इस शैली से निरूपित कथानक मे सुसम्वद्धता का अभाव स्वाभाविक है। सच तो यह है कि यशोधरचरित्र की कथावस्तु महाकाव्य के अधिक अनुकूल नही है, यद्यपि इसका पुराण-प्रथित रूप यही है।

रसविधान

जैन पौराणिक काव्यों का परोक्ष लक्ष्य कविता के व्याज से आर्हत धर्म का प्रचार करना है। इसीलिये इनमे एक ओर पात्रो के पूर्व-भवों का सविस्तार वर्णन किया जाता है, जिससे उनके वर्तमान जन्म की सदसत् प्रवृत्तियों का पूर्व जन्मों के शुभाशुभ कर्मो के साथ संवंध जोडकर कर्मवाद की अटलता का प्रतिपादन किया जा जा सके, दूसरी ओर पाठक में संवेगोत्पत्ति के लिए जगत् की असारता तथा धनवैभव की दु:खमयता का निरूपण किया जाता है। यशोधरचरित्र मे इन दोनों विधियों को उद्देश्य की पूर्ति का साधन वनाया गया है। इसमे भोगों की भंगुरता तथा वैराग्य के शाश्वत सुख का सप्रयत्न प्रतिपादन किया गया है, जिससे अभिभूत होकर काव्य के प्रायः सभी पात्र शिवत्व-प्राप्ति के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। इन प्रसंगों के चित्रण में स्वभावतः शान्तरस का पल्लवन हुआ है। इसलिए यशोधरचरित्र मे शान्तरस की प्रधानता है। अपने पिता तथा पितामही की यातनाओं का रोमहर्षक वर्णन सुनकर अभयरुचि जन्म-मरण के दारुण दुःखो से त्रस्त हो जाता है। वह सर्वस्व छोड़कर

वैराग्य मे सच्चा सुख खोजने का निश्चय करता है। अभयरुचि का यह निर्वेद काव्य मे, शान्तरस मे, परिणत हुआ है।

> मूलं पापस्य भोगोऽयं भोगोऽयं धर्मनाशनः।
> श्वभ्रस्य कारणं भोगो भोगो मोक्षमहार्गला ॥ ७.१५७
> एतादृशममुं जानन्कथं खलमुपाश्रये।
> एतस्मिन्कः स्पृहां कुर्यात् स्थितिज्ञो मादृशो जनः ॥ ७.१५८

यशोधरचरित्र मे शृगार, करुण, भयानक, वीभत्स आदि का अगी रस के सहायक रसो के रूप मे चित्रण किया गया है। इस पौराणिक काव्य मे भी वैराग्यशील साधु ने शृगार की सरसता का परित्याग नही किया, यह उसकी सहृदयता का प्रतीक है। परन्तु इसमे सन्देह नही कि पद्मनाभ ने, अन्य अधिकतर जैन कवियो की भाँति, शृगार का चित्रण रूढि का पालन करने के लिए किया है। इसीलिए शृगार का जम कर चित्रण करने के तुरन्त बाद उसकी निवृत्ति प्रवल हो जाती है और शृगार की आलम्वनभूत नारी उसे विषवल्लरी, महाभुजगी तथा व्याघ्री प्रतीत होने लगती है। यशोधरचरित्र मे शृगार के आलम्वनपक्ष के चित्रण के अतिरिक्त यशोधर तथा उसकी रानी अमृतमती के सुरत-वर्णन मे सम्भोग-शृगार का भव्य परिपाक हुआ है। पद्मनाभ ने शृगार के कला-पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है। चुम्वन, आलिगन तथा विपरीत-रति आदि चेष्टाएँ इसी प्रवृत्ति की द्योतक है।

> तस्माद् विनिर्गत्य नृपात्मजा मे जयस्वनीकृत्य ननाम पश्चात्।
> आलिग्य कण्ठे सुमुखीं गृहीत्वा हस्ते च शय्यातलमाजगाम ॥ ३.८५
> वस्त्रे निरस्ते मुखफूत्कृतेन निर्वातुकामा सुदती प्रदीपम्।
> मणिप्रदीपं प्रति तन्मुखाब्जफूत्कारवातो विफलीवभूव ॥ ३.८६
> क्षणं प्रिया तन्मुखमुन्नमय्य चुचुंव मीनध्वजवाणखिन्नः।
> स्थित्वोपरि प्रेमभरात्प्रियस्य क्षणं तु पुंश्चेष्टितमाततान ॥ ३.८७

देवी चण्डमारी के चित्रण मे भयानकरस का आलम्वन पक्ष प्रस्फुटित है। अपने कराल मुख, लपलपाती जीभ तथा अंगारतुल्य आखों के कारण वह यम की दाढ प्रतीत होती है (१.८०-८१)। इसी चण्डमारी के मन्दिर का वर्णन वीभत्सरस को जन्म देता है। यहाँ मन्दिर के प्रांगण में वहती रक्त-धारा, मांस, मज्जा आदि आलम्वन विभाव है। गीधो का पंख फडफड़ा कर मासराशि की ओर दौड़ना, कुत्तो का हड्डियाँ चवाना तथा चर्वी पर मक्खियो का भिनभिनाना उद्दीपन-विभाव है। मोह, आवेग, व्याधि आदि व्यभिचारी भाव है। इनसे परिपुष्ट होकर अभयरुचि का मनोगत स्थायी भाव, जुगुप्सा, वीभत्स के रूप मे परिणत हुआ है।

> मांसस्वेदगतानेकगृध्रपक्षतिलक्षितं।
> रक्ताम्बुवाहिनीमध्यमज्जत्करटकव्रजम् ॥ १.११९

नरककालमालाभिः कलितं पुरतो दिशम् ।
करोटिस्फोटनासक्तशुनां कुलेन ढौकितम् ॥ १.१२०
क्वचित्कासारखण्डेन क्वचिन्मुण्डेन मण्डितम् ।
क्वचिन्मज्जावशास्वादभ्रमद्‌बहुलमक्षिकम् ॥ १.१२१

अभयरुचि से उसके पूर्वभवो तथा हिंसा की घोर परिणति का दारुण वर्णन सुनकर देवी चण्डमारी, अपनी क्रूर प्रकृति छोड़कर, शान्त हो जाती है। वह स्वयं मुनिकुमार को अर्घ्य देती है और उससे क्षमायाचना करती है। उसके इस सहसा परिवर्तन के वर्णन मे अद्‌भुत रस की छटा है।

चकोरलोचना चारुचन्दनागुरुर्चिता ।
वनदेवी तदा शांता जनैः सर्वैर्विलोकिता ॥ ८.१४६
अदादर्घं तदा देवी स्वयमेव तयोर्द्वयोः ।
मणिपात्रस्थितैर्दूर्वादधिपुष्पविलेपनैः ॥ ८.१४७
पतित्वा तत्पदद्वन्द्वे भूतलाहितमस्तका ।
उवाच मृदुतोपेता पापापगतमानसा ॥ ८.१४८

करुणरस की अवतारणा, यशोधर की हत्या पर उसके पुत्र यशोमति के विलाप मे हुई है। पद्मनाभ की करुणा, जैन कवियो की परम्परा के अनुरूप, रोने-चिल्लाने तक सीमित है और उसी प्रकार वह मार्मिकता से शून्य है (५.२-४)।

प्रकृतिचित्रण

अपने धार्मिक कथानक की नीरसता को मेटने के लिए पद्मनाभ ने काव्य में प्रकृति का मनोरम चित्रण किया है। पौराणिक काव्य के मरुस्थल में प्रकृति के ये हरे-भरे उद्यान सचमुच श्रान्त पथिक को समुचित विश्राम प्रदान करते है।

यशोधरचरित्र के प्रकृति-चित्रण पर तत्कालीन परिवेश की छाप है, किन्तु अधिकतर समवर्ती कवियो के विपरीत पद्मनाभ ने प्रकृति के आलम्बनपक्ष का चित्रण करने मे अधिक रुचि ली है। यशोधरचरित्र मे नगर, जनपद, ऋतु, उद्यान आदि के वर्णन अधिकतर प्रकृति का स्वाभाविक, अनलकृत चित्रण है। उस अलंकृति-प्रधान युग मे प्रकृति के आलम्बनपक्ष का यह चित्रण कवि के सहज प्रकृति-प्रेम का परिचायक है। तत्कालीन कवियो मे प्रकृति के प्रति यह सहानुभूति बहुत कम दिखाई देती है। प्रभात का प्रस्तुत वर्णन स्वाभाविकता से ओत-प्रोत है। चन्द्रमा की आभा मन्द पड़ गयी है, तारे छिपते जा रहे है, कमल खिल गये है, उनकी सुगन्ध से भरी बयार चारो ओर चल रही है, अभिसारिकाएँ घरो को लौट रही है। लो, सूर्य भी उदित हो गया है।

म्लानं शुभ्रांशुबिम्बं नभसि परिमितास्तारकाः कान्तिहीनाः
प्रोन्मीलत्पद्मसंगात्परिमलसुरभिः सर्वतो वाति वातः ।

एताः शय्यानिशांताद् गुरुगृहमधुना यान्ति कान्ताः निशान्ते
जातः सूर्योदयोऽयं कृतजनकुशलो देव निद्रां जहीहि ॥ ३.१५२

प्रकृति का यही अनलंकृत चित्र उज्जयिनी के हिमवान् पर्वत के वर्णन मे देखा जा सकता है। यहाँ कवि ने पर्वत के वृक्षो, निर्झरो, बासों के झुरमुटो मे साय-साय करती पवन आदि के सहज संकेत से पर्वतीय वातावरण को मुखर किया है।

अथास्त्यवंतिदेशस्य मध्यस्थो हिमवान् गिरिः।
जम्बूनारंगपुंनागलवलीवनसुन्दरः॥ ५.२१
केरलीचिकुराकारवहद्बहलनिर्झरः।
कीचकान्तर्वहद्वातस्वरनिर्जितवेणुकः॥ ५.२४
नानाधातुभिरापूर्णः सरलागुरुवासितः।
मणीनामाकरः श्रेयान् रुचिरश्चमरीचयैः॥ ५.२६

पद्मनाभ ने प्रकृति पर चेतना के आरोप के द्वारा उसका मानवीकरण भी किया है। प्रकृति का मानवीकरण उसे मानव के निकट लाने का साहित्यिक प्रयास है। सूर्यास्त के वर्णन में आकाश को नायिका का रूप दिया गया है, जो अपने पति (सूर्य) की मृत्यु पर, विधवा की भाँति बाल फैलाकर करुण क्रन्दन कर रही है।

अस्तंगते स्वामिनि तिग्मरश्मौ विक्षिप्तकेशेव घनांधकारैः।
नक्षत्रनेत्राम्बुकणैरयोगदुःखादियं द्युप्रमदा रुरोद॥ ३.६४

चन्द्रमा पर यहाँ सिंह की चेष्टाएँ आरोपित की गयी है। वह अपनी चन्द्रिका के नखो से अन्धकार रूपी हाथी को फाड़ कर तारो के मोती बिखेरता हुआ गगन के वन मे घूम रहा है।

ज्योत्स्नानखैः ध्वान्तकरीन्द्रवृन्दं भित्त्वा किरंस्तारकमौक्तिकानि।
नभोवनांतानि विगाहमानः समाविरासीद् विधुपंचवक्त्रः॥ ३.६६

सौन्दर्यचित्रण

प्राकृतिक सौन्दर्य की भाँति मानव-सौन्दर्य ने भी पद्मनाभ को आकृष्ट किया है। उसने एक ओर नखशिखप्रणाली को वर्ण्य पात्रों के अगों-प्रत्यंगो के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का आधार बनाया है, दूसरी ओर उनके शारीरिक सौन्दर्य का सामान्य वर्णन करके मानव-मन पर पडने वाले प्रभाव को रेखाकित किया है। राजकुमारी अमृतमती का चित्रण नखशिखविधि से किया गया है जिसके अन्तर्गत कवि ने उसके उरोजो, गति तथा मुख का सौन्दर्य उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलकारो के आधार पर अकित किया है (२.७०,७१,७३)। उसी के सौन्दर्य-चित्रण मे अन्यत्र उपर्युक्त दोनों शैलियो का मिश्रण है। यहाँ उसके रूप का सामान्य वर्णन है किन्तु उसके केशो की वकिमा और अधर की मधुरता का विशेष उल्लेख किया गया है।

लावण्यशाला किमियं विधातुः किं मानसाकर्षणसिद्धिरेषा।
किं कामजीवातुरियं कृशागी किं कौमुदी वा जनलोचनस्य॥ ३.५८

इमां विनिर्माय कथं कथंचिद् विनिर्मिमाणस्य कचौघमस्याः ।
सवेपथुः पाणिरभूद् विधातुररालतामेति किमन्यथासौ ॥ ३.५६
किं विद्रुमोऽयं मृदुता क्व तस्मिन्नथ प्रवालः क्व सुधालवोऽपि ।
विम्बं किमेतत्सुरभिः क्वेति शक्या न निर्णेतुमिहाधरश्रीः (?) ॥ ३.६०

चरित्रचित्रण

यशोधरचरित्र मे कई पात्र हैं किन्तु नायक यशोधर तथा नायिका अमृतमती के अतिरिक्त किसी का चरित्र अधिक स्पष्ट नही है । इसका कारण यह है कि कवि ने उन्हें पौराणिक रेखाओं की चौहद्दी मे प्रस्तुत किया है ।

यशोधर

काव्यनायक अभयरुचि पूर्वजन्म का यशोधर है । वह उज्जयिनी नरेश यशोर्घ का पुत्र है । उसके लिए पितृसेवा सर्वोपरि है । उसकी तुलना मे राज्य के समस्त वैभव तुच्छ हैं । महाराज यशोर्घ जव उसे राज्यभार सौंपकर प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहते है, वह, जीमूतवाहन की भाँति, उनके साथ वन जाने को तैयार हो जाता है । पिता के विना उसके लिए राज्यलक्ष्मी भी अर्थहीन है ।

त्वया विना किं मम राजलक्ष्म्या त्वया विना किं मम राजभोगैः ।
त्वया समं तात गृहे वसामि त्वया समं चाथ वनं व्रजामि ॥ ३.१२

किन्तु पितृभक्ति के कारण वह, अन्ततः, पिता का आदेश स्वीकार करता है । उसकी आचार-संहिता मे पिता की आज्ञा सर्वोपरि है ।

वह अहिंसा का कट्टर समर्थक है और जीवहत्या को नरक का द्वार मानता है, किन्तु तथाकथित दुःस्वप्न को शान्त करने के लिये वह, माता के आग्रह से सही, कुल-देवता को वलि देता है । यह उसके निश्चय की अस्थिरता का सूचक है । यही चारित्रिक विरोध उसके पत्नी के प्रति व्यवहार मे दृष्टिगत होता है । अमृतमती की दुश्चरित्रता का विश्वास होने पर तथा हाथीवान के साथ उसे रमण करती देख कर भी वह उसके प्रेम के झूठे प्रदर्शन से इतना विचलित हो जाता है कि उसे अपनी आँखो पर ही सन्देह होने लगता है । वह पत्नी के उद्देश्य पर सन्देह करता है किन्तु उसका भोजन का निमन्त्रण विना हिचक स्वीकार कर लेता है । इस चलचित्तता का मूल्य उसे अपने प्राणों से चुकाना पड़ता है ।

जीववध के फलस्वरूप वह अनेक अधम योनियों में भटक कर अपनी पुत्रवधू के गर्भ से उत्पन्न होता है । मुनि सुदत्त से व्रत ग्रहण करके वह सद्गति को प्राप्त होता है ।

अमृतमती

विराटदेश की सुन्दरी राजकुमारी अमृतमती काव्य की नायिका है । उसके वाह्य सौन्दर्य के पर्दे में जघन्यतम कुरूपता छिपी है । वह दुश्चरित्रता तथा धूर्तता

की जीवन्त प्रतिमा है। कुल की गरिमा तथा पति की कीर्त्ति पर पानी फेर कर वह विकलाग हाथीवान के चंगुल मे फस जाती है। अपना मार्ग निष्कण्टक बनाने के लिये उसे पति को विप देकर मारने मे भी सकोच नही है।

प्रत्येक चरित्रहीन व्यक्ति की तरह वह ढोगी है। कुबडे के हाथो बिक कर भी वह पति के सामने प्रेम का ढोग रचती है और निर्लज्जता से उसके साथ दीक्षा ग्रहण करने का प्रस्ताव करती है। वह दुष्टा उसे पातिव्रत्य की महिमा पर एक भाषण सुनाने से भी नही चूकती।

गौण पात्रो मे मारिदत्त क्रूर शासक है। पिता के निधन के पश्चात् वह कुसगति मे पड़ जाता है। वह योगी भैरवानन्द के भुलावे मे आकर देवी को नर-बलि देने को तैयार हो जाता है, किन्तु प्रतिबोध पाकर तापस-व्रत ग्रहण करता है।

यशोमति काव्यनायक यशोधर का पुत्र है। शासक होने के नाते वह जीववध को अपना राजोचित अधिकार समझता है। मुनि सुदत्त के उपदेश से वह भी चारित्र्य-व्रत ग्रहण करता है।

दर्शन

अपने प्रचारात्मक उद्देश्य के अनुरूप पद्मनाभ ने यशोधरचरित्र मे जैन दर्शन के कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो का विवेचन किया है। कर्मसिद्धान्त जैन दर्शन का केन्द्रबिन्दु है। प्राणी को अपने सदसत् कर्मो का फल अवश्य भोगना पडता है। अपने कर्म के कारण कुत्ता देवता बनता है और श्रोत्रिय चाण्डाल (८.५८)।

आठवे सर्ग मे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा तथा मोक्ष, इन सात तत्त्वो की विस्तृत मीमांसा की गयी है। जीव का लक्षण चेतनता है। पुद्गल को अजीव कहते है (८.२०)। अजीव तथा जीव अथवा देह और आत्मा का सम्बन्ध शख और उसकी ध्वनि अथवा अरणि एव उसकी अग्नि के समान है। जिस प्रकार शख की ध्वनि और और अरणि की आग दिखाई नही देती, उसी प्रकार देह की अन्तर्वर्ती आत्मा भी दृष्टिगोचर नही है (६.६४,७३)। पाच भूतो के समाहार से शरीर का निर्माण होता है, जीव का नही। इसी प्रकार स्पर्श आदि पुद्गल के गुण है, आत्मा के नही (६.९४,९७)। आत्मा चित्स्वरूप, विमल, ज्ञानात्मक तथा साक्षी है। उसे सामान्यत. कर्मो का भोक्ता माना जाता है (८.६७-६९)। जैन दर्शन मे आत्मा की बहुता स्वीकार की गयी है। यदि आत्मा एक अखण्ड है तो विभिन्न व्यक्ति, एक समय मे ही, कैसे अलग-अलग आचरण कर सकते है (६.१०७)।

जीव और पुद्गल का अशुद्ध संयोग आस्रव है। वह दो प्रकार है—शुभ तथा अशुभ (८.८०-८०)। सव प्रकार के आस्रवो का निरोध संवर कहलाता है। द्रव्य तथा भाव के भेद से वह भी दो प्रकार है। पूर्व कर्मों के क्षय का नाम निर्जरा है। इसके भी दो भेद है—सकाया तथा अकाया (८.८९,९४-९५)। समस्त कर्मो के

विनाश से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन सात तत्त्वो के सम्पूर्ण ज्ञान से सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है। सम्यक् दर्शन के विना जीव कठोर यातनाएँ सहता हुआ अनन्त योनियो मे घूमता है (८.२२-२३)। धर्म मनुष्य को मुक्ति मे धारण करता है, यही उसकी सार्थकता है। वह आत्मभाव से एक प्रकार का तथा रत्नत्रय के कारण तीन प्रकार का है (८ १११)।

भाषा

प्रौढ तथा अलकृत भाषा से विद्वद्वर्ग का वौद्धिक रंजन करना कवि का अभीष्ट नही है। पद्मनाभ ने काव्य मे अपने भाषा-सम्वन्धी आदर्श का सकेत किया है। उसके विचार मे प्रचण्ड पदविन्यास काव्य के लिये घातक है। सहृदयो के लिये भाषायी क्लिष्टता रुचिकर नही है। उनकी तुष्टि ललित (सरल) भाषा से होती है।

प्रचण्डैः पदविन्यासैः कवित्वं हि विडम्बना।
ललितेन कवित्वेन तुष्यन्ति परमार्थिनः ॥१.५

इस मानदण्ड से मूल्याकन करने पर ज्ञात होगा कि पद्मनाभ ने काव्य में सर्वत्र अपने आदर्श का पालन किया है। यशोधरचरित्र की प्रकृति ही ऐसी है कि इसमे क्लिष्टता अथवा अन्य भाषात्मक जादूगरियो के लिये स्थान नही है। पौराणिक तथा प्रचारवादी रचना होने के नाते इसमे सर्वत्र प्रसादपूर्ण प्राजल भाषा का प्रयोग किया गया है। पौराणिक काव्यो के लेखको का उद्देश्य ही सुगम भाषा में पुराण-पुरुषों का गुणगान करना तथा उनके चरित के व्याज से अथवा उसके परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन के सिद्धांतों का प्रतिपादन करना है। भाषा की यह सुगमता संवादो में चरम सीमा को पहुँच गयी है। इस दृष्टि से दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व महाराज यशोर्ध द्वारा अपने पुत्र यशोधर को दी गयी शिक्षा उल्लेखनीय है। यहाँ भाषा की सुबोधता, प्रतिपादित राजधर्म की प्रभावशालिता को दूना कर देती है।

राजन्गुणानर्जय साधुवृत्त्या निजाः प्रजाः पालय पुत्रवृत्त्या।
दोषान्सदा वर्जय नीतिवृत्त्या स्वमानसं मार्जय धर्मवृत्त्या ॥३.१९
साम्ना यदा सिद्धिमुपैति कार्यं न तत्र दण्डो भवता विधेयः।
शाम्येद् यदा शर्करयेव पित्तं तदा पटोलस्य किमु प्रयोगः ॥३.२५

यशोधरचरित्र मे भाषा की विविधता के लिये अधिक अवकाश नही है। सरलता उसकी विशेषता है। परन्तु प्रसंग के अनुसार उस सरलता मे वर्णित भावों का पुट आ जाता है। यशोमति की आत्मग्लानि तथा पश्चात्ताप का निरूपण जिस समासरहित पदावली में किया गया है, वह उसकी वेदना को प्रकट करती है।

हा हा धिग्दैव किं कुर्यां शरणं कस्य यामि वा।
को हि वा रक्षितुं शक्तो मामस्माद् भवबन्धनात् ॥७.१०५

जैन कवियो की शैली के अनुरूप पद्मनाभ ने अपने काव्य में भावपूर्ण सूक्तियो

का प्रयोग सरसता लाने के लिये किया है। कुछ सूक्तियाँ रोचक है—न काकमाकाक्षति राजहंसी (३.४७), कर्मणो महती गतिः (६.११), असत्संगगतः कुत्र विवेकः (७.१०२)

अलंकार

पौराणिक काव्यो के कलापक्ष को समृद्ध वनाना उनके लेखको का लक्ष्य नही है। साधारण सुविज्ञात अलकार ही उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम वने है। पद्मनाभ उपमा का मर्मज्ञ है। उनके अप्रस्तुतो का क्षेत्र वहुत विस्तृत है। प्रकृति पर आधारित यह उपमा अतीव रोचक है। गुणो ने महाराज यशोर्ध के हृदय से दोपो को इस प्रकार निकाल दिया जैसे प्रात.कालीन सूर्य की किरणे कमलकोश से भ्रमरो को निकाल देती है।

दोषान् निःकाश्य विविशुर्यच्चित्तं सकलगुणाः।
भृंगान् कमलकोशेभ्यः प्रातः सूर्यकरा इव ॥२.४५

परिसंख्या का भी कवि ने पर्याप्त प्रयोग किया है। परिसंख्या से उसे कुछ ऐसा अनुराग है कि नगरवर्णन मे वह वार-वार इसका प्रयोग करता है। परिसख्या को नगरवर्णन का माध्यम वनाना जैन काव्यो की प्रवृत्ति है। राजपुर के प्रस्तुत वर्णन मे रति, करिकपोलो, केशो तथा व्याकरण-शास्त्र से अन्य पदार्थों का व्यवच्छेद होने से परिसख्या अलकार है।

द्विजाघातो रते यत्र मदः करिकपोलयोः।
मलिनात्मा कचे स्त्रीणां पदशास्त्रे निपातनम् ॥१.२२

अमृतमती की दुश्चरित्रता का वर्णन अप्रस्तुप्रशसा से किया गया है। यहाँ अप्रस्तुत सूर्य, सरोजिनी तथा दादुर से क्रमशः यशोधर, अमृतमती तथा कुवडा व्यग्य है।

सदैव मित्रेण समं प्रसन्ना सरोजिनी या कुरुते विलासम्।
भेकेन साकं रमतेऽथ सैव यदत्र हेतुर्जडसंगवासः ॥३.१४३

यशोधर के भवान्तर-वर्णन के इस पद्य मे जीवन के साथ वीर्य के स्खलन का उल्लेख होने से सहोक्ति अलकार है।

समं जीवेन संक्रान्तः शुक्रस्तद्वर्करोदरे।५.१२४

यशोधरचरित्र में सुन्दर स्वभावोक्तियाँ विद्यमान है। प्रकृति-वर्णन मे इनका वाहुल्य है। धान के खेतो की रखवाली करने वाली गोपवालाओ का यह वर्णन अपनी स्वाभाविकता के कारण उल्लेखनीय है।

क्षेत्रे क्षेत्रे यतश्चारुकर्णविश्रान्तलोचनाः।
गायन्ति ललितं गीतं मधुरं शालिपालिकाः ॥१ २०

मुनि सुदत्त, अभयरुचि तथा अभयमती की तापस जीवन की कठोरता का

भान कराने के लिये विषम अलंकार का आश्रय लेता है। यहाँ सुकुमार राजकुमार तथा कष्टसाध्य दीक्षित जीवन, इन दो विरोधी चीजों का समवाय दिखाया गया है।

क्व युवां सुकुमारांगौ बालौ राजकुमारकौ।
क्व चेयं दुर्वहदीक्षा जिनेशकुलसेविता ॥८.८

इनके अतिरिक्त यशोधरचरित्र मे सन्देह, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विरोध, श्लेष, मालोपमा, अनुप्रास आदि भी प्रयुक्त किये गये हैं।

छन्द

पौराणिक काव्यो की भाँति यशोधरचरित्र में अनुष्टुप् की प्रधानता है। तृतीय सर्ग की रचना उपजाति मे हुई है। सर्गो के आरम्भ तथा अन्त मे प्रयुक्त होने वाले छन्दों के नाम इस प्रकार है—मालिनी, वसन्ततिलका; शार्दूलविक्रीडित, उपेन्द्रवज्रा, स्रग्धरा तथा पृथ्वी। यशोधरचरित्र मे कुल आठ छन्दों का प्रयोग किया गया है।

यशोधरचरित्र के लेखक ने प्रायः सभी काव्य-धर्मो का स्पर्श किया है। काव्य से उसकी कवित्व-शक्ति का आभास भी मिलता है, किन्तु भवान्तर के वर्णनों तथा दार्शनिक सिद्धान्तो को अधिक महत्त्व देने के कारण यशोधरचरित्र धर्मकथा-सा (पैडागोगिक) बन गया है।

२१. पार्श्वनाथकाव्य : पद्मसुन्दर

आलोच्य काल के पौराणिक महाकाव्यों में, मुगल सम्राट् अकबर के धर्म-मित्र उपाध्याय पद्मसुन्दर के पार्श्वनाथकाव्य का महत्त्व काव्य-गुणों के कारण इतना नही है, जितना कवि के व्यक्तित्व के कारण। पार्श्वनाथकाव्य मे तीर्थंकर पार्श्वनाथ का पुराण-प्रसिद्ध चरित, लगभग उसी परिवेश तथा शैली मे, वर्णित है। चरित-वर्णन तो यहाँ निमित्त मात्र है। पार्श्वचरित का आँचल पकड कर कवि ने वस्तुत: जैन-धर्म तथा दर्शन के सिद्धान्तो की व्याख्या की है। वैसे भी काव्य मे जन्म-जन्मान्तरो के वृत्तो तथा विषयान्तरों का इतना वाहुल्य है कि चरित का सूत्र कही-कही दिखाई देता है। इतना होने पर भी हेमविजय के पार्श्वचरित की तुलना मे, जिसकी समीक्षा इसी अध्याय मे की जायेगी, इसकी विपय-समृद्धि तथा विविधता अल्प है, यद्यपि कवि का प्रचारात्मक दृष्टिकोण उतना ही प्रबल है।

विवेच्य युग के अन्य कुछ काव्यो के समान पार्श्वनाथकाव्य अभी तक अप्रकाशित है। इसकी एक अतीव शुद्ध तथा सुपाठ्य प्रति (संख्या १६) जयपुर के प्रसिद्ध आमेर-शास्त्र-भण्डार में उपलब्ध है। दुर्भाग्यवश इसकी प्रान्तप्रशस्ति का एक भाग नष्ट हो गया है, जिसके फलस्वरूप काष्ठासंघ के भट्टारक कुमारसेनदेव के आम्नायी चौधरी छाजू की वंशावली अधूरी रह गयी है। 'जैन साहित्य और इतिहास' मे किसी अन्य प्रति से उद्धृत लेखक-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि वे रायमल्ल के पूर्वज थे[1], जिसकी अभ्यर्थना तथा प्रेरणा से कवि ने प्रस्तुत काव्य तथा रायमल्लाभ्युदय[2] की रचना की थी। पार्श्वनाथकाव्य के प्रणयन मे रायमल्ल का योग ऐसा प्रवल है कि पद्मसुन्दर ने न केवल काव्य के प्रारम्भिक पद्य मे,[3] अपितु प्रत्येक सर्ग के

१. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, वम्बई, १९५६, पृ. ३९७-९८ तथा पृ. ४०२-४०३ पर उद्धृत पार्श्वनाथकाव्य के लेखक की गद्यात्मक प्रशस्ति

२. इसका परिचय प्रो. पीटर्सन ने जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, वाम्वे ब्रांच (अतिरिक्त अंक, सन् १८८७) में विस्तार से दिया है। देखिये 'जैन-साहित्य और इतिहास' पृ. ३९७, पा टि. १.

३. शुश्रूषुस्तदकारयत्सुकवित: श्रीपार्श्वनाथाह्वयम्।
काव्यं नव्यमिदं श्रुतिप्रमददं श्रीरायमल्लाह्वयः॥ पार्श्वनाथकाव्य, १.३.

आरम्भ और काव्य के अन्त में[४] से आभारपूर्वक स्वीकार किया है। पार्श्वनाथकाव्य की उक्त प्रति ग्यारह इंच लम्बे तथा साढे चार इंच चौड़े चालीस पत्रों पर लिखी गयी है। यही प्रति प्रस्तुत विवेचन का आधार है।

पार्श्वनाथकाव्य का महाकाव्यत्व

पार्श्वनाथकाव्य की परिकल्पना महाकाव्य के रूप मे की गयी है। इसमे यद्यपि शास्त्र-सम्मत अष्टाधिक सर्ग नही है तथापि इसका कलेवर महाकाव्योचित विस्तार से रहित नही है। आशीर्वादात्मक मगलाचरण के प्रथम दो पद्यो मे क्रमश: 'कमठ' (पूर्वजन्म का पार्श्व का अग्रज) के हठ को चूर करने वाले काव्यनायक पार्श्वनाथ तथा वाग्देवी से कल्याण की कामना की गयी है। पार्श्वप्रभु के पुराण-वर्णित चरित के अनुकूल होने के नाते पद्मसुन्दर का कथानक 'इतिहासकथोद्भूत' है। पौराणिक काव्यो के उद्देश्य के अनुसार पार्श्वनाथकाव्य मे शान्तरस की प्रधानता है। शृंगार, वात्सल्य, अद्भुत तथा वीर रस की, अगरूप मे, निष्पत्ति हुई है। काव्य-नायक पार्श्वनाथ के व्यक्तित्व मे वे समग्र गुण विद्यमान है, साहित्यशास्त्र जिनका अस्तित्व धीरोदात्त नायक मे आवश्यक मानता है। इसकी रचना का प्रेरक विन्दु 'धर्म प्राप्ति' है। पार्श्व के जीवनवृत्त के परिप्रेक्ष्य मे जैनदर्शन के सिद्धान्तो का सरल भाषा मे विश्लेषण करके उन्हे जनप्रिय बनाना काव्य-रचना का उद्देश्य है।

पद्मसुन्दर ने नगर, प्रभात, दूतप्रेषण, युद्ध आदि के वर्णनो से एक ओर काव्य मे जीवन की विविधता का चित्रण करने का प्रयास किया है, दूसरी ओर शास्त्र का पालन किया है। पार्श्वनाथकाव्य की भाषा-शैली मे अपेक्षित शालीनता तथा गम्भीरता है। प्रसादगुण तथा विशद अलकारो से भाषा को प्रौढ एव कान्तिमती बनाने मे कवि की विशेष तत्परता है[५]।

पार्श्वनाथकाव्य का स्वरूप

हेमविजय के पार्श्वचरित की अपेक्षा प्रस्तुत काव्य मे पौराणिक तत्त्व यद्यपि कुछ कम है तथापि इसकी आधारभूमि की पौराणिकता असन्दिग्ध है। पार्श्वनाथ-काव्य के कथानक का स्रोत जैन पुराण है। पौराणिक काव्यो की प्रकृति के अनुरूप इसमे भवान्तरो का विस्तृत वर्णन किया गया है। काव्य मे जन्म-जन्मान्तरो के वर्णनो के अनुपात का अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि प्रथम दो सर्ग आद्योपान्त इन्ही वर्णनो से आच्छन्न है। प्रथम सर्ग मे तो पार्श्वप्रभु के पूरे सात जन्मो का वर्णन किया गया है। काव्य मे मर्त्य तथा अमर्त्य का इतना प्रचुर तथा प्रबल सहयोग है कि गेटे के शब्दो मे इसे, सही अर्थ मे, 'धरा तथा आकाश का मिलन' कहा जा सकता है। पार्श्वप्रभु के गर्भ मे अवतरण से लेकर उनकी निर्वाण-पूजा तक समस्त अनुष्ठानो

४. वही, ७.७०.
५. सद्यः पल्लवय प्रसादविशदालंकारसारत्विषः। वही, १.२

मे देवो की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पुराणो की तरह प्रस्तुत काव्य मे अलौकिक घटनाओ का यथेष्ट समावेश है। शिशु पार्श्व का स्नात्रोत्सव एक योजन लम्बे मुँह वाले कलशो से किया जाता है। मुनि अरविन्द के दर्शन मात्र से मरुभूति गज को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो जाता है। पार्श्वनाथकाव्य मे एक अन्य उल्लेखनीय पौराणिक प्रवृत्ति यह है कि इसमे स्तोत्रो का सन्निवेश बहुत तत्परता से किया गया है। तीसरे से सातवें तक कोई सर्ग ऐसा नही जिसमे कवि ने स्तुति के द्वारा अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति न की हो। पार्श्वनाथकाव्य के स्तोत्रो की विशेषता यह है कि इनमे उपनिषदों की विरोधाभासात्मक शैली मे जिनेश्वर के स्वरूप का वर्णन किया गया है[6]। वस्तुतः कवि ने पार्श्व को परब्रह्म के रूप मे परिकल्पित किया है। वे सामान्य काव्यनायक अथवा मर्त्य नही है।

कवि परिचय तथा रचनाकाल

पार्श्वनाथ-काव्य के प्रणेता उपाध्याय पद्मसुन्दर का परिचय उनके यदुसुन्दर की समीक्षा के अन्तर्गत दिया जा चुका है। पद्मसुन्दर पण्डित पद्ममेरु के शिष्य तथा आनन्दमेरु के प्रशिष्य थे[7]।

स्वय कवि के कथनानुसार पार्श्वनाथकाव्य की रचना सम्वत् १६१५ (सन् १५५८) की मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्दशी, सोमवार को पूर्ण हुई थी। रायमल्लाभ्युदय के समान इसके प्रणयन मे भी रायमल्ल की प्रेरणा निहित है।

अब्दे विक्रमराज्यतः शरकलाभृत्तर्कभूसंमिते
मार्गे मास्यसिते चतुर्दशदिने सत्सौम्यवाराङ्किते।
काव्यं कारितवानतीवसरसं श्रीपार्श्वनाथाह्वयं
सोऽयं नन्दतु नन्दनैः परिवृतः श्रीरायमल्लस्तदा ॥[8]

उपाध्याय पद्मसुन्दर बहुमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् तथा आशुकवि थे। उन्होने सम्वत् १६१४ की कार्त्तिक शुक्ला पचमी को भविष्यदत्तचरित की रचना सम्पन्न की[9], सम्वत् १६१५, ज्येष्ठ शुक्ला पचमी को रायमल्लाभ्युदय का निर्माण हुआ[10] और उसी वर्ष मार्गशीर्ष की कृष्णा चतुर्दशी को प्रस्तुत काव्य पूरा हुआ। इस प्रकार लगभग एक वर्ष मे, उन्होने पर्याप्त विपुलाकार तीन ग्रन्थो की रचना कर, अपनी कवित्वशक्ति को प्रमाणित किया।

६ वही, ५.८१-८३.
७ वही, ७.६४ तथा प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका।
८ वही, ७.७४
९. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास (पूर्वोद्धृत), पृ० ३९६
१० वर्षे विक्रमराज्यतः शरकलामत्तर्कभूसमिते।
ज्येष्ठे मासि सिते च पंचमदिनेऽर्हद्वृत्तसंदर्भितम्। रायमल्लाभ्युदय, प्रशस्ति, २४-

कथानक

जैन पौराणिक काव्यों के लेखकों ने पुराणवर्णित शलाकापुरुषों के चरित को, नवीन उद्भावना किये बिना, यथावत् गृहीत तथा प्रतिपादित किया है। पार्श्वनाथ काव्य का कथानक भी पार्श्वनाथ के परम्परागत चरित के अनुकूल है। पार्श्व से सम्बन्धित अन्य काव्यों के इतिवृत्त की भांति प्रस्तुत काव्य की कथावस्तु के दो भाग हैं। प्रथम दो सर्गों मे पार्श्वनाथ के आठ पूर्वभवों का वर्णन है। पोतना-नरेश अरविन्द के मन्त्री, वेदवेत्ता ब्राह्मण विश्वभूति के पुत्र कमठ तथा मरुभूति का द्वेष जन्म-जन्मान्तरों तक चलता है, जिसके फलस्वरूप कमठ का जीव अपने अनुज[11] के जीव को निरन्तर विकल किये रखता है। मरुभूति नाना जन्मों में कष्ट भोग कर, कालान्तर मे, वाराणसी-नरेश अश्वसेन के पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है। यही काव्य के वास्तविक कथानक—पार्श्वचरित—का आरम्भ-बिन्दु है।

तृतीय सर्ग मे काव्यनायक के जन्म तथा देवो द्वारा उसके स्नात्रोत्सव का वर्णन है। देवकुमारों के साहचर्य मे शैशव व्यतीत करने के बाद पार्श्व ने यौवन में प्रवेश किया। उसके यौवन-जन्य सौन्दर्य का चतुर्थ सर्ग मे विस्तृत वर्णन किया गया है। कुशस्थल के शासक अर्ककीर्त्ति[12] की लावण्यवती पुत्री को बलपूर्वक हथियाने के लिये कालयवन[13] उस पर आक्रमण करता है। अर्ककीर्त्ति दूत भेज कर अश्वसेन से सैनिक सहायता की याचना करता है। युवक पार्श्व तुरन्त यवन के विरुद्ध प्रस्थान करता है। देखते-देखते यवन-सेना छिन्न-भिन्न हो गयी। अर्ककीर्त्ति के ऊपर से विपत्ति के बादल छंट गये। वह कृतज्ञतापूर्वक पार्श्व की स्तुति करता है। पंचम सर्ग मे अर्ककीर्त्ति, उसके उपकार के प्रति आभार प्रकट करने के लिये, पार्श्व को अपनी पुत्री देने का प्रस्ताव करता है। वैराग्यशील होते हुए भी पार्श्व ने उसका प्रस्ताव स्वीकार किया किन्तु, विवाह से पूर्व ही, वह अपनी राजधानी लौट आता है। वहाँ साकेतराज के दूत को देखकर उसे, पूर्वजन्म में अयोध्या में, अर्हद् गोत्र की प्राप्ति का स्मरण हो जाता है। उसमे निर्वेद उदित होता है और वह समस्त वैभवों को ठकुरा कर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता है। छठे सर्ग में पार्श्व तपश्चर्या में प्रवृत्त होते हैं। उन्होंने धन्य नृप के प्रासाद मे तप की पारणा की, जिसके फल-स्वरूप वहाँ अन्न की वृष्टि हुई। तत्पश्चात् पार्श्व तपोवन में जाकर कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित हो गये। उनके देहमन्दिर से अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया और बोध-

११. पार्श्वनाथचरित के अनुसार मरुभूति कमठ का अग्रज था और उनके पिता का नाम वसुमति था।
१२. पार्श्वनाथचरित में उसका नाम प्रसेनजित् है।
१३. पार्श्वनाथचरित से ज्ञात होता है कि वह कलिंग का राजा था।

दीपिकाएँ प्रज्वलित हो उठी। चार मास के कठोर तप के उपरान्त उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। देवगण प्रभु के समवसरण की रचना करते है। सातवे सर्ग में प्रभु की देशना तथा सम्मेताद्रि पर उनकी निर्वाण-प्राप्ति का वर्णन है। इन्द्र उनकी निर्वाण पूजा करता है और उनकी भस्मी क्षीरसागर को भेट कर देता है।

धार्मिक आवेश के कारण पार्श्वनाथकाव्य के रचयिता को कथानक की अधिक सुध नही है। पौराणिक कथानक में काव्योचित परिवर्तन करके उसका सफल निर्वाह करना उसे अभीष्ट भी नही है। पुराण-पुरुषो के परम्परागत वृत्त से उनका गुणगान करना तथा पुण्यलाभ करना ही उसका ध्येय है। प्रथम दो सर्गों के भवान्तरवर्णनो का मूल कथानक से अधिक चेतन सम्बन्ध नही है। काव्यनायक के चरित वाले भाग मे भी स्तोत्रो, दार्शनिक सिद्धान्तो तथा अन्य वर्णनो ने काफी स्थान हड़प लिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्य मे पार्श्वनाथ के जीवन के कुछ प्रमुख प्रसंगो का ही प्रतिपादन हो सका है।

रसयोजना

समूचे मूल परिवेश-सहित गृहीत होने के कारण पुराण-पुरुषो के चरित के विकास तथा उसकी विविध घटनाओं का एक पूर्वनिश्चित क्रम है। पौराणिक काव्यों के लेखको ने उसमे नवीन उद्भावना अथवा अन्य परिवर्तन करने का बहुत कम साहस किया है। अत. इन काव्यो मे रस-परिपाक की एक निश्चित तथा रूढ प्रक्रिया है। पौराणिक काव्यो के नायको का चरम उद्देश्य जीवन के समस्त सुख-वैभव छोड़कर, साधना के मार्ग से, निर्वाण प्राप्त करना है। जीवन की नश्वरता तथा भोगों की छलना के बोध से उनमे सवेग की उत्पत्ति होती है, जो काव्य मे शान्तरस के रूप मे परिणत होता है। कर्मो के क्षय के लिये वे गार्हस्थ्य जीवन स्वीकार करते है और युद्ध के द्वारा अपनी वीरता की स्थापना करते हैं, जो महाकाव्य के नायक के लिये आवश्यक है। इन प्रसंगो के चित्रण मे क्रमश: शृंगार तथा वीररस की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु ये सब शान्तरस के महासागर मे विलीन हो जाते हैं। पार्श्वनाथकाव्य का रसचित्रण इसी प्रक्रिया पर आधारित है।

कवि के शब्दो मे पार्श्वनाथकाव्य 'शृगार की छलकती सागर' है—काव्येऽस्मिन् मधुमाधुरीपरिणते शृंगारभृगारके (१.२)। पता नही, इस धारणा का क्या आधार है ? काव्य को आद्योपान्त पढने के पश्चात् इससे पाठक को शृगार के कुछ कण ही प्राप्त होते है। उनकी सृष्टि भी मानव-प्रणय के अन्तर्गत नही, बल्कि पशु-पक्षियो की कामकेलियो मे हुई है। और इस नाते उसे रस की अपेक्षा रसाभास कहना अधिक उपयुक्त होगा। पोतनाधिपति के अमात्य का पुत्र मरुभूति मर कर भवान्तर मे गज बनता है और उसके अग्रज की पत्नी वरुणा ह... रूप मे

जन्म लेती है। उनकी प्रणयकेलि मे सम्भोग शृगार के अनुभावो की कमनीय अभिव्यक्ति हुई है।

कान्तया स विचचार कानने सल्लकीकवलमर्पितं तया।
तं चखाद जलकेलिष्वयं तां सिषेच करसीकरैर्गजः। १.२५
आस्फालयन् विहितबृंहितनाद एष शिश्लेष तत्र करिणी करलालनेन ॥१.२६

पार्श्वनाथकाव्य की मूल प्रकृति शमप्रधान है। तीर्थंकर के जीवन पर आधारित होने के कारण, जिसने राजसी वैभव तथा सम्पदा को तृणवत् त्याग कर निरीहता का अक्षय सुख स्वीकार किया था, पार्श्वनाथकाव्य मे शान्तरस की प्रधानता है। अरविन्द के संयम-ग्रहण, देवराज की जिनस्तुति आदि प्रसंगो मे शान्तरस का पल्लवन हुआ है, किन्तु उसकी तीव्रतम व्यंजना पार्श्व की दीक्षा-पूर्व चिंतन-धारा मे दिखाई देती है। साकेतराज के दूत के आगमन से, पूर्व जन्म मे, अर्हद्गोत्र की प्राप्ति का स्मरण होने से उसमे निर्वेद की उत्पत्ति होती है, जो काव्य में शान्तरस का रूप लेता है।

निर्द्वन्द्वत्वं सौख्यमेवाहुराप्ताः सद्वन्द्वाना रागिणां तत्कुतस्त्यम्।
तृष्णामोहायासकृच्चान्यविघ्नं सौख्यं किं स्यादापदां भाजनं यत् ॥५.७२
भोगास्तावदापातरम्या. पर्यन्ते ते स्वान्तसन्तापमूलं।
तद्घानाय ज्ञानिनो व्राम्यतन्ते भोगान् रोगानेव मत्वाप्ततत्त्वाः॥ ५.७४
तस्माद् ब्रह्माद्वैतमव्यक्तलिंगं ज्ञानानन्तज्योतिरुद्योतमानं।
नित्यानन्दं चिद्गुणोज्जृम्भमाणं स्वात्मारामं शर्म्म धाम प्रपद्ये॥ ५.७८

पार्श्वनाथकाव्य मे शृंगार के अतिरिक्त वात्सल्य, अद्भुत तथा वीर, शान्त के अगभूत रस हैं। वात्सल्यरस की निष्पत्ति स्वभावत शिशु पार्श्व की बाल-चेष्टाओं मे दिखाई देती है। आगन मे लडखडाती गति से चलते शिशु की तुतलाती बाते सुनकर माता-पिता का हृदय वात्सल्य से भर जाता है।

शिशुः स्मितं क्वचित्तेने रिंखन्मणिमयांगणे।
बिभ्रच्छैशवलीलां स पित्रोर्मुदमवर्धयत् ॥ ४.१४

अलौकिकता अथवा अतिप्राकृतिकता पौराणिक काव्यो की निजी विशेषता है, यह कहना पुनरुक्ति मात्र है। पार्श्वनाथकाव्य मे ऐसी घटनाओ की भरमार है, जो व्यावहारिक जगत् मे असम्भव तथा अविश्वसनीय है। इनमे से कुछ का उल्लेख काव्य के स्वरूप के प्रसग मे किया गया है। ये अलौकिक घटनाएँ 'अद्भुत' की जननी है। धन्यनृप के प्रासाद मे पार्श्वप्रभु के पारणा करने पर, वहाँ सहसा अन्न की वर्षा हुई, देवताओं ने पुष्प बरसाए, दिशाएँ यकायक मृदगो से ध्वनित हो गयी तथा शीतल बयार चलने लगी। इन अतिप्राकृतिक घटनाओ का निरूपण अद्भुतरस की सृष्टि करता है।

तद्गेहेरत्नवृष्टिस्तु पपात गगनांगणात् ।
महादानफलश्रेणी सद्यः प्रादुरभूदिव ॥ ६.२०
आसन्द्रमानका नेदुर्नादापूरितदिग्मुखाः ।
अवावा (?) पुष्परजसां मन्दं शीतो मरुद् ववौ ॥ ६.२२

शान्तरस-प्रधान काव्य मे वीररस का चित्रण असंगत प्रतीत हो सकता है, किन्तु पद्मसुन्दर ने पार्श्व तथा कालयवन के युद्ध का जो वर्णन किया है, वह कथानक की कतिपय घटनाओ की स्वाभाविक परिणति है। इसलिये वह काव्य मे वलात् ठूसा हुआ प्रतीत नही होता। वैसे भी शास्त्र ने महाकाव्य मे नायक के शौर्य-प्रदर्शन का विधान किया है। पार्श्वनाथ मे वर्णित युद्ध शुद्ध परोपकार की भावना से प्रेरित है। वीर युवा पार्श्व के प्रहार से कालयवन की सेना तितर-वितर हो जाती है, जिससे अर्ककीर्त्ति के प्रताप को हडपने वाले काले वादल छट जाते है।

युयुधे संमुखीभूय सोऽपि तेन रुषारुणः ।
ततः पार्श्वकुमारस्तु निजसैनिकसंवृतः ॥ ४.१८०
यमनस्य भटास्तावत्तादिशीका हृतौजसः ।
बभूवुस्तपनोद्योते खद्योतद्योतनं कुतः ॥ ४.१८२
श्रीमत्पार्श्वप्रतापोग्रतपनोद्योतविद्रुताः ।
यमनाद्यास्तमांसीव पलयांचक्रिरे द्रुतम् ॥४.१८३

पार्श्वनाथकाव्य मे, रसो की यह योजना, इसके पौराणिक इतिवृत्त की नीरसता तथा एकरूपता मे रोचकता का सचार करती है।

सौन्दर्य-चित्रण

संस्कृत-साहित्य मे सौन्दर्य-वर्णन की मुख्यत. चार प्रणालियाँ है। एक तो वर्ण्य पात्र के सौन्दर्य की समग्रता का सामान्य चित्रण किया जाता है। दूसरे, सुप्रसिद्ध नखशिखविधि से उसके आपादमस्तक सभी अंगो-प्रत्यगो का सूक्ष्म चित्रण करने का चलन है। इस शैली ने साहित्य मे इतनी लोकप्रियता प्राप्त की है कि न केवल सस्कृत-कवि इस ओर तत्परता से प्रवृत्त हुए बल्कि कुछ प्रादेशिक भाषाओ के साहित्यो में भी इसे रुचिपूर्वक स्वीकार किया गया है। व्यतिरेक तथा अतिशयोक्ति के द्वारा पात्र के अलौकिक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करना, तीसरी प्रचलित शैली है। आभूषणो अथवा प्रसाधनों से सौन्दर्य-वृद्धि करने के प्रति भी कवियो की प्रवृत्ति देखी जाती है।

पद्मसुन्दर का मानव-सौन्दर्य के प्रति कुछ ऐसा आकर्षण तथा पक्षपात है कि उसने अपने प्रायः सभी पात्रो के रूप का जमकर वर्णन किया है और उसमे अपनी पटुता प्रदर्शित करने तथा वैविध्य लाने के लिये पूर्वोक्त सभी शैलियो का उपयोग किया है। मरुभूति की पत्नी वसुन्धरिका हो अथवा जिन-माता वामा, नायक हो या

नायिका, कवि की तूलिका ने उन सब के चित्रो में आकर्षक रंग भरे हैं। पार्श्व तथा वसुन्धरिका का चित्रण नखशिख-प्रणाली से किया गया है। वामा के रूप को समग्र रूप में अभिव्यक्ति मिली है। कुशस्थल-नरेश अर्ककीर्त्ति की रूपसी पुत्री प्रभावती के लावण्य के चित्रण मे इन तथा कतिपय अन्य शैलियों का सम्मिश्रण है, यद्यपि उनमे निश्चित क्रम का अभाव है। उन्हे अलग-अलग करके यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

सर्वप्रथम पद्मसुन्दर ने नखशिख-शैली से प्रभावती के अंगो-प्रत्यंगो का सविस्तार वर्णन करके उसके अनवद्य सौन्दर्य को वाणी देने का गम्भीर उद्योग किया हैं। कवि ने प्रभावती के विभिन्न अवयवों के वर्णन में ऐसे अर्थवान् उपमानों की सम्भावना की है कि राजकुमारी का सौन्दर्य सहसा मानस चक्षुओं के सामने स्फुरित हो जाता है और वह नवयौवना त्रिलोकसुन्दरी प्रतीत होने लगती है।

तदीयमध्यं नतनाभिसुन्दरं बभार भूषां सवलित्रयं परा।
प्रक्लृप्तसोपानमिदं विनिर्ममे स्वमज्जनायेव सुतीर्थमात्मभूः॥ ५.१७
विसारितारद्युतिहारहारिणौ स्तनौ नु तस्याः सुषमामवापतुः।
सुरापगातीरयुगाश्रितस्य तौ रथांगयुग्मस्य तु कुंकुमांचितौ॥ ५.१९
इयं सुकेश्याः कचपाशमंजरी विधुंतुदस्य प्रतिमामुपेयुषी।
मुखेन्दुबिम्बग्रसनैकलिप्सया तमोऽञ्जनस्निग्धविभा विभाव्यते॥ ५.३४
समग्रसर्गाद्भुतरूपसम्पदां दिदृक्षयैकत्र विधिर्व्यधादिव।
जगत्त्रयीयौवतमौलिमालिकामशेषसौन्दर्यपरिष्कृतां नु ताम्॥ ५.३५

पद्मसुन्दर ने अप्रस्तुत की अपेक्षा प्रस्तुत को अधिक गुणवान् बताकर, व्यतिरेक[14] के द्वारा तथा अतिशयोक्ति[15] की असम्भव कल्पनाओ से भी प्रभावती के सर्वातिशायी सौन्दर्य का संकेत किया है।

युवक पार्श्व के रूप के वर्णन का माध्यम भी चिरपरिचित नखशिखप्रणाली है जो पार्श्व के कायिक सौन्दर्य का क्रमबद्ध तथा विस्तृत वर्णन करने मे विशेष उपयोगी सिद्ध हुई है। पार्श्व के ललाट, भौंहों, तरल-विशाल नेत्रों, नासिका-विवर, तथा ऊरुओ की क्रमशः लक्ष्मी के अभिषेक-पट्ट, काम की वागुराओं, वायु से हिलते नीलकमलों, वाग्लक्ष्मी के प्रवेश-मार्ग तथा काम एवं रति के कीर्त्तिस्तम्भों के साथ तुलना करके कवि ने मौलिकता का परिचय दिया है।

१४. तदीयजंघाद्वयीदीप्तिनिर्जिता वनं गता सा कदली तपस्यति।
चिराय वातातपशीतकर्षणैरधःशिरा नूनमखण्डितव्रता॥ वही, ५.१३

१५. रदच्छदोऽस्याः स्मितदीप्तिभासुरो यदि प्रवालः प्रतिबद्धहीरकः।
तदोपमीयेत विजित्य निर्वृतः सुपक्वबिम्बं किल बिम्बतां गतम्॥ वही, ५.२६

ललाटपट्टमस्याभादर्धचन्द्रनिभं विभोः ।
लक्ष्म्याः पट्टाभिषेकाय तत्पीठमिव कल्पितम् ॥ ४.४९
भ्रुवौ विनीले रेजाते सुषमासुन्दरे विभोः ।
विन्यस्ते वागुरे नूनं स्मरैणस्यैव वन्धने ॥ ४.५०
नेत्रे विनीलतारेऽस्य सुन्दरे तरलायते ।
प्रवातेन्दीवरे सद्विरेफे इव रराजतुः ॥ ४.५१
तदूरुद्वयमद्वैतश्रिया भ्राजते सुन्दरम् ।
स्मररत्योश्च दम्पत्योः कीर्तिस्तम्भद्वयं नु तत् ॥ ४.६३

आभूषणो तथा प्रसाधनो से सौन्दर्य-वृद्धि करने की शैली का शिशु पार्श्व के, जन्माभिषेक के पश्चात्, अलकरण मे आश्रय लिया गया है। शची शिशु की आँखों मे अंजन आँजती है, कटि पर रत्नो की मेखला पहनाती है, और चरणो को मणि-जटित भूषणो से अलंकृत करती है।

इन्दीवरनिभे स्निग्धे लोचने विश्वचक्षुषः ।
शची चक्रेऽजनाचारं वभौ तेन निरंजनः ॥ ३.१४७
कटीतटेऽस्य विन्यस्तं किंकिणीभिः सुभासुरं ।
कांचीदाम स्फुरद्रत्नरचितं निचितं श्रिया ॥ ३.१५१
चरणौ किरणोद्दीप्तैः स्फुरद्भिर्मणिभूषणैः ।
गोमुखोद्भासिभिर्न्यस्तै रेजतुर्जगदीशितुः ॥ ३.१५२

विविध भगिमाओ से पात्रो के सौन्दर्य का यह मनोयोगपूर्वक चित्रण कवि की सौन्दर्यान्वेषी वृत्ति तथा कल्पनाशीलता का परिचायक है।

प्रकृति-चित्रण

वीतराग जैन साधु मानव के शारीरिक सौन्दर्य पर इतना मुग्ध है कि प्रकृति का विराट् उन्मुक्त सौन्दर्य उसे आकर्षित नही कर सका। पार्श्वनाथकाव्य मे प्रभात का सामान्य-सा चित्रण किया गया है। कहने को तो पद्मसुन्दर ने साहित्य की सुविज्ञात शैलियो को अपने प्रकृति-वर्णन का आधार वनाया है, किन्तु यह महाकाव्य-परम्परा का निर्वाह मात्र है। तृतीय सर्ग मे प्रभातवर्णन के अन्तर्गत अलकृत तथा स्वाभाविक शैलियो का मिश्रण है। प्रात.काल वाल-रवि की किरणे गगन मे फैल जाती है, सरोवर सारसो के शब्द मे गुजित हो जाते है तथा सुगन्धित समीर से वातावरण महक उठता है। निम्नोक्त पंक्तियो मे, प्रभात के इन उपकरणो का स्वाभाविक (अनलकृत) वर्णन है।

इतः प्राच्यां विभान्ति स्म स्तोकोन्मुक्ताः करा रवेः ।
हंसंरावाः श्रूयन्ते सरसीष्वपि ॥ ३ ३४

सर.सीकरवृन्दानां वोढा मन्दं ववौ मरुत् ।
प्रफुल्लपंकजोत्सर्प्पत्सौरभोद्गारसुन्दरः ॥ ३.३८

प्रभात के इसी वर्णन को प्रेपणीय वनाने के लिये कवि ने कुछ अलकारों का भी प्रयोग किया है । प्रस्तुत पद्य मे व्यतिरेक के प्रयोग से प्रभात का यह साधारण दृश्य आकर्षक वन गया है ।

मन्दिमानं गतश्चन्द्रो देवि त्वन्मुखनिर्जितः ।
प्रकाशयत्वथ जगत्प्रवुद्धं त्वन्मुखाम्वुजम् ॥ ३.३३

पार्श्व के जन्म के समय, प्रकृति, स्वाभाविकता छोडकर अपना आदर्श रूप प्रकट करती है । जिनेश्वर के अवतरित होने पर शीतल समीर चलने लगी, दिशाएँ निर्मल हो गयी, देववृक्षो ने पृथ्वी पर पुष्पवृष्टि की और आकाग दुन्दुभियो की ध्वनि से गूँज उठा (३.६८-७०) ।

काव्य मे केवल एक स्थान पर प्रकृति को मानवी रूप दिया गया है । प्रकृति का मानवीकरण सस्कृत-कवियो का प्रिय विपय है, परन्तु पद्मसुन्दर का मन इसमें नहीं रम सका । पार्श्वप्रभु के समवसरण की रचना मे अशोक चंचल पत्तो का हाथ हिलाकर नर्तक की भाँति नृत्य करता है । भौरों का गुजन उसका मधुर गीत है । शाखाएँ उसकी भुजाएँ है जिनसे वह अभिनय कर रहा है ।

यस्य पुरस्ताच्चलदलहस्तैर्नृत्यमकार्षीदिव किमशोकः ।
भृगनिनादैः कृतकलगीतः पृथुतरशाखाभुजवलनैः स्वैः ॥ ६.८६

चरित्रचित्रण

पार्श्वनाथकाव्य पर पौराणिकता इतनी हावी है कि उसने पात्रो का चरित्र पनपने नही दिया । उसे पौराणिक रेखाओ की सीमाओ में ही अंकित किया गया है । काव्य मे केवल दो पात्र है, जिनका चरित्र कुछ विकसित हुआ है । वह भी उनके पुराण-वर्णित चरित्र से भिन्न नही है ।

पार्श्वनाथ

काव्यनायक पार्श्वनाथ पूर्वजन्म का मरुभूति है, जो विविध जन्मो मे भटक कर वाराणसी-नरेश अश्वसेन के पुत्र के रूप मे जन्म लेता है । पौराणिक पात्र की भाँति वे विभूतिसम्पन्न पुरुष है । उनके जन्म के समय देवगण माता वामा की वन्दना करते है । उनका स्नात्रोत्सव देवराज के निर्देशन में सम्पन्न किया जाता है । उनका शैशव देवो के साहचर्य मे बीतता है । वस्तुत उनका चरित्र दिव्यता से इस प्रकार ओत-प्रोत है कि जन्माभिषेक से लेकर निर्वाण-पूजा तक, उनके जीवन से सम्वन्धित सभी कार्यो का अनुष्ठान देवता करते है ।

पार्श्वनाथ सुन्दर युवक है । यौवन मे उनका कायिक सौन्दर्य ऐसे प्रस्फुटित

हो जाता है जैसे अलकारो से काव्य की शोभा मे वृद्धि होती है[१६]। काव्य मे उनके रूप का विस्तृत वर्णन किया गया है।

पार्श्वनाथ का चरित्र वीरता तथा विरक्ति के दो ध्रुवो मे बंधा हुआ है। कुशस्थल के शासक अर्ककीर्त्ति के अनुरोध से वे कालयवन को समरागण मे तत्काल घेर लेते है। उनके पराक्रम तथा युद्धकौशल से यवन की सेना क्षत-विक्षत हो जाती है। इससे अर्ककीर्त्ति न केवल पराजय से, अपितु शत्रु को पुत्री देने के अपमान से भी वच जाता है। वे कुशस्थलनरेश के प्रस्ताव को स्वीकार तो करते है परन्तु वैराग्य की प्रवलता के कारण वे सयम-श्री का वरण करते है और तपश्चर्या के द्वारा क्रमशः केवलज्ञान तथा निर्वाण को प्राप्त होते है।

अश्वसेन

अश्वसेन वाराणसी के शासक तथा काव्यनायक के पिता है। उनके प्रताप से भीत होकर सूर्य ने अपनी रक्षा के लिये चारो ओर परिधि के दुर्ग की रचना की है। उनके नेत्र तत्त्वभेदी है। वे चररूपी चक्षु से प्रजा की गतिविधियाँ देखते है और विचार के नेत्र से गूढतम रहस्यो का तल उन्हे प्रत्यक्ष दिखाई देता है। उन्होने प्रजा की सुरक्षा की ऐसी चारु व्यवस्था की है कि उनके राज्य मे भय का नाम भी नही रहा। प्रजा उनसे वस्तुत. सनाथ है। वह 'राजन्वती' है। उनके जीवन में चतुर्वर्ग का मनोरम समन्वय है। अर्थ और काम का भी धर्म से सघर्ष नही है। वे मज्जनो के लिये चन्द्रमा के समान सौम्य है किंतु दुष्टो के लिये साक्षात् यम है[१७]। उनके पुत्रप्रेम का काव्य से यथेष्ट परिचय मिलता है।

अर्ककीर्त्ति

अर्ककीर्त्ति कुशस्थल का शासक है। कालयवन उसकी पुत्री को हथियाने के लिये उस पर आक्रमण करता है किंतु पार्श्व की सहायता से वह, उसके दुस्साहस के साथ, उसे भी चूर कर देता है।

दर्शन

अश्वघोष के समान काव्य की सरस भाषा मे दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना पद्मसुन्दर की काव्यरचना का उद्देश्य है। समवसरण मे पार्श्व प्रभु की देशना मे इसके लिये उपयुक्त अवसर था, जिसका कवि ने पूरा उपयोग किया है। यहाँ जैन दर्शन के कुछ सिद्धान्तो का विस्तृत निरूपण किया गया है।

जैन दर्शन में जीव तथा अजीव के भेद से तत्त्व दो प्रकार का माना गया है। जीव का लक्षण चैतन्य है। उसके मुक्त तथा भवस्थ दो भेद है। भवस्थ जीव पुनः दो प्रकार का है—भव्य और अभव्य। मुक्त जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है। वह

१६. सालंकारः कवेः काव्यसन्दर्भ इव स व्यभात्। वही, ३.१५६

१७. वही, ३.११-१६

अनादि, सनातन, विशुद्ध, ज्ञाता तथा द्रष्टा है। द्रव्य की दृष्टि से जीव शाश्वत है। उसके पर्याय भंगुर हैं। इस दृष्टि से उसकी तीन अवस्थाएँ मानी गयी हैं - उत्पाद, व्यय तथा ध्रुवता। विभिन्न मतावलम्बी अपने सिद्धान्त के अनुरूप आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। उसकी वास्तविकता अनेकान्त के द्वारा ही जानी जा सकती है। भव तथा मोक्ष आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं। इस चतुरंग संसार में भटकना 'भव' है। भवबन्धन के समस्त हेतुओं का अभाव तथा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। वह अखण्ड आनन्द की स्थिति है। सम्यग् ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र मोक्षप्राप्ति के सोपान हैं।

जीव के अतिरिक्त जैन दर्शन में अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष, ये आठ पदार्थ माने गये हैं। पुण्य से इतर पाप है। वह ८२ प्रकार का माना गया है। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष का विश्लेषण पद्मनाभ-कायस्थ के यशोधरचरित्र की समीक्षा में किया जा चुका है।

मिथ्यात्व, कषाय, योग, अविरति तथा प्रमाद बंधन के हेतु हैं। चारित्र समस्त दोषपूर्ण योगों के परित्याग का नाम है। सम्यक् दर्शन से ही ज्ञान तथा चारित्र की सार्थकता है। दर्शन और ज्ञान के बिना चारित्र निष्फल है[18]।

जैन धर्म में साधु के लिये पाँच महाव्रतों का विधान है। श्रावक के लिये बारह अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है। यथार्थवादी, आप्त पुरुष होता है। उससे भिन्न व्यक्तियों को आप्ताभास कहते हैं। आगम आप्त पुरुषों के ही वचनों का संकलन है[19]।

भाषा

प्रचारवादी दृष्टिकोण से रचित पौराणिक काव्य में जो सुबोध भाषा अपेक्षित है, पार्श्वनाथकाव्य में उसी का प्रयोग हुआ है। पद्मसुन्दर की भाषा का प्रमुख गुण उसकी सहजता है, किंतु वह प्रौढता तथा कान्ति से शून्य नहीं है। सामान्यतः पार्श्वनाथकाव्य की भाषा को प्रांजल कहा जाएगा। युद्ध-वर्णन जैसे कठोर प्रसंग में भी वह अपने इस गुण को नहीं छोडती, इसका संकेत पार्श्व तथा यवन के युद्ध-वर्णन से मिलता है। पार्श्व के जन्म से उत्पन्न देवताओं के हार्दिक उल्लास की अभिव्यक्ति जिस भाषा में हुई है, वह अपने वेगमात्र से प्रसन्नता की द्योतक है।

> केऽपि नृत्यन्ति गायन्ति हसंत्यास्फोटयन्त्यथ।
> वल्गन्त्यन्ये सुपर्वाणः प्रमोदभरमेदुराः॥ ३.७६
> अवतीर्य क्रमात्सर्वे नभसः काशिपत्तनम्।
> प्रापुर्जयारवोन्मिश्रदुन्दुभिध्वानडम्बराः॥ ३.७९

१८. वही, ६.११६-१४२

१९. वही, ६.१४३-१४४

नीति के प्रतिपादन में भी इसी कोटि की भाषात्मक सरलता दिखाई देती है। कालयवन के अपमानजनक प्रस्ताव का प्रतिवाद करने के लिये अर्ककीर्त्ति का मन्त्री जिस स्मृतिविहित राजधर्म का निरूपण करता है, उसमे कतिपय नीतिपरक उक्तियाँ सुगमता की कान्ति से शोभित है।

> दुर्मदानां विपक्षाणां वधायोद्योगमाचरेत् ।
> अलसो हि निरुद्योगो नरो बाध्यते शत्रुभिः ॥ ४.१०१
> मन्त्रः स्यादषट्कर्णस्तृतीयादेरगोचरः ।
> स च बुद्धिमता कार्यः स्त्रीधूर्तशिशुभिर्न च ॥ ४ १०४

पार्श्वनाथकाव्य मे समासबहुला भाषा का बहुत कम प्रयोग किया गया है। जहाँ वह प्रयुक्त हुई है, वहाँ भी शरत् की नदी की भाँति वह अपना 'प्रसाद' नहीं छोडती। मगलाचरण के दीर्घ समास, अनुप्रास तथा प्राजलता के कारण, अर्थबोध में बाधक नही हैं (१.१)।

पद्मसुन्दर को शब्दचित्र अकित करने मे अद्भुत कौशल प्राप्त है। शब्दचित्र की सार्थकता इस बात मे है कि वर्ण्य विषय अथवा प्रसग को ऐसी शब्दावली मे अकित किया जाये कि वह पाठक के मानस चक्षुओ को तत्काल प्रत्यक्ष हो जाए। छठे सर्ग मे पार्श्व प्रभु के विहार के अन्तर्गत प्रभजन तथा महावृष्टि के वर्णन की यह विशेषता उल्लेखनीय है।

> कादम्बिनी तदा श्यामांजनभूधरसन्निभा ।
> व्यानशे विद्युदत्युग्रज्वालाप्रज्वलिताम्बरा ॥ ६.४७
> गर्जितैः स्फूर्जथुध्वानैर्ब्रह्माण्डं स्फोटयन्निव ।
> भापयंस्तडिदुल्लासैर्वर्षति स्म घनाघनः ॥ ६.४९
> आसप्तरात्रादासारैर्झंझामारुतभीषणैः ।
> जलाप्लुता मही कृत्स्ना व्यभादेकार्णवा तदा ॥ ६.५०

पार्श्वनाथकाव्य की भापा मे रोचकता की वृद्धि करने के लिये कवि ने कुछ भावपूर्ण सूक्तियो का समावेश किया है। उनमे कुछ सरस सूक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं।

> १. कामरागो हि दुस्त्यजः । १.२१
> २. जडानामुच्चसंगोऽपि नीचैः पाताय केवलम् । ३.१४४
> ३. किं तत्तपो यदिह भूतकृपाविहीनम् । ५.५३

अलंकारविधान

पद्मसुन्दर ने काव्य मे अलकारो की स्थिति तथा उपयोगिता के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत प्रकट किया है। पार्श्व के सौन्दर्य-वर्णन में प्रयुक्त एक पद्य को

बदल कर कहा जा सकता है कि कवि के विचार में अलंकारों से काव्य-सौन्दर्य में उसी तरह वृद्धि होती है जैसे यौवन से शारीरिक सौन्दर्य खिल उठता है[२०]। अन्य कई स्थानो पर भी उसने काव्य को आग्रहपूर्वक 'सालकार' कहा है[२१]। इससे यह निष्कर्ष निकालना तो उचित नही कि पद्मसुन्दर अलंकारवादी कवि हैं अथवा पार्श्वनाथकाव्य मे जानबूझकर अलंकार आरोपित किये गये हैं किंतु यह तथ्य है कि भावों को समर्थ बनाने के लिये कवि ने अलंकारों का रुचिपूर्वक प्रयोग किया है। उपमा के प्रति उसका विशेष पक्षपात है। प्रकृति पर आधारित उसके उपमान सटीक हैं और वे वर्ण्यविषय को स्पष्ट करने मे समर्थ है। अर्ककीर्त्ति के चक्रों से शत्रुसेना का ऐसे क्षय हो गया जैसे सूर्य की प्रचण्ड किरणों से हिमराशि पिघल जाती है। गर्मी में हिम को पिघलती देखकर सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि कालयवन की सेना कैसे ध्वस्त हुई होगी ?

चक्रैरस्य द्विषच्चक्रं क्षयमापादितं क्षणात् ।
मार्तण्डकिरणैस्तीक्ष्णैर्हिमानीपटलं यथा ॥ ४.१६०

इसी युद्धवर्णन मे कुछ रोचक श्लेषोपमाएँ भी प्रयुक्त हुई है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

कर्णलग्ना गुणयुताः सपत्राः शीघ्रगामिनः ।
दूता इव शरा रेजुः कृतार्थाः परहृद्गताः ॥ ४.१५२

वक्रोक्ति के प्रति रुचि न होने के कारण कवि ने स्वभावोक्ति को काव्य में पर्याप्त स्थान दिया है। महावृष्टि का पूर्वोद्धृत वर्णन इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। अन्य जैन काव्यों के समान पार्श्वनाथकाव्य मे नगर का वर्णन परिसंख्या के द्वारा किया गया है। इस दृष्टि से वाराणसी का यह वर्णन उल्लेखनीय है।

धन्विष्वेव गुणारोपः स्तब्धता यत्र वा मदः ।
करिष्वेवातपत्रेषु दण्डो भंगस्तु वीचिषु ॥३.७

पार्श्वनाथकाव्य मे अतिशयोक्ति के दो रूप मिलते है। एक तो वह जिसमें वर्ण्य विषय की असाधारणता द्योतित करने के लिये असम्भव कल्पनाएँ की जाती है। एक ऐसी अनूठी अतिशयोक्ति सौन्दर्यवर्णन के प्रकरण मे उद्धृत की चुकी है। दूसरी अतिशयोक्ति वह है, जो किसी वस्तु के अकल्पनीय गुणों अथवा प्रभावशालिता का वर्णन करती है। निम्नोक्त अतिशयोक्ति इसी प्रकार की है।

जिनस्नानाम्बुपूरेण नृलोके निगमादयः ।
निरीतयो निरातंकाः प्रजाः सर्वाः पवित्रिताः ॥ ३.१२३

तृतीय सर्ग मे पार्श्व की स्तुति मे विरोधाभास के प्रयोग से जिनेश्वर का स्वरूप और प्रस्फुटित हो गया है।

२० सालंकारः कवेः काव्यसन्दर्भ इव स व्यभात् । वही, ३.१५६
२१. वही, १.२,७.६४,७०

अभूषणोऽपि सुभगोऽनधीतोऽपि विदांवरः ।
अदिग्धोऽपि सगंधांगः संस्कारो भक्तिरेव न ॥ ३.१६४

पार्श्वनाथकाव्य मे प्रयुक्त अन्य अलंकारों में अनुप्रास, यमक, व्यतिरेक; उत्प्रेक्षा, काव्यलिंग, तद्गुण, भ्रान्तिमान्, रूपक, सहोक्ति तथा दृष्टान्त महत्त्वपूर्ण है।

छन्दयोजना

छन्दो के प्रयोग में पद्मसुन्दर ने शास्त्र का पालन किया है। काव्य के प्रथम सर्ग मे प्रयुक्त विभिन्न छन्द उसके छन्दकौशल के परिचायक है। इस सर्ग में ग्यारह छन्दो को काव्यरचना का माध्यम बनाया गया है। उनके नाम इस प्रकार है—स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, शालिनी, तोटक, उपेन्द्रवज्रा, अनुष्टुप्, रथोद्धता, द्रुतविलम्बित, वशस्थ तथा आर्या। अन्य सर्गो में इनके अतिरिक्त केवल एक नया छन्द—मालिनी प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार समूचा काव्य १२ छन्दों में निबद्ध है।

पार्श्वनाथ के जीवन पर आधारित हेमविजयगणि का पार्श्वनाथचरित, जैसा हम आगे देखेगे, काव्य तथा पौराणिक, दोनो दृष्टियो से पद्मसुन्दर के काव्य की अपेक्षा अधिक श्लाघनीय है। पार्श्वनाथकाव्य के अपेक्षाकृत संक्षिप्त फलक पर पार्श्वचरित की कुछ रेखाएँ ही उभर सकी हैं। कवि का ध्येय काव्य के व्याज से स्वधर्म तथा आराध्य का गौरव गान करना है। इसमें उसे असफल नही कहा जा सकता।

२२. पार्श्वनाथचरित : हेमविजयगणि

तपागच्छीय हेमविजयगणि का पार्श्वनाथचरित[1] आलोच्य युग का विशुद्ध पौराणिक महाकाव्य है। इसके छह बृहत्काय सर्गों में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र निरूपित करने का उपक्रम किया गया है। पार्श्वनाथ के वर्तमान (अन्तिम) भव का वृत्त काव्य का गौण विषय प्रतीत होता है; इसका अधिकांश, पौराणिक काव्य की प्रकृति के अनुरूप, उनके जन्मान्तरो के विचित्र किन्तु अनिवार्यतः संवेगजनक वृत्तान्तों से आच्छादित है, जो मूल इतिवृत्त की पृष्ठभूमि निर्मित करते हुए उसके स्वरूप का निर्धारण करते है। कवि का प्रमुख उद्देश्य कथानक के विविध प्रसगों से कर्म-सिद्धान्त की अटलता की प्रतिष्ठा करना तथा आर्हत धर्म की करुणा एवं पवित्रता की प्रख्यापना के द्वारा उसे सर्वग्राह्य बनाना है।

पार्श्वनाथचरित का महाकाव्यत्व

पार्श्वनाथचरित, कथावस्तु की परिकल्पना तथा विनियोग की दृष्टि से, यद्यपि उपजीव्य पुराण की प्रतिमूर्ति है तथापि परिभाषा के परिपालन से इसे महाकाव्य-रूप देने की कवि की व्यग्रता स्पष्ट है। इसके आधार-फलक मे, महाकाव्य के कलेवर के लिए वाछित, पर्याप्त व्यापकता है। इसके कथानक का छह सर्गों में विभाजन शास्त्रीय मानदण्ड के अनुरूप नही है, किन्तु काव्य मे सर्गों की सख्या की कमी की पूर्ति उनके परिमाण से हो जाती है। पार्श्वनाथचरित का कथानक पार्श्वप्रभु के प्रेरक चरित पर आधारित है। कवि के शब्दो मे यह 'सच्चरित्र से चमत्कृत' (सच्चरित्र-चमत्कारी) है। धीर-प्रशान्त गुणो से सम्पन्न, क्षत्रियकुल-प्रसूत पार्श्वनाथ काव्य के नायक है। उनकी धीरता तथा प्रशान्तता के पोषक, काव्य मे वर्णित वे अगणित उपसर्ग है, जिन्हे वे वैर-भाव के बिना सहज समत्व से सह कर अन्ततः वर्तमान भव प्राप्त करते है। उनके सम्यक्त्व से अनुप्राणित काव्य मे शान्तरस की प्रधानता स्वाभाविक थी, जो अन्य रसो के साथ इसकी रसवत्ता को सघन बनाता है। पार्श्वचरित की रचना धर्म से प्रेरित है। विविध प्रकार से जिन-धर्म की दया, अहिंसा, समता आदि का प्रतिपादन करके उसका उन्नयन करना काव्य का लक्ष्य है।

सर्गान्त के कतिपय पद्यो को छोड़कर समूचे काव्य की रचना अनुष्टुप् छन्द में हुई है। छन्दो का यह विधान पश्चिमी काव्यशास्त्र के अधिक अनुकूल है, जिसमे महाकाव्य के निर्विघ्न प्रवाह के लिये एक छन्द के प्रयोग की आशंसा की गयी है।

१ मुनि मोहनलाल जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, संख्या १, सम्वत् १९७२.

विविध वस्तु-वर्णन पार्श्वनाथचरित को पौराणिकता की ऊब से बचाने मे समर्थ है। इसकी भाषा को प्रौढ तो नही कहा जा सकता परन्तु वह गरिमा से वचित नही है। काव्य मे प्रक्षिप्त युग-चेतना का प्रतिविम्ब इसके महाकाव्यत्व को दृढता प्रदान करता है। अत: पार्श्वनाथचरित को महाकाव्य मानना उचित है यद्यपि कवि ने उसे कही भी 'महाकाव्य' सज्ञा से अभिहित नही किया है।

पार्श्वनाथचरित की पौराणिकता

पार्श्वनाथचरित पौराणिक महाकाव्य है, यह उक्ति तथ्य की पुनरुक्ति है। इसमे अतिप्राकृतिक घटनाओ की भरमार है। स्वय काव्यनायक का व्यक्तित्व देवत्व से ओतप्रोत है। उनके जीवन से सम्बन्धित समस्त अनुष्ठानो का आयोजन, देवराज के नेतृत्व मे देवगण करते है। जन्माभिषेक, निष्क्रमणोत्सव, दीक्षाग्रहण, पारणा, कैवल्य-प्राप्ति तथा निर्वाण के समय देवगण निष्ठापूर्वक प्रभु की सेवा मे तत्पर रहते हैं। अतिप्राकृतिक घटनाएँ पार्श्वनाथचरित को यथार्थ के धरातल से उठाकर रोमांचक काव्यो की श्रेणी मे प्रतिष्ठित करती है। स्वर्गलोक की प्रख्यात सुघोषा घण्टा का परिमण्डल एक योजन विस्तृत था। शिशु पार्श्व के स्नात्रोत्सव के अनुष्ठान के लिये देवगण जिस विमान मे वाराणसी आए थे, वह डेढ लाख योजन लम्बा था और उसका सिहासन रत्नो से निर्मित था। इन्द्र बहुरूपिये की तरह काव्य मे स्वेच्छापूर्वक नाना रूप धारण करता है। प्रभु की सेवा का अनुपम पुण्य अर्जित करने के लिये उसने शिशु को मेरु पर्वत पर ले जाते समय एक साथ पाच रूप धारण किये, और अभिषेक सम्पन्न होने पर मायाकार की भाँति तत्काल उनका सवरण कर लिया।[2] स्नात्रोत्सव के प्रसग मे उसने चार वृषभो का रूप धारण करके अपने सींगों से निस्सृत दूध की आठ धाराओं से प्रभु को स्नान कराने का अलौकिक कार्य सम्पन्न किया।[3] वह शिशु पार्श्व के अगूठे को अमृत से परिपूर्ण कर देता है जिससे क्षुधा शान्त करने के लिये उसे किसी बाह्य साधन पर निर्भर न रहना पडे[4]। बन्धुदत्त विद्याधरो के साथ उड कर कौशाम्बी के जिन-मन्दिर मे जाता है। पार्श्व प्रभु के समवसरण की एक योजन भूमि में करोडो श्रोता आसानी से समा जाते हैं।

पौराणिक काव्यो के स्वरूप के अनुरूप पार्श्वनाथचरित मे जन्मान्तरों का विस्तृत वर्णन है तथा वर्तमान जीवन के आचरण तथा कार्यकलाप को मानव के पूर्वजन्मो के कर्मों से परिचालित एव नियन्त्रित माना गया है। काव्य का

२. विधाय पंचधाऽऽत्मानं ततः स त्रिदशेश्वरः। पार्श्वनाथचरित, ४ २३४

३. अथ सौधर्मनाथः स चक्रे रूपचतुष्टयम्।
वृषाणां वृषमादित्सुरिव जैनं चतुर्विधम्॥ वही, ४.३०७
संजह्रे वृषरूपाणि मायाकार इव द्रुतम्। वही, ४.३१५

४. शक्रः संचारयामास स्वाम्यंगुष्ठे सुधामथ। वही, ४.३३४

अधिकतर 'भाग पार्श्वप्रभु के पूर्व भवो के वर्णनों से ही आच्छादित है। पुरोहित वसुभूति के पुत्रो, कमठ तथा मरुभूति का वैर निरन्तर दस जन्मो तक चलता है जिसके कारण कमठ का जीव अपने अनुज को कही चैन नही लेने देता। मरुभूति सम्यक्त्व तथा शुक्लध्यान के कारण आठ भवों के पश्चात् वाराणसी-नरेश अश्वसेन के आत्मज पार्श्व के रूप मे जन्म लेता है। इसके विपरीत कमठ, कषाय तथा आर्तध्यान के फलस्वरूप, लोमहर्षक नारकीय यातनाएँ सह कर, वर्तमान भव में भी, मेघमाली असुर बनता है तथा नाना उपसर्गों से वैरशोधन का जघन्य उद्योग करता है। ब्राह्मणजन्म मे अपनी पत्नी की दुश्चरित्रता तथा हृदयहीनता के कारण सार्थवाह सागरदत्त, वर्तमान जन्म मे नारी-मात्र से विरक्त हो जाता है। शवर के रूप मे, पशुयुगलों को नियुक्त करने के अपराध के परिणाम-स्वरूप बन्धुदत्त को पत्नी-वियोग तथा कारा-दण्ड सहना पडता है। पार्श्वनाथचरित मे धर्मदेशनाओ की विस्तृत योजना की गयी है। काव्य का कोई ऐसा सर्ग नही जिसमें इन धर्मोपदेशों का समावेश न किया गया हो। पांचवे सर्ग मे इस उपदेशात्मक प्रवृत्ति का प्रबल रूप दिखाई देता है। काव्य मे इन देशनाओ का उपयोग जैनधर्म एव दर्शन के प्रतिपादन तथा उनकी गौरववृद्धि आदि के लिये किया गया है। अरविन्द, किरणवेग, वज्रबाहु, स्वर्णबाहु, वज्रनाभ, पार्श्व आदि के संयम ग्रहण करने का तात्कालिक कारण ये धर्मोपदेश ही है। धार्मिक उपदेशो की भॉति स्तोत्रो का भी काव्य में अबाध समावेश हुआ है। काव्य-नायक के जीवन से सम्बन्धित ऐसा कोई प्रसंग नही है, जब देवों द्वारा उनकी भक्ति-विह्वल स्तुति न की गयी हो। कथा के भीतर कथा कहने की पौराणिक प्रवृत्ति का पार्श्वनाथचरित मे उग्र रूप दिखाई देता है। पार्श्वनाथ के पूर्व भवो के विस्तृत विवरण के अतिरिक्त मुख्य कथा में पोतनाधिपति अरविन्द, विद्याधर विद्युद्गति, राजकुमारी पद्मा, सार्थवाह सागरदत्त तथा बन्धुदत्त आदि की अवान्तर कथाएँ इस प्रकार पल्लवित की गई हैं कि कही-कही मूलकथा गौण-सी प्रतीत होने लगती है, यद्यपि इनका उद्देश्य कर्म की अपरिहार्यता आदि का प्रतिपादन करके काव्य की पौराणिकता को प्रगाढ बनाना है।

कवि तथा रचनाकाल

पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति मे हेमविजयगणि ने अपनी गुरु-परम्परा का पर्याप्त परिचय दिया है। उनके विजयप्रशस्तिकाव्य की गुणविजय-कृत टीकाप्रशस्ति मे मुनि-परम्परा के अतिरिक्त कवि की रचनाओ की महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध है। इनके आधार पर हेमविजय के स्थितिकाल तथा साहित्यक उपलब्धियो का निश्चित विवरण प्राप्त है। हेमविजय विद्वद्वर कमलविजय के शिष्य थे। कमलविजय के गुरु अमरविजय, तपागच्छ के प्रख्याततम आचार्य हीरविजयसूरि

के पट्टधर विजयसेनसूरि के सुयोग्य शिष्य थे[५]। हीरविजय की परम्परा मुनि जगच्चन्द्र तक पहुँचती है जिनकी तीव्र तपश्चर्या के कारण उनका गच्छ तपागच्छ नाम से ख्यात हुआ था[६]। पार्श्वनाथचरित की रचना विजयसेनसूरि के धर्म-शासन मे, सम्वत् १६३२ (सन् १५७५), फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को सम्पन्न हुई थी।

दृक्-कृशानु-रस-सोममितेऽब्दे शक्रमन्त्रिणि दिने द्वयसंज्ञे।
हस्तभे च बहुलेतरपक्षे फाल्गुनस्य चरितं व्यरचीदम् ॥ प्रशस्ति, १४

विजयप्रशस्ति की टीकाप्रशस्ति के अनुसार पार्श्वनाथचरित कवि के बाल्य-काल की कृति है किन्तु इसका आस्वादन प्रौढजन ही कर सकते है[७]। यह पार्श्वनाथ-चरित की कविता का उदार मूल्यांकन है। टीकाप्रशस्ति मे हेमविजय की रचनाओं की जो तालिका दी गयी है, उससे उनकी काव्य-प्रतिभा तथा साहित्यिक गतिविधि का पर्याप्त सकेत मिलता है। प्रस्तुत काव्य के अतिरिक्त उन्होने कथारत्नाकर, कीर्तिकल्लोलिनी, अन्योक्ति-महोदधि, सूक्तरत्नावली, विजयप्रकाश, स्तुतित्रिदशतरंगिणी, कस्तूरीप्रकर, सद्भावशतक, विजयस्तुतयः, ऋपभशतक तथा अन्य सैकड़ों स्तोत्रो की रचना की थी। उनकी साहित्य-साधना की परिणति विजयप्रशस्तिकाव्य में हुई, जो उनके साहित्य-प्रासाद का स्वर्णकलश है।[८]

हेमविजय की कविता अपने लालित्य के कारण विद्वानो मे प्रसिद्ध रही है। हेमविजय के वाग्लालित्य की पुष्टि उनके ग्रन्थो से होती है।

पार्श्वनाथचरित की पूर्ति सम्वत् १६३२ (१५७५ई०) मे हुई। कथारत्नाकर सम्वत् १६५७ (सन् १६००) मे लिखा गया। ऋपभशतक १६५६ सम्वत् (सन् १५९९) की रचना है। अतः सोलहवी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध तथा सतरहवी शताब्दी के प्रारम्भिक भाग को हेमविजय का स्थितिकाल मानना सर्वथा युक्तियुक्त होगा।

कथानक

पार्श्वनाथचरित छह सर्गों का महाकाव्य है। इसका कथानक दो पृथक् भागो मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम तीन सर्ग काव्य की भूमिकामात्र है। इनमें काव्यनायक पार्श्वनाथ के पूर्वभवो का विस्तृत तथा विचित्र वर्णन है। पोतना-नरेश अरविन्द के पुरोहित विश्वभूति के पुत्र मरुभूति का जीव, प्रथम भव के अग्रज कमठ के द्वेष का फल भोगता हुआ, आठ योनियो मे भटक कर, अपने सम्य-

५. पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति, ७-१३
६. प्रापत् बाणवसुद्वयोडुपमिते तपोभिस्तपे-
त्याख्यातिं त्रिजगज्जनश्रुतिमुखां यो दूरभीर्सूरिभिः ॥ वही, २
७. बाल्येऽप्यत्रालधीगम्यं श्रीपार्श्वचरितं महत्। विजयप्रशस्ति, टीकाप्रशस्ति, ५२.
८. वही, ५५

त्व तथा उपसर्ग सहन करने की क्षमता के कारण, अन्ततः वाराणसी-नरेश अश्वसेन के पुत्र के रूप मे उत्पन्न होता है। यही, चतुर्थ सर्ग से काव्य का मुख्य कथानक आरम्भ होता है।

दिक्कुमारियाँ नाना दिशाओ से आकर शिशु का जातकर्म करती है। उसका स्नात्रोत्सव सुरपति इन्द्र तथा अन्य देवों के द्वारा ठेठ पौराणिक रीति से मेरु पर्वत पर सम्पन्न किया जाता है। माता वामा ने गर्भावस्था में, रात्रि के गहन अन्धकार मे भी, अपने पार्श्व मे रेंगता सांप देखा था, अत. शिशु का नाम पार्श्व रखा गया। एक दिन कुशस्थल की राजकुमारी प्रभावती किन्नर-मिथुन से युवा पार्श्व के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर उस पर मोहित हो जाती है। उसमे पूर्वराग का उदय होता है। कुविन्ददयिता (तन्तुवाय की ढरकी) की तरह वह पल मे वाहर, पल मे भीतर, पल मे नीचे, पल मे ऊपर—उसे कही भी चैन नही मिलती। उसका पिता उस स्वयम्वरा को तुरन्त पार्श्व के पास भेजने का निर्णय करता है, किन्तु तभी कलिंग का यवन शासक उस सुन्दरी को हथियाने के लिये प्रसेनजित् पर आक्रमण कर देता है। उसकी पराक्रमी सेना ने कुशस्थल को ऐसे घेर लिया जैसे आप्लावन के समय पृथ्वी जलराशि मे मज्जित हो जाती है।[९] पार्श्व यवन-नरेश को दण्डित करने के लिये अपनी सेना के साथ कूच करता है परन्तु कलिंगराज उसकी दिव्यता से हतप्रभ होकर, बिना युद्ध किये, उसकी अधीनता स्वीकार कर लेता है। वैषयिक सुखो से पराङ्मुख तथा संवेग मे तत्पर पार्श्वनाथ, अपना भोग-कर्म समझकर तथा पिता के मनोरथ की पूर्ति के लिये प्रभावती से विवाह करते हैं। प्रभावती कृतार्थ हो जाती है[१०]। पांचवे सर्ग मे, एक प्रासाद मे अकित नेमिदेव का चरित्र देखकर पार्श्व को संवेगोत्पत्ति होती है और वे उन्ही की भाँति विषयभोग छोडकर, तीन सौ राजपुत्रों के साथ, प्रव्रज्या ग्रहण करते है। दीक्षा के साथ ही उनमे मन.पर्यय ज्ञान स्फुरित हुआ। क्रमशः विहार करते हुए पार्श्वप्रभु ने कोपटक सन्निवेश में धन्य के घर त्रिकोटिशुद्ध पायस से पारणा की। पारणास्थल पर धन्य ने प्रभु की चरण-पादुकाओ से युक्त पीठ की स्थापना की। शिवपुरी के कौशाम्बवन मे जहाँ पन्नगराज ने, पूर्वोपकारों के कारण, प्रभु के ऊपर फणों का छत्र धारण किया था, वह स्थान अहिच्छत्रा नाम से प्रसिद्ध हुआ। कठ के जीव नीच मेघमाली असुर ने पार्श्वनाथ को दारुण उपसर्ग दिये परन्तु वे सव ऐसे निरर्थक हो गये जैसे संयमी के लिये नारी के कटाक्ष। वाराणसी मे धातकी वृक्ष के नीचे, उन्हे चैत्र-कृष्णा चतुर्थी

९. कियन्मात्रं स पार्श्वो यः परिणेता प्रभावतीम्। वही, ४.५४०
वेष्टितं तत् पुरं भूमिरिव पाथोभिरब्धिना। वही, ४.५४६
१०. ईप्सितार्थे हि सम्पन्ने प्रमोदः किंकरायते।वही, ४.६७५

को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उनकी धर्मदेशना से उनके पिता अश्वसेन, माता तथा पत्नी भी दीक्षित हो जाते है। छठे सर्ग मे ताम्रलिप्ता के सार्थवाह सागरदत्त, नागपुरी के बन्धुदत्त तथा पुण्ड्रवर्धन के श्रीधर के विचित्र किन्तु रोचक वर्णन है। अपने पूर्ववर्ती तथा भावी भवो का रोमहर्षक विवरण सुनकर वे तापसव्रत स्वीकार करते हैं। निर्वाण का समय निकट आने पर प्रभु सम्मेताद्रि पर, अनेक श्रमणो के साथ, अनशन आराधना से शरीर त्याग देते है। इन्द्र, प्रभु तथा श्रमणो के शव पृथक्-पृथक् चिताओ को भेंट कर देता है।

पार्श्वनाथचरित का मुख्य कथानक भवान्तरो के अनन्त वर्णनो तथा रोमांचक विषयान्तरो में ऐसा उलझा हुआ है कि उनकी तुलना मे वह गौण-सा प्रतीत होता है। प्रथम तीन सर्ग अर्थात् काव्य का पूर्वार्द्ध मरुभूति और कमठ के पूर्व भवों के वर्णन-जाल से आच्छादित है। ये मूल कथानक के अवयव नही, उसकी प्रस्तावना है। प्रस्तावना को नाटक के समान आकार देना कथा-प्रवाह के प्रति कवि के प्रमाद का परिचायक है। कथान्विति की दृष्टि से ये सर्ग सर्वथा अनावश्यक तथा अप्रासंगिक है। इन्हें आसानी से छोड़ा जा सकता था। मुख्य कथा के साथ इनका अत्यन्त सूक्ष्म सम्बन्ध है। पार्श्वनाथ का मूल चरित भी, उनके जन्माभिषेक, प्रव्रज्या, निष्क्रमण, विहार आदि के पौराणिक वर्णनों, स्तोत्रो, धर्मोपदेशो तथा अवान्तर-कथाओ की पर्तों में दब गया है। छठे सर्ग के अधिकांश का कथानक से केवल इतना सम्बन्ध है कि उसमे वर्णित पात्र पार्श्वप्रभु से अपने पूर्वजन्मो का वर्णन सुनकर, जिनके कारण उन्हे वर्तमान जीवन मे यातनाएँ सहनी पड़ी, प्रतिबोध पाकर संयम व्रत ग्रहण करते है। इस सर्ग का अधिकतर भाग बन्धुदत्त के विचित्र वृत्त ने हड़प लिया है। पार्श्वचरित से सम्बन्धित इस सर्ग की सामग्री को सरलता से सौ-डेढ सौ पद्यो में समेटा जा सकता है। यह सच है कि आकर-ग्रन्थो में पार्श्वचरित इसी रूप मे निरूपित है किन्तु उसे यथावत् ग्रहण करना महाकाव्य के लिये आवश्यक नही है। काव्य के द्वारा कर्मफल की अवश्यम्भाविता तथा जिनधर्म के गौरव का प्रतिपादन करना कवि का मुख्य लक्ष्य है।

पार्श्वनाथचरित का आधारस्रोत

दोनो सम्प्रदायो के पुराणो मे जैनधर्म के प्रसिद्ध ६३ महापुरुषो के चरितों का निरूपण किया गया है। उत्तरवर्ती कवियों ने सम्प्रदाय-भेद से इन ग्रन्थो को अपनी रचनाओ का आधार बनाया है। श्वेताम्बर हेमविजय के प्रस्तुत पार्श्वनाथ-चरित का स्रोत आचार्य हेमचन्द्र का त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित है (९.२-४)। त्रि० श० पु० चरित मे निरूपित पार्श्वचरित के साथ हेमविजय के काव्य की तुलना से स्पष्ट है कि पार्श्वनाथचरित हेमचन्द्र के ग्रन्थ की सच्ची प्रतिकृति है। पार्श्वनाथ के पूर्वभवो तथा मूल कथानक के प्रत्येक प्रसग तथा घटना के निरूपण मे हेमविजय

ने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित का इस निष्ठा से अनुगमन किया है और हेमचन्द्र के भावो को इस उदारता से ग्रहण किया है कि उनका पार्श्वनाथचरित, त्रि० श० पु० चरित के सम्बन्धित प्रकरण का अभिनव संस्करण बन गया है और वह कवि की इस प्रतिज्ञा—चरित्रं पार्श्वदेवस्य यथादृष्टं प्रकाश्यते (१.२४)— की पूर्ति करता है। अन्तर केवल इतना है कि हेमविजय ने त्रि० श० पु० चरित के पार्श्वचरित को स्वतन्त्र महाकाव्योचित विस्तार के साथ ३०४१ पद्यों के तिगुने कलेवर में प्रस्तुत किया है। आकार मे यह वृद्धि कथानक के अंगभूत अथवा अवान्तर प्रसंगो के सविस्तार वर्णन से सम्भव हुई है। उदाहरणार्थ त्रि० श० पु० चरित मे सुवर्णबाहु की षट्खण्डविजय का एक पंक्ति मे संकेत मात्र किया गया है। हेमविजय ने इस विजय का पूरे २२८ पद्यो में विस्तृत वर्णन करके मूल कथानक की भूमिका के इस अंश को अनावश्यक महत्त्व दिया है[11]। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि स्वर्णबाहु की विजय का यह वर्णन चक्रवर्ती भरत की षट्खण्डविजय पर आधारित है, जिसका हेमचन्द्र ने अपने काव्य के प्रथम पर्व मे सविस्तार निरूपण किया है। इसी प्रकार शिशु पार्श्व के जन्मोत्सव तथा जन्माभिषेक के हेमचन्द्र के संक्षिप्त वर्णन[12] (१३ पद्य) को पार्श्वनाथचरित मे ३१६ पद्यो मे प्रस्तुत किया गया है।

पार्श्वनाथचरित के कुछ ऐसे प्रसंग है जिनका त्रि० श० पु० चरित मे अभाव है अथवा उनका भिन्न प्रकार से निरूपण हुआ है अथवा उनके क्रम मे विपर्यास है। वज्रनाभ के मातुल-पुत्र कुबेर का प्रसग[13] तथा उस द्वारा प्रतिपादित चार्वाक दर्शन और मुनि लोकचन्द्र का उसका प्रतिवाद[14] त्रि० श० पु० चरित मे उपलब्ध नही है। हेमचन्द्र के अनुसार वज्रबाहु की राजधानी पुराणपुर थी। पार्श्वनाथचरित मे उसका नाम सुरपुर है[15]। हेमचन्द्र के काव्य में, आश्रमवासिनी विद्याधरकन्या पद्मा गान्धर्वविधि से विवाह करके पति सुवर्णबाहु के साथ अकेली वैताढ्यगिरि को प्रस्थान करती है। पार्श्वनाथचरित मे उसकी व्यवहारकुशल सखी नन्दा भी, उसकी परिचारिका के रूप मे, साथ जाती है[16]। हेमचन्द्र के विवरण के अनुसार पार्श्व ने

११. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (अंग्रेजी अनुवाद), गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज, संख्या १३०, जिल्द ५, पृ० ३७५
पार्श्वनाथचरित, ३.२७५-५०३

१२. त्रि० श० पु० चरित (पूर्वोक्त), पृ० ३७९-३८०; पार्श्वनाथचरित, ४.१-३१६

१३. पार्श्वनाथचरित, २.१४८-१६३

१४. वही, २.१७२-२२२

१५. त्रि० श० पु० चरित (पूर्वोक्त), पृ० ३६९, पार्श्वनाथचरित ३.१

१६. त्रि० श० पु० चरित (पूर्वोक्त), पृ० ३७५. पार्श्वनाथचरित, ३.२५७-२५८

भोग्य कर्मों के फल का क्षय होने पर तपस्या ग्रहण करने का निश्चय किया। 'जिनेन्द्र अपने भोगकर्मों का क्षय करने के लिये गार्हस्थ्य जीवन स्वीकार करते हैं', इस तथ्य का पार्श्वनाथचरित मे, पार्श्व के विवाह-प्रसंग में उल्लेख अवश्य है[१७] किंतु उनकी प्रव्रज्या का तात्कालिक कारण, प्रासाद मे अंकित नेमिनाथ का प्रेरक चरित था, जिसे देखकर उनमे सवेग का उद्रेक होता है[१८]। त्रिषष्टिशलाकापुरुपचरित मे केवल-ज्ञानी पार्श्व अपनी प्रथम देशना मे पच व्रतों तथा उनके व्यतिक्रमो का विवेचन करते है। पार्श्वनाथचरित में उसके अन्तर्गत चतुर्विध धर्म का निरूपण किया गया है[१९]।

सुवर्णबाहु तथा तापसबाला पद्मा के विवाह का प्रकरण यद्यपि त्रि० श० पु० चरित मे उपलब्ध है[२०] और हेमविजय ने उसी के अनुसार, अपने काव्य मे, इसका प्रतिपादन किया है[२१] किंतु इस प्रसंग के लिये स्वय हेमचन्द्र कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल के ऋणी है। उन्होने नाटक के प्रथम चार अंको की प्रमुख घटनाएँ अपने वृत्त की प्रकृति के अनुरूप प्रस्तुत की है। जैन कवियों के विवरण मे क्योंकि मुनि गालव स्वयं, तपस्वी की भविष्यवाणी के अनुसार, स्वर्णबाहु से पद्मा के विवाह का प्रस्ताव करते है, अत. उनके प्रणय की उद्भूति तथा परिणति के लिये, कण्व की तरह गालव को तपोवन से देर तक दूर रखना आवश्यक नही था। काव्य मे वे अभ्यागत ऋषि को विदा करके आश्रम मे शीघ्र लौट आते है। नाटक के चतुर्थ अंक तक सीमित होने के कारण पार्श्वनाथचरित के इस प्रसंग मे दुर्वासा के शाप के लिये भी कोई अवकाश नही है। शेप प्रायः समस्त घटनाएँ अभिज्ञानशाकुन्तल की अनुगामी है। स्वर्णबाहु के आश्रम मे आगमन से लेकर पद्मा की कारुणिक विदाई तक के समस्त इतिवृत्त को काव्य मे समेटने का प्रयास किया गया है[२१a]।

रसचित्रण

अश्वघोष की तरह हेमविजय ने कवियश की प्राप्ति अथवा चमत्कृति उत्पन्न करने के लिये काव्यरचना नही की है। उसका प्रमुख उद्देश्य कविता के सरस माध्यम

१७. भोगकर्मक्षयार्थं हि जिना गार्हस्थ्यवासिनः। पार्श्वनाथचरित, ४.६७२

१८. वही, ५.५७-६३

१९. वही, ५.३६८-२८

२०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (पूर्वोक्त) पृ० ३७१-३७५

२१. पार्श्वनाथचरित, ३ ६३-२३४

२१a. इस विषय की विस्तृत विवेचना के लिए देखिये हमारा निवन्ध 'A Versified Adaptation of Abhijñānaśākuntalam (I-IV)' VIJ, Hoshiarpur, 1981, P,99-105

से मोक्ष का अनन्त सुख प्राप्त करना है[२२]। इस संकुचित दृष्टिकोण ने उसकी कविता को धर्मवृत्ति की चेरी बना दिया है, किंतु उसका निर्भ्रान्त मत है कि कविता की सार्थकता रसात्मकता मे निहित है। गंगा की पावन धारा के समान वही काव्य तापहारी (आनन्दप्रद) है जिसका आधार तीव्र रसवत्ता हो[२३]। काव्य में रस की स्थिति के प्रति कवि के इस दृष्टिकोण के कारण पार्श्वनाथचरित मे, चरितात्मक रचना होते हुए भी, विभिन्न रसो की तीव्र व्यंजना हुई है। जन्म-जन्मान्तरो, उत्तम-अधम विविध स्थितियो, चित्र-विचित्र घटनाओ, रोमांचक प्रसंगों तथा कर्मसिद्धान्त से प्रेरित मानव के उत्थान-पतन से सम्बद्ध होने के नाते पार्श्वनाथचरित मे विभिन्न मनोरागों के चित्रण का मुक्त अवकाश है। हेमविजय मनोभावों का कुशल चित्रकार है। यह तीव्र रसव्यंजना पार्श्वनाथचरित की उल्लेखनीय विशेषता है।

पार्श्वनाथचरित वैराग्य-प्रधान काव्य है। भोगत्याग इसके पात्रों की प्रमुख विशेषता है। सांसारिक सुखों की क्षणिकता, विषयो की विरसता तथा वैभव की नश्वरता से त्रस्त होकर उनमे संवेग का उदय होता है जिसके फलस्वरूप वे सव अन्ततः दीक्षा ग्रहण करते है, जो कवि के शब्दों मे मुक्ति-रमणी की अग्रदूती है— मुक्तिसीमन्तिनी-दूती दीक्षा सवेगतोऽग्रहीत् (५.४३५)। अतः पार्श्वनाथचरित में शान्तरस की प्रधानता है। शान्तरस का स्थायी भाव शम अथवा निर्वेद काव्य-पात्रों की मूल वृत्ति है, जो अनुकूल भाव-सामग्री से सिक्त होकर शान्त के रूप मे प्रस्फुटित होती है। अरविन्द, वज्रबाहु, स्वर्णबाहु, पार्श्व, सागरदत्त आदि सभी विविध मार्गों से शान्तरस के एक विन्दु पर पहुँचते है। आकाश मे हृदयग्राही मेघमाला को सहसा विलीन होता देखकर पोतना-नरेश अरविन्द का हृदय जीवन की क्षणिकता तथा वैषयिक सुखो की छलना से आहत हो जाता है। उसकी यह मनोदशा शान्तरस में व्यक्त हुई है।

> मणिमाणिक्यसाम्राज्यराज्यरूपा अपि श्रियः।
> सर्वा अपि विलीयन्ते स्थासका इव तत्क्षणात् ॥ १.२०६
> काः स्त्रियः के सुताः किञ्च राज्यं परिजनश्च कः ?
> काऽसौ सम्पत् पुनः कोऽहं सर्वं मेघानुसार्यदः ॥ १.२०७
> तन्मुधैव निमग्नोऽस्मि सुखे सांसारिके भृशम्।
> यत्फलं मूलनाशाय रम्भाफलमिव ध्रुवम् ॥ १.२०८

अंगी रस शान्त के अतिरिक्त पार्श्वनाथचरित मे शृंगार, रौद्र, भयानक,

२२ यच्चक्रे चरितं चमत्कृतकृति श्रीपार्श्वनेतुर्मया
किन्त्वात्मानमनन्तनिर्वृतिमयं नेतुं पदं निर्वृतेः ॥ वही, ६.४७४

२३ जयन्ति कवयः सर्वे सुरसार्थमहोदयाः।
शिवाश्रया रसाधारा यद्गीर्गंगेव तापहृत् ॥ वही, १.६

वात्सल्य आदि रसों का भी यथेष्ट परिपाक हुआ है। शृंगार शान्तरस का विरोधी ध्रुव है। काव्य में उसके चित्रण के लिये अधिक स्थान भी नही है, किन्तु शान्त की भाँति शृंगार को पल्लवित करने मे हेमविजय की सिद्धहस्तता निर्विवाद है। उसकी तूलिका ने काव्य में शृंगार के उभय पक्षों के प्रभावी चित्र अंकित किये है। कमठ और वसुन्धरा के रमण तथा पार्श्व एवं प्रभावती की विवाहोपरान्त विलास-क्रीडा मे सम्भोग-शृंगार का सफल परिपाक हुआ है। कमठ तथा व्यभिचारिणी वसुन्धरा की अवैध रति में शृंगार के सम्भोग पक्ष की प्रगाढता उल्लेखनीय है।

ततस्तौ निर्भयं भावनिर्भरौ रहसि स्थितौ।
रेमाते काममुद्दामकामयामिकबोधितौ ॥ १.११५
कदाचिद् विरलीभूतौ लक्ष्मी-लक्ष्मीपती इव।
एकीभूतौ कदाचिच्च गौरी-गौरीपती इव ॥ १.११७
हास्यैरुल्लासितानंगविभ्रमौ शुभ्रविभ्रमौ।
चिरं चिक्रीडतुः कार्मकिकराविव निस्त्रपौ ॥ १.११८

राजकुमारी प्रभावती के पूर्वराग के चित्रण मे विप्रलम्भ की व्यथा है। काव्य मे यही एक स्थल है, जहाँ विप्रलम्भ-शृंगार का निरूपण हुआ है, किन्तु संक्षिप्त होता हुआ भी यह अपनी सूक्ष्मता तथा पैनेपन के कारण हृदय के अन्तराल मे पैठने की क्षमता रखता है। किन्नर-युगल से युवा पार्श्व के सौन्दर्य तथा गुणो का वर्णन सुनकर प्रभावती कामातुर हो जाती है। पार्श्व के बिना उसे कही भी कल नही है। विरह के प्रहार ने उसे जर्जर कर दिया है।

सा कन्याऽनंगसंसर्गाद् नानावस्थामुपेयुषी।
रतिं कुत्रापि न प्राप मत्सीव स्वल्पपाथसि ॥ ४.५१२
क्षणं बहिः क्षणं मध्ये क्षणं चोर्ध्वं क्षणं त्वधः।
कुविन्ददयितेवैषा नैकां स्थितिमुपागमत् ॥ ४.५१३

शृंगार के समान वीररस भी शान्त का प्रतिपक्षी है। काव्य में '[illegible]राणां दोर्बलं बलम्' (४.५४३) की गूंज अवश्य सुनाई पड़ती है, परन्तु जैन कवि की अहिंसावादी वृत्ति को युद्ध अथवा उसकी हिंसा कदापि सह्य नहीं है। अतः उसने जान-बूझ कर एक ऐसा अवसर हाथ से खो दिया है जहाँ वीररस की सशक्त अभिव्यक्ति हो सकती थी। कलिंगराज राजकुमारी को बलात् प्राप्त करने के लिये प्रसेनजित् की राजधानी पर धावा बोल देता है। वह दूत के शान्तिप्रयास को भी वीरोचित दर्प से ठुकरा देता है किन्तु पार्श्व की [illegible] से अभिभूत होकर वह सहसा घेरा उठा लेता है। वह युद्ध का उन्माद नहीं [illegible] है। उसका एकमात्र कारण [illegible] कवि की युद्ध के प्रति [illegible]।

[illegible]

असंदिग्ध है, यद्यपि इन रसों में उसने विभावों की अपेक्षा अनुभावों की अभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया है। सभाभूमि में दिग्विजयी स्वर्णबाहु के बाण के प्रहार से मगधराज बौखला उठता है। उसके क्रोध के चित्रण में रौद्ररस अनुभावों के रूप में प्रकट हुआ है।

पतितं पत्रिणं पृथ्व्यां ततो मागधतीर्थराट्।
भोगीवात्मीयहन्तारं वीक्ष्य कोपपरोऽजनि ।। ३.३५१
कृतान्तकार्मुकाकारभ्रूकुटीभंगभीषणः।
वायुपूरितभस्त्राभनासासम्पुटदारुणः ।। ३.३५२
आताम्रीकृतनयनस्त्रिरेखाकृतभालभूः।
इत्यसौ वचनं प्रोच्चैः कोपोद्गारमिवावमत् ।। ३.३५३

पर्वताकार मरुभूति हाथी के अचानक आक्रमण से काफिले के लोगों में भगदड़ मच जाती है। उनकी खलबली के वर्णन में भयानक रस का परिपाक हुआ है।

सोऽथ सार्थजनान् दन्तावलः प्रोद्दामधामभृत्।
भाययामास दन्ताभ्यां भुजाभ्यामिव दन्तिराड् ।। १.२८६
आरोहन् भूरुहान् केऽपि दावार्ता वानरा इव।
गह्वरे प्राविशन् केऽपि व्याधत्रस्ता मृगा इव ।। १.२८७
मूर्छितान्येऽपतन् केऽपि विषाघ्राता इव क्षितौ।
पर्याटन्नारटन्तश्च केऽपि भूतातुरा इव ।। १.२८८

वात्सल्यरस की मधुर छटा पार्श्व के शैशव के वर्णन में दिखाई देती है। अपनी डगमगाती चाल, धूलिधूसरित अंगो, तुतलाती वाणी तथा अन्य बालकेलियों से वह माता-पिता के हृदय को आनन्दित करता हुआ घर के आंगन मे ठुमकता है[२४]।

इस प्रकार पार्श्वनाथचरित मे मुख्य रसो की निष्पत्ति हुई है, जो काव्य को रसार्द्र बना कर पाठक को रसचर्वणा कराने मे पूर्णतया समर्थ हैं।

प्रकृति-चित्रण

हेमविजय ने अपने चरित को महाकाव्य बनाने का तत्परता से प्रयत्न किया है। महाकाव्य-परम्परा के अनुरूप उसने पार्श्वनाथचरित मे नगर, पर्वत, रात्रि, दावाग्नि, ऋतुओ के ललित वर्णन किये है, जो इस इतिवृत्तात्मक काव्य की पौराणिक नीरसता को मेट कर उसमे रोचकता का स्पन्दन करते हैं। माघोत्तर कवियों की तरह हेमविजय ने प्रकृति के न तो उद्दीपन-पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है और न उस पर मानवीय चेतना का आरोप किया है। उसने बहुधा प्रकृति के स्वाभाविक रूप का चित्रण किया है, किन्तु हेमविजय प्रकृति-चित्रण की समवर्ती शैली के प्रभाव से न बच सका। फलतः, पार्श्वनाथ में प्रायः सर्वत्र प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णन दृष्टिगत

२४. वही, ४.३८६,३६२,३६४.

होते हैं, जिनमें विविध अलंकारों के सहारे प्रकृति के सहज रूप का चित्रण किया जाता है। वैताढ्यगिरि, रात्रि तथा दावानल को कवि ने इसी शैली में चित्रित किया है। इनमे दावाग्नि का शब्दचित्र अतीव सजीव तथा प्रभावशाली है।

सत्त्वानां करुणध्वानस्नेहसेकादिवाधिकः।
दावाग्निरन्यदा तत्र हेमाद्रावुदपद्यत ॥ २.१०४
ज्वालाभिरुच्छलन्तीभिर्विद्युद्भिरिव लाञ्छितः।
धूमोऽपि व्यानशे धूम्रो धरोत्थ इव वार्धरः॥ २.१०५
कारस्फुरत्रटत्कारैः कन्दरान् रोदयन्निव।
स्फुलिंगैरुच्छलद्भिश्च तारकान् नोदयन्निव ॥ २.१०६
धूसरैर्धूमसन्दोहैरन्धयन्निव भूतलम्।
प्रासीसरद् वने तत्र दावाग्निः कालरात्रिवत् ॥ २.१०७

शरत्काल का प्रस्तुत वर्णन भी संश्लिष्टात्मक शैली का द्योतक है। शरत् के स्वाभाविक उपकरणों का यह चित्रण उत्प्रेक्षा का स्पर्श पाकर रोचकता से दीप्त हो गया है।

दौर्बल्यं वाहिनीवाहा भेजुर्यत्र वचोऽतिगम्।
गाण्डूषीकृतपाथोधेरगस्तेरीक्षणादिव ॥ १.१८४
नीरं नीरजनीरन्ध्रं स्वच्छं नीराशयेष्वभूत्।
अनन्तानन्तनैर्मल्यस्पर्धयेव समन्ततः॥ १.१८५
विकाशः काशपुष्पाणां शोभते यत्र निर्भरम्।
हंसानामीयुषां मुक्तोपदेव विहिता भुवा ॥ १.१८६
भाति यत्रातिलक्ष्मीकं मण्डलं मृगलक्ष्मणः।
जगज्जेतुमिवोद्युक्तं चक्रं कन्दर्पचक्रिणः॥ १.१८७

हेमविजय ने अपने काव्य में इसी शैली में पशुप्रकृति का भी एक चित्र अंकित किया है। प्रस्तुत पक्तियो मे गीदड़ों की प्रकृति का चित्रण है, जो रात्रि मे स्वर मिलाकर भोंकार छोड़ते है।

गोमायवो रटन्ति स्म पर्यटन्तः पदे पदे।
रात्रौ रात्रिचराः सद्यः प्रसूताः पृथुका इव ॥ ५.२७५

हेमविजय का प्रकृति-प्रेम उन अप्रस्तुतविधानों में भी प्रकट हुआ है, जो उसने प्रकृति से ग्रहण किए है। ये उसकी तत्त्वग्राही दृष्टि तथा प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओ के ज्ञान के जीवन्त प्रतीक है[२५]।

२५. कतिपय प्रकृति पर आधारित अप्रस्तुत अवलोकनीय है—
विनाम्भोदं यथा कृषिः (२.२१९), शीतार्त इव तरणिम् (३.१३२), धाराहत-कदम्बद्रुपुष्पवत् समुदश्वसत् (४.३४०), मा विधेहि मुधा कष्टं बीजोप्तिमिव

सौन्दर्य-चित्रण

हेमविजय की सौन्दर्याभिरुचि प्रकृतिवर्णन के अतिरिक्त सौन्दर्य-चित्रण मे भी व्यक्त हुई है। उसने अपने पात्रो के शारीरिक सौन्दर्य का जो चित्रण किया है, वह सही अर्थ मे नखशिख है। सौन्दर्य-वर्णन की यह प्रणाली बहुत पहले बद्धमूल हो चुकी थी। परवर्ती कवियो ने उसमे उद्भावना करने की अपनी असमर्थता को वर्णन की बारीकियो से सन्तुलित करने का प्रयत्न किया है। हेमविजय ने पार्श्व के सौन्दर्य-वर्णन मे उनके चरणो के नखो से लेकर उष्णीप तक का क्रमबद्ध चित्रण किया है। उनकी अगुलियो के पर्वो तथा पर्वो की सौभाग्यसूचक यवराजि को भी कवि नही भुला सका। इस प्रसंग मे उसके प्रायः सभी अप्रस्तुत पूर्वज्ञात अथवा घिसे-पिटे है। प्रभावती का नखशिखवर्णन भी नवीनता से शून्य, रूढ़, है। कवि ने यहाँ सौन्दर्य-वर्णन का पूर्व क्रम विपर्यस्त कर दिया है। पार्श्वनाथ के विपरीत प्रभावती का चित्रण उसकी केशराशि से आरम्भ होकर जघाओ के वर्णन से समाप्त होता है। हेमविजय का यह सौन्दर्य-वर्णन पुनरुक्ति से भरपूर हैं। इसीलिये इसमें पिष्टपेषण अधिक है। उसके केशो तथा स्तनो के चित्रण पर क्रमशः दो तथा चार पद्य व्यय किये गये हैं। इन दोनो वर्णनों मे कवि ने जहाँ नवीन अप्रस्तुतो की अवतारणा की है, वहाँ उन अवयवो के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति मे समर्थता तथा रोचकता आई है। उदाहरणार्थ, प्रभावती की भौहें ऐसी प्रतीत होती थी मानो नेत्रो की दीर्घिका के तट पर लावण्यवल्लरी के दो अंकुर उग आये हो (४.४४१)। उसकी कोमल भुजाएँ युवकों के चचल मन को बाँधने के दो पाश है (४.४५६)। गम्भीर नाभि बहुमूल्य निधि को छिपाने का काम द्वारा निर्मित बिल है (४.४६४)। परन्तु प्रभावती का सर्वोत्तम अलंकरण यौवन है, जो, कवि के शब्दों मे, मानव-शरीर का सहज मण्डन है (४.४६६)।

तापसबाला पद्मा का सौन्दर्य-चित्रण अपनी सक्षिप्तता तथा उपमानों की सटीकता के कारण कवि के सौन्दर्यबोध को जिस उत्तमता से रेखांकित करता है, उतना अन्य कोई वर्णन नही। इसमें प्रयुक्त उपमान कवि की सूझबूझ तथा पर्यवेक्षण-शक्ति के परिचायक हैं और उनसे इस सौन्दर्य-चित्र की स्वाभाविकता मे वृद्धि हुई है। पद्मा की केशरेखा (मांग) ऐसी प्रतीत होती है मानो ससार को लूटने वाले दस्यु काम का राजपथ हो। उसकी सरल भुजाएँ रति के झूले की रस्सियो के समान

पावके (५.२५), न लेभे चैतसं स्वास्थ्यं घर्मोत्तप्त इवाध्वगः (५.२३०), मरौ वारिवद् दुर्लभम् (५.४१६), पिहिता चेतनाऽदभ्राभ्रेणेव शशिनः कला (६.५) विरक्तः सर्वथा स्त्रीषु पद्मिनीष्विव चन्द्रमाः (६.११), बन्धुं गवेषयामास रजसीव महामणिम् (६-१६४)।

है, पुष्ट नितम्ब स्वर्गगा के तटो का स्मरण कराते है और उसकी सुडौल जघाएँ काम के तरकश है।

सीमन्तः स्थपुटः स्पष्टो भात्यस्या मूर्ध्नि सुभ्रुवः ।
अध्वेव मुष्णतो विश्व पंचेषोः परिमोषिणः ।। ३.१०७
शोभेते सुभ्रुवोऽमुष्याः सरलौ च भुजावुभौ ।
नृहृद्मनकवन्धौ रतेः प्रेंखागुणाविव ।। ३.११४
नितम्बबिम्बे भातोऽस्या, नितम्बिन्याः समुन्नते ।
शारदिकैर्घनैर्धौते कूले स्वर्गधुनेरिव ।। ३.११६
उद्वृत्ते सरले जंघे विभातोऽस्या मृगीदृशः ।
न्यासीकृताविवात्मीयौ तूणीरौ मीनकेतुना ।। ३.११७

हेमविजय ने सौन्दर्य मे वृद्धि करने वाले प्रसाधनो तथा आभूपणो का वर्णन भी अपने काव्य मे किया है। कमठ से रमण करने को आतुर वसुन्धरा के शृगार के वर्णन मे इन दोनो का समन्वय है।

सांजनं क्षेपयामास नेत्रयोः स्फारतारयोः ।
रुद्रदृग्दग्धपंचेषोरिवोज्जीवनभेषजम् ।। १.१०७
चक्रे च चान्दनं चित्रं विचित्रं चित्रकृच्चिरम् ।
कामभूपप्रकाशाय प्रदीपमिव साऽलिके ।। १.१०८
विधाय बन्धनं बाढं सूत्रयामास सांगिकाम् ।
जगज्जेतुर्महानंगराज्ञ. पटकुटीमिव ।। १.१११

चरित्रचित्रण

पार्श्वनाथचरित के कथानक मे पूरे दस जन्मो का वृत्त व्याप्त है। मरुभूति का जीव नाना योनियों मे किस प्रकार द्वेष का फल भोग कर पार्श्व के रूप में उत्पन्न होता है, इसकी चर्चा पहले की गयी है। काव्य की मुख्य कथा मे केवल चार पात्र है—पार्श्वनाथ, प्रभावती, अश्वसेन तथा वामा। काव्य का नायक होने के नाते पार्श्व के चरित्र का यथेष्ट विकास स्वाभाविक था। अन्य पात्रो के चरित्र की कुछ स्थूल रेखाएँ ही प्रस्फुटित हो सकी है। पार्श्वचरित की जन्म-जन्मान्तरो मे व्याप्ति तथा उसके अप्रतिम महत्त्व की पर्तो मे दब कर उनके चरित धूमिल हो गये है।

पार्श्वनाथ

काव्यनायक पार्श्वनाथ वाराणसी-नरेश अश्वसेन का पुत्र है। उसका चरित्र पौराणिक परिवेश मे प्रस्तुत किया गया है, अत. काव्य में उसके पुराण-प्रथित चरित्र से कोई भिन्नता अथवा नवीनता नही है। वह आद्यन्त पौराणिक पार्श्व की प्रतिमूर्ति है। पार्श्वनाथ दिव्यता से ओतप्रोत, चतुर्विध धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर है। काव्य

मे उनके अतिशयो का विस्तृत वर्णन है। उनके विहार से दुर्भिक्ष, महामारी आदि उत्पात तत्काल शान्त हो जाते है। व्यक्तित्व की अलौकिकता के कारण उनका स्वर्गवासी देवो के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध है। देवगण सदैव उनकी सेवा मे तत्पर रहते है। जन्माभिषेक से लेकर अन्त्येष्टि तक उनके सभी आयोजन देवो द्वारा सम्पन्न किये गये है।

पार्श्वनाथ गुणवान् तथा रूपवान् युवक है। यौवन मे उनका शारीरिक लावण्य और प्रस्फुटित हो जाता है। राजकुमारी प्रभावती उनके सौन्दर्य एव गुणों का वर्णन सुनने मात्र से उनमे अनुरक्त हो जाती है। पार्श्वनाथ मे वीरता तथा वैराग्य का अद्भुत समन्वय है। वह, पिता को रोक कर, स्वय यवनराज के विरुद्ध प्रयाण करता है। कमलनाल उखाडने मे ऐरावत का प्रवृत्त होना हास्यास्पद है। पार्श्वनाथ के प्रताप से भीत होकर यवनराज उनका वशवर्ती बन जाता है और अपनी दुश्चेष्टा के लिये क्षमायाचना करता है। यह उन्ही के प्रताप का फल है कि यवन-नरेश कुशस्थल का घेरा उठा लेता है और प्रसेनजित् के ऊपर से विपत्ति के बादल छट जाते है। प्रसेनजित् कृतज्ञतापूर्वक उससे प्रभावती का विवाह करने का प्रस्ताव करता है, किन्तु, पिता की अनुमति के बिना, उसे यह मान्य नही है। वास्तविकता तो यह है वे विषयभोगो से सर्वथा विरक्त है। सयम उनके जीवन का सर्वस्व है। उनके लिये नारी सर्पिणी है, जो, चाहे अनुरक्त हो या विरक्त, पुरुष को डसकर उसका सर्वनाश कर देती है (४.६५३)। उसके पिता को भी यह विश्वास नही कि वह विवाह करना स्वीकार करेगा।

किं चैष पार्श्वकुमारो भोगेभ्य विपराङ्मुखः।
आजन्मतो विरक्तात्मा न जाने किं करिष्यति ॥ ४.६४३

किन्तु जन्म से विरक्तात्मा होने पर भी वह पूर्व कर्मभोगो के क्षय के लिये पिता का आदेश शिरोधार्य करता है। प्रभावती उन्हें पति के रूप मे पाकर कृतकृत्य हो जाती है। किंतु वैवाहिक सुख उनकी शमवृत्ति को दमित नही कर सके। नेमिनाथ के उदात्त चरित से प्रेरणा पाकर उनका सवेग प्रवल हो जाता है और उन्हे ससार कूप के समान तथा विषय खारे जल के समान नीरस प्रतीत होने लगते है। फलत. वे राजसी वैभव का परित्याग कर संयमश्री का वरण करते है। उनकी सहिष्णुता अनन्त, वस्तुतः अकल्पनीय है! पूर्व जन्मो मे वे कुक्कुट अहि, सिंह, भील आदि के मर्मान्तिक उत्पात सम्यक्त्व से सहन करते है। वर्तमान भव मे असुर मेघमाली के उपसर्ग भी उन्हें विचलित नही कर सके। इस साधना की परिणति कैवल्य की प्राप्ति में हुई जो उनके शिवत्व का द्वार है।

प्रभावती

कुशस्थल-नरेश प्रसेनजित् की पुत्री प्रभावती काव्य की नायिका है। वह नव-

यौवना सुन्दरी है, लावण्य-लक्ष्मी का केलिगृह । उसका नखशिखवर्णन उसके सौन्दर्य की अनवद्यता की स्वीकृति है ।

वह गुणज्ञा युवती है । किन्नर-मिथुन से राजकुमार पार्श्व के गुणों का वर्णन सुनकर वह उस पर मुग्ध हो जाती है । अपने प्राणवल्लभ को पाने के लिये उसकी अधीरता इतनी बढ जाती है कि वह उसकी तीव्रता से चेतना-शून्य-सी बन जाती है । कलिंग के यवन शासक ने उसे छल-बल से हस्तगत करने का पूर्ण प्रयत्न किया किंतु उसके लिये जगत् पार्श्वमय बन चुका है । पार्श्व के अस्तित्व के अतिरिक्त समूचा जगत् उसके लिए शून्य है । चिरप्रतीक्षा के पश्चात् जब पार्श्व उसका विवाह-प्रस्ताव स्वीकार करते हैं, उसका मन आह्लाद से झूम उठता है । यह उसके मनोरथ की चरम परिणति है । अन्यान्य व्यक्तियो के साथ वह भी अपने केवलज्ञानी पति से दीक्षा ग्रहण करती है ।

अश्वसेन

अश्वसेन काव्यनायक पार्श्वनाथ के पिता है । काव्य मे उनके चरित्र का विकास नही हो सका है । केवल उनके पुत्र-वात्सल्य की एक मधुर झांकी देखने को मिलती है । पुत्र-प्राप्ति से वे ऐसे प्रफुल्लित हो जाते है, जैसे जलधारा से कदम्ब । उस समय उनके लिये कुछ भी अदेय नही था । पुत्रजन्म के उपलक्ष्य में उन्होने राज्य के समस्त बन्दियो को मुक्त कर दिया और समूचे कर समाप्त कर दिये ।

वामा

वामा पार्श्वप्रभु की माता है । उसे परम्परागत चौदह स्वप्न दिखाई देते है जिनके फलस्वरूप उसे विभूतिमान् पुत्र की प्राप्ति होती है । वह भी पति के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करती है ।

अन्य पात्र

पूर्व भवों के पात्रो मे किरणवेग, वज्रनाभ, वज्रबाहु तथा स्वर्णबाहु उल्लेखनीय है । इनमे स्वर्णबाहु चक्रवर्ती सम्राट् है । उनने षट्खण्डविजय से अपने वर्चस्व तथा चक्रवर्तित्व की प्रतिष्ठा की है । किन्तु उन सबके चरित तग घेरे में सीमित है और उनका एक शैली मे पल्लवन किया गया है । इसीलिये उनके चरित्रों मे नीरस एकरूपता है । वे पूर्ण तल्लीनता से वैभव का भोग करते है परन्तु किसी घटना अथवा मुनि के उपदेश से विरक्ति का उद्रेक होने पर उसे तृणवत् त्याग कर संयम की लक्ष्मी स्वीकार करते है ।

भाषा

पहिले कहा गया है, पार्श्वनाथचरित की रचना यशप्राप्ति अथवा विद्वत्ता-प्रदर्शन के लिये नहीं हुई है । हेमविजय के अनुसार काव्य का गौरव मनोरम पदशय्या

तथा रसवत्ता पर आधारित है।[२६] काव्य मे जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह सच्चे अर्थ मे सरल है। काव्य को लोकगम्य बनाने की व्यग्रता के कारण कवि ने भाषा की शुद्धता की ओर भी अधिक ध्यान नही दिया है। मूर्च्छितान्ये (१.२८८), न इति वक्तुम् (३.२८७), धार्यते मूर्ध्नि (१.४१५), व्यपदश्च (२.५६), राज्यभारं सुतस्यादात् (२ ६४), उत्ततार तुरगात् स्म (३.८७), गान्ति स्म (४ २६६), महाराज्ञ., रुरुचेऽस्य आदि अपाणिनीय प्रयोग निश्चिन्तता से किए गए हैं। छन्दपूर्ति के लिये शब्दो के वास्तविक रूप को विकृत करने मे भी कवि ने सकोच नही किया है। द्विप को द्वीप (१ ३७७), द्वीप को द्विप (१.२५), तथा पङ्क्ति और गूढगर्भा को क्रमशः पङरका (१.३०) तथा गूढगरभा (४.१०६) बना देना इसी छन्दीय अनुरोध का परिणाम है। इसे भाषाविज्ञान की शब्दावली में स्वरागम कहा जाएगा किन्तु ये विचित्र पद छन्द-प्रयोग मे कवि की असमर्थता प्रकट करते है, यह निर्विवाद है। पार्श्वनाथचरित मे उस दोष की भी कमी नही, जिसे काव्यशास्त्रियो ने 'अधिक' नाम दिया है। 'उत्सगसगसगतविग्रहौ' (१.११६), में 'सग' के, 'ध्यान ध्यायन्त.' (४.२८०) मे 'ध्यानम्' के तथा 'उपभूपमुपेयिवान्' (३.२२३) मे 'उप' के प्रयोग के बिना भी अभीष्ट अर्थ का बोध होता है।

हेमविजय का उद्देश्य अपने आराध्य के गुणगान से निर्वाण का सुख प्राप्त करना है। उसके लिये भाषा का महत्त्व माध्यम के अतिरिक्त कुछ नही। किन्तु जन्म-जन्मान्तरो की नाना स्थितियो से सम्बन्ध होने के नाते पार्श्वनाथचरित की भाषा विविध भावो की व्यंजना करने मे समर्थ है और उसकी सहजता तथा सुबोधता पौराणिक वृत्त को नीरसता से बचाए रखती है। प्रभावती के पूर्वराग के मनोवैज्ञानिक चित्रण मे जो भाषा प्रयुक्त की गयी है, उससे उसकी तल्लीनता, विवशता तथा विकलता साकार हो गयी है।

> तल्लीनमानसा नित्यं ध्यानरूढेव योगिनी।
> अस्मार्षीत् पार्श्वकुमारं सावज्ञातसुखस्मृतिः ॥४ ५१८
> स्थिता जागरिता सुप्ता गच्छन्ती प्रलपन्त्यपि।
> सैवं पार्श्वगुणग्रामोत्कीर्तनं कृतवत्यभूत् ॥४.५२०॥
> यान्तु यान्त्विति जल्पन्ती प्राणानपि रिपूनिव।
> उद्वेगमत्यगाद् बाला मरुप्राप्तेव हस्तिनी ॥४.५२२

इन पक्तियो मे उस नवयौवना बाला के हृदय की टीस मुखर है। उसे सारा ससार पार्श्वमय दिखाई देता है। वह उसके रोम-रोम मे रम चुका है। इस कोमल

२६. निर्दोषा गुणिनी दर्ण्यपदन्यासा रसाद्भुता।
कुल्यानेव सार्वज्ञी गौरवं गौस्तनोतु नः ॥ पार्श्वनाथचरित, १.७

तथा मसृण पदावली मे पाठक को द्रवित करने की पूर्ण क्षमता है। यहाँ भापा का वह गुण विद्यमान है, जिसे साहित्यशास्त्र में 'माधुर्य' कहा गया है।

पार्श्वनाथचरित की भापा में वहुधा एकरूपता विद्यमान है किन्तु वह लचीलेपन से रहित नही है। विन्ध्याचल के भद्रजातीय हाथी की उद्धत चेष्टाओ[२७] तथा मरुभूति हाथी की केलियों[२८] के चित्रण की भापा इसका भव्य निदर्शन है।

हेमविजय की वर्णन-निपुणता प्रशसनीय है। अपनी तत्त्वग्राही दृष्टि से वह वर्ण्य विषय की समग्रता को हृदयगम करने तथा उसे वाणी देने में समर्थ है। रात्रि; सरोवर, हाथी के उत्पात आदि का वह समान सहजता से चित्रण कर सकता है। द्वितीय सर्ग मे दावाग्नि का वर्णन, इस दृष्टि से, विशेप उल्लेखनीय है।

अलंकार-विधान

हेमविजय ने यद्यपि अपने काव्य की 'अलंकृतिधोरणी'[२९] की साग्रह चर्चा की है किन्तु उसका आदर्श 'अलकारों का यथोचित निवेश'[३०] है। अपने आदर्श के अनुसार उसने काव्य को सायास अलंकृत करने का प्रयत्न नही किया है। यह उसका उद्देश्य भी नही है। काव्य-रचना के सहज अवयव वन कर जो अलकार आए है, उन्हे ही काव्य मे स्थान मिला है।

हेमविजय का खास अलंकार उपमा है। काव्य मे इसी का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। हेमविजय की उपमाएँ वहुत अनूठी है। इसका कारण उसके अप्रस्तुतो की सजीवता तथा मार्मिकता है। पार्श्वनाथचरित के उपमान उसके लोकज्ञान तथा पैनी दृष्टि के परिचायक है। नरवर्मा राज्य-भार से इस प्रकार विरक्त हो गया जैसे रोगी कुपथ्य को छोड़ देता है।[३१] चर्म जल मे ऐसे फैल गया जैसे दुर्जन को वतायी गोपनीय वात।[३२] प्रकृति पर आधारित उपमान कवि की प्रकृति के प्रति सहानुभूति प्रकट करते है। गर्भिणी वामा पीले मुख से ऐसी लगती थी जैसे फल से पकी वेल।[३३] विष से ब्राह्मण की चेतना इस प्रकार लुप्त हो गयी जैसे वादल से चन्द्रकला।

> प्रसर्पता विषेणाशु क्षणेनास्य द्विजन्मनः।
> पिहिता चेतनादभ्राभ्रेणेव शशिनः कला ॥६.५

२७. वही, १.१७०-१७२
२८ वही, १.१७३-१७६
२९. लसदलंकृतिधोरणीधारिणी। वही, ६.४७०
३०. यथौचित्यमलंकारान् स्थापयामास वासवः। वही, ४.२९१
३१. वही, ४.४४४
३२. वही, ३.४२८
३३. वही, ४.१०१

उत्प्रेक्षा कवि का अन्य प्रिय अलकार है। काव्य मे उपमा के बाद उत्प्रेक्षा का व्यापक प्रयोग किया गया है। कवि के अप्रस्तुत-विधान के कौशल के कारण उसकी उत्प्रेक्षाएँ भी बहुत रोचक तथा कल्पनापूर्ण हैं। वनुन्धरा के शृंगार-वर्णन की यह उत्प्रेक्षा, इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। उसके मुख पर अंकित पत्ररचना मे कामशिशु की जन्मपत्री की सम्भावना करना कवि-कल्पना की उर्वरता है।

व्यधात् सा वदने पत्रलता काश्मीरकल्मताम्।
जन्मपत्रीमिवानंगशिशोः सम्प्राप्तजन्मनः॥ १.११०

काव्य मे मधुरता लाने के लिए हेमविजय ने अनुप्रास का उदार प्रयोग किया है। उसने जिस मनोरम पदविन्यास को काव्य के गौरव का आधार माना है, वह बहुधा अनुप्रास पर अवलम्बित है। पार्श्वनाथचरित के अनुप्रास का लालित्य निर्विवाद है यद्यपि कवि के आवेश के कारण उसमे कही-कही पुनरुक्ति अथवा अनावश्यक पदो का प्रयोग दिखाई देता है। 'वामाधरमाधुर्यं धुर्यं मधुरवस्तुषु' (३.१५०) जैसे यमक-मिश्रित अनुप्रास की काव्य मे कमी नही है।

पार्श्वनाथचरित मे प्रयुक्त अन्य अलकारो मे पर्यायोक्त, रूपक, दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास, सहोक्ति, यथासख्य, विभावना, परिसख्या, विरोध, काव्यलिंग तथा असगति उल्लेखनीय हैं। निम्नोक्त पद्य मे विद्युत्गति की विजय का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है, अतः यहाँ पर्यायोक्त है।

यत्प्रतापस्य सूरस्य सामान्यमभिदध्महे।
यदुद्गते रिपुस्त्रीदृक्कैरवैर्मुकुलायितम्॥ २.१६

पोतना-नरेश अरविन्द के प्रताप-वर्णन के अन्तर्गत प्रस्तुत पद्य मे विषम अलकार के द्वारा उसके पराक्रम का निरूपण किया गया है। काले काजल से मिश्रित, शत्रु-नारियो के अश्रुप्रवाह से धुल कर उसका यश कलुषित नही हुआ, वह निर्मल ही बना रहा।

द्विट्स्त्रीणां सांजनैर्वाष्पैर्धौतं येन निजं यशः।
नैर्मल्यं तदपि प्राप्तं काप्यहो! अस्य वैदुषी॥ १.३५

उपमान चन्द्रमा की अपेक्षा उपमेय पार्श्व के भाल के आधिक्य का निरूपण होने से निम्नांकित पंक्तियो मे व्यतिरेक अलंकार है।

भालस्थलमशोभिष्ट विशालं त्रिजगत्पतेः।
स्वसौष्ठवेनाभिभवदष्टमीशशिनः श्रियम्॥ ४.४२२

छन्दयोजना

पार्श्वनाथचरित मे बहुत कम छन्दो का प्रयोग किया गया है। समूचे काव्य की रचना अनुष्टुप् छन्द मे हुई है। केवल सर्गान्त के पद्य भिन्न छन्दो मे है। मुख्य छन्द अनुष्टुप् के अतिरिक्त काव्य मे वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, उपजाति, द्रुतविलम्बित तथा मालिनी, ये पाच छन्द प्रयुक्त हुए है। सरलता की दृष्टि से

अनुष्टुप् सर्वोत्तम छन्द है। प्रस्तुत काव्य मे इसका प्रयोग इसके प्रचारवादी उद्देश्य के अनुरूप है।

समाजचित्रण

पार्श्वनाथचरित को 'जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना' तो नही कहा जा सकता किन्तु इसमे युगचेतना का भव्य चित्र समाहित है। हेमविजय ने अपनी सवेदनशीलता से तत्कालीन समाज के कतिपय रीति-रिवाजो, लोकाचारो, मान्यताओं, शिक्षा, स्वास्थ्य अपराध एव दण्ड, मनोरजन के साधनो आदि का यथातथ्य वर्णन किया है जिसमे भारतीय समाज-व्यवस्था के तुलनात्मक अध्ययन के लिये उपयोगी सामग्री निहित है।

पार्श्वनाथ के जन्मोत्सव के प्रसग मे, उस समय प्रचलित कुछ लोकरीतियों का निरूपण किया गया है। इनमे से कुछ अवश्य ही राजगृह अथवा धनाढ्य वर्ग तक सीमित थी। शासकवर्ग पुत्रजन्म के उपलक्ष्य मे राज्य के समस्त वन्दियो की मुक्ति तथा करो की समाप्ति से आन्तरिक हर्ष की अभिव्यक्ति करता था। नगर के चौराहों मे कुकुम के मागलिक थापे लगाये जाते थे, मोतियो से स्वस्तिकचिह्न पूरे जाते थे, पण्यागनाओ का अविराम नृत्य होता था। वे मण्डलाकार हल्लीसक नृत्य करती थीं और पुरुष रास गाते थे। वेणु, वीणा, मृदग आदि वाद्यो की मधुर ध्वनि से नगर रंगभूमि का रूप धारण कर लेता था[३४]। जहाँ इन रीतियो का आयोजन केवल श्रीमन्तो द्वारा सम्भव था, कतिपय अन्य आचार समाज के सभी वर्गो मे प्रचलित थे। शिशुजन्म के प्रथम दिन स्नात्रोत्सव किया जाता था, तत्पश्चात् स्थितिपतिका। तीसरे दिन शिशु को सूर्य तथा चन्द्रमा का दर्शन कराया जाता था। छठे दिन रात्रि-जागरण करने की प्रथा थी। सधवाएँ सज-धज कर रात भर मांगलिक गीत गाती थी। ग्यारहवे दिन अशुचिकर्मोत्सव सम्पन्न होता था। बारहवे दिन शिशु का नामकरण संस्कार किया जाता था। इन आचारो की परम्परा में नामकरण सवसे महत्त्वपूर्ण आयोजन था। पिता उस समय उदारतापूर्वक दान देता था तथा सम्वन्धियों को भोज दिया जाता था। अश्वसेन ने वेशकीमती वस्त्रो के साथ रत्नो, मणियों तथा सोने का कोश लुटा दिया था[३५]।

हेमविजय के समकालीन समाज मे ज्ञाननिष्ठा का सर्वगत महत्त्व था। 'आचार्यदेवो भव' की वैदिक परम्परा के अनुसार गुरु देववत् पूज्य था। छात्र द्वारा उपाध्याय की देवता की भाँति तीन बार प्रदक्षिणा करना गुरु की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा वौद्धिक उपलब्धि की नम्र स्वीकृति है। गुरु के प्रति अवज्ञा-भाव अकल्पनीय

३४. वही, ४.३४४-३५६
३५ वही, ४ ३६५-३७४

था। छात्र अपने अपराध अथवा प्रमाद के लिये सिर झुका कर तत्काल क्षमा-याचना करता था। गुरु ज्ञान का अक्षय स्रोत था और उसकी तुलना में छात्र मात्र 'अणु'। किन्तु गुरु उद्धत छात्रो को शारीरिक दण्ड देने मे संकोच नही करता था। पुत्री की भाँति विद्या का सुपात्र को देना ही अर्थवान् माना जाता था। धनार्जन की तरह विद्यार्जन के लिये एकाग्र निष्ठा तथा अथक परिश्रम अनिवार्य था। अवस्त्रापनिका, प्रज्ञप्ति, तालोद्घाटनी, तथा व्योमगामिनी विद्याओ का उल्लेख काव्य में हुआ है। शुद्ध भाषा, पाण्डित्य की परिचायक मानी जाती थी[३६]।

रोग के साथ शरीर का चिरन्तन सम्बन्ध है। कुशल वैद्य के बिना रोगी का उपचार अशक्य था। अत रोगी चिकित्सक के सम्मुख अपनी गोपनीय व्याधि भी निस्संकोच प्रकट कर देता था। रोग का सही निदान किये बिना चिकित्सा निरर्थक थी। बीमारी मे पथ्यापथ्य का विचार उपचार का आधार है। ज्वरपीडित व्यक्ति के लिये कुपथ्य से बचना नितान्त आवश्यक था अन्यथा दूध भी विष बन सकता था। विषवैद्य सर्पदंश का इलाज दिव्य मन्त्रो से भी करते थे[३७]।

अपनी सन्तान का विवाह प्राय. माता-पिता ही निश्चित करते थे, यद्यपि अपवाद रूप मे गान्धर्व विवाह का प्रचलन भी था। गार्हस्थ्य जीवन के सुखमय यापन के लिये कन्या को विदाई के समय उपयुक्त शिक्षा दी जाती थी। उसे दहेज के रूप में धनादि मिलता था।[३८]

अपराधवृत्ति उतनी ही प्राचीन है जितनी समाज की संस्था। हेमविजय के समय में परदारागमन आदि घृणित अपराध करने वालो को अत्यन्त कठोर दण्ड देने का प्रावधान था। परदारागामी को गधे पर नगर के चौराहो मे घुमा कर अपमानित किया जाता था। पुलिस उस पर डण्डे बरसाती तथा मुष्टिप्रहार करती थी। दण्डित व्यक्ति सिर झुका कर और हाथ से मुँह ढककर आँसू बहाता हुआ चलता था। नगर मे घुमाकर उसे सूली चढा दिया जाता था। कभी-कभी अपराधी को अपमानित करके छोड दिया जाता था। चोर पुलिस से बचने के लिये तपस्वी का भेस बना कर घूमते थे, परन्तु सतर्क कोतवाल की पैनी दृष्टि को वे धोखा नही दे सकते थे। कोतवाल उन्हे रस्सियो से बाँध कर कडी सजा देता और जेल मे ठूस देता था। जेल मे उन्हें दारुण यातनाएँ दी जाती थी। सजा भोगने के बाद जब वे कारागृह से छूटते थे तो उनका चर्मावृत अस्थिपजर मात्र शेष रह जाता था। राजधन की चोरी करने वालों

३६ वही, ४.२२५, १.१५०, १५७, ३.७२, ४.४७२, ६.३४, ३.२३६, ४.२३३, ६ २७१, ३.१६१.

३७. वही, २.१६२, १.१३७, २.१६१, ४ ४४, ५.३२०, ३.३७६

३८. वही, ४.६२०, ३.२३४, ४ ६७०.

को तत्काल फासी दी जाती थी।[३९]

मद्यपान का व्यसन समाज मे था। शराब से विवेक और सन्तुलन दोनो विगड जाते है। कुछ व्यक्ति शराब पीकर पागल हो जाते थे। मूर्छित होना तो सामान्य वात थी।[४०] विषपान आत्महत्या का अचूक उपाय था।[४१]

मनोरंजन के साधनों मे संगीत, वाद्य, मल्लयुद्ध (कुश्ती) तथा मुष्टियुद्ध का उल्लेख आया है।[४२] मदारी अथवा बहुरूपिया नाना रूप बना कर और उनका सवरण करके दर्शको का मनोविनोद करता था।[४३]

धर्म

धर्म-देशनाओ के अन्तर्गत तथा अन्यत्र भी काव्य मे धर्म का सामान्य प्रतिपादन हुआ है। दान, शील, तप तथा भाव के भेद से धर्म चार प्रकार का है। पुण्यवान् ही इस चतुर्विध धर्म का अनुष्ठान कर सकते है। पुण्यहीन व्यक्ति के लिये वह कल्पतरु की भाँति दुष्प्राप्य है। दान साक्षात् कल्पवृक्ष है, जिसके पत्ते सार्वभोम भोग है, पुष्प स्वर्गीय सुख है तथा फल महानन्द है। शील जीवन का सर्वस्व है। लवणहीन भोजन की तरह उसके बिना रूप, लावण्य, तारुण्य आदि सब निरर्थक है। जो नवगुप्तियो से युक्त शील का परिशीलन करते है, मुक्तिसुन्दरी उनका वरण करती है। तप समस्त दोषों तथा कलुषों को दूर करने का अचूक उपाय है। भावना (भाव), दान, शील तथा तप रूपी त्रिविध धर्म का मूलाधार है तथा भवसागर को पार करने का सम्बल है। धर्म-कर्म मे भाव प्रमुख है। भावनाहीन धार्मिक क्रियाएँ करने से मनुष्य जन्म-मरण के चक्र से कदापि मुक्त नही हो सकता।[४४]

दर्शन

आत्मा-विषयक शास्त्रार्थ के अन्तर्गत नास्तिक कुबेर आत्मा के सम्बन्ध मे चार्वाक दर्शन की मान्यता प्रस्तुत करता है। चार्वाक के अनुसार आत्मा आकाश-कुसुम की भाँति कोई वस्तु नही है। मनुष्य मे चेतना पच भूतों के संयोग से प्रादुर्भूत होती है और उनके नष्ट होने पर मेघमाला की तरह सहसा विलीन हो जाती है। देह से पृथक् आत्मा की सत्ता नही है। अत शरीरान्त के पश्चात् उसके देहान्तर में सक्रान्त होने अथवा परलोक जाने का प्रश्न ही नही है। आत्मा पाप-पुण्य का न कर्ता

३९. वही, १.१२६-१३१, ६ २३३-२३४, २४२, २२७, २८६, १५४, १९५
४०. वही, ३.१२१, ४.५०४
४१. वही, ४.४९७
४२ वही, ४.२६५-२७०, २९८-२९९
४३. वही, ४.३१५
४४. वही, ५.३९८-४१७

है, न भोक्ता। आत्मा मे अन्य गुणो का आरोप करना भी सम्भव नही।[४५]

मुनि लोकचन्द्र के प्रत्युत्तर के रूप मे चार्वाक मत का प्रत्याख्यान किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का बोध अध्यात्म ज्ञान से होता है। सुख-दु:ख की अनुभूति आत्मा के अस्तित्व का निश्चित प्रमाण है क्योंकि चैतन्य के बिना उनकी संवेदना सभव नही और चेतना आत्मा का स्वाभाविक गुण है। आत्मा का अस्तित्व निर्णीत होने पर उसका परलोकगमन भी सिद्ध है। आत्मा पाप-पुण्य की कर्ता भी है, और उनके फल की भोक्ता भी। वह स्वकृत कर्मों के अनुसार धर्माधर्म का फल भोगती है। आत्मा बन्धन और मोक्ष का भी कारण है। कषायो से पराभूत होकर वह बन्धन की ओर अग्रसर होती है, उनको पराभूत करके वह मोक्ष की दायक बनती है।[४६]

कर्म जैन दर्शन का मर्म है। जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्म के फल से बचना कदापि सम्भव नही। वह स्वयं रोपा गया वृक्ष है, जिसका फल इच्छा-अनिच्छा से चखना ही पड़ता है। पार्श्वनाथचरित में इस तथ्य की बार-बार आवृत्ति की गयी है। प्राणियो के सुख-दु:ख, मान-अपमान आदि का निमित्त कुछ और हो सकता है, उनका कारण पूर्वकृत कर्म है।[४७] कर्मो का जब पूर्ण विलय होता है तो आत्मा निर्वाण को प्राप्त होती है। यह पूर्ण नैष्कर्म्य, शैलेशी अवस्था मे होता है।[४८] त्रिरत्न मिथ्यात्व के अन्धकार को विच्छिन्न करने के लिये दीपक के समान है तथा स्वर्ग और अपवर्ग का द्वार है। त्रिरत्न से वंचित व्यक्ति ससार मे भटकता रहता है।[४९] इस विवेचन के अतिरिक्त काव्य मे आर्त तथा शुक्ल ध्यान, मति आदि ज्ञान, उत्पाद, विगम और ध्रौव्य की पदत्रयी, द्रव्य, गुण तथा पर्याय और वाक्चित्तात्मक सूक्ष्म योग का भी उल्लेख आया है।[५०]

पार्श्वनाथचरित कवि की बालकृति है। इसका उद्देश्य विदग्ध जनो का मनोरंजन करना नही है। आराध्य के गुणगान का पुण्य प्राप्त करने के लिये लिखे गये इस काव्य मे प्रौढोक्ति अथवा चमत्कृति का स्थान नही है। इसका सारा सौन्दर्य इसकी सहजता तथा सरलता मे निहित है। इस दृष्टि से यह उपेक्षणीय नही है। युगजीवन का यथेष्ट चित्रण इसके गौरव की वृद्धि करता है।

४५. वही, २.१७४-१८६
४६. वही, २.१८८-२१७
४७. वही, १ १४१, ३९६, २.२८४, ६.२५१
४८. वही, ६.४१८
४९. वही, १.६८-६९
५०. वही, १.३६३, ६.४२१, २.७३, ५.४४४, ४४७, ६.४२०
विस्तृत विवेचन के लिये देखिये मेरा लेख—'पार्श्वनाथचरित का दार्शनिक पक्ष' महावीर स्मारिका, जयपुर, १९७५, पृ० २.५३-५६

२३. जम्बूस्वामिचरित : राजमल्ल

आलोच्य युग के पौराणिक महाकाव्यो मे, अन्तिम केवली जम्बूस्वामी के संवेगजनक जीवनवृत्त पर आधारित पण्डित राजमल्ल का जम्बूस्वामिचरित[1] महत्त्वपूर्ण रचना है। विषय-साम्य होने पर भी ब्रह्मजिनदास के जम्बूस्वामिचरित तथा प्रस्तुत काव्य मे, कवित्व तथा कथावस्तु के संयोजन की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है। राजमल्ल का कथानक अधिक शिथिल तथा विषयान्तरो से आच्छादित है परन्तु ब्रह्मजिनदास की अपेक्षा उनकी काव्य-प्रतिभा निश्चय ही अधिक समर्थ तथा श्लाघनीय है।

जम्बूस्वामिचरित का महाकाव्य

पौराणिक शैली मे रचित जम्बूस्वामिचरित मे महाकाव्य के मान्य लक्षणो का तत्परता से अनुवर्तन किया गया है, यह कवि की उक्त काव्यविधा के प्रति निष्ठा का प्रतीक है। राजमल्ल के काव्य का विषय, जम्बूस्वामी का चरित, जैन धर्म के दोनो सम्प्रदायो मे सुप्रसिद्ध तथा समादृत कथा है। इसका मुख्य आधार जैन पुराण है तथा राजमल्ल के अतिरिक्त विभिन्न भाषाओ के कवियो ने इस कथा को पल्लवित करने मे योग दिया है[2]। जम्बूकुमार सही अर्थ मे धीरप्रशान्त नायक है, जो समस्त भोगो से निर्लिप्त है तथा रूपसी नवोढाओ के समूचे प्रलोभनो को विषवत् त्याग कर संयमव्रत ग्रहण करता है। रसवत्ता जम्बूस्वामिचरित की उल्लेखनीय विशेषता है। वैराग्यप्रधान रचना होने के नाते इसमे शान्तरस की प्रधानता है। काव्य की रसात्मकता को तीव्र बनाने के लिये राजमल्ल ने इसमे शृंगार वीर, वीभत्स, रौद्र आदि प्रायः सभी रसो की इस प्रकार निष्पत्ति की है कि जम्बूस्वामिचरित वस्तुत: आस्वाद्य बन गया है। जम्बूस्वामिचरित की रचना धर्म के उदात्त उद्देश्य से प्रेरित है। कवि के विचार मे धर्म लौकिक सम्पदाओ तथा पारलौकिक अभ्युदय का मूलाधार है[3]।

१. सम्पादक : जगदीशचन्द्र शास्त्री, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, संख्या ३५, बम्बई, सम्वत् १९९३.

२. पं. सागरदत्त, भुवनकीर्त्ति, पद्मसुन्दर, सकलहर्ष, मानसिंह (दिगम्बर), हेमचन्द्र, जयशेखर उल्लेखनीय हैं।

३. धर्मामृतं च पानीयं निर्विकारपदप्रदम्। जम्बूस्वामिचरित, ३.८९
धर्मात्सुखं कुलं शीलं धर्मात्सर्वा हि सम्पदः। वही, ४.१७२

इन स्वरूप-विधायक तत्वों के समान जम्बूस्वामिचरित में महाकाव्य की स्थूल रूढियो का भी पालन किया गया है। इसका प्रारम्भ चार पद्यों के मंगलाचरण से हुआ है, जिनमे क्रमशः महावीर स्वामी, सिद्धो, मुनित्रय तथा वाग्देवी सरस्वती की वन्दना की गयी है। जम्बूस्वामिचरित की विशेषता यह है कि इसके अन्य बारह सर्ग भी क्रमशः दो-दो तीर्थंकरो की स्तुति से शुरु होते हैं। इस प्रकार, प्रत्येक सर्ग मे मंगलाचरण के व्याज से काव्य में चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति का समावेश हो गया है। इसमें महाकाव्योचित नगर, ऋतु, उद्यान, दूतप्रेषण, युद्ध आदि के वर्णन भी यथास्थान पाये जाते है जो इसके पौराणिक इतिवृत्त को रोचक बनाते हुए युग-जीवन के कतिपय पक्षो को बिम्बित करते है। कवि के लक्ष्य के अनुरूप इसकी भाषा सुबोध तथा प्रसादपूर्ण है। वह अशुद्धियों से भी मुक्त नही है। अन्य पौराणिक काव्यो की भाँति इसमें अधिकतर अनुष्टुप् का प्रयोग किया गया है। काव्य तथा सर्गो का नामकरण शास्त्र के अनुकूल है, यद्यपि कवि ने सर्ग के लिये 'पर्व' तथा 'अध्याय' का प्रयोग मुक्तता से किया है। इस प्रकार जम्बूस्वामिचरित मे महाकाव्य के समूचे प्रमुख तत्त्व विद्यमान है। अतः इस 'पुराण'[४] को महाकाव्य मानने में आपत्ति नही हो सकती।

जम्बूस्वामिचरित की पौराणिकता

जम्बूस्वामिचरित पौराणिक शैली का महाकाव्य है। इसमे वे सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ विद्यमान है, जो पौराणिक काव्यो का स्वरूप निर्धारित करती है। जम्बू-स्वामिचरित का आरम्भ ठेठ पौराणिक रीति से हुआ है। प्रथम सर्ग के अतिरिक्त द्वितीय सर्ग मे जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी काल, उनके छह अरो, प्रत्येक अर मे मनुष्यो की आयु, आकार, प्रकृति, योग आदि के वर्णन पुराणों पर आधारित तथा उनके अनुगामी है। कालचक्र के इस प्रवाह तथा स्वरूप का जम्बूस्वामी के मूल इतिवृत्त से कोई सम्बन्ध नही है परन्तु कवि ने, अपनी कृति को पौराणिक रूप देने की व्यग्रता के कारण इस पुराण-सुलभ सामग्री का काव्य में समा-हार किया है। इसकी रचना का प्रेरक बिन्दु कवि का धर्मोत्साह है। समूचा काव्य निर्ग्रन्थ धर्म की महिमा का दीपस्तम्भ है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में कवि ने निरपवाद रूप से स्वधर्म के गौरव का प्रतिपादन किया है।

धर्मान्नास्ति परः सुहृद् भवभृतां धर्मस्य मूल दया।
तस्मिन् श्रीजिनधर्मशर्मनिरतैर्धर्मे मतिर्धार्यताम्॥ १२.१५०

जैन सिद्धान्तपद्धति कुमतो को खण्डित करने के लिए वज्रसार है। दीक्षा को भवबन्धन को उच्छिन्न तथा कर्म का उन्मूलन करने वाला अमोघ मन्त्र माना गया है। धर्म-प्रचार के इसी उद्देश्य से तृतीय सर्ग मे गणधर गौतम की देशना की योजना

४ जम्बूस्वामिपुराणस्य शुश्रूषा हृदि वर्तते। वही, १.१२७

की गयी है, जिसके अन्तर्गत केवलज्ञान के आधारभूत सात तत्त्वो का विशद निरूपण हुआ है। अन्तिम सर्ग मे द्वादश अनुप्रेक्षाओ के विवेचन के द्वारा काव्य के दार्शनिक पक्ष को समृद्ध बनाने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। पौराणिक काव्य की एक अन्य मुख्य विशेषता — भवान्तरवर्णन भी जम्बूस्वामिचरित मे पायी जाती है। काव्य-नायक जम्बूस्वामी, उसकी चार पत्नियो, मुनि सौधर्म, यक्ष तथा विद्युच्चर के पूर्व-भवों का काव्य मे सविस्तार वर्णन किया गया है तथा वर्तमान जन्म के आचरण एव प्रवृत्तियो को पूर्व जन्मो के सस्कारो और कर्मो का परिणाम माना गया है। वर्द्धमानपुरवासी ब्राह्मण आर्यवसु का पुत्र भवदेव, जन्मान्तर मे, वीतशोका नगरी के चक्री महापद्म के पुत्र शिवकुमार के रूप मे घोर तपश्चर्या के फलस्वरूप ब्रह्मोत्तर मे विद्युन्माली देव बनता है और, कालान्तर मे, स्वर्ग से च्युत होकर जम्बूस्वामी के रूप मे जन्म लेता है। मुनि सौधर्म, पूर्व जन्म का, जम्बूस्वामी का अग्रज भावदेव है। चम्पापुरी के अग्रणी धनवान् सूरसेन की चार पत्नियाँ धर्माचरण के कारण ब्रह्मोत्तर मे विद्युन्माली की पत्नियाँ बनी। वर्तमान जन्म मे वे ही जम्बूस्वामी की पत्नियाँ है। यक्ष पूर्ववर्ती जन्म मे अर्हद्दास का अनुज जिनदास था और विद्युच्चर हस्तिना-पुर के राजा सवर का पुत्र। जम्बूस्वामिचरित मे प्रतिपाद्य को रोचक तथा ग्राह्य बनाने के लिये कथा के भीतर अवान्तर कथाओ का समावेश करने की प्रवृत्ति का कराल रूप दिखाई देता है। काव्य का एक भाग उन कथाओं ने हडप लिया है, जिनके द्वारा जम्बूकुमार की नवविवाहित पत्नियाँ तथा विद्युच्चर उसे वैराग्य से विरत करने का प्रयत्न करते है। काव्य मे अनेक अतिप्राकृतिक घटनाओ का समाहार किया गया है। स्वर्ग के देवता तथा अप्सराएँ वर्द्धमान जिन के समवसरण की रचना करते है। मुनि सागरचन्द्र को देखकर शिवकुमार को जातिस्मरण हो जाता है। पौराणिक कृति की भाँति जम्बूस्वामिचरित की रचना का उद्देश्य पुण्यार्जन करना है[५]। उसी प्रवृत्ति के अनुरूप इसमे स्वधर्म का गौरवगान तथा परमधर्म पर आक्षेप किया गया है। काव्य मे, जहाँ एक ओर जैन धर्म की आराधना करने को प्रेरित किया गया है[६] वहाँ अद्वैत तथा बौद्धधर्म की प्रकारान्तर से खिल्ली उड़ायी गयी है[७]। पौराणिक प्रवृत्ति के अनुरूप जम्बूस्वामिचरित की समाप्ति ग्रन्थ-माहात्म्य से होती है[८]। इसकी भाषा मे पुराणसुलभ खुरदरापन तथा व्याकरणविरुद्ध प्रयोगो की भरमार है। स्तोत्रो का समा-वेश भी यथास्थान किया गया है। इसकी पौराणिकता के अनुसार जम्बूस्वामिचरित का पर्यवसान शान्तरस मे हुआ है। काव्य के सभी पात्र, अन्ततोगत्वा, तापसव्रत

५. जम्बूस्वामिकथाव्याजादात्मानं तु पुनाम्यहम्। वही, १.१४४
६. जैनो धर्मः क्षणं यावद्विस्मार्यो न महात्मभिः। वही, २.१२४
७ वही, २. ११२-११५
८. वही, १३. १७०-१७७

ग्रहण करते है। विद्युच्चर जैसे नीच चोर को भी संयम द्वारा सर्वार्थसिद्धि की प्राप्ति होती है। यह जम्बूस्वामिचरित की पौराणिकता का प्रबल प्रमाण है कि इसके अनुशीलन के पश्चात् पाठक बरबस भंगुर भोगों से उद्विग्न होकर जीवन के श्रेय की ओर प्रेरित होता है। इस दृष्टि से यह काव्य 'रोमाचजनन-क्षम' है[9]।

कविपरिचय तथा रचनाकाल

आलोच्य युग के अधिकाश महाकाव्यो के विपरीत जम्बूस्वामिचरित दिगम्बर कवि की रचना है। दिगम्बर-परम्परा मे राजमल्ल अथवा रायमल्ल नाम के कई विद्वान् हुए है। प्रस्तुत जम्बूस्वामिचरित के रचयिता राजमल्ल कवि, जैनागम के महान् वेत्ता तथा प्रौढ पण्डित थे। उनकी विभिन्न कृतियों से स्पष्ट है कि पण्डित राजमल्ल केवल आचारशास्त्र के ही मर्मज्ञ नही थे, अध्यात्म, काव्य और न्याय में भी उन्हे विशेष दक्षता प्राप्त थी।

राजमल्ल ने अपने ग्रन्थो मे आत्मपरिचय नही दिया है। अत: उनके कुल, गुरु-परम्परा आदि के विषय मे अधिक ज्ञात नही है। कवि की लाटीसंहिता की प्रशस्ति से सकेत मिलता है कि वे हेमचन्द्र के आम्नाय के थे। पण्डित जुगल किशोर के विचार मे ये हेमचन्द्र, माथुरगच्छ तथा पुष्करगणान्वयी कुमारसेन[10] के पट्टशिष्य तथा पद्मनन्दिभट्टारक के पट्टगुरु, काष्ठासघी भट्टारक हेमचन्द्र प्रतीत होते है, जिनकी कवि ने लाटीसहिता के प्रथम सर्ग मे बहुत प्रशंसा की है। इससे सहज अनुमान किया जा सकता है कि राजमल्ल काष्ठासघी विद्वान् थे। उन्होने अपने को हेमचन्द्र का शिष्य अथवा प्रशिष्य न कहकर आम्नायी कहा है। इसका तात्पर्य कदाचित् यह है कि पण्डित राजमल्ल मुनि नही थे। सम्भवतः वे गृहस्थाचार्य थे अथवा ब्रह्मचारी आदि पद पर प्रतिष्ठित थे[11]।

जम्बूस्वामिचरित के अतिरिक्त राजमल्ल की तीन अन्य कृतियाँ उपलब्ध है। लाटीसहिता आचारशास्त्र का ग्रन्थ है। पंचाध्यायी और अध्यात्मकमलमार्तण्ड का प्रतिपाद्य अध्यात्म है। प्रान्त-प्रशस्ति के गद्यात्मक भाग[12] के अनुसार जम्बूस्वामिचरित की रचना सम्वत् १६३२ (सन् १५७५) की चैत्र कृष्णा अष्टमी को, मुगल सम्राट् अकबर के राज्यकाल मे, सम्पूर्ण हुई थी। अर्थात् यह लाटी-सहिता (सं०

९. जम्बूस्वामिचरित्राद्यं रोमाचजननक्षमम्। वही, १३.१७५

१०. जम्बूस्वामिचरित्र के प्रथम सर्ग में भी भट्टारक कुमारसेन की पूर्वपरम्परा का संक्षिप्त वर्णन है (१. ६०-६३)

११ लाटी-संहिता की भूमिका, पृ० २३

१२. अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यगताब्दसम्वत् १६३२ वर्षे चैत्र सुदि ८ वासरे पुनर्वसुनक्षत्रे श्रीअर्गलपुरदुर्गे श्रीपातिसाहिजलादीनअकबरसाहिप्रवर्तमाने श्रीमत्काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे……। प्रशस्ति।

१६४१) से नौ वर्ष पूर्व लिखा जा चुका था। जम्बूस्वामिचरित सम्भवतः कवि की प्रथम रचना है। प्रतीत होता है कि विचारो की प्रौढता के साथ-साथ राजमल्ल की रुचि अध्यात्म आदि गम्भीर विपयो की ओर बढती गयी। काव्य मे यद्यपि इसका प्रत्यक्ष उल्लेख नही है तथापि प्रथम सर्ग मे आगरा का जो तत्परतापूर्वक विस्तृत वर्णन किया गया है, उसके आधार पर यह कल्पना करना असगत न होगा कि जम्बूस्वामिचरित का निर्माण आगरा मे ही हुआ था। काव्य का प्रणयन, अलीगढ़ के अन्तर्गत भटानिया ग्राम के वासी गर्गगोत्रीय शाह टोडर की प्रार्थना पर किया गया था। मथुरा के सिद्धक्षेत्र की यात्रा के समय जम्बूस्वामी, विद्युच्चर आदि के स्तूप देखकर शाह टोडर के मन मे अन्तिम केवली का चरित सुनने की इच्छा उदित हुई। प्रस्तुत काव्य के द्वारा राजमल्ल कवि ने उस इच्छा की पूर्ति की[१३]। इसीलिये प्रत्येक सर्ग के आरम्भ मे कवि ने टोडर की मंगलकामना की है तथा प्रथम सर्ग मे उसके वंश का विस्तृत वर्णन किया है[१४]।

कथानक

जम्बूस्वामिचरित तेरह सर्गो का महाकाव्य है। इसकी कथावस्तु के चार निश्चित भाग है। प्रथम सर्ग काव्य की भूमिका निर्मित करता है। इसमे मुगल सम्राट् अकवर की वशपरम्परा, उसके शासन एव शौर्य तथा शाह टोडर के कुल का वर्णन है। कवि ने इसे ठीक ही कथामुख की सज्ञा दी है। अगले साढे तीन सर्गों (२-४ तथा पांचवें का पूर्वार्ध) को मूलकथा की पूर्वपीठिका कहना उपयुक्त होगा। इनमे वीरप्रभु के समवसरण की रचना तथा मगधराज श्रेणिक की जिज्ञासा के उत्तर में गौतम द्वारा विद्युन्माली देव, सौधर्म मुनि, यक्ष, विद्युच्चर आदि के पूर्वभवों का वर्णन किया गया है। वर्द्धमानपुर के ब्राह्मण आर्यवसु के पुत्र भवदेव का जीव, तीन योनियो मे घूमने के पश्चात्, राजगृह के व्यापारी अर्हद्दास की पत्नी जिनमती के गर्भ मे, जम्बूस्वामी के रूप मे, अवतीर्ण होता है। काव्य का कथानक जम्बूस्वामी का चरित—पंचम सर्ग के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ होता है। अन्यान्य वस्तुओं के साथ जिनमती को स्वप्न मे जम्बूफल दिखाई देता है जिसके परिणामस्वरूप उसके नवजात पुत्र का नाम जम्बू रखा जाता है। जन्मान्तर के अभ्यास के कारण उसने बाल्यावस्था मे ही समस्त विद्याओ तथा कलाओ मे दक्षता प्राप्त कर ली। छठे सर्ग मे जम्बूकुमार के यौवन, वसन्तकेलि तथा उसके द्वारा श्रेणिक के उद्धत हाथी विपमसग्रामसूर को दमित करने का वर्णन है। सातवें सर्ग मे केरलनरेश मृगाक की पुत्री को हथियाने के लिये उसे आतकित करनेवाले विद्याधर रत्नचूल को, घनघोर युद्ध में, परास्त करके वह अपने शौर्य की प्रतिष्ठा करता है। आठवे सर्ग में विद्याधर

१३. जम्बूस्वामिचरित, १.७६-१३३

१४. वही, १.६४-७८

गगनगति की इस गर्वोक्ति के कारण कि मृगांक ने भी जम्बूकुमार तथा रत्नचूल के युद्ध मे पौरुष का प्रदर्शन किया था, रत्नचूल क्रोध से बौखला उठता है। मृगांक को जीतने मे असफल होकर वह उसे बांधकर, विजय के गर्व से, प्रस्थान करने ही वाला था कि कुमार उसे ललकारता है। फलतः दोनो मे द्वन्द्वयुद्ध ठन जाता है। जम्बूकुमार शक्तिशाली रत्नचूल को पराजित करके मृगांक को बन्धन से मुक्त करता है। इस साहसिक विजय के कारण कुमार का अभूतपूर्व स्वागत किया जाता है तथा श्रेणिक को केरलराज की पुत्री विशालवती प्राप्त होती है। नवें सर्ग में, जम्बू में, मुनि सौधर्म की देशना से, निर्वेद का उदय होता है, किन्तु माता-पिता के आग्रह से वह विवाह के एक दिन बाद दीक्षा लेना स्वीकार कर लेता है। नगर की चार रूपवती कन्याओ के साथ उसका विवाह सम्पन्न होता है। शयनगृह मे वह वीतराग, तरुणियो के बीच 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' अलिप्त रहता है। दसवें तथा ग्यारहवें सर्ग मे क्रमश: नवोढा वधुएँ और विद्युच्चर चोर, उपलब्ध सुख-वैभव को छोड़कर सन्दिग्ध वैराग्य-सम्पदा प्राप्त करने के उसके प्रयास का, आठ कथाओं के द्वारा, मजाक उड़ाते है तथा उसे विषयों मे आसक्त करने का प्रयत्न करते हैं। वह उनके प्रत्येक तर्क का दृढतापूर्वक खण्डन करता है। बारहवें सर्ग मे गृहपाश से छूटकर जम्बूस्वामी तापसव्रत ग्रहण करते हैं और घोर तपश्चर्या के उपरान्त शिवत्व प्राप्त करते हैं। अर्हद्दास और जिनमती ने भी सलेखना से देवत्व प्राप्त किया। यहीं जम्बूस्वामी की कथा समाप्त हो जाती है। तेरहवें सर्ग में बारह अनुप्रेक्षाओं का निरूपण तथा विद्युच्चर की सिद्धिप्राप्ति का वर्णन है। यह कथानक की उत्तरपीठिका है।

जम्बूस्वामिचरित के कथानक के सूत्र अत्यन्त शिथिल हैं। प्रथम चार सर्गों का मूल कथावस्तु के साथ अत्यन्त सूक्ष्म, लगभग अदृश्य, सम्बन्ध है। इन्हें आसानी से छोड़ा जा सकता था। कथानक के पूर्वापर का मूल तक सविस्तार वर्णन महाकाव्य की अन्विति को भग करता है। काव्य के मूल भाग को भी प्रबन्धत्व की दृष्टि मे सफल नही कहा जा सकता। कथानक के बीच वर्णनों और अवान्तर कथाओं के ऐसे अवरोध खड़े कर दिये गये हैं कि कहीं-कहीं तो वह सौ-सौ पद्यो तक एक पग भी आगे नही बढ़ता। इस दृष्टि से दसवाँ तथा ग्यारहवाँ सर्ग कथा-प्रवाह के मार्ग मे विशाल सेतुबन्ध हैं। अन्यत्र भी कवि अधिकतर विषयान्तरो के मरुस्थल में भटकता रहा है। काव्य मे अनुपातहीन अवान्तर कथाएँ कथानक को किस प्रकार नष्ट कर सकती हैं, जम्बूस्वामिचरित इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। और नायक की निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात् काव्य को एक सर्ग तक और घसीटना सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनो की अवहेलना है। यह सच है कि जैन साहित्य में जम्बूस्वामी की कथा इसी रूप मे प्रचलित है किन्तु 'कार्य' की पूर्ति से आगे बढना महाकाव्यकार के लिये कदापि वांछनीय नही है।

जम्बूस्वामिचरित का आधारस्रोत

अन्तिम केवली के रूप मे जम्बूस्वामी का रागरहित उदात्त चरित, जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायो मे, सम्मानित तथा प्रचलित है। दिगम्बर सम्प्रदाय का अनुयायी होने के नाते पण्डित राजमल्ल ने गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण को (७६.१-२१३) अपनी रचना का आध.र वनाया है। राजमल्ल ने जिस प्रकार अपने काव्य मे जम्बूस्वामी का इतिवृत्त निरूपित किया है, उसमे उत्तरपुराण मे वर्णित जम्बूचरित से कोई तात्त्विक भेद नही है। जम्बूस्वामिचरित के रचयिता ने उत्तरपुराण की रूपरेखा मे अपनी प्रतिभा की तूलिका से रग भरकर तेरह सर्गो की विशाल चित्रवीथी निर्मित की है।

काव्य के मुख्य पात्रो के पूर्वजन्मो के वर्णन का संकेत राजमल्ल को उत्तरपुराण से मिला है। गुणभद्र के अनुसार मुनि सौधर्म तथा जम्बूस्वामी, प्रथम भव में, वृद्ध ग्राम के वैश्य राष्ट्रकूट (पत्नी रेवती) के पुत्र भगदत्त तथा भवदेव थे (७६.१५३)। जम्बूस्वामिचरित मे भवदेव के अग्रज का नाम भावदेव है और वे वर्द्धमानपुर के ब्राह्मण आर्यवसु (पत्नी सोमशर्मा) के पुत्र थे।[15] दोनो ग्रन्थो मे अग्रज पहले प्रव्रज्या ग्रहण करता है। अपने अनुज भवदेव को संयम की ओर प्रेरित करने के लिये जब वह नगर मे आया, उस समय भवदेव, दोनो काव्यो के अनुसार, विवाहोत्सव में लीन था। राजमल्ल ने उसकी पत्नी का नाम नागवसू दिया है जबकि उत्तरपुराण मे वह नागश्री नाम से ख्यात है तथा नागवसु उसकी माता है (७६.१५६)। रूपसी नवोढा के अनुराग के कारण भवदेव द्रव्य-सयमी वनकर विपयो को वरावर मन से टटोलता रहता है। उत्तरपुराण मे उसे सुव्रता गणिनी के उपालम्भ से शान्तभाव की प्राप्ति होती (७६.१६७-९०)। राजमल्ल के अनुसार नागवसू की जराक्रान्त काया को देखकर उसके हृदय मे विषयो की भंगुरता तथा सुखो की नीरसता का उद्रेक होता है[16] (३.२२०-२२८)। उत्तरपुराण की तरह जम्बूस्वामिचरित मे भी शिवकुमार (पूर्वजन्म का भवदेव) मुनि सागरदत्त (भावदेव) को देखकर आत्मीयता का अनुभव करता है तथा उसे जातिस्मरण हो जाता है[17]। गुणभद्र के विवरण मे पोदनपुर के

१५. हेमचन्द्र और जयशेखर दोनों के अनुसार बड़े भाई का नाम भवदत्त था। वे सुग्राम नगर के वासी थे तथा उनके माता-पिता का नाम क्रमशः रेवती तथा आर्यवान था। —जम्बूस्वामिचरित, पृ० १२, पा० टि० १

१६. हेमचन्द्र के अनुसार जिस समय भवदत्त (भावदेव) अपने अनुज को बोध देने के लिए आये, उस समय वहां के वातावरण को देखकर स्वयं भवदत्त का महाव्रत जर्जरित हो गया। साथी मुनि उनका उपहास करते हैं। वे पुनः भवदेव को गुरु के पास ले जाकर दीक्षित करते है। वही, पृ० १३. पा० टि० १

१७. उत्तरपुराण, ७६.१५१, जम्दूस्वामिचरित, ४.१०९

स्वामी विद्युद्राज का पुत्र विद्युच्चर चोर, पाँच सौ चोरों के साथ अर्हद्दास [illegible] के घर में चोरी करने के लिये आता है (७६.५३-५६)। जम्बूस्वामिचरित में, पूर्व जन्म में, उसका पिता नगर हस्तिनापुर का शासक था। [illegible] के अनुसार वह पूर्वजन्म में राजगृह के श्रेष्ठी धनदत्त का पुत्र [illegible] था। [illegible] में इसे [illegible] माना गया है,[18] जो जम्बूस्वामिचरित में [illegible] है।

विद्युच्चर, माता जिनमती के आदेश से, जम्बूकुमार को [illegible] संकल्प से विमुख करने के लिये चार कथाएँ सुनाता है जिनका [illegible] यह है कि काल्पनिक सुख की प्राप्ति की आशा में वर्तमान सुख को त्यागना अविवेक होता है। कुमार प्रत्येक कथा का एक-एक प्रतिकथा से प्रतिवाद करता है। उत्तरपुराण तथा जम्बूस्वामिचरित की इन उपकथाओं के स्वरूप तथा क्रम में पूर्ण साम्य न होते हुए भी, भाव की दृष्टि से, उनमें अधिक अन्तर नहीं है। विद्युच्चर की कहानियाँ उपलब्ध सुख को सर्वस्व मानकर सांसारिकता का पोषण करती हैं। जम्बू की कथाओं में वर्तमान प्रेय की अपेक्षा भावी श्रेय को अधिक सार्थक मानकर आध्यात्मिकता को उभारा गया है। कथाओं के क्रम की दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि उत्तर-पुराण में विद्युच्चर की द्वितीय कथा को राजमल्ल ने उसके तृतीय दृष्टान्त के रूप में ग्रहण किया है।[19] [illegible] के कारण [illegible] मछली पकड़ने के प्रयास में मरने वाले शृगाल की, उत्तरपुराण में, विद्युच्चर द्वारा प्रस्तुत सीधी कहानी का जम्बूस्वामिचरित में, विद्युच्चर की कुछ भूमिका सहित, तथा उसकी पञ्चमी पत्नी की द्वितीय कथा में अन्तर्भाव किया गया है। राजमल्ल के काव्य में विद्युच्चर से पहले कुमार की चार नवोढा पत्नियाँ भी उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये चार दृष्टांतों का निरूपण करती हैं और जम्बूकुमार उसी प्रकार उनका दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद करता है। उत्तरपुराण में इनका अभाव है। किन्तु उत्तरपुराण में, जम्बू-कुमार अपने पक्ष के समर्थन में कूप में लटके पुरुष तथा मधुस्राव की प्रख्यात कथा कहता है[20] जिसे सुनकर उनके माता-पिता, पत्नियाँ और चोर सब सांसारिक भोगों से विरक्त हो जाते हैं। यह कहानी, जम्बू की तृतीय पत्नी विनयश्री द्वारा कही गयी दरिद्रसंख की कथा के प्रतीकार में प्रस्तुत कुमार के दृष्टान्त से सारतः भिन्न नहीं है।[21]

१८. उत्तरपुराण, ७६.१२४-१२६

१९. शृगाल और धनुष की यह कथा हितोपदेश में भी आती है।

२०. उत्तरपुराण, ७६.१०२-१०७

२१. मधुबिन्दु वाले दृष्टान्त की कथा महाभारत (स्त्रीपर्व, ५), बौद्ध अवदानों और ईसाई साहित्य में भी पायी जाती है। इसलिये यह संसार के सर्वमान्य कथा-साहित्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

उत्तरपुराण के अनुसार जम्बूस्वामी को बारह वर्ष की तपश्चर्या के पश्चात् केवलज्ञान और उसके बारह वर्ष बाद निर्वाण की प्राप्ति हुई थी (७६.११८-११९)। राजमल्ल ने यह अवधि अठारह वर्ष दी है। सौधर्म मुनि के विपुलाचल से मोक्षगमन के अर्द्धयाम के व्यवधान से जम्बूस्वामी मे कैवल्य की स्फुरणा हुई थी। अठारह वर्ष तक निरावरण ज्ञान से धर्मदेशना करने के पश्चात् उन्हे विपुलाचल के उसी स्थान पर निर्वाण प्राप्त हुआ, जहाँ उनके गुरु निर्वाण को गये थे (१२.१०९-१२१)।

रसचित्रण

जम्बूस्वामिचरित की रचना सहृदय को रसचर्वणा कराने के लिये नही हुई है। यह, भावना तथा उद्देश्य दोनो दृष्टियो से, शुद्धत प्रचारवादी कृति है, जिसका लक्ष्य अन्तिम केवली के सर्वत्यागी तथा सयमी चरित के द्वारा विपयासक्त जनो को, भोगो की नश्वरता और नीरसता का भान करा कर संयम की ओर उन्मुख करना है। परन्तु राजमल्ल ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति इस कौशल से की है कि उसका काव्य तीव्र रसात्मकता से सिक्त हो गया है। उसने स्वय नौ काव्य-रसो का साभिप्राय उल्लेख किया है (नवधा रसा.-१.२४)। और जम्बूस्वामिचरित मे प्राय सभी रसों के यथेष्ट पल्लवन के द्वारा अपने सिद्धात की व्यावहारिक व्याख्या की है। पौराणिक महाकाव्य के लेखक के लिये यह प्रशसनीय उपलब्धि है।

वैराग्य की प्रधानता के कारण जम्बूस्वामिचरित मे, अगी रस के रूप मे, शान्तरस का परिपाक हुआ है। सागरचन्द्र की सवेगोत्पत्ति, वैराग्यविरोधी तर्कों को खडित करने वाली शिवकुमार की युक्तियो, जम्बूकुमार की विवाहोपरान्त मनोदशा तथा अनित्यानुप्रेक्षा के प्रतिपादन आदि मे शान्तरस की उद्दाम धारा प्रवाहित है। काव्य मे शान्तरस का चित्रण इस द्रुतता तथा गम्भीरता से किया गया है कि इसके परिशीलन के पश्चात् पाठक के मन मे जीवन तथा जगत् की अनित्यता, विपयो की छलना आदि भावनाओ का अनायास उद्रेक हो जाता है और वह आपातरम्य भोगों से विमुख होकर, सयम एव त्याग मे जीवन की सार्थकता खोजने को प्रेरित होता है। यह कवि के शान्तरस-चित्रण की दक्षता का प्रवल प्रमाण है। इस दृष्टि से अनित्यानुप्रेक्षा का प्रस्तुत विश्लेपण उल्लेखनीय है।

जीवितं चपलं लोके जलबुद्बुदसन्निभम्।
रोगैः समाश्रिता भोगा जराक्रान्तं हि यौवनम्॥ १३.१३

सौन्दर्यं च क्षणविध्वंसि सम्पदो विपदन्तकाः।
मधुविन्दूपमं पुंसां सौख्यं दुःखपरम्परा॥१३.१४

इन्द्रियारोग्यसामर्थ्यचलान्यभ्रोपमानि च।
इन्द्रजाल समानानि राजसौधधनानि च॥ १३.१५

इत्यध्रुवं जगत्सर्वं नित्यश्चात्मा सनातनः।
अतः सद्भिर्न कर्त्तव्यं ममत्वं वपुरादिषु ॥ १३.१७

अंगीरस के अतिरिक्त जम्बूस्वामिचरित मे शृंगार, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स तथा वात्सल्य का भी यथास्थान, आनुषंगिक रूप मे, व्यापक चित्रण हुआ है। वैराग्य-प्रधान काव्य मे अंगी रस के विरोधी शृंगार के उभय पक्षो का सोत्साह निरूपण आपाततः अटपटा लग सकता है, किन्तु यह महाकाव्य-परम्परा में रसराज के गौरव तथा कवि द्वारा उसकी स्वीकृति का प्रतीक है। शान्त के प्रवाह में शृंगार की माधुरी को निमज्जित न करना राजमल्ल की साहित्यिक ईमानदारी है। वीतशोका नगरी के मदमाते युवकों की क्रीड़ाओं, शिवकुमार के रतिवर्णन तथा जम्बूकुमार की नवोढा पत्नियो की कामपूर्ण चेष्टाओ मे सम्भोग-शृंगार का हृदय-स्पर्शी चित्रण हुआ है। शिवकुमार की केलियो के इस प्रसंग मे शृंगार की छटा दर्शनीय है।

वनोपवनवीथीषु सरितां पुलिनेषु च।
सरःसु जलक्रीडार्थं कान्ताभिरगमन्मुदम् ॥
आलिगनं ददौ स्त्रीणां कदाचिद् रतकर्मणि।
तासां स्मितकटाक्षैश्च रंजमानो मुहुर्मुहुः।
कदाचिन्मानिनीं मुग्धां कोपनां प्रणयात्मिकाम्।
नयति स्म यथोपायमनुनयं नयात्मकः ॥४.७०-७२

द्रव्यसंयमी भवदेव की नवयौवना पत्नी को पुनः पाने की अधीरता में विरह की व्यथा है। भवदेव अग्रज के गौरव के कारण संयम तो ग्रहण कर लेता है परन्तु नव-विवाहिता प्रिया की याद उसके हृदय को निरन्तर मथती रहती है। विरही तापस के कामाकुल उद्गार विप्रलम्भ शृंगार की सृष्टि करते हैं।

पर्यटन्पथि पांथः संश्चिततति स्म स सस्मरः।
अद्य भुंजामि कान्तां तां सालंकारां सकौतुकाम् ॥ ३.१९२
तारुण्यजलधेर्वेलां कन्त्रां कामदुघामिव।
मत्स्यीमिव विना तोयं मामृते विरहातुराम् ॥ ३.१९३

परन्तु शृंगार पवित्रतावादी जैन कवि के मन को अभिभूत नही कर सका। उपर्युक्त भावोच्छ्वास के पश्चात् भी उसके लिए नारी मल-मूत्र का घृणित पात्र, सर्प से अधिक भयंकर तथा पुरुष का अभेद्य बन्धनजाल है।[२२]

राजमल्ल की तूलिका ने वीररस के भी ओजस्वी चित्र अंकित किये हैं। शृंगार की भाँति वीररस भी आधिकारिक कथा का अवयव बन कर आया है। पौराणिक नायक के पराक्रम की प्रतिष्ठा के लिए महाकाव्य मे उसके युद्धो का वर्णन

२२. जम्बूस्वामिचरित, १०.९-१०,१३

एक रूढ़ि बन गया था। राजमल्ल का युद्धवर्णन तत्कालीन काव्य-प्रणाली से प्रभावित है। माघ तथा उनके अनुवर्ती अधिकतर कवियों की भाँति राजमल्ल ने युवा जम्बूकुमार और विद्याधर रत्नचूल के युद्ध के वर्णन मे अधिकतर वीररसात्मक रूढियों का निरूपण किया है। युद्ध के अन्तर्गत धूलि से आकाश के आच्छादित होने, हाथियों की भिड़न्त, रथचक्रो की चरमराहट, धनुषो की टकार, बाण-वर्षा से सूर्य के ढकने, कबन्धों के युद्ध, इन्ही रूढियो का सकेत देते है[२३]। आठवे सर्ग में क्रमशः मृगांक और रत्नचूल तथा जम्बूकुमार और रत्नचूल के द्वितीय युद्ध मे उक्त रूढियों के अतिरिक्त वायव्य, आग्नेय तथा गारुड़ अस्त्रो और नागपाशो का खुलकर प्रयोग[२४] भी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। काव्य मे वीररस की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति, सातवे सर्ग में, क्षात्र धर्म के निरूपण मे हुई है।

क्रमोऽयं क्षात्रधर्मस्य सन्मुखत्वं यदाहवे ।
वरं प्राणात्ययस्तत्र नान्यथा जीवनं वरम् ॥ ७.३०
ये दृष्ट्वारिबलं पूर्णं तूर्णं भग्नास्तदाहवे ।
पलायन्ति विना युद्धं धिक् तानास्यमलीमसान् ॥ ७.३२

काव्य मे युद्धो का सविस्तार वर्णन शास्त्र का निर्वाहमात्र प्रतीत होता है। शृंगार की तरह हिंसा भी कवि की मूल शान्तिवादी वृत्ति के अनुकूल नही है। प्रथम युद्ध मे विजयी होकर जम्बू का पश्चात्ताप से दग्ध होना तथा हिंसा की निंदा करना[२५], कवि की वीररस के जनक युद्ध के प्रति सहज घृणा को बिम्बित करता है। इस युद्ध-निन्दा के तुरन्त बाद जम्बूकुमार एक अन्य युद्ध में प्रवृत्त हो जाता है, इसे विडम्बना के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है ?

जम्बूस्वामिचरित मे करुणरस की अभिव्यक्ति के लिए यथेष्ट स्थान है। शिवकुमार के मूर्च्छित होने पर उसके पिता चक्रवर्ती महापद्म के विलाप मे तथा जम्बूस्वामी के प्रव्रज्या के लिए प्रस्थान करने पर उसकी माता तथा पत्नियो के रोदन मे करुणरस का परिपाक हुआ है। रघुवश अथवा शाकुन्तल की करुणा की-सी पैनी व्यजना की आशा इन कवियो से नही करनी चाहिए।

हा नाथ मन्महाप्राण हा कन्दर्पकलेवर ।
अनाथा वयमद्याहो विनाप्यागा कृताः कथम् ॥
धिग्दैवं येन दत्तास्य तपसे बुद्धिरुत्कटा ।
पश्यता स्म महादुःखं तत्कारुण्यमकुर्वता ॥ १२.२०-२१

२३. वही, ७.२३१-२४१
२४. वही, ८.५०-५१,६७-७८
२५. तत्केवलं मयाकारि हिंसाकर्म महत्तरम् ।
तत्केवलं प्रमादाद्वा यद्वेच्छता यशश्चयम् ॥ वही, ८ १८
प्राणान्तेऽपि न हंतव्यः प्राणो कश्चिदिति श्रुतिः । ८.१९

महाराज श्रेणिक का गजराज, सग्रामशूर, शृखला तोड कर भाग जाता है। उसके उत्पातो से भीत सैनिको के वर्णन मे भयानक-रस की उत्पत्ति हुई है। श्रेणिक के शूरवीर योद्धा हाथी की दुश्चेष्टाओ से इतने विचलित हो जाते है कि उसे वशीभूत करने का कोई प्रयास तक नही कर सका।

यतस्ततः पलायन्तस्तत्र केचिद् भयातुराः
कातरत्वं समादाय न पुनः सन्मुखं ययुः ॥ ६.७३
भाव्यमद्य किमत्राहो चिन्तयन्तो भटा अपि।
न क्षमाः सन्मुखं गन्तुं बन्धनायाशु दन्तिनः ॥ ६.७५
गौरमास्यं सुयोद्धारः पश्यन्ति स्म परं परम्।
विमनस्का बभुस्तत्र निरुत्साहा निरुद्यमाः ॥ ६.७६

इसी संग्रामशूर के क्रोधावेश का चित्रण रौद्ररस की निष्पत्ति करता है। अपनी भयकर गर्जना से सबको डराता हुआ तथा सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट करता हुआ वह पर्वताकार हाथी साक्षात् यम का अवतार प्रतीत होता है।

अंजनाद्रिसमो दन्ती चलत्कर्णप्रभंजनः।
स्थूलकायः कृतांताभो नवाषाढपयोदवत् ॥
दन्तावलोऽथ दन्ताग्रैरुत्खनन् पृथिवीतलम्।
शुण्डादण्डेन तत्रोच्चैरुद्गिरन् वारिसंचयम् ॥
उच्चखान वनं सर्वं रौद्रश्चातिभीषणः।
उच्छिन्दन् तरुमूलानि मूलोन्मूलमितस्ततः। ६.६३-६५

जम्बूस्वामिचरित मे अद्भुत,[२६] बीभत्स[२७] तथा वात्सल्य[२८] रसो का भी यथोचित परिपाक मिलता है।

प्रकृति-चित्रण

जम्बूस्वामिचरित की कथावस्तु कुछ ऐसी है कि उसमे प्रकृति-चित्रण के लिए अधिक स्थान नही है। परन्तु राजमल्ल ने काव्य मे यथास्थान प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन के द्वारा प्रकृति के प्रति अपने नैसर्गिक अनुराग का परिचय दिया है। आकार मे परिमित होता हुआ भी राजमल्ल का प्रकृति-चित्रण उस रीतिबद्ध युग मे ताजगी का आभास देता है। जम्बूस्वामिचरित मे बहुधा प्रकृति के आलम्बन पक्ष का तत्परता से वर्णन किया गया है। कालिदासोत्तर कवियो की प्रकृति के स्वाभाविक चित्रण से विमुखता को देखते हुए जम्बूस्वामिचरित के रचयिता की यह प्रवृत्ति वस्तुतः अभिनन्दनीय है। वर्षा-ऋतु के वर्णन मे प्रकृति-चित्रण की यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती

२६. वही, २.२४८-२५१
२७. वही, ३.८७
२८. वही, ५.१३३

है। पावस में मेघमाला गम्भीर गर्जन करती हुई आकाश मे घूमती है, शीतल पवन चलती है, मयूरों तथा चातको का मधुर शब्द वरबस हृदय को हर लेता है और वर्षा की अविराम बौछारे पृथ्वी का सन्ताप दूर करती है। वर्षाकाल के इन उपकरणो का प्रस्तुत पंक्तियो में स्वाभाविक चित्रण हुआ है।

विद्युद्वन्तो महाध्वाना वर्षन्तो रेजिरे घनाः।
सहेमकक्षा मदिनो नागा इव सबृंहिताः॥ २.४७
ववौ च वाततान्कुर्वन् कलापौघान् कलापिनाम्।
घनाघनालिमुक्ताम्भःकणवाही समीरणः॥ २ ४६
चातका मधुरं रेणुरभिनन्द्य घनागमम्।
अकस्मात्ताण्डवारम्भमातेने शिखिनां कुलम्॥ २.५०
तदा जलधरोन्मुक्ता मुक्ताफलरुचश्छटाः।
मही निर्वापयामासुर्दिवकरकरोष्मतः॥ २.५५

राजमल्ल ने प्रकृति पर मानवीय चेष्टाओ तथा कार्यो का भी आरोपण किया है जिससे उसके तथा मानव के बीच अभिन्न साहचर्य स्थापित हो गया है। वसन्त तथा वर्षा दोनो ऋतुओ के वर्णन मे प्रकृति का मानवीकरण किया गया है, यद्यपि इस ओर कवि की अधिक रुचि नही है। वर्पाकाल मे दमकती बिजली, नर्तकी की भाँति, आकाश की रगभूमि मे, हाव-भाव दिखला कर, विभिन्न मुद्राओ मे नृत्य करती हुई, अपने अंग-लावण्य से सबको मोहित कर लेती है।

विद्युन्नटी नभोरंगे विचित्राकारधारिणी।
प्रतिक्षणविवृत्तागी नृत्यारम्भमिवातनोत्॥ २.५३

वसन्त के प्रस्तुत वर्णन मे ऋतुराज को वैभवशाली सम्राट् के रूप मे अंकित किया गया है, जो कमल का छत्र धारण करके तथा फूलो की यशोमाला पहिन कर वनांगन मे प्रवेश करता है।

आतपत्रं दधानोऽसौ प्रफुल्लेन्दीवरच्छलात्।
प्रसूनैः स्वयशोमालां न्यधान्मूर्ध्नि स माधवः॥ ६.४७

सस्कृत काव्य की प्रकृति-चित्रण की तत्कालीन परिपाटी आलंकारिक वर्णन की प्रणाली थी। राजमल्ल का वसन्त-वर्णन प्रौढोक्ति पर ही आधारित है। ऋतुराज के विविध उपकरणो के चित्रण मे कविकल्पना अधिकतर उत्प्रेक्षा के रूप में प्रकट हुई है। इससे यह वर्णन, एक ओर, कल्पनाशीलता से द्योतित है और दूसरी ओर, इसकी प्रेषणीयता मे वृद्धि हुई है। वसन्त मे चम्पक वृक्षो से युक्त अशोक के पेड़ ऐसे लगते है मानो वियोगियो के विदीर्ण हृदयो के मांसपिण्ड हो। और टेसू के फूल विरही जनो को जलाने वाली चिताएँ प्रतीत होती है।

यत्राशोकतरू रेजे युतश्चम्पकवृक्षकैः।
स्फुटितस्य हृदो मांसपिण्डो नूनं वियोगिनाम्॥ ६.५२

रेजुः किंशुकपुष्पाणि यत्रारक्तच्छवीनि च ।
दग्धुं हृद्विरहार्तानां चिताः प्रज्वलिता इव ॥ ६.५३

काव्य की कुछ घटनाएँ ऐसी हैं जो प्रकृति के आदर्श रूप की सृष्टि करती हैं। वर्द्धमान जिन के समवसरण तथा काव्यनायक के जन्म के अवसर पर प्रकृति का यह रूप दृष्टिगम्य होता है। जिनेन्द्र के प्रभाव से पशु-पक्षी अपना चिरन्तन वैर छोडकर सौहार्दपूर्ण आचरण करते हैं और अन्तिम केवली के जन्म के समय स्वर्ग में दुन्दुभिनाद होता है, त्रिविध बयार चलने लगती है और दिशाएँ जयघोप से गुंजित हो उठती हैं।

नेदुर्दुन्दुभयः स्वर्गे पुष्पवृष्टिरभूत्तदा ।
ववुर्वाताः सुशीताश्च सुगंधा पुष्परेणुभिः ॥ ५.१२६
सर्वत्रापि चतुर्दिक्षु जयकारमहाध्वनिः ।
श्रूयते परमानन्दकारणं करणप्रियः ॥ ५.१२७

सौन्दर्यचित्रण

राजमल्ल की सौन्दर्यान्वेपी दृष्टि के लिए प्रकृति-सौन्दर्य के समान मानव-सौन्दर्य भी आकर्षक तथा ग्राह्य है। काव्य में यद्यपि केवल मगधराज श्रेणिक के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन हुआ है किन्तु जिस तत्परता से कवि ने उसे अंकित किया है, उससे सौन्दर्य-चित्रण में उसकी दक्षता का परिचय मिलता है। संस्कृत-काव्य की चिर-प्रतिष्ठित नखशिखविधि को छोडकर किसी अभिनव मार्ग की उद्भावना करना तो सम्भव नहीं था किन्तु राजमल्ल ने अपने काव्य-कौशल से सौन्दर्य-चित्रण को सरस तथा कल्पनापूर्ण बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। श्रेणिक के विभिन्न अवयवों के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति मे प्रेपणीयता लाने के लिये उसने अलंकारो (उपमा और उत्प्रेक्षा) की विवेकसम्मत योजना की है। मगधराज के काले घुघराले बाल ऐसे प्रतीत होते थे मानो वे कामरूपी कृष्ण सर्प के शिशु हों। विशाल वक्ष पर चन्दन का लेप मेरु की तलहटी मे छिटकी शरत्कालीन चाँदनी के समान था। उसकी गम्भीर नाभि ऐसी लगती थी मानो सुन्दरियो की दृष्टि रूपी हथिनी को फांसने के लिये काम ने पानी की खाई बनायी हो। और करधनी से वेष्टित कटि स्वर्णिम वेदिका से घिरे जामुन के पेड के समान प्रतीत होती थी।

शिरस्यस्य बभुर्नीला मूर्द्धजाः कुंचितायताः ।
कामकृष्णभुजंगस्य शिशवो नु विजृम्भिताः ॥ २.२१६
वक्षःस्थलेन पृथुना सोऽधाच्चंदनचर्चिताम् ।
मेरोर्निजतटालग्नां शारदीमिव चन्द्रिकाम् ॥ २.२२१
सरिदावर्त्तगम्भीरा नाभिर्मध्येऽस्य निर्बभौ ।
नारीदृक्करिणीरोधे वारिखातेव हृद्भुवा ॥ २.२२३

रसनावेष्टितं तस्य कटिमण्डलमावभौ ।
हेमवेदीपरिक्षिप्तमिव जम्बूद्रुमस्थलम् ॥ २.२२४

चरित्रचित्रण

जम्बूस्वामिचरित मे अधिक पात्र नही है। काव्यनायक के अतिरिक्त उसकी चार पत्नियाँ, पिता अर्हद्दास, माता जिनमती तथा विद्युच्चर कथानक का तानावाना बुनने के सहयोगी है। जम्बूस्वामी का चरित्र अंकित करने मे कवि को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है।

जम्बूस्वामी

जम्बूस्वामी मानवोचित समस्त गुणो का पुज है। वह काम के समान रूपवान्, वज्रपाणि के समान वलवान्, मेरु की तरह धीर, सागर की भाँति गम्भीर, सूर्य-सा तेजस्वी, चाँद-सा सौम्य और कमल-सा कोमल है[२९]। काव्य मे उसके इन सभी गुणों का पल्लवन नही हुआ है। उसके चरित्र की जिन दो विशेपताओ पर अधिक वल दिया गया है तथा जिनसे उसका समूचा व्यक्तित्व परिचालित है, वे है परस्पर-विरोधी वीरता और वैराग्य। वह बन्धन से छूटे, श्रेणिक के पर्वताकार मदमत्त हाथी को पूछ पकड कर क्षण भर मे दमित कर देता है जवकि अन्य वली योद्धा प्राण वचाने के लिये, कायरो की भाँति, इधर-उधर छिप जाते है। वज्र भी उस वीर का वाल बाका नही कर सकता, तुच्छ हाथी का तो कहना ही क्या ?

वज्रास्थिवन्धनः सोऽयं वज्रकीलश्च वज्रवत् ।
वज्रेणापि न हन्येत का कथा कीटहस्तिनः ॥ ६.८०

विद्याधर रत्नचूल की सुगठित सेना को वह अकेला क्षतविक्षत कर देता है। अतिमानुपिक योद्धा जहाँ असफल हुए, मनुष्य ने वहाँ विजय पाई। द्वन्द्वयुद्ध मे भी रत्नचूल को उससे मुँह की खानी पड़ती है। उसकी इस अनुपम उपलब्धि का केरल-पति मृगाक तथा महाराज श्रेणिक कृतज्ञतापूर्वक अभिनन्दन करते है। यह उन्ही का युद्ध था, जिसे जम्बूस्वामी ने उदारता से अपने सिर ले लिया था। किन्तु युद्ध, हिंसा आदि उसकी प्रकृति के अनुकूल नही है। विजयप्राप्ति के पश्चात् उसे, सम्राट् अशोक की भाँति, आत्मग्लानि का अनुभव होता है और वह अपनी क्रूरता पर पश्चात्ताप करने लगता है[३०]। उसके इस आचरण मे विरोधाभास है परन्तु यह अप्रत्याशित नही क्योकि उसके व्यक्तित्व का प्रेरणाविन्दु करुणा एव विरक्ति है।

जम्बूस्वामी समूचे उपलब्ध वैभवो से सर्वथा अलिप्त है। रूपवती नववधुओ के वीच वह ऐसे अविचल रहता है मानो नारी मे कोई आकर्षण न हो और पुरुप मे उत्तेजना न हो। पत्नियो के समस्त हाव-भाव भी उसकी दृढता के दुर्ग को नही भेद सके। वस्तुतः, उसकी दृष्टि मे नारी विष्ठा, मूत्र, मज्जा आदि मलिनताओ के पुज

२९. वही, ११.३-५
३०. वही, ८.१६

के अतिरिक्त कुछ नही है[३१]। जीवन का सार संयम मे निहित है। माता-पिता का आग्रह तथा पत्नियों का अनुनय भी उसे अभीष्ट मार्ग से विचलित करने में असफल रहता है। विद्युच्चर का 'द्रव्यं प्राप्य न भुंजीत यः स दैवेन वंचितः' का तीर भी व्यर्थ जाता है। अन्ततः, उसे तपश्चर्या से परम पद की प्राप्ति होती है।

अन्य पात्र

अर्हद्दास राजगृह का धनी व्यापारी तथा पुत्रवत्सल पिता है। मुनिवर से अपनी पत्नी के गर्भ से अन्तिम केवली के जन्म की भविष्यवाणी सुनकर उसके आनन्द का पारावार नही रहता। वह रीतिपूर्वक नवजात शिशु के जातकर्म आदि संस्कार करता है। पुत्र के प्रव्रज्या ग्रहण करने से वह शोक मे डूब जाता है। उसकी पत्नी जिनमती को अन्तिम केवली की जननी होने का गौरव प्राप्त है। वे दोनो ही भव-बन्धन मे बचने के लिये तापसव्रत ग्रहण करते है।

जम्बूस्वामी की पत्नियाँ यौवनसम्पन्न सुन्दरियाँ है। उनकी पतिपरायणता आश्चर्यजनक है। जम्बू के साथ विवाह निश्चित होने के उपरान्त उन्हे किसी अन्य से विवाह करने का प्रस्ताव भी सह्य नही है। वे अपने संयमधन पति को रूपपाश मे बाधने का पूर्ण प्रयत्न करती है। इसमे यद्यपि उन्हे सफलता नही मिलती किन्तु उनकी पति-निष्ठा मे कोई अन्तर नही आता। पति के चारित्र्यव्रत लेने पर उनका प्रेमिल हृदय हाहाकार कर उठता है।

विद्युच्चर राजगृह का कुख्यात चोर है। वह जम्बूकुमार को वैराग्य से विरत कर सांसारिक सुख-भोगो मे प्रवृत्त करने का प्रबल प्रयास करता है, किन्तु उसके संवेग से द्रवित होकर स्वय मुनिव्रत ग्रहण करता है और तपोबल से सिद्धि प्राप्त करता है।

समाज-चित्रण

जम्बूस्वामिचरित मे प्रसगवश कुछ सांस्कृतिक सामग्री समाविष्ट है, जिसके विश्लेषण से तत्कालीन समाज के कतिपय पक्षो की कमबेश जानकारी मिलती है। आर्यवसु के पुत्रो की शिक्षा के सन्दर्भ मे जिस पाठ्यक्रम का उल्लेख है, उससे विदित होता है कि उस समय वेद-शास्त्र के अतिरिक्त व्याकरण, वैद्यक, तर्क, छन्द, ज्योतिष् सगीत तथा अलकारशास्त्र अध्ययन के विपय थे[३२]। यद्यपि ये विपय ब्राह्मणों के लिये निर्धारित थे किन्तु इन्हे तत्कालीन शिक्षा का सामान्य पाठ्यक्रम मानने मे कोई हिचक नही हो सकती। क्षत्रियो के लिये शस्त्रविद्या का विधिवत् अभ्यास अनिवार्य था[३३]।

धान्यभेदो की सूची मे षष्ठिका (साठी), कलम तथा व्रीहि विभिन्न प्रकार

३१. वही, ११.३-५
३२ वही, ३.८१-८३
३३. वही, ४.६३-६४

के चावल थे। श्यामाक और नीवार सम्भवतः स्वयम्भू जगली चावल थे। गेहूँ के समान जौ का आटा भी प्रयोग मे लाया जाता था। दालों मे मसूर, मूग, माष तथा राजमाष का प्रचलन था। चने का प्रयोग आटे और दाल दोनो रूपो मे किया जाता होगा। धनिया और जीरा मसाले में प्रयुक्त किये जाते थे। अन्य खाद्य पदार्थो मे कंगु, कोद्रव, उदार, वरक, तिल, अलसी, सर्षप (सरसो), आढकी, निष्पाव, कुलत्थ त्रिपुट, कुसुम्भ का उल्लेख है। कपास की खेती भी की जाती थी। सरसो, तिल तथा अलसी का तेल निकाला जाता होगा[३४]।

व्याधि से शरीर मे धातुओं का विपर्यय स्वाभाविक है। खांसी जैसे सामान्य विकार से लेकर क्षय, जलोदर, भगंदर तथा श्वास जैसे भयकर रोगो तक का उल्लेख राजमल्ल ने किया है। शरीर मे वायु के आधिक्य से जोडो मे असह्य वेदना होती थी[३५]।

आत्महत्या से शरीरान्त करने की परम्परा शायद उतनी ही पुरानी है जितना मानव! राजमल्ल के समकालीन समाज मे असाध्य रोग से पीडित व्यक्ति को जब नीरोग होने की आशा छूट जाती थी, वह जीते जी चिता मे प्राण होम कर देता था। आर्सवसु कोढ से जर्जर हो जाने पर चिता मे जल कर मर गया था। ऐसी स्थिति मे नारी पति के साथ सती हो जाती है।[३६]

द्यूत का व्यसन ऋग्वेद-काल से ही भारतीय समाज के साथ जुडा हुआ है। राजमल्ल ने अपने काव्य मे जुआरी की दुर्दशा का रोचक चित्र खीचा है। जुए मे हारी गयी राशि को न चुकाने वाले की हत्या तक कर दी जाती थी। जिनदास पर विजयी जुआरी ने तलवार का प्रहार किया था। जुआरियो की आपसी मारपीट तो सामान्य बात थी। व्यापक प्रचलन के बावजूद द्यूत को सदैव समाज-विरोधी माना जाता था। पुलिस जुआरियो को दण्ड देकर इस व्यसन को मिटाने का प्रयत्न करती थी।[३७]

दर्शन

जम्बूस्वामिचरित मे जैन-दर्शन के मूलाधार सात तत्त्वो का निरूपण किया गया है। इनमे से आश्रव, संवर तथा निर्जरा का तेरहवे सर्ग मे अनुप्रेक्षाओ के अन्तर्गत भी सविस्तार विवेचन हुआ है। गुण तथा पर्यय से युक्त द्रव्य है। इस दृष्टि से जीव द्रव्य है। उसके योग के कारण पुद्गल को भी द्रव्य माना गया है। प्रदेशप्रचय के अभाव के कारण काल की काया नही है। धर्म, अधर्म, आकाश तथा

३४. वही, २.६०-६२
३५. वही, ५.८-९.
३६. वही, ३.९०-९१.
३७. वही, ५.७०-७५, ८३; तुलना कीजिए : न जानीमो नयता बद्धमेतम्—ऋग्वेद, १०.३४.४

पुद्गल चारो अस्तिकाय है। जीवादि तत्त्वो का यथार्थ ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। उनके प्रति श्रद्धा सम्यक् दर्शन की जननी है। कर्म के हेतुभूत भावों के निरोध को सम्यक् चारित्र कहा गया है। सम्यग्दर्शन का स्थान सर्वोपरि है। ये तीनो समन्वित रूप में मोक्ष के दायक है।[३८]

जीव अनादि, अनन्त, स्वयंसिद्ध, असंख्यातदर्शी तथा अनन्त गुणवान् है। चैतन्य उसका लक्षण है। जीव स्वदेह-परिमाण, ज्ञाता, द्रष्टा तथा कर्मो का कर्ता और भोक्ता है। कर्मो से मुक्त होने पर ऊर्ध्वगमन उसका स्वभाव है। प्राणी, जन्तु क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, अन्तरात्मा, ज्ञ तथा ज्ञानी उसके पर्यय है। जीव तीन प्रकार का है —भव्य, अभव्य और मुक्त। भविष्य में सिद्धि प्राप्त करने वाला जीव भव्य है। अभव्य वह है जिसे भविष्य मे भी सिद्धि प्राप्त नही होती। कर्मबन्धन से मुक्त, निर्मल, सुखमय तथा त्रिलोकी के शिखर पर स्थित जीव मुक्त अथवा सिद्ध है[३९]। अजीव जीव का विपरीत है। उसका लक्षण भी धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गल की दृष्टि से किया जाता है। इनमें पुद्गल साकार है, शेष चार आकार-रहित। स्कन्ध और अणु पुद्गल के दो भेद है। स्निग्ध, रूक्षात्मक अणुओ का सघात स्कन्ध कहा जाता है। द्वयणु से लेकर महास्कन्ध तक उसका विस्तार है। छाया, आतप, अन्धकार, ज्योत्स्ना, मेघ आदि उसके भेद है[४०]। कर्मो के आगमन का मार्ग आस्रव है। वह दो प्रकार का है— भावाश्रव और द्रव्याश्रव। भावाश्रव के चार भेद है—मिथ्यात्व, कषाय, योग तथा अविरति। तत्त्वार्थ के प्रति अश्रद्धा अथवा मिथ्या श्रद्धा मिथ्यात्व है। कपाय मोहनीय कर्मो के उदय से उत्पन्न होते है। वे संख्या मे पच्चीस हैं। कर्माश्रव के कर्त्ता होने के नाते वे महान् विपत्तिदायक है। अविरति का अन्तर्भाव कपायो मे हो जाता है यद्यपि उसका पृथक् निरूपण भी किया जाता है। पाच इद्रियो तया छठे मन के अनिग्रह को अविरति कहा गया है। आत्म-प्रदेशो का परिस्पन्द योग है। मन, वाक्, काया रूप वर्गणाओ के दिपाक की दृष्टि से वह तीन प्रकार का है।[४१] वन्ध आश्रव का फल है। वह भी भाववन्ध तथा द्रव्यवन्ध के भेद से दो प्रकार का है। आश्रवो का निरोध सवर है। आश्रव की तरह उसके भी दो भेद है—भाव-संवर तथा द्रव्य-संवर। जितने अंश से कषायो का निग्रह हो, वही भावसवर का क्षेत्र है। कर्मणाओ का रोध द्रव्यसंवर है। उक्त भेद से निर्जरा भी दो प्रकार की है। आत्मा के शुद्धभाव से कर्म का वेगपूर्वक विगलित होना भाव

३८. वही ३.११-१६

३९. वही, ३.२३-३१

४०. वही, ३.३३-५२

४१. वही, १३.१००-१२१

निर्जरा है। आत्मा के शुद्धभाव से तथा तप के अतिशय से पूर्वबद्ध कर्मो का क्षय द्रव्य-निर्जरा है। सविपाक तथा अविपाक ये निर्जरा के दो अन्य भेद है।[४२] अशुद्ध अवस्था त्यागकर शुद्धावस्था ग्रहण करना मोक्ष है। यह समस्त कर्मो का क्षय होने पर प्राप्त होती है। मोक्ष मे ज्ञान, आनन्द आदि का आविर्भाव होता है।[४३]

जैन दर्शन के इन आधारभूत तत्वो के विस्तृत निरूपण के अतिरिक्त जम्बूस्वामिचरित मे वेदान्तियो के अद्वैतवाद तथा बौद्धो के क्षणिकवाद की उपहासपूर्वक चर्चा हुई है। कापालिको की इस मान्यता का भी काव्य मे उल्लेख किया गया है कि पंच भूतात्मक शरीर के अतिरिक्त जीव, बध तथा मोक्ष कुछ नही है। उनके हस, परमहस, दण्डधारी आदि साधुओं की खिल्ली उड़ाई गयी है।[४४]

धर्म

दर्शन का व्यावहारिक पक्ष धर्म है। राजमल्ल के अनुसार धर्म का मूल सम्यक्त्व है। निश्चय और व्यवहार के भेद से धर्म दो प्रकार का है। निश्चय-धर्म आत्मा पर आश्रित है, व्यवहार धर्म पराश्रित है। आत्मा चैतन्य-रूप तथा अनुभूति-गम्य होने से निश्चय-धर्म पारमार्थिक धर्म है। वह आन्तरिक ऋद्धि, शुद्ध, परम तप, सम्यक् ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र और शाश्वत सुख है। व्यवहार-दृष्टि से धर्म का मर्म सयम, दया, तप तथा शील मे निहित है। आश्रम भेद से वह गृहस्थ धर्म तथा श्रमण धर्म दो भागो मे विभक्त है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र के रूप मे वह त्रिविध है। लक्षणो के अनुसार उसके दस प्रकार है। क्षमा, मृदुता, ऋजुता, सत्य, शुचिता, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता तथा ब्रह्मचर्य—ये धर्म के लक्षण है। धर्म इहलोक तथा परलोक दोनो मे सदा हितसाधक है।[४५] जम्बूस्वामिचरित मे मुनि के बारह व्रतो का उल्लेख हुआ है। इनमे अनशन, अवमौदर्य. वृत्तिसख्यान, रसत्याग, विविक्त शयनासन तथा कायक्लेश बाह्य व्रत है। प्रायश्चित्त, परमेष्ठियो के प्रति विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा अनुत्तरध्यान आभ्यन्तर तप है।[४६]

भाषा

जम्बूस्वामिचरित की रचना धर्मप्रचार तथा पुण्यार्जन के लिये हुई है। अतः इस कोटि के अन्य महाकाव्यो की भाँति, जम्बूस्वामिचरित मे भाषात्मक प्रौढता अथवा सौन्दर्य की आशा करना व्यर्थ है। कथानक का स्वरूप इनके लिये अधिक

४२. वही, १३.१२२-१३२
४३. वही, ३.६०
४४. वही, २ ११२-११५, १२०-१२१
४५. वही, १.१००-११,१३.१५३-१६१
४६ वही, १२.९१-१०३

अवसर प्रदान भी नही करता। जम्बूस्वामिचरित मे आदि से अन्त तक प्रसादपूर्ण सरल भापा का प्रयोग किया गया है, जिससे उस उद्देश्य की पूर्ति हो सके जो इसकी रचना का प्रेरक है। सुबोधता की वेदी पर कवि ने भाषा की शुद्धता की बलि देने मे भी सकोच नही किया है। काव्य मे प्राय: उस प्रकार के सभी अपाणिनीय प्रयोगों को उदारतापूर्वक स्थान दिया गया है, जो पौराणिक काव्यो की भापा की विशेपता है। जम्बूस्वामिचरित के व्याकरण-विरुद्ध रूपो का सम्बन्ध सन्धि, धातु-रूप, शब्दरूप, कारक, प्रत्यय, समास आदि शब्दशास्त्र के सभी अगो से है। ततोवाच (तत उवाच), सोपाय (स उपाय), निर्धुनंतीव (निर्धुन्वतीव), अभिनन्दत् (अभ्यनन्दत्), वर्धनम् (जह्येनम्) वदे (वदामि), स्मरती (स्मरन्ती), सुवर्द्धन्तौ (सुवर्द्धमानौ), दर्शितुं (द्रष्टुम्), विद्यति (विद्यमाने), चलमानैः (चलद्भि.), नाभिराज्ञ (नाभिराजस्य), व्याकुलीभूतचेतस. (व्याकुलीभूतचेता.), उल्लेखनीय है। अस्ति स्म चाद्यापि विभाति (१.६), अभास्त स्म (२.२२५), ध्यानमेकाग्र्यं ध्यायन्निह (३.१२४), पतिर्भावी भविता कोऽत्र (७ १७), प्रतस्थेऽस्मिन् (८.१०२ प्रस्थितेऽस्मिन्) आदि विचित्र प्रयोग भी काव्य मे दुर्लभ नही हैं। इस प्रकार की भाषा से महाकाव्य की गरिमा को आघात पहुँचता है। पर राजमल्ल शुद्ध अथवा समर्थ भाषा के प्रयोग में असमर्थ हो, ऐसी बात नही। काव्य को सर्वगम्य बनाने के उत्साह के कारण वह भापा के परिष्कार की ओर अधिक ध्यान नही दे सका।

जम्बूस्वामिचरित मे भापात्मक वैविध्य का अभाव है। काव्य मे अधिकतर एकरूप भाषा प्रयुक्त की गयी है। परन्तु, जैसा रसचित्रण के प्रकरण से स्पष्ट है, कवि मनोभावो के अनुकूल वातावरण का निर्माण करने के लिये यथोचित भाषा का प्रयोग कर सकता है। रौद्र, करुण तथा शृगार रसो की भिन्न-भिन्न पदावली इस कथन की साक्षी है।

काव्य मे प्रसंगवश नीतिपरक उक्तियों का समावेश किया गया है, जिनकी भापा सरलतम है। जन-साधारण मे ग्राह्य होने के लिये उनमे सुबोधता अपेक्षित ही है।

> तावन्मूलगुणाः सर्वे सन्ति श्रेयोविधायिन: ।
> यावद्ध्वंसी न रोषाग्निर्भस्मसात्कुरुते क्षणात् ।। ७.७२
> गौरवं तावदेवास्तु प्राणिन: कनकाद्रिवत् ।
> यावन्न भाषते दैन्याद् देहीति द्वौ दुरक्षरौ ।। ७.७३

राजमल्ल की भापा सरल है किन्तु वह कान्तिहीन नही है। वह कवि के उद्देश्य की पूर्ति के लिये सर्वथा उपयुक्त है।

अलंकार-विधान

जम्बूस्वामिचरित मे अलकार भावव्यजना के अवयव है। शब्दालकारो के प्रति कवि की अधिक रुचि नही है यद्यपि काव्य मे अर्थालकारो के साथ उनका भी

विरल प्रयोग किया गया है। राजमल्ल ने आत्माभिव्यक्ति के लिये जिस अलंकार का सबसे अधिक आश्रय लिया है, वह उपमा है। प्रकृति पर आधारित उपमानो के प्रति उसका विशेष पक्षपात है। ये कवि के प्रकृति-प्रेम के सर्वोत्तम परिचायक है। पुत्र के तापसव्रत ग्रहण करने का निश्चय सुनकर माता जिनमती इस प्रकार कांप उठी जैसे प्रभंजन के वेग से हिमदग्धा पद्मिनी।

चकम्पे श्रुतमात्रेण माता जिनमती सती।
पवनेनेरिता वेगाद् हिमदग्धेव पद्मिनी ॥ ६.५२

यह गूढोपमा भी कम रोचक नही है। भोजन के बाद खारा जल पीने से जैसे भूख भड़क उठती है उसी प्रकार अकबर की तलवार ने शत्रु का मांस भक्षण करके ज्यो ही समुद्र के जल का पान किया, वह तीनों लोको को लीलने को आतुर हो गयी।

शिते कृपाणेऽस्य विदारितारितः (?) पलाशनात्कुर्वति पानमब्धितः।
ततोऽधिकं क्षारतया बुभुक्षिते जगत्त्रयं त्रासमगादनेहसः ॥ १.२३

कवि-कल्पना का यही कौशल उत्प्रेक्षा की योजना मे दृष्टिगत होता है। ऋतुराज वसन्त तथा महाराज श्रेणिक के वर्णन मे तो कवि ने अपनी कल्पना का कोश लुटा दिया है। श्रेणिक की गम्भीर नाभि ऐसी लगती थी मानो नारी की दृष्टि रूपी हथिनी को फांसने के लिये काम द्वारा निर्मित जलपूर्ण खाई हो (२.२२३)।

जम्बूस्वामी तथा विद्याधर व्योमगति के वार्त्तालाप के अन्तर्गत प्रस्तुत पद्य मे सामान्य मृगशिशु तथा क्रुद्ध केसरी से क्रमश. विशेष रत्नचूल विद्याधर और जम्बूकुमार व्यंग्य है, अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

तावद्धत्ते स्वसद्मस्थश्चापल्यं मृगशावकः।
यावच्चाभिमुखं गर्जन् क्रुद्धो नायाति केसरी ॥ ७.६६

अकबर की दिग्विजय के इस वर्णन मे अतिशयोक्ति का प्रयोग किया गया है। उसकी सेना के भार से पृथ्वी ही ऊबड-खाबड़ नही हुई, पर्वत भी चूर-चूर होकर ढह गये।

न केवलं दिग्विजयेऽस्य भूभृतां सहस्रखण्डैरिह भावितं भृशम्।
भुवोऽपि निम्नोन्नतमानयानया चलच्चमूभारभरातिमात्रतः ॥ १.१६

भारतवर्ष का वर्णन कवि ने परिसख्या के द्वारा किया है। प्रस्तुत पद्य मे मदविकार, दण्डपारुष्य तथा जलसग्रह आदि का अन्य पदार्थो से व्यवच्छेद दिखाया गया है।

यत्र भंगस्तरंगेषु गजेषु मदविक्रिया।
दण्डपारुष्यमब्जेषु सरःसु जलसंग्रहः ॥ २.२०५

जम्बू की बालकेलियो के वर्णन के इस पद्य मे 'सारव' की भिन्नार्थ मे और 'तारवै' की अर्थहीन आवृत्ति हुई है। यह यमक है।

सारवं जलमासाद्य सारवं जलकूजितैः।
तारवैर्यंत्रकैः क्रीडन् जलास्फालकृतारवैः ॥ ५.१५५

रूपक, विरोध, विषम, भ्रान्तिमान्, सन्देह, स्मरण, [अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, लाटानुप्रास आदि अलंकारों को भी काव्य मे स्थान मिला है।

छन्द

पौराणिक महाकाव्य की परम्परा के अनुसार जम्बूस्वामिचरित में अनुष्टुप् को काव्यरचना का माध्यम बनाया गया है। कुछ सर्गो मे, बीच-बीच में अथवा अन्त मे, कतिपय अन्य छन्द प्रयुक्त हुए हैं। राजमल्ल ने सारे काव्य मे आठ छन्दो का प्रयोग किया है। अनुष्टुप् के अतिरिक्त वे इस प्रकार हैं—वंशस्थ, उपजाति, शार्दूल-विक्रीडित, वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा, स्रग्धरा तथा मालिनी। कवि ने अपने कुछ विशेष कथनो के समर्थन में साहित्य से संस्कृत तथा प्राकृत पद्य उद्धृत किये हैं। ये विविध छन्दो में निबद्ध है। जम्बूस्वामिचरित के छन्दों की सूची में उन्हें शामिल नहीं किया जा सकता।

ऐतिहासिक संकेत

जम्बूस्वामिचरित में चगताई जाति में उत्पन्न मुगल सम्राट् बाबर, हुमाऊँ तथा अकबर के विषय में उपयोगी जानकारी निहित है। प्रथम दो सम्राटों का तो सरसरा-सा वर्णन किया गया है, अकबर के प्रताप तथा विजयों का अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन है। कवि ने उसकी चित्तौड़, गुजरात तथा सूरत-दुर्ग की विजयो का विशेष उल्लेख किया है। कुख्यात जजिया की सम्राट् द्वारा समाप्ति और उसकी दयालुता को काव्य में कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया गया है[४७]।

जैसा पहिले कहा गया है, जम्बूस्वामिचरित की रचना भटानिया (अलीगढ) के निवासी शाह टोडर के अनुरोध पर की गयी थी। राजमल्ल ने उसकी वंशपरम्परा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। टोडर अरजानीपुत्र कृष्णामंगल चौधरी तथा वैष्णवमतानुयायी गढमल्ल साहु का कृपा-पात्र था। उसे टकसाल के कार्य में अतीव दक्षता प्राप्त थी। शाह टोडर काष्ठासंघी कुमारसेन के आम्नायी पासा साहु का पुत्र था। उसकी पुत्री कौसुभी पतिपरायणा स्त्री थी। ऋषिदास, मोहन तथा रुपमांगद उसके तीन गुणवान् पुत्र थे[४८]।

जम्बूस्वामिचरित उस उद्देश्य की प्राप्ति में सफल हुआ है, जिससे इसकी रचना की गयी है। काव्य की दृष्टि से भी यह नगण्य नहीं है। प्रसंगवश इसमें तत्कालीन युगचेतना का चित्रण भी हुआ है।

४७. वही, १.६-३१
४८. वही, १.६०-७८

२४. प्रद्युम्नचरित : रत्नचन्द्रगणि

रत्नचन्द्रगणि का प्रद्युम्नचरित[1] विवेच्य काल का अन्तिम पौराणिक महाकाव्य है। सतरह सर्गो के इस बृहत्काय काव्य मे द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण के सुविज्ञात पुत्र प्रद्युम्न का, जन्म से निर्वाणप्राप्ति तक, सम्पूर्ण चरित निरूपित करना कवि का अभीष्ट है, किन्तु जिस परिवेश मे उसे प्रस्तुत किया गया है, उसमे वह काव्य के एक भाग मे सिमट कर रह गया है। प्रासंगिक वृत्तों को अनावश्यक महत्त्व देने से काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य गौण बन गया है। इसका कारण यह है कि रत्नचन्द्र ने विवेकपूर्वक एक सुसम्बद्ध कथानक चुनकर भी उसे, जैसा वह जैन पुराणों मे[2] वर्णित है, नेमिचरित के सामान्य अवयव के रूप मे प्रतिपादित किया है।

प्रद्युम्नचरित का महाकाव्यत्व

प्रद्युम्नचरित की रचना मे उन बाह्य तथा आभ्यन्तर मानदण्डो का पालन किया गया है, जो भारतीय काव्यशास्त्र मे महाकाव्य के लिये निर्धारित है। काव्य के अभिप्रेत प्रतिपाद्य तथा फलागम की दृष्टि से प्रद्युम्न को इसका नायक मानना युक्त है यद्यपि, परिभाषा के अनुरूप, वह, काव्य में, प्राणवायु की भाँति आपादमस्तक व्याप्त नही है और कृष्ण के बहुमुखी विराट् व्यक्तित्व की तुलना मे वह तुच्छ प्राणी है। काव्य मे निरूपित कृष्णचरित की परिणति के सन्दर्भ में, कृष्ण को नायक के पद पर आसीन करना तो शास्त्रसम्मत नही क्योंकि काव्य के अनुसार, जैन धर्म में दीक्षित पात्रो के विपरीत कृष्ण मरकर नरक मे दारुण यातनाएँ भोगते है, पर उन्हे नायक का समकक्ष उच्च पद देना किसी प्रकार असंगत नही है। और पर्दे के पीछे से समूचे काव्य का सूत्र-सचालन करने वाले वीतराग महातपस्वी नेमिनाथ की भी कैसे उपेक्षा की जा सकती है? महाकाव्य का नायक होने के नाते प्रद्युम्न को धीरोदात्त माना जाएगा पर बारीकी से देखने पर वह धीरोद्धत श्रेणी का नायक प्रतीत होता है, जो आत्मविकत्थना, बलप्रदर्शन, छल-कपट तथा कौतुकपूर्ण कार्यो मे ही जीवन की सार्थकता मानता है।

कृष्णचरित तथा उसके अगभूत प्रद्युम्नचरित को जैन साहित्य ने अपने धर्म के गहरे रग मे रंगकर, स्वानुकूल परिवेश मे, ग्रहण किया है। जैनाजैन साहित्य के इस वृत्त की विश्रुतता असन्दिग्ध है। महाकाव्य के कथानक मे जो पाच नाट्य-सन्धिया

१. अहमदाबाद, सन् १९४२

२. उत्तरपुराण, पर्व ७१-७२, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, अष्टम पर्व।

आवश्यक मानी गयी हैं, प्रद्युम्नचरित मे उनमें से कुछ का निर्वाह हुआ है। प्रथम सर्ग मे सत्यभामा द्वारा नारद का अपमान करने से लेकर, उसका प्रतिकार करने के लिये नारद द्वारा कृष्ण तथा रुक्मिणी को परस्पर अनुरक्त करने, कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के हरण तथा पंचम सर्ग मे प्रद्युम्न के जन्म-वर्णन तक मुख-सन्धि है, क्योंकि काव्य के इस भाग मे कथावस्तु का बीज अन्तर्निहित है। इसी सर्ग में धूमकेतु द्वारा शिशु प्रद्युम्न को छलपूर्वक हरकर वैताढच पर्वत पर असहाय छोड़ने, नारद के उसकी स्थिति ज्ञात करने तथा अनेक विजयों और अतिमानवीय कार्यों के बाद, अष्टम सर्ग में, प्रद्युम्न के अपने माता-पिता से मिलने के वर्णन मे बीज का लक्ष्यालक्ष्य रूप मे विकास होने से प्रतिमुख-सन्धि का निर्वाह हुआ है। सतरहवें सर्ग में प्रद्युम्न केवलज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त करता है, जो इस काव्य का फलागम है। यहाँ निर्वहण-सन्धि है। गर्भ तथा विमर्श सन्धियों का प्रद्युम्नचरित में अस्तित्व खोजना दुष्कर है।

पौराणिक काव्य होने के नाते प्रद्युम्नचरित मे शान्तरस की प्रधानता अपेक्षित है। इसका पर्यवसान शान्तरस में हुआ भी है। काव्य के प्रायः सभी पात्र अन्ततः संयम ग्रहण करते हैं। परन्तु प्रद्युम्नचरित में शान्त का अंगी रस के रूप में परिपाक नही हुआ है। इसकी तुलना में वीर रस की काव्य में तीव्र तथा व्यापक अभिव्यक्ति हुई है और यदि इसे प्रद्युम्नचरित का मुख्य रस माना जाए तो अनुचित न होगा। केवल काव्य के लक्ष्य तथा फलागम के आग्रह के कारण शान्त-रस को इसका अंगी रस माना जा सकता है। इनके अतिरिक्त काव्य मे प्रायः सभी प्रमुख रसों की इतनी तीव्र व्यजना है कि रस की दृष्टि से प्रद्युम्नचरित उच्च पद का अधिकारी है। रत्नचन्द्र का काव्य चरित्रों की विशाल चित्रशाला है। यद्यपि काव्य के समस्त पात्रों को पौराणिक परिवेश तथा वातावरण में चित्रित किया गया है तथापि उनका निजी व्यक्तित्व है, जो आकर्षण से शून्य नही है। प्रद्युम्नचरित में जलकेलि, दूत-प्रेषण, युद्ध, विवाह, ऋतु, नगर, पर्वत तथा कौतुकपूर्ण चमत्कारजनक कृत्यों के रोचक वर्णन हैं। ये वर्णन काव्य की विषय-समृद्धि तथा विविधता के आधारस्तम्भ हैं। इस प्रकार सन्धिविकृति को छोडकर प्रद्युम्नचरित मे महाकाव्य के समूचे परम्परागत तत्त्व विद्यमान हैं, जो इसकी सफलता के निश्चित प्रमाण हैं।

प्रद्युम्नचरित की पौराणिकता

प्रद्युम्नचरित पौराणिक शैली का महाकाव्य है। इसमे पौराणिक काव्यो के स्वरूपविधायक तत्त्वों की भरमार है। रत्नचन्द्र ने भवान्तरों के वर्णनों के व्याज से कर्मसिद्धान्त की अटलता की व्याख्या करने का घनघोर उद्योग किया है। काव्य में जन्म-जन्मान्तरो के अन्तहीन वर्णनों का यही कारण है। मनुष्य के कर्म क्षण भर भी उसका पीछा नहीं छोड़ते।[3] उनका फल जीव को अनिवार्यतः भोगना पड़ता

३. न मुंचन्त्यः क्षणाद् दूरं जीवं किं कर्मराशयः। प्रद्युम्नचरित, १२.८२

है।[४] वेदज्ञ अग्निभूति तथा वायुभूति, पूर्वजन्म में मासभक्षी शृगालो के रूप में, चर्मरज्जु खाने के कारण इस जन्म मे ईर्ष्यालु ब्राह्मण बनते है और मुनि नन्दिवर्धन की खिल्ली उडाने का प्रयास करते है। उनका पिता सोमदेव तथा माता अग्निला भवान्तर मे व्यभिचार के कारण, नाना अधम योनियो में घूम कर भी, क्रमश. चाण्डाल तथा कुत्ती के रूप में पैदा होते है। हस्तिनापुर के अर्हद्दास के पुत्रों, पूर्णभद्र तथा मणिभद्र, (पूर्वजन्म के अग्निभूति और वायुभूति) को पूर्वभव के इस सम्बन्ध के कारण ही चाण्डाल और कुत्ती के प्रति सहसा स्नेह का अनुभव होता है। कालान्तर मे पूर्णभद्र विष्वक्सेन का पुत्र मधु बनता है। वटपुर के राजा कनकप्रभ की रूपवती पत्नी चन्द्राभा का अपहरण करके मधु उससे जो बैर मोल लेता है, वह भी जन्मान्तर मे उसका पीछा करता है। यही मधु, वर्तमान भव मे, रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न के रूप मे उत्पन्न होता है। कनकप्रभ धूमकेतु बनता है। पूर्ववैर के कारण धूमकेतु ने नवजात प्रद्युम्न का अपहरण किया है। पूर्वजन्म मे सोमदेव की पत्नी लक्ष्मी, मुनि का अपमान करने के कारण गर्दभी, शूकरी आदि हीन योनियो मे दुख भोगती है। किन्तु अन्य जन्म मे ऋषि समाधिगुप्त की सहायता करने के फलस्वरूप वह श्राविका और अन्तत. कृष्ण की पत्नी रुक्मिणी बनती है। लक्ष्मी के रूप मे एक मयूरी को उसके शिशु से सोलह मास तक वियुक्त रखने के कारण रुक्मिणी को सोलह वर्ष तक पुत्र वियोग की वेदना सहनी पडती है। पूर्वजन्म मे सपत्नी के सात रत्न चुराने के पाप का फल भोगती हुई देवकी को, वर्तमान भव मे, सात पुत्रो को जन्म देकर एक भी पुत्र के लालन-पालन का सौभाग्य प्राप्त नही होता।

पौराणिक काव्यो की प्रकृति के अनुरूप प्रद्युम्नचरित मे अलौकिक तथा अतिमानवीय घटनाओ का प्राचुर्य है। देवर्षि नारद, जो महाकाव्य मे अतीव महत्त्व-पूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं, स्वय अलौकिक पात्र है। वे द्वीपान्तरो तथा अगम्य पर्वतो पर इस सहजता से पर्यटन करते है जैसे पृथ्वी पर विचरण कर रहे हो। प्रद्युम्न के अतिप्राकृतिक कार्यो से तो काव्य भरा पडा है। उसकी शक्ति असीम तथा अलौकिक है। वह बल-प्रदर्शन की भावना से आरब्ध युद्ध मे कृष्ण को भी पराजित कर देता है (८.३१७)। उसके कार्यकलाप मे प्रज्ञप्तिविद्या की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वह कुण्डिननगर मे, रात्रि के समय, वैदर्भी के आवासगृह मे जाकर विद्यावल से समस्त विवाह-सामग्री जुटाता है और, प्रच्छन्न रूप में, उससे विवाह करता है। इसी विद्यावल से वह जाम्बवती को सत्यभामा का रूप देकर कृष्ण के शयनगृह मे भेजता है। सागर तथा कनकमेला के विवाह का कारण भी प्रज्ञप्ति है। द्विज के रूप मे वह सत्यभामा की कुब्जा दासी के सिर का स्पर्श करने मात्र से उसकी कुब्जता दूर कर देता है। उषा अनुरूप वर की प्राप्ति के लिए गौरी की पूजा करती है। उसका पिता बाण शकर की आराधना से अजेयता का वरदान प्राप्त करता है। कृष्ण और पाण्डव लवणसागर के अधिष्ठाता देव, सुस्थित की सहायता से उस दो लाख योजन

४. तुलना कीजिए—कम्मसच्चा हु पाणिणो : उत्तराध्ययनसूत्र, ७.२०

लम्बे सागर को आसानी से पार कर लेते है (१३.६९)। सुर की भेरी बजाने से द्वारिका के सब रोग सहसा शान्त हो जाते हैं (१४.१०.६)।

प्रद्युम्नचरित मे रोमाचक प्रसंगो की भी कमी नही है। विजयार्द्ध पर्वत पर कालसंवर के पुत्रो के गर्हित षड्यन्त्रों को विफल करने के लिए प्रद्युम्न के साहसिक तथा चमत्कारी कार्य तथा द्वारिका मे प्रवेश करने से पूर्व उसके हास्यजनक करतब, काव्य मे रोमाचकता के जनक है। अन्य पौराणिक काव्यों की तरह प्रद्युम्नचरित मे रूप-परिवर्तन की लोककथा-रूढ़ि का भी प्रयोग किया गया है। प्रद्युम्न किरात का रूप बनाकर दुर्योधन की पुत्री का अपहरण करता है और वैदर्भी को पाने के लिए चाण्डाल का रूप धारण करता है। उसे मदारी, द्विज तथा बालमुनि बनने में भी संकोच नही है। अन्य पात्रों का रूप परिवर्तित करने मे भी वह पटु है। रुक्मिणी को योगिनी का, शाम्ब को कन्या का और जाम्बवती को सत्यभामा का रूप देना उसके लिए असंभव नही है। कन्याहरण, जिसका प्रद्युम्नचरित में प्राचुर्य है, रोमाचक काव्य का ही तत्त्व है। अपने प्रचारवादी उद्देश्य की पूर्ति के लिए रत्नचन्द्र ने काव्य मे धर्मदेशनाओ को माध्यम बनाया है। तीर्थंकर नेमिनाथ, सीमंधर, नन्दिवर्धन, विमलवाहन, महेन्द्र आदि धर्माचार्य जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तो की व्याख्या के प्रसंग मे श्रोताओं को ससार की नश्वरता तथा भोगो की भंगुरता से अभिभूत कर वैराग्य की ओर उन्मुख करते है, जिसके फलस्वरूप काव्य के प्रायः समूचे पात्र अन्ततोगत्वा प्रव्रज्या ग्रहण करते है। सन्तोष यह है कि ये उपदेश विस्तृत नही है जिससे काव्य नीरसता से मुक्त है। इसका मुख्य कारण यह है कि काव्य के विस्तृत फलक पर कवि ने जीवन के विविध प्रसगो के मनोरम चित्र अंकित किए है, जो पूर्वोक्त अतिप्राकृतिक तथा रोमांचक घटनाओं के साथ, पाठक को आद्यन्त अभिभूत रखते है।

कवि-परिचय तथा रचनाकाल

प्रद्युम्नचरित के सतरहवें सर्ग की पुष्पिका तथा प्रशस्ति से रत्नचन्द्र की गुरु-परम्परा तथा कृतित्व आदि के विषय मे बहुत उपयोगी सामग्री प्राप्त होती है। रत्नचन्द्र के गुरु वाचक शान्तिचन्द्र तपागच्छ के प्रख्यात आचार्य आनन्दविमलसूरि की शिष्य-परम्परा मे थे[५]। मुगल सम्राट् अकबर ने जब भट्टारक हीरविजय को धर्मपृच्छा के लिये फतेहपुरी बुलाया था, उस समय शातिचन्द्र, साधु-समाज मे, उनके साथ थे। उनकी साहित्यिक प्रतिभा के स्मारक दो ग्रन्थ उपलब्ध है। कृपारसकोश उनकी मौलिक कृति है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को उन्होने प्रमेयरत्नमञ्जूषा नामक बृहद्वृत्ति से अलंकृत किया है। उन्होने कृपारसकोश का वाचन अकबर के समक्ष किया था जिससे उन्हे यथेष्ट सम्मान प्राप्त हुआ था। मुगल सम्राट् की प्रेरणा से ही शान्तिचन्द्र

५. प्रशस्ति, ८-१०

को उपाध्याय पद प्रदान किया गया था[६]। रत्नचन्द्र को काव्यरचना मे प्रवृत्त करने का श्रेय इन्ही शान्तिचन्द्र को है। प्रद्युम्नचरित की रचना सम्वत् १६७४(सन् १६१७) मे, विजयादशमी को सूरत मे सम्पूर्ण हुई थी[७]। उसी दिन कवि की एक अन्य कृति अध्यात्मकल्पद्रुमवृत्ति भी पूरी हुई थी। यह उक्त वृत्ति की प्रशस्ति से स्पष्ट है[८]।

रत्नचन्द्रगणि प्रसिद्ध टीकाकार भी थे। उन्होने अपनी टीकाओ से अनेक जैनाजैन ग्रन्थो का मर्म प्रकाशित किया है। अध्यात्मकल्पद्रुम के अतिरिक्त भक्तामर स्तोत्र, कल्याणमन्दिरस्तोत्र, देवप्रभोस्तव, धर्मस्तव, ऋषभस्तोत्र, वीरस्तव, कृपारस-कोश, नैषधमहाकाव्य तथा रघुवंश पर भी उनकी टीकाएँ उपलब्ध है।

कथानक

प्रद्युम्नचरित सतरह सर्गो का विशालकाय महाकाव्य है, जिसमें पूरे ३५६९ पद्य है। प्रथम सर्ग मे श्रीकृष्ण की नवनिर्मित राजधानी द्वारिका मे देवर्षि नारद के आगमन तथा सत्यभामा द्वारा उनकी अवमानना करने का वर्णन है। द्वितीय सर्ग मे नारद अपमान का बदला लेने के लिये सत्यभामा को सपत्नी के सकट मे डालने का निश्चय करते है। वे विदर्भदेश की राजकुमारी रुक्मिणी को महाराज कृष्ण की अग्रमहिषी बनने का वरदान देते है। राजकुमार रुक्मी बहिन का विवाह चेदि के शासक शिशुपाल से निश्चित कर चुका था। तृतीय सर्ग मे कृष्ण चित्रगता रुक्मिणी की नयनाभिराम छवि देखकर कामविह्वल हो जाते है। उधर शिशुपाल लग्नपत्रिका भेजकर विवाह निश्चित कर देता है। रुक्मिणी एक दूत के द्वारा श्रीकृष्ण से उसे चेदिराज से बचाने की प्रार्थना करती है। चतुर्थ सर्ग मे कृष्ण, पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार, रुक्मिणी का अपहरण करते है तथा द्वारिका के पार्श्ववर्ती उद्यान मे उससे पाणिग्रहण करते है। नवोढा के प्रेम मे डूब कर उन्हे सत्यभामा की सुध तक नही रहती। पंचम सर्ग मे ऋषि अतिमुक्तक के वरदान से रुक्मिणी को विष्णुतुल्य पुत्र प्राप्त होता है। अमित तेज के कारण शिशु का नाम प्रद्युम्न रखा गया। प्रद्युम्न सहसा तिरोहित हो जाता है। कृष्ण तथा रुक्मिणी, पुत्र के एकाएक गायब होने से

६. इति श्रीदिल्लीदेशे फतेपुरस्थैः पातसाहिश्रीअकब्बरैः श्रीगुरुदर्शनार्थसमाहूत-भट्टारक श्री ५ श्रीहीरविजयसूरीश्वरैः सह विहारकृताम्, स्वयंकृतकृपारसकोश-ग्रन्थश्रावणरञ्जितपातसाहिश्रीअकब्बराणाम् .... श्रीजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्रस्य प्रमेयरत्नमंजूषानामबृहद्वृत्तिकृताम् पातसाहिश्रीअकब्बरदापितोपाध्यायपदानाम्। पुष्पिका, सप्तदशसर्ग

७. प्रशस्ति, १५ तथा अन्तिम पंक्ति : संवत् १६७४ वर्षे विजयादशमीदिवसे सुरत-बन्दरे ··· ··· प्रद्युम्नचरितं संपूर्णम्।

८. युगमुनिरसशशिवर्षे मासीषे विजयदशमिकादिवसे। शुक्लेऽध्यात्मसारद्रुमवृत्तिश्चक्रे मया ललिता॥

शोकाकुल हो जाते है। नारद से उन्हे ज्ञात हुआ कि प्रद्युम्न के प्रति पूर्व-वैर के कारण देवाधम धूमकेतु, रुक्मिणी के रूप मे आकर, उसे ले गया है तथा भूख-प्यास से मरने के लिये वैताढ्य पर्वत पर असहाय छोड दिया है। मेघकूट के स्वामी कालसवर की पत्नी कनकमाला उसका पुत्रवत् पालन कर रही है। वह रुक्मिणी को सोलह वर्ष पश्चात् मिलेगा। छठे सर्ग मे रुक्मिणी के पूर्व-भवो तथा उस कुकर्म का वर्णन है जिसके फलस्वरूप उसे पुत्रवियोग की पीडा मिली है। सातवें सर्ग मे विद्याधर काल-संवर के पुत्र छलवल से प्रद्युम्न को मारने के लिये अनेक षड्यन्त्र रचते है, किन्तु वह अपनी व्यावहारिक प्रज्ञा तथा अनुपम शौर्य से समस्त विपत्तियो को जीतकर अतुल समृद्धि प्राप्त करता है। कनकमाला युवा प्रद्युम्न के मोहक रूप पर रीझ कर उसे पथभ्रष्ट करने का प्रयास करती है पर वह उसके प्रणय पूर्ति के निन्द्य प्रस्ताव को दृढतापूर्वक ठुकरा देता है। आठवे सर्ग में, पूर्वनिश्चित शर्त के अनुसार अपनी माता को केश देने के अपमान से वचाने के लिये, प्रद्युम्न दुर्योधन की पुत्री उदधि को हरकर द्वारिका मे आता है जिससे सत्यभामा के पुत्र भानु का विवाह सम्भव न हो सके। नवे सर्ग मे देवता के वरदान से जाम्ववती को प्रद्युम्नतुल्य पुत्र (शाम्व) प्राप्त होता है। कालान्तर मे प्रद्युम्न उसके साथ चाण्डाल का भेस वनाकर कुण्डिनपुर जाता है और कौतुकपूर्ण ढग से, रुक्मी की पुत्री वैदर्भी को, पत्नी के रूप मे प्राप्त करता है। दसवे सर्ग मे मगधराज जरासध, जामाता कस के वध से क्रुद्ध होकर द्वारिका पर आक्रमण करता है परन्तु घनघोर युद्ध मे कृष्ण, सेना-सहित उसे विध्वस्त कर देते है। ग्यारहवे सर्ग मे वलराम के पौत्र सागरदत्त और कमलमेला का विवाह, अनिरुद्ध द्वारा उपा का हरण और इस प्रसग मे कृष्ण द्वारा वाण का वध वर्णित है। वारहवे सर्ग मे नेमिचरित का निरूपण किया गया है। तेरहवे सर्ग मे नारद की दुष्प्रेरणा से, धातकी-खण्ड की अमरकका नगरी का शासक पद्मनाभ द्रौपदी को हर ले जाता है। युद्ध मे पाण्डवो के असफल होने पर कृष्ण अमरकंका को ध्वस्त करके द्रौपदी को पुनः प्राप्त करते है। चौदहवे सर्ग मे देवकी के पुत्र गजसुकुमाल, सागरदत्त, कृष्ण की छह पुत्रियो तथा एक पुत्र ढण्ढण और अन्य यादवो के प्रव्रज्या ग्रहण करने का वर्णन है। पन्द्रहवे सर्ग मे राजीमती के प्रति अनैतिक व्यवहार का पश्चात्ताप करने के लिये रथनेमि तप करते है जिससे उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। सौलहवे सर्ग मे द्वारिका-दहन तथा कृष्ण-मरण की भावी विपत्ति से भीत होकर प्रद्युम्न तथा शाम्व प्रव्रज्या ग्रहण करते है। पूर्व अपमान से पीड़ित मुनि द्वैपायन, कृष्ण तथा वलराम के अतिरिक्त समूची द्वारिका को भस्मसात् कर देते है। भवितव्यता को अटल मानकर कृष्ण अपने अग्रज के साथ, द्वारिका छोडकर चल पडते है। वन मे जराकुमार का वाण लगने से कृष्ण के प्राण-पखेरू उड जाते है। सतरहवे सर्ग मे प्राणप्रिय अनुज की मृत्यु से शोकाकुल वलराम, परलोकसिद्धि की

साधनभूत प्रव्रज्या ग्रहण करते है। जराकुमार से अपने अनन्य मित्र कृष्ण के निधन का समाचार पाकर पाण्डवो मे वैराग्य का उदय होता है और वे द्रौपदी के साथ दीक्षा ग्रहण करके क्रमश: कैवल्य और मोक्ष प्राप्त करते है। घातिकर्मो का क्षय होने से प्रद्युम्न भी परम पद को प्राप्त होता है।

कथावस्तु की उपर्युक्त रूपरेखा से स्पष्ट है कि काव्य मे प्रद्युम्नचरित नवें सर्ग तक सीमित है। प्रथम चार सर्ग भी मुख्य कथा के साथ सूक्ष्म तन्तु से जुड़े हुए है। सतरहवे सर्ग मे प्रद्युम्न की निर्वाण-प्राप्ति के प्रसग को छोडकर अन्तिम आठ सर्गों का प्रद्युम्न कथा से कोई सम्बन्ध नही है। इसका नवे सर्ग मे समाहार करके वही काव्य को समाप्त करना कही अधिक स्वाभाविक होता। इससे कथानक विश्रृंखलित होने से बच सकता था। किन्तु कवि ने काव्य मे नेमिचरित तथा कृष्णचरित का सविस्तार निरूपण करके कथानक की अन्विति को नष्ट कर दिया है। रत्नचन्द्र की दृष्टि मे कथानक को अन्वितिपूर्ण बनाने की अपेक्षा जैन धर्म की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करना अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। प्रद्युम्नचरित मे इस महत्ता का प्रदर्शन तब तक सम्भव नही था, जब तक नायक ही नही प्रत्युत काव्य के अन्य समूचे पात्र, किसी न किसी प्रकार, ससार की दु:खमयता मे अभिभूत होकर प्रव्रज्या ग्रहण नही कर लेते। कवि के विचार मे, काव्य का चरम उद्देश्य नेमिनाथ का निर्वाण प्रतीत होता है यद्यपि वह प्रमुख कथा के फलागम के प्रतिकूल है। अत: उसने, काव्य के अन्त मे, प्रद्युम्न की शिवत्व-प्राप्ति के वर्णन से कथानक की परिणति करने की चेष्टा की है। परन्तु यह प्रसग, काव्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिए, अलग से चिपकाया प्रतीत होता है। वर्तमान रूप मे, काव्य मे, कृष्णचरित का प्राधान्य है। तर्क के लिये कृष्णचरित का मूलकथा से सम्बन्ध मान भी लिया जाये, नेमिनाथ के वृत्त के सर्वांग निरूपण का क्या औचित्य है? स्पष्टत रत्नचन्द्र अपने आधारस्रोत के प्रभाव से इतना अभिभूत है कि काव्य के लिये सुसम्बद्ध कथानक लेकर भी उसने, उसका नेमिचरित के अवयव के रूप मे, प्रतिपादन किया है जिससे काव्य का आधिकारिक वृत्त गौण बन गया है। अत: काव्य के शीर्षक की चरितार्थता पर स्वत:. प्रश्नात्मक चिह्न लग जाता है। वर्तमान रूप मे, काव्य का 'कृष्णचरित' शीर्षक अधिक अर्थवान् होगा।

प्रद्युम्नचरित का आधारस्रोत

पौराणिक काव्यो के अन्य अधिकतर श्वेताम्बर लेखको के समान रत्नचन्द्र गणि ने अपने काव्य का कथानक आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित से ग्रहण किया है। त्रि श. पु चरित मे (नवम पर्व) प्रद्युम्न का जीवनवृत्त नेमिचरित के उपांग के रूप मे वर्णित है। पुत्र होने के नाते प्रद्युम्न का चरित कृष्णचरित का अवयव है, जिसका नेमिनाथ के उदात्तचरित के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक निरूपण किया

गया है। रत्नचन्द्र ने, अपने उद्देश्य से भटककर, प्रद्युम्नचरित का इसी रूप में प्रतिपादन किया है, इसका सकेत ऊपर किया जा चुका है। हेमचन्द्र के आकर-ग्रन्थ के प्रासगिक प्रकरण तथा प्रद्युम्नचरित मे इतना घनिष्ठ साम्य है कि दोनों का तुलनात्मक विमर्श निरर्थक होगा, किन्तु कुछ भिन्नताओं की चर्चा आवश्यक है।

प्रद्युम्नचरित के अनुसार रुक्मिणी दूत भेजकर कृष्ण से, उसे शिशुपाल से बचाने की प्रार्थना करती है (३.४८.४६८)। त्रि. श. पु. चरित में रुक्मिणी के चित्राकित रूप पर रीझ कर कृष्ण एक दूत के द्वारा रुक्मी को, उनके साथ अपनी बहिन का विवाह करने को प्रेरित करते हैं। रुक्मी कृष्ण के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है और शिशुपाल के साथ उसका विवाह करने का निश्चय करता है[९]। हेमचन्द्र के विवरण मे रुक्मिणी स्वय नही बल्कि उसकी बुआ कृष्ण के पास सन्देश भेजती है।[१०] त्रि. श पु चरित मे, पूर्व निश्चित योजना के अनुसार, रुक्मिणी, अपनी बुआ की सहमति से, कृष्ण के रथ में स्वयं बैठ जाती है। उनके प्रस्थान के बाद उसकी बुआ तथा दासियाँ अपना दोष छिपाने के लिये कृष्ण तथा बलराम पर रुक्मिणी के अपहरण का दोष लगाती है[११] जबकि प्रद्युम्नचरित में बलराम उस कोमलागी को रथ मे बैठाते हैं और स्वयं कृष्ण रुक्मिणी-हरण की घोषणा करते है (४.३७-४५)। प्रद्युम्नचरित मे कृष्ण द्वारिका के निकटवर्ती उद्यान मे रुक्मिणी से विधिवत् पाणिग्रहण करने के पश्चात् नगर मे प्रवेश करते हैं (४.११०-१११, १२१)। हेमचन्द्र के काव्य मे उनका विवाह नगर मे सम्पन्न होता है।[१२] प्रद्युम्न के अपहरण[१२अ], उसके पूर्वभवो और धूमकेतु के साथ उसके वैर के कारण का दोनों काव्यो मे समान वर्णन है।[१३] त्रि श. पु. चरित मे उन सोलह विपत्तिजनक परीक्षाओ का उल्लेख नही है जिनमे प्रद्युम्न को डालकर कालसंवर के पुत्र उसे नष्ट करने का षड्यन्त्र बनाते है।[१४] रत्नचन्द्र को इनका सकेत उत्तरपुराण से मिला

९. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (अंग्रेजी अनुवाद), भाग ५, गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज़, संख्या १३६, बड़ौदा, १९६२. पृ० १८१

१०. वही, पृ. १८२

११. वही, पृ. १८२

१२. वही, पृ. १८४

१२ अ. उत्तरपुराण के अनुसार शिशु प्रद्युम्न का अपहर्त्ता धमकेतु पूर्वजन्म का कनकरथ है। वह अन्तःपुर के सब लोगों को महानिद्रा से अचेत बनाकर प्रद्युम्न को उठा ले जाता है और उसे खदिर अटवी में तक्षक शिला के नीचे रख देता है। उत्तरपुराण, ७२.५१-५३।

१३. प्रद्युम्नचरित, ५.५४-२६२; त्रि. श. पु. चरित (पूर्वोक्त), पृ. १९४-१९७।

१४. त्रि श. पु. चरित (पूर्वोक्त), पृ. २०४-२०५

होगा, जहाँ दस विपत्तियों का वर्णन किया गया है। उत्तरपुराण मे यह षड्यन्त्र, प्रद्युम्न द्वारा काञ्चनमाला (कनकमाला) के गर्हित प्रस्ताव को ठुकराने के बाद रचा जाता है।[१५] प्रद्युम्नचरित मे उदधि के हरण का प्रसंग त्रि. श. पु. चरित की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। उत्तरपुराण मे प्रद्युम्न उदधि का अपहरण नही करता बल्कि भानुकुमार के महाभिषेक मे उपस्थित लोगों का उपहास करता है। इसी प्रकार वह मथुरा के निकट कौरवों की खिल्ली उड़ाता है।[१६] रुक्मिणी और सत्यभामा की केश देने की शर्त, प्रद्युम्नचरित में प्रद्युम्न के लौटने का उपादान कारण है, उत्तरपुराण मे उसे यह शर्त तब ज्ञात होती है जब एक नाई रुक्मिणी के केश लेने के लिये वस्तुत: वहाँ आ जाता है। प्रद्युम्न उसे गोपुर मे औंधा लटका देता है। प्रद्युम्नचरित मे जाम्बवती को, देवमाला के प्रभाव से, तेजस्वी पुत्र शाम्ब की प्राप्ति होती है। उत्तर पुराण मे यह एक अगूठी का चमत्कार है। गुणभद्र ने जाम्बवती के पुत्र का नाम शाम्भव दिया है।[१७]

रसचित्रण

प्रद्युम्नचरित विविध अनुभवो का विश्वकोश है। इसके विराट् फलक पर कवि ने कटु-मधुर, क्षुद्राक्षुद्र सभी अनुभूतियो के हृदयहारी चित्र अंकित किए हैं, जो अपनी विविधता तथा अभिरामता से पाठक को मन्त्रमुग्ध रखते हैं। इस तीव्र रसवत्ता के कारण, पौराणिक काव्य होता हुआ भी, प्रद्युम्नचरित सरसता से सिक्त है। पौराणिक रचना होने के नाते इसमे शान्त-रस की प्रधानता मानी जाएगी। इसका पर्यवसान शान्त-रस मे ही हुआ है। काव्य के प्राय: समूचे पात्र जागतिक भोगो के प्रति निर्वेद से अभिभूत होकर प्रव्रज्या मे शाश्वत सुख खोजते है। प्रव्रज्या पारलौकिक सुख की अमोघ साधिका है।[१८] नेमिप्रभु के धर्मोपदेश से व्याघ्र आदि हिंसक पशु भी निवृत्तिप्रधान जैन धर्म अंगीकार करते है।[१९] रत्नचन्द्र के साहित्य-शास्त्र मे शान्तरस रससम्राट् है। बहुचर्चित शृंगार किंपाक के समान नीरस तथा उद्वेजना-जनक है।

> **रसाधिराजं सेवस्व शान्तं शान्तमनाश्चिरम्।**
> **किंपाकसदृशं मुञ्च शृंगारं विरसं पुरः ॥१२.२४३**

पर शान्त को रसराज का पद देकर भी रत्नचन्द्र काव्य मे उसकी अंगि-रसोचित तीव्र व्यंजना करने मे सफल नही हुए। देशना, दीक्षाग्रहण, केवलज्ञान-

१५. उत्तरपुराण, ७२.७४-१२६
१६. वही, ७२.१५४-१६१
१७. वही, ७२.१७३-१७४
१८. प्रद्युम्नचरित. १७.५८
१९ व्याघ्रादयोऽपि पशवो भेजिरे धर्ममार्हतम्। वही, १७.८२

प्राप्ति आदि के प्रसंगो मे उसकी सामान्य अभिव्यक्ति हुई है। काव्य के वर्तमान वातावरण मे शायद शान्तरस की सर्वातिशायी निष्पत्ति करना सम्भव भी नही है। प्रद्युम्नचरित मे शान्तरस की प्रमुखता की सार्थकता इसी मे है कि इसकी परिणति वैराग्य मे होती है जिसके फलस्वरूप प्रद्युम्न जैसा उद्धत योद्धा तथा पाण्डवो जैसे दुर्द्धर्ष वीर भी संयम के द्वारा निर्वाण का परम पद प्राप्त करते है। मरणासन्न कृष्ण की यह संक्षिप्त उक्ति मनुष्य की असहायता तथा जगत् एवं उसके वैभव की भंगुरता का तीव्र बोध कराने मे समर्थ है।

> एकोऽहं नास्ति मे कश्चिन्नाहमपि कस्यचित्।
> एवमदीनचित्तश्च चकाराराधनं हरिः ॥ १६.१७७

प्रद्युम्नचरित मे शान्त की तुलना मे वीररस की कही अधिक व्यापक तथा प्रगाढ निष्पत्ति हुई है। अनगिनत छिट-पुट संघर्षो के अतिरिक्त शिशुपाल, जरासंध तथा पद्मनाभ के साथ कृष्ण के घनघोर युद्धो मे वीररस की उल्लेखनीय सघनता है। काव्य के इन भागो को पढते समय ऐसा प्रतीत होता है कि यह आमूलचूल वीररस-प्रधान काव्य है। यदि इसे अंगी रस का बाधक माना जाये तो अनुचित न होगा। वीररस के चित्रण की रत्नचन्द्र की सारा शैली है, जिसे पौराणिक अथवा धार्मिक कहा जा सकता है। कृष्ण और जरासन्ध का युद्ध दो दुर्दमनीय शत्रुओ का युद्ध नही, वह दो विरोधी प्रवृत्तियो के संघर्ष का प्रतीक है। उनमे कृष्ण का पक्ष सत्प्रवृत्तियो का प्रतिनिधि है, जरासन्ध का पक्ष असत् का प्रतीक है। कृष्ण-पक्ष की इस श्रेष्ठता के कारण उसकी विजय अपरिहार्य है। शकुनि की शरवर्षा, सहदेव के पराक्रम के कारण नही बल्कि उसके पुण्य के प्रभाव से विफल हो जाती है।[20] प्रति-विष्णु जरासन्ध का विष्णु कृष्ण द्वारा वध भी पूर्व निश्चित है।[21] इसीलिये कृष्ण जरासन्ध के चक्र के प्रहार को ऐसे झेलते है जैसे वह अस्त्र न हो परन्तु उसी चक्र से वे तत्काल जरासन्ध का शिरश्छेद कर देते है। पुण्योदय से परायी वस्तु अपनी हो जाती है।[22]

इस युद्ध की विशेषता यह है कि इसमे 'जीवहिंसा से पराङ्मुख' नेमिनाथ भी तत्परता से भाग लेते है, इसके पीछे भले ही मातलि का प्रोत्साहन तथा प्रेरणा और व्यवहार के परिपालन की भावना हो (१०.२२८)। लाखों योद्धाओ को धराशायी करके वे इस प्रकार निश्चित खडे हो जाते है मानों हिंसा उनके व्यक्तित्व का सहज अग हो।

पद्मनाभ तथा कृष्ण का युद्ध भी सदसत् के इसी द्वन्द्व की व्याख्या है। उनके

२०. मोघीबभूवुः सर्वेऽपि परं पुण्यप्रभावतः। वही, १०.१०२

२१. एकोऽपि विष्णुः स्याद् हन्ता प्रतिविष्णोरिति स्थितिः। वही, १०.२७०

२२ सति पुण्योदये सर्वमात्मीयं स्यात् परस्य हि। वही, १०.२६५

पांचजन्य की ध्वनि तथा धनुष की टंकार ही पद्मनाभ की सेना को विक्षत करने के लिये पर्याप्त है। और स्त्री के भेस मे उपस्थित उसे अभयदान देकर वे, अस्त्र के विना ही, युद्ध जीत लेते है (१३.१०३-१०४)।

प्रद्युम्नचरित के इन युद्धवर्णनो मे विरोधी योद्धाओ की आत्मश्लाघा तथा परनिन्दा की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। अर्जुन और कर्ण के युद्ध मे यह गाली-गलौच अधिक प्रबल है।

कुत्रासि रे किरीटिंस्त्वं मा याहि रणभूमितः।
आगतोऽस्मि तव द्वेषी कर्णोऽहं कालपृष्ठभृत् ॥ १०.११२
अन्यच्च शृणु राधेय रे रे कर्ण सुदुर्मते।
जीवन्नपि हि मां किं त्वं न पश्यसि पुरःस्थितम् ॥ १०.११४

इन घनघोर युद्धो का वर्णन करने पर भी कवि की अन्तर्वृत्ति युद्ध में नहीं रमती। वह शीघ्र ही युद्ध की हिंसा के प्रति विद्रोह कर उठती है। युद्धों का विस्तृत निरूपण करने वाले कवि की यह उक्ति हास्यजनक हो सकती है, किन्तु यह उसकी मूल अहिंसावादी प्रतिबद्धता के सर्वथा अनुरूप है।

विचार्येति प्रभुः प्रोचे कृतं युद्धस्य वार्तया।
पुण्येनापि न साक्षि स्यान्नीतिशास्त्रं यतोऽस्य हि ॥ १२ २३

रत्नचन्द्र ने शृंगार के जिस किंपाक को छोडने का आह्वान किया है (१२.२४३), वे स्वय उसकी मोहिनी से नही बच सके। काव्य मे यद्यपि शृगार के पल्लवन के कई अवसर है किन्तु उसकी तीव्र व्यंजना करना सम्भवत. कवि को रुचिकर प्रतीत नही हुआ। कृष्ण तथा यदुनारियो की जलक्रीडा के वर्णन मे शृंगार की अपेक्षाकृत सफल अभिव्यक्ति हुई है। कृष्ण किसी नारी पर जल उछाल रहे थे। जल के वेग से उसकी आँखे बन्द थी। तभी उसका अधोवस्त्र गिर गया किन्तु उसे इसका आभास भी नही हुआ।

कापि कृष्णजलाच्छोटात् पतन्मध्याम्बरा सती।
दिगम्बरं स्म जानाति नात्मानं नेत्रमीलनात्। १२ ७५

रुक्मिणी के पूर्वराग की वेदना अधिक हृदयस्पर्शी है। विरहव्यथा के कारण उसकी नींद रूठ गयी है, भोजन मे उसे रुचि नही रही, चाँदनी अगीठी बन गयी है और शारीरिक ताप से चन्दन तत्काल सूख जाता है।

अन्नं न रोचते तस्या न विरहानलपीडनात्।
निद्रापि तस्या रुष्टेव सखी कुत्राप्यगात् प्रभो ॥ ३.७८
चन्द्रज्योत्स्नां तु शीतां सा हसतीमिव मन्यते।
श्रीखण्डस्य रसस्तस्या लगन्नेव च शुष्यति ॥ ३.७९

अद्‌भुत[२३], हास्य तथा करुण रस भी, आनुषंगिक रूप मे, प्रद्युम्नचरित की

२३. वही, १२.९-११

रसवत्ता की तीव्रता मे वृद्धि करते हैं। कृष्ण के भावी जामाता तन्तुवाय वीर की वीरता का यह आत्मवर्णन हास्यरस से परिपूर्ण है। उसने गिरगिट को पत्थर से मार कर, रथचक्र द्वारा निर्मित गड्ढे मे पांव से पानी रोक कर और घड़े के अन्दर बैठी मक्खियो को हाथ से पकड़ कर वीरता का कीर्तिमान स्थापित किया है।

> बदरीस्थो ग्रावखण्डैः कृकलासो मया हतः। १४.१५४
> तोयं मया वहद्रुद्धं मार्गे स्यन्दननिर्मिते।
> तत्क्षणाद् वामपादेन वलीत्यस्मि जनार्दन ॥ १४.१५५
> वस्त्रपालकलश्यन्तः शतशो मक्षिका मया। १४.१५६
> प्रविष्टा हस्तदानेन सर्वा अपि धृताः क्षणात् ॥१४.१५७

रत्नचन्द्र की करुणा में अन्य जैन कवियों के करुणरस से कोई नवीनता नही है। चीत्कार और क्रन्दन को ही करुणा की मार्मिकता का पर्याय मान लिया गया है। जरासन्ध से युद्ध करते समय बलराम के मूर्छित होने पर यादवो के विलाप में तथा कृष्ण की अचानक मृत्यु पर बलराम की किंकर्तव्यविमूढ़ता मे करुणा की टीस तथा कातरता है। परन्तु उसकी यथेष्ट व्यंजना मरणासन्न कृष्ण और जरासुत के आलाप मे हुई है। भ्रातृहत्या के जिस जघन्य पाप से बचने के लिये जरासुत ने वनवास लिया था, आज वह अनजाने उस पाप का भागी बन गया है। आत्मघात से उसका प्रतीकार सम्भव था पर उसका सुख भी जरासुत के भाग्य में नही है।:

> कथं तदैव न मृतो हा किमेतदुपस्थितम्।
> वसुधे विवरं देहि मां गृहाणातिपातिनम् ॥ १६.१५८
> हा वेधः किमकार्षीस्त्वं मद्धस्तात् कारयन् वधम्।
> नरोत्तमस्य मे भ्रातुः किं विराद्धं मया तव ॥ १६.१६०
> कमहं नरकं गन्ता पापं कृत्वेदृशं महत्।
> मरणं श्रेय एवास्तु जीवितेनाधुना कृतम् ॥ १६.१६१

प्रकृतिचित्रण

प्रद्युम्नचरित के विराट् कलेवर में प्रकृतिचित्रण को जो स्थान मिला है, वह नगण्य है। वस्तुत. प्राकृतिक सौन्दर्य को चित्रित करने मे कवि ने रुचि नही ली है। उसका प्रकृति-वर्णन कुछ पद्यो तक ही सीमित है, जिनमे वसन्त का तो नामोल्लेख करके सन्तोप कर लिया गया है। बारहवे सर्ग मे ग्रीष्म का स्वाभाविक चित्रण अपेक्षाकृत अधिक रोचक है। ग्रीष्म ऋतु में लोग सूक्ष्म वस्त्रों, पंखो और पुष्प-मालाओं से उसकी प्रचण्डता को परास्त करने का प्रयत्न करते हैं। इसका सहज वर्णन निम्नोक्त पद्यो मे किया गया है।

> निःश्वासलहरीकम्प्रे वाससी श्वेतनिर्मले।
> युवानः पर्यधुस्तत्र परं व्रीडैकहेतवे ॥ १२.६६

तालवृन्तं करात् सर्वे न मुचन्ति स्म नित्यशः ।
सुप्ता अति नरा नार्यो व्यत्ययेन दधुः करे ।। १२.६७
सौवर्णरत्नालंकारान् विमुच्य स्त्रीजनोऽखिलः ।
धत्ते स्म कौसुमांस्तांश्च पतिवैदग्ध्यकल्पितान् ।। १२.६८

सौन्दर्य-चित्रण

प्राकृतिक सौन्दर्य की अपेक्षा मानव-सौन्दर्य कवि के लिये अधिक आकर्षक है। मानव-सौन्दर्य के प्रति कवि का यह अनुराग उसकी कलात्मक अभिरुचि का उतना द्योतक नहीं जितना उसकी परम्परा से प्रतिवद्धता का सूचक है। प्रद्युम्नचरित मे पुरुष तथा नारी दोनो के सौन्दर्य-चित्रण से सरसता की सृष्टि की गयी है, यद्यपि उसमें ताजगी का अभाव है। नारी-सौन्दर्य के चित्रण मे कवि की वृत्ति अधिक रमी है। अधिकतर पात्रो के सौन्दर्य का चित्रण परम्परागत नखशिख-विधि से किया गया है। सत्यभामा, रुक्मिणी, तपस्विनी रति तथा शाम्वकुमारी के सौन्दर्य को कवि ने इसी विधि से अंकित किया है। सत्यभामा तथा रुक्मिणी के अंगो-प्रत्यगो के चित्रण में वहुधा पूर्व-परिचित उपमानो की योजना की गयी है। रुक्मिणी के लावण्य की अभिव्यक्ति के लिये कतिपय नवीन अप्रस्तुतो को माध्यम वनाया गया है जिससे इस वर्णन मे सजीवता तथा रोचकता का स्पन्दन है।

जिह्वा रक्तोत्पलदलं नासा दीपशिखेव किम् ।
शयनास्पदमेवोच्चं गल्लौ कामस्य हस्तिनः ।। ३.१८
स्तनौ मदनवाणस्य कन्दुकाविव रेजतुः ।
रोमराजी विराजितस्मरवालस्य किं शिखा ।। ३.२०
मन्मथस्य रथस्येतन्नितम्वश्चक्रमेककम् ।
स्मरसद्मांगणस्थेयं जघनं किमु वेदिका ।। ३.२२

प्रथम सर्ग मे सद्यःस्नाता सत्यभामा की शृंगार-सज्जा के वर्णन मे विविध आभूपणों तथा प्रसाधनो से उसका सौन्दर्य प्रस्फुटित किया गया है (१ ६४-६६)। शाम्वकुमारी तथा रति के चित्रण मे उपर्युक्त दोनो शैलियो का मिश्रण है।

पुरुष-सौन्दर्य का अकन रुक्मी के सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में हुआ है। इसमें उसके अंगलावण्य तथा सज्जा का मिश्रित चित्रण किया गया है।

तावदेको दिव्यरूपश्चलत्काञ्चनकुण्डलः । २.२७
उत्फुल्लगल्लनयनोऽष्टमीचन्द्रसमालिकः ।
पक्वविम्वाधरो धीरः पुष्पदन्तः प्रमोदभाक् ।। २.२८
हारार्द्धहारविस्तारं दधानः कण्ठकन्दले ।
मुखे सुरभि ताम्वूलं चर्वन् स्यगीभृदर्पितम् ।। २.२६

स्वर्णतन्तुसमव्यूतशिरोवेष्टनधारकः।
चीनदेशसमुद्भूतवासोरत्नांगिकाधरः ॥ २.३०

चरित्रचित्रण

प्रद्युम्नचरित चरित्रो की विशाल चित्रवीथी है, जिसमे कवि की तूलिका ने अनेक मनोरम चित्र अकित किये है। किन्तु उसकी कला की विभूति कृष्ण के चरित को मिली है, जो नायक न होते हुए भी काव्य के सबसे अधिक प्रभावशाली पात्र है। प्रद्युम्नचरित मे अनेक स्त्री-पुरुष पात्र है। यद्यपि उन्हे पौराणिक परिवेश मे चित्रित किया गया है, और उन पर अलौकिकता का घना आवरण है तथापि उनके व्यक्तित्व मे कुछ ऐसी रेखाएँ है, जो पाठक को वरबस अपनी ओर आकृष्ट करती है।

प्रद्युम्न

प्रद्युम्न काव्य का नायक है। यद्यपि उसका व्यक्तित्व अपने पिता कृष्ण के सर्वातिशायी व्यक्तित्व के भार से दब गया है किन्तु उसके चरित्र का अपना आकर्षण है। वह अभिजात तथा सच्चरित्र है और उसे रुक्मिणी जैसी शुद्धशीला माता का पुत्र होने का गौरव प्राप्त है (७.४०१)। जन्म लेते ही उसे माता-पिता के वात्सल्य से वचित होना पड़ता है। पूर्व-वैर के कारण देवाधम धूमकेतु उसे चुरा कर वैताढ्य पर्वत पर असहाय छोड देता है। विद्याधर कालसवर की पत्नी उसका पालन-पोषण करती है। सौलह वर्ष तक माता से वियुक्त रह कर भी उसकी मातृवत्सलता अक्षत है। नारद से अपनी माता का सकट जानकर वह तत्काल द्वारिका को प्रस्थान करता है और माता को केश कटवाने के अपमान से बचाने के लिये वह, विवाह के मध्य ही, उदधि को हर लाता है ताकि भानु का विवाह प्रमाणित न हो सके।

प्रद्युम्न सौन्दर्य-सम्पन्न तथा चतुर युवक है। उसके मोहक सौन्दर्य तथा असह्य तेज के कारण उसका प्रद्युम्न जैसा सार्थक नाम रखा गया। यौवन मे उसके लावण्य मे इतना निखार आ जाता है कि उसकी पोषिका कनकमाला उसके समागम के लिये तड़प उठती है और उसे प्रणयपूर्ति का निर्लज्ज निमन्त्रण देती है, जिसे वह घृणापूर्वक अस्वीकार कर देता है। उसके लिये कनकमाला माता के समान पूज्य तथा पवित्र है (माता भवसि पालनात्—७ ४०७)। इस निकृष्ट प्रकरण मे अडिग रहकर वह चतुरता से, कनकमाला से, दो विद्याएँ हथिया लेता है और उसे विद्यादात्री आचार्या का पद देकर उसके व्यवहार की हीनता का बोध कराने मे समर्थ होता है।

उसके व्यक्तित्व मे शौर्य तथा व्यावहारिक बुद्धि का अद्भुत समन्वय है। विद्याधर कालसवर जब उसे अभिषिक्त करने का निश्चय करता है, तो उसके पुत्र उस कण्टक को (प्रद्युम्न को) रास्ते से हटाने के लिये उसे नष्ट करने का षड्यन्त्र रचते है। वे उसे एक के बाद एक ऐसे गहन सकटो मे डालते है, जिनमे साधारण व्यक्ति का विनाश अवश्यम्भावी था परन्तु वह अपनी वीरता तथा सूझबूझ से उनकी

सब चालें विफल कर देता है। वस्तुतः उसे शौर्य-प्रदर्शन करना प्रिय है। कनकमाला के प्रति तथाकथित दुराचरण से क्षुब्ध कालसवर जब उसे ललकारता है, तो प्रद्युम्न के रणकौशल से उसके छक्के छूट जाते हैं। परन्तु समस्त वातावरण अपने प्रतिकूल देखकर वह उस स्थान को तुरन्त छोड देता है। यह उसकी दूरदर्शिता का द्योतक है।

प्रद्युम्न की शक्ति का कोई ओर-छोर नही है। वह अपार तथा अलौकिक है। उसके पराक्रम में प्रज्ञप्ति-विद्या की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उसकी शक्ति तथा प्रज्ञप्ति के कारण वैताढय पर्वत पर पूर्वोक्त संकट अनुपम लाभो मे परिवर्तित हो जाते है और उसे अतुल समृद्धि प्राप्त होती है। द्वारिका मे प्रवेश करने से पूर्व वह विद्यावल ही से सेना निर्मित करता है और कृष्ण को निश्शस्त्र कर देता है (निरस्त्रं चक्रवान् कृष्णं सद्यो विद्यावलात् सुत., ८.३१६)। वस्तुत., उसके समक्ष कोई योद्धा नही टिक सकता। उसी के शब्दो मे वह जगद्‌विजेता है—सुतोऽहं च जगज्जेता (६.६१)। प्रज्ञप्ति-विद्या से उसे स्वेच्छानुसार रूप वदलने की क्षमता प्राप्त है। वह किरात, चाण्डाल, मदारी, द्विज आदि का रूप आसानी से धारण कर सकता है।

प्रद्युम्न के कार्यकलाप मे कन्याहरण का प्रमुख स्थान है। किरात के वेश मे वह दुर्योधन की पुत्री को विवाह-स्थल से उठा लाता है। अपने मामा की पुत्री को भोगने तथा छल से हथियाने मे भी उसे कोई संकोच नही है। किन्तु वह दुश्चरित्र नही है। विद्याधरी के उन्मुक्त निमन्त्रण को ठुकरा देना तथा उदधि को हरकर भी उसे सत्यभामा के पुत्र भानु को सौप देना उसके सच्चारित्र्य के प्रवल प्रमाण हैं।

पित्रा च दीयमानां तां नेच्छति स्म श्रियाः सुतः।
भ्रातृजाया यतो ह्येषा ततो मे नौचिती भवेत् ॥ ६ ८

व्यवहारकुशल होने के नाते प्रद्युम्न को कार्य की सिद्धि के लिये छल-कौतुक का प्रयोग करने मे सकोच नही है। वह सत्यभामा के स्थान पर जाम्ववती को कृष्ण के पास भेज देता है, जिससे जाम्ववती को तेजस्वी तथा सत्यभामा को कायर पुत्र प्राप्त होता है। छल से ही वह सत्यभामा के केश कटवा देता है। द्वारिका-प्रवेश से पूर्व उसके करतव कौतुकपूर्ण है।

प्रद्युम्न के चरित्र में वीरता, व्यावहारिकता, सच्चरित्रता तथा छल का विचित्र गठवन्धन है। नेमिनाथ की द्वारिका-दहन की भविष्यवाणी से भव-वैभव की भंगुरता का भान होने पर वह सर्वस्व छोडकर प्रव्रज्या ग्रहण करता है और अन्तत परम पद को प्राप्त होता है।

कृष्ण

कृष्ण काव्यनायक प्रद्युम्न के पिता है। उनका व्यक्तित्व अनेक अमूल्य गुणों का विशाल पुज है। उनका रूप, वैभव, ऐश्वर्य, भुजवल, धैर्य, दानवीरता, उदारता तथा पूज्यवुद्धि अद्वितीय है।[२४] उनका सौन्दर्य इतना मोहक है कि रुक्मिणी, नारद से

२४. वही, १.८४-८८

उसकी प्रशंसा सुनने मात्र से कामविह्वल हो जाती है (३. ७८-८०)। कृष्ण उसके हृदय मे ऐसे वस गये है जैसे दमयन्ती का हृदय नल के प्रति अनुरक्त हो गया था (३.३५)। यह उनके रूप की मोहिनी थी कि रुक्मिणी दूत द्वारा उन्हें स्वयं आहूत करती है। राज-वर्ग की तरह उनकी अनेक पत्नियाँ हैं। काव्य में उनकी सोलह हजार रानियो का उल्लेख है। यह संख्या यद्यपि परम्परागत (काल्पनिक भी) है किन्तु उनका वहुपत्नीत्व निर्विवाद है। काव्य में उनमे से कोई कैकेयी के रूप मे तो प्रकट नही होती, किन्तु रुक्मिणी के आने के पश्चात् सत्यभामा का आचरण सौतिया डाह से अनुप्राणित है। स्वयं कृष्ण सव पत्नियों के साथ समान व्यवहार करते हो, ऐसी वात भी नही है। रुक्मिणी के प्रति उनकी अनुरक्ति तथा सत्यभामा के प्रति उपेक्षा स्पष्ट है।

उनके व्यक्तित्व की मुख्य विशेपता उनकी अलौकिक शक्ति तथा वीरता है। रुक्मिणी-हरण के समय वे, शिशुपाल तथा विदर्भराज की संयुक्त सेना को, केवल वल-राम की सहायता से, छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जरासन्ध जैसा पराक्रमी तथा क्रूर योद्धा भी उन्हें पराजित नही कर सका। उनके शौर्य, रणकौशल तथा विष्णुत्व के प्रभाव से मगधसेना देखते-देखते ध्वस्त हो गयी। लवणसागर को लांघ कर द्रौपदी को पुन. प्राप्त करना उनके लिये ही सम्भव था। पाण्डव पद्मनाभ का पराक्रम चख चुके थे। 'वीरभोग्या वसुन्धरा' की सत्यता मे उन्हें पूर्ण विश्वास है। उनकी वीरता का परिचय कन्याहरण से भी मिलता है। उनकी निर्भ्रान्त मान्यता है कि वीर के लिये कन्याहरण गौरव का प्रतीक है। वाण को सम्वोधित उनके ये शब्द उनके चरित्र के इस पक्ष को उजागर करते हैं।

> हरिर्जगाद किं वक्षि मिथ्यैतद् वसुधा तथा।
> कन्या चोभे स्यातां वलिनः खलु हस्तगे ॥ ११.६९
> परकीया भवेत्कन्या तद्हृतौ दोष एव कः।
> वयं च वलिनो भूत्वा हरामः कन्यका इति ॥ ११.७०

समाज विशेप मे, जनसाधारण के लिये कन्याहरण भले ही वल का द्योतक मान लिया जाए किन्तु श्रीकृष्ण जैसे नैतिक मूल्यों के समर्थक के लिये यह कुकृत्य कदापि शोभनीय नही है।

यह आश्चर्य की वात है कि उन जैसा वीर भी भावी की अटलता के समक्ष नतमस्तक है। नेमिनाथ से द्वारिका के विनाश तथा अपने निधन की भविष्यवाणी सुन कर वे, सामान्य व्यक्ति की भाँति, सव कुछ भवितव्यता पर छोड देते हैं। यदुकुल के अग्रणी होते हुए भी वे यादवो को मद्यपान के व्यसन से विरत नही कर सके जिससे द्वारिका जल कर खाक हो गयी। भवितव्यता के प्रति अडिग आस्था के कारण[२५] वे,

२५ भवितव्यं भवत्येव नाऽन्यथा तद्भवेत् क्वचित्। वही, १६.१५४

मानो मृत्यु को आहूत करने के लिये, द्वारिका छोड कर चले जाते है। वन में उनका आचरण और भी आश्चर्यजनक है। वे इतने पराश्रित हो जाते है जैसे स्वय असमर्थ, असहाय तथा अशक्त हों।[२६] कर्मयोग मे आस्था के कारण प्रव्रज्या ग्रहण न करने के फलस्वरूप उनका नरक मे पतन होता है। कृष्ण महान् है किन्तु उनका अन्त अतीव कारुणिक है।

बलदेव

बलदेव कृष्ण के अग्रज है। हल और मुसल उनके ख्यात शस्त्र है। उनके मदिराप्रेम की ध्वनि भी यत्र-तत्र सुनाई पड़ती है। काव्य मे उनके चरित्र की दो मुख्य विशेषताएँ अकित हुई है—वीरता तथा भ्रातृप्रेम। वे कृष्ण के अग्रज ही नही, सच्चे पथ-प्रदर्शक तथा हितैषी है। वे सुख-दु.ख मे, छाया की भाँति, सदैव उनका साथ देते है। उनका साहचर्य अविच्छिन्न है। वस्तुत. वे कृष्ण की शक्ति के स्रोत है। उनके शौर्य और सहायता से ही कृष्ण, शिशुपाल तथा जरासन्ध जैसे दुर्घर्ष शत्रुओं को धराशायी करने मे सफल होते है (तव साहाय्यतस्तीर्णो जरासन्धरणोऽर्णवः —१०.३०)।

उनके व्यक्तित्व का सबसे मधुर पक्ष उनका भ्रातृ-प्रेम है। अपने अनुज के प्रति उनके हृदय मे अथाह स्नेह है। अन्तिम समय में वे भी द्वारिका छोडकर कृष्ण के साथ चल पड़ते है। वन मे वे अपने प्रिय भाई की हर सुविधा का ध्यान रखते हैं और अपने प्राणो को संकट मे डालकर उनके लिये अन्न, जल आदि जुटाते है। जरासुत का बाण लगने से जब कृष्ण के प्राण-पखेरू उड़ जाते है, वे, अबोध बालक की तरह, उनके शव को कन्धे पर उठाकर छह मास तक घूमते रहते है। वे तो यह मानने को भी तैयार नही कि उनका अनुज मर चुका है (१७.३२)। स्वयं कृष्ण को उनके प्रेम पर पूरा विश्वास है। मरने से पूर्व जरासुत को कहे गये ये शब्द उनके प्रति बददेव के अगाध स्नेह के द्योतक है।

बलो ज्ञाता यदि वधं तव हस्तान्मदीयकम्।
हन्यादेव तदा त्वां च स मयि प्रेमवान् यतः॥ १६.१६८

वे नरक मे भी कृष्ण की यातनाओ का प्रतिवाद करने का प्रयत्न करते है। उसमे असफल होने पर स्वयं नरक में रहने का प्रस्ताव करते है (१७.१९२)

नारद

देवर्षि नारद काव्य के अलौकिक पात्र है। वे लोक-लोकान्तरों मे विचरण करते है और विभिन्न भुवनो तथा लोगो के बीच राजसी दूत अथवा सम्पर्क अधिकारी का काम करते है। वे कलह, क्रोध तथा ईर्ष्या के साक्षात् अवतार है। साप की तरह उनका क्रोध एकदम फुफकार उठता है (साक्षादहिरिव क्रुद्धो नारदः कलिकौतुकी

२६. भ्रातः क्षुधातुरोऽभूवं—१६.१२१. बन्धोऽहं तृषितोऽभवं—१६.१३४

—१३.६) । उन्हें अपमान कदापि सह्य नही है और अपमान का उनका निजी मानदण्ड है । अपमान का प्रतीकार करने के लिये वे व्यक्ति को घोर से घोर विपत्ति मे डाल सकते है । परन्तु सम्मान करने वाले व्यक्ति पर वे कृपा की वृष्टि कर देते है । रुक्मिणी को श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्त करना, प्रद्युम्न का पता लगाना तथा उसे द्वारिका लाना उनके लिये ही सम्भव था ।

नेमिनाथ

नेमिनाथ यदुकुलभूषण समुद्रविजय के पुत्र है । काव्य में उनका पुराण-प्रसिद्ध चरित वर्णित है । उनकी अवतारणा प्रजा को प्रतिवोध देने के उद्देश्य से हुई है । वैसे भी परम्परा से प्रद्युम्नचरित उनके चरित का अवयव है । वे सांसारिक विषयों से इतने विरक्त है कि कृष्ण की पत्नियो तथा अन्य यदुनारियो के उपालम्भ-प्रलोभन भी उन्हे विचलित नही कर सके । और जव माता-पिता की इच्छापूर्ति के लिये वे विवाह करना स्वीकार भी करते है, तो भावी पशुहिंसा से भीत होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते है । वे नैतिकता के संरक्षक तथा काव्य के सूत्रधार है । प्राय. सभी पात्र उनमे वोध पाकर सयम का सुख प्राप्त करते है । स्वयं नेमिनाथ कैवल्य और निर्वाण का परम पद प्राप्त करते है ।

रुक्मिणी तथा सत्यभामा

नारी पात्रों मे केवल रुक्मिणी तथा सत्यभामा के चरित्र की कुछ रेखाएँ उभर सकी है । वे दोनो रूपवती युवतियाँ है । रुक्मिणी का तो चित्र देखने मात्र से कृष्ण कामातुर हो जाते है । नारद को विश्वास है कि विधाता ने उसे कृष्ण के लिये ही बनाया है (३.३९) । वह भी उनके गुणों पर मुग्ध है और दूत के द्वारा उनसे, उसे शिशुपाल के चगुल से उबारने का निवेदन करती है । वह काव्यनायक की जननी है । प्रद्युम्न के अपहरण से उसका मातृत्व चीख उठता है । कृष्ण उसके प्रेम में लीन होकर सत्यभामा आदि अन्य पत्नियों को भूल जाते है । इसीलिये सत्यभामा के चरित मे सौतिया डाह का गहरा पुट है । यह वात भिन्न है कि प्रद्युम्न उसकी सव चाले विफल कर देता है । उसकी प्रद्युम्न के समान तेजस्वी पुत्र पाने की अभिलाषा भी अधूरी रह जाती है ।

गौण पात्रों मे विदर्भ के राजकुमार रुक्मी मे सौन्दर्य तथा शौर्य का राजोचित समन्वय है । इक्ष्वाकुवंशी बालको का पराक्रम जन्मसिद्ध है । उसके विचार में कवचधारी पुत्र के होते हुए पिता का शस्त्र उठाना पुत्र के लिए लज्जाजनक है (२ १०४-१०६) । राजीमती को नेमिनाथ की सहधर्मिणी बनने का सौभाग्य मिलने लगा था पर उनके विचार-परिवर्तन ने उसकी आशा पर पानी फेर दिया । वह नेमिनाथ को हृदय से स्वीकार कर चुकी थी, अतः उसके लिए वे ही वर और गुरु है । रथनेमि के कामाकुल प्रलोभन और सखियो के परामर्श भी उसे विचलित नहीं

कर सके। विद्याधरी कनकमाला के रूप के पीछे घृणित कुरूपता छिपी है।

भाषा

प्रद्युम्नचरित्त की रचना विद्वद्वर्ग के बौद्धिक रंजन के लिए नही अपितु जन-साधारण को कथात्मक पद्धति से धर्मबोध देने के लिए है। इसमे भाषा का महत्त्व माध्यम से अधिक नही है। फलत: प्रद्युम्नचरित मे भाषा को परिष्कृत अथवा प्रौढ बनाने या साहित्यिक कलाबाजियां दिखाने की सप्रयत्नता नही है। कवि के उद्देश्य के अनुरूप वह सरल तथा सुगम है। काव्य में आद्यन्त एकरूप भाषा प्रयुक्त की गयी है। अनुष्टुप् भाषायी सरलता का वाहक है। प्रद्युम्नचरित्र के विस्तृत कलेवर में स्थितियों के वैविध्य की कमी नहीं, परन्तु उसकी भाषा मे तदनुरूप रूप परिवर्तित करने की क्षमता नही है। युद्ध तथा हास्य, द्वारिकादाह तथा रुक्मिणी-हरण, धर्मोपदेश तथा षड्यन्त्र आदि का वर्णन एक जैसी भाषा मे किया गया है। इन तथा अन्य प्रसंगो की भाषा मे मात्रा का अन्तर भले हो, स्वरूपगत भिन्नता नहीं है।

अपनी कृति को सरल बनाने के लिए रत्नचन्द्र ने वाग्व्यहार तथा भाषा की शुद्धता को भी महत्त्व नही दिया है। उसका वाक्यविन्यास कही-कही मानक नहीं है। उस पर जनपदीय भाषा का स्पष्ट प्रभाव है। अद्याप्युपायौ द्वौ शेषौ तिष्ठतोऽस्य निपातने (७ २९१)—इसे मारने के अभी दो उपाय शेष रहते है; मानसं पृच्छ स्वकम् (८.२४२)—अपने मन को पूछ; चलत्पन्थानमुज्झित्वा (१२.९१)—चलते रास्ते को छोड़कर; श्रवसोर्दत्त्वांगुली द्वे साऽवदत् (वह कानो मे दो अंगुलियाँ डालकर बोली); तां समर्पय मार्गेण ऋजुना (१३.७४) उसे सीधे रास्ते से सौंप दे आदि संस्कृत की प्रकृति के अनुकूल नही है। यान्तीमिव गन्धरेणुम् (५.१६७), किमारूढोऽसि·······सहकारतरौ (७.१६५), प्रौढऋद्धि (७.४००) प्रेमपात्रिका (८.१९१) अतिसुन्दराम् (९.१६८), प्राज्ञा अपास्तभयवेपथु (१०.२९५) तामुपायत (११.५८), युक्तं तद्गमनं कर्तुं (१६ ११३), सिंहा लक्षश एव हि। विकृतास्तं गिरिं (१७.७९) आदि प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से चिन्त्य है। सुबोधता के लिए ही प्रद्युम्नचरित मे देशी शब्दों का प्रयोग किया गया है। उनमें से कुछ बहुत विचित्र हैं—छोटयामास (४.१५६), हक्कयन् (७.२६८), हारयामास (८.८३), लड्डुका· (८ १८९)। प्रद्युम्नचरितकार ने अपने भावो के समर्थन में संस्कृत तथा प्राकृत मे परचित पद्य उद्धृत करने मे भी सकोच नहीं किया है। काव्य मे ऐसे तेरह पद्य समाविष्ट है। 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' तथा 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डम्', भारवि तथा माघ के ये प्रसिद्ध पद सातवे (४३०) तथा दसवें सर्ग (२५८) मे यथावत् विद्यमान है। भाषा को सुबोध बनाने के इस प्रयत्न के विपरीत प्रद्युम्नचरित मे कुछ अतीव अप्रचलित सस्कृत शब्द प्रयुक्त किए गए है।

उदाहरणार्थ—हेमकन्दल (मूगा), हारदूरा (द्राक्षा), भामवती (क्रोधयुक्ता), दिवाकीर्त्ति (नाई), हीनांगी (चीटी), सत्रम् (वन)।

प्रद्युम्नचरित्र की शैली पुराणों की संवादशैली है। समूचा काव्य मगधराज श्रेणिक की जिज्ञासा की पूर्ति के लिए भगवान् महावीर की धर्मदेशना में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न पात्र आपस मे प्रश्नोत्तर करते हैं और प्रत्येक विषय का सविस्तार निरूपण किया जाता है। रुक्मिणी तथा कृष्ण के प्रश्नो के उत्तर के रूप मे नारद क्रमश. कृष्ण तथा रुक्मिणी के देश, कुल, रूप आदि का जमकर वर्णन करते है। यदि दित्ससि तद्देहि······ तथोक्ते सा विलक्षोचे (८ २३१), स प्रोचे······ सोचे (८.२३२), तदा पप्रच्छ तान् पुत्री······ ऊचुस्ते किं न जानासि (१०.७८) सवादशैली के सूचक ऐसे वाक्यों की काव्य में भरमार है।

अलंकार

भाषा की तरह अलकार भी कवि के साध्य नही है। प्रद्युम्नचरित मे वे अतीव सहजता से प्रयुक्त हुए हैं। रत्नचन्द्र के लिए उपमा भावाभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है। उपमा के प्रयोग मे उसकी कुशलता का काव्य से अच्छा परिचय मिलता है। रुक्मी की सहायता से चेदिराज ऐसे प्रबल हो गया जैसे वायु के सहयोग से अग्नि प्रचण्ड हो जाती है (५ ५९)। कृष्ण के तेज को न सह सकने के कारण पद्मनाभ अपनी पुरी को इस प्रकार लौट गया जैसे सम्भोग-पीड़ा को सहने में असमर्थ नववधू पितृगृह चली जाती है।

कृष्णाग्रे स्थातुमसहः सन् पद्मः स्वां पुरीं ययौ।
पुनः पत्युर्नवोढेव गृहं पित्र्यं रतासहा॥ १३.९३

निम्नांकित पंक्तियो मे मेरु-वल्मीक, सूर्य-खद्योत, इन्द्र-इन्द्रगोप इन विरोधी वस्तुओं का समवाय हैं, अत. यहाँ विषम अलंकार है।

क्व मेरुः क्व च वल्मीकः क्व सूर्यो ज्योतिरिंगणः।
क्व चेन्द्रश्चेन्द्रगोपश्च दृष्टान्तोऽस्त्ययमावयोः॥ ९.२९४

राजीमती रथनेमि को व्रतभंग की गर्हता का आभास, निम्नलिखित श्लोक मे, दृष्टान्त के द्वारा कराती है।

ज्वलदग्नौ प्रवेशोऽपि वरं न तु व्रतक्षति.।
युद्धे वरं हि योद्धॄणां मरणं न पलायनम्॥ १५.१७

रत्नचन्द्र ने अप्रस्तुतप्रशंसा का भी काफी प्रयोग किया है। रुक्मिणी के सन्देश के उत्तर मे कृष्ण का यह आश्वासन अप्रस्तुतप्रशसा के रूप मे आया है। यहाँ अप्रस्तुत हसी, हंस तथा काकी से क्रमश. रुक्मिणी, कृष्ण तथा सत्यभामा व्यंग्य है।

२५. उपसंहार

पूर्ववर्ती पृष्ठो मे पन्द्रहवी, सोलहवी तथा सतरहवी शताब्दी के २२ जैन संस्कृत-महाकाव्यो.का सर्वांगीण पर्यालोचन किया गया है। आलोच्य युग के महाकाव्य संस्कृत-महाकाव्य-परम्परा की अन्तिम कडी है। प्रवन्ध के प्रासगिक भागो से स्पष्ट है, विवेच्य शताब्दियो मे जैन-महाकाव्य-रचना की प्रक्रिया वेगवती रही है। पन्द्रहवी शताब्दी में ही इतने महाकाव्य लिखे गये कि गुण और संख्या में वे अन्य दो आलोच्य शतियो के महाकाव्यो के समकक्ष है। सतरहवी शताब्दी के वाद जैन-साहित्य मे सस्कृत-महाकाव्य की परम्परा विच्छिन्न हो जाती है।

विवेच्य युग मे सभी प्रकार के महाकाव्यो का प्रणयन हुआ है। अन्य शैलियो के महाकाव्यों के अतिरिक्त साहित्य को शास्त्रकाव्य प्रदान करने का गौरव भी प्रस्तुत काल को प्राप्त है। देवानन्द तथा सप्तसन्धान शुद्धतः शास्त्रकाव्य हैं। श्रीधरचरित छन्दो के प्रायोगिक उदाहरण प्रस्तुत करने के कारण शास्त्रकाव्य के वहुत निकट पहुँच जाता है। आलोच्य युग के जैन कवियो का कतिपय तीर्थंकरो, पुराणपुरुषों तथा पूर्वगामी जैनाचार्यो के प्रति विशेष पक्षपात रहा है। जिनेश्वरो मे नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ का चरित प्रस्तुत युग के कुछ महाकाव्यो का आधार वना है। पार्श्वप्रभु के इतिवृत्त पर दो महाकाव्य लिखे गये हैं। यशोधर, जम्बूस्वामी तथा प्रद्युम्न इन पुराण-पुरुषो के चरितो मे अनुस्यूत कर्मवाद की अपरिहार्यता ने जैन कवियों को अधिक आकर्षित किया है। इन तीनो के चरित पर आलोच्य काल मे एक-एक महाकाव्य की रचना हुई है, जो इन कथाओ की लोकप्रियता का प्रमाण है। तपागच्छ के आचार्यो, विशेषत. हीरविजय तथा उनकी पट्ट-परम्परा मे विजयसेनसूरि, विजयदेवसूरि तथा विजयप्रभसूरि की आध्यात्मिक तथा धार्मिक उपलब्धियो ने जैन कवियो को इतना प्रभावित किया कि आलोच्य युग मे उन से सम्वन्धित कई उल्लेखनीय काव्यो की रचना हुई है। हीरविजयसूरि के इतिवृत्त पर आधारित हीरसौभाग्य सस्कृत के जैनाजैन काव्यो मे प्रतिष्ठित पद पर आसीन है। विजयसेन तथा विजयदेवसूरि के जीवनवृत्त पर रचित महाकाव्यो—विजयप्रशस्ति, तथा देवानन्दमहाकाव्य—मे भी, पूर्व पीठिका के रूप मे, हीरसूरि का निरूपण हुआ है। सोमसौभाग्य तथा सुमतिसम्भव का विषय भी तपागच्छ के अनुवर्ती साधुओ की धर्मचर्या है। आलोच्य काल के कवियो पर तपागच्छीय आचार्यो का यह एकाधिकार उनकी धर्म-प्रभावना तथा चारित्रिक निर्मलता का सूचक है।

संस्कृत-महाकाव्य-परम्परा में प्रस्तुत युग के महाकाव्यों का अपना महत्त्व है। माघोत्तर अधिकतर महाकाव्यकार उनकी कविता के बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप से इतने अभिभूत है कि वे कथावस्तु के अलंकरण, रूढियों के पालन तथा भाषा-शैली में माघ का अनुकरण करते रहे है। आलोच्य काल के कवि उस प्रबल आकर्षण से अछूते तो नही हैं, किन्तु जयशेखर, कीर्त्तिराज, पुण्यकुशल तथा सूरचन्द्र ने कालिदास की शैली को अपना आदर्श माना है। फलत· उनके काव्यों की भाषा-शैली माघ की विकटबन्ध कृत्रिम शैली नही है। उसमे गरिमा तथा सरलता का हृदयावर्जक संयोग है। पुण्यकुशल के काव्य की यह विशेषता इसलिये और भी अभिनन्दनीय है कि कथावस्तु की परिकल्पना, उपस्थापन तथा निर्वाह आदि में वे माघ के ऋणी है। अवश्य ही काव्य-रचना के प्रयोजन ने इन कवियों को अपनी कृतियों को अत्यधिक अलंकृत करने से रोका है, किन्तु संस्कृत-महाकाव्य के अन्तिम चरण में बद्धमूल परम्परा तथा उसके दुर्दमनीय आकर्षण के समक्ष आत्मसमर्पण न करना स्वयं एक उपलब्धि है। इस दृष्टि से वे कालिदास के पथ के बटोही है और उनकी शिष्य-परम्परा को समृद्ध बनाते हैं। इसका यह अभिप्राय नही कि आलोच्य युग में माघ का प्रभाव समाप्त हो गया था अथवा उनका काव्य आकर्षणशून्य बन गया था। उपर्युक्त कवियो में से ही कुछ अपने काव्यो के प्रस्तुतीकरण मे माघ के पदचिह्नों पर चलते दिखायी देते है। परन्तु माघ के सच्चे शिष्य मेघविजयगणि है। देवानन्द की समस्यापूर्ति के अतिरिक्त दिग्विजय महाकाव्य के चित्रकाव्य पर भी माघ की छाप स्पष्ट है। अन्य काव्यों के कुछ अंशों पर भी माघ का प्रभाव देखा जा सकता है। सबसे बडा आश्चर्य तो यह है कि श्रीहर्ष को भी विवेच्य युग मे दो अनुयायी मिले है। हीरसौभाग्य जैन-साहित्य का नैषध है। यदुसुन्दर नैषधचरित का लघु संस्करण प्रस्तुत करता है।

कुमारपालचरित के अतिरिक्त आलोच्य युग के अन्य ऐतिहासिक महाकाव्यों के इतिहास-तत्त्व की प्रामाणिकता निर्विवाद है। संयमधन आचार्यो के जीवनवृत्त पर आधारित काव्यो का इतिहास-पक्ष संस्कृत के प्राचीन बहुप्रशंसित ऐतिहासिक महाकाव्यो की अपेक्षा कहीं अधिक विश्वसनीय है। सर्वविजय ने सुमतिसम्भव में सुमतिसाधु के साथ-साथ माण्डू के एक नागरिक, शाह जावड, को अपने विवरण का विषय बना कर ऐतिहासिक काव्यो की परम्परा मे नूतन उद्भावना की है। अपने इतिहास-पक्ष को लगभग निर्दोष बनाये रखना इन काव्यो की बडी विशेषता है।

विवेच्य तीन शताब्दियों मे जैनकुमारसम्भव, नेमिनाथमहाकाव्य तथा काव्यमण्डन (कुछ स्थलों को छोडकर) मे काव्य के सुकुमार मार्ग का निर्वाह हुआ है। भरतबाहुबलिमहाकाव्य की अन्तरात्मा भी कालिदास की कला से प्रभावित है। हम्मीरमहाकाव्य पाठक की ऐतिहासिक तथा काव्यात्मक चेतना को समान रूप से

सन्तुष्ट करता है। हीरसौभाग्य नैषधचरित का स्मरण कराता है। यदुसुन्दर तथा नैषधचरित का तुलनात्मक अध्ययन अतीव उपयोगी है। देवानन्द तथा सप्तसन्धान पण्डितवर्ग के बौद्धिक विलास की सामग्री है। श्रीधरचरित में पाठक को विभिन्न शैलियों का प्रपानक रस मिलेगा। इसमें प्रयुक्त लगभग १०० छन्द भी कम चमत्कारजनक नही है। ये नौ महाकाव्य ऐसे है जिन पर काव्यप्रेमी तथा साहित्य-समीक्षक गर्व कर सकता है तथा अन्य काव्यो पर किये गये अपने श्रम को, केवल इनके कारण भी, सार्थक मान सकता है। इन्हे संस्कृत के गौरवशाली महाकाव्यो की श्रेणी में समुचित स्थान मिलना चाहिये। इसका यह अभिप्राय नही कि अन्य विवेचित काव्य महत्त्व से शून्य है। हमारा दृढ विश्वास है कि जैन संस्कृत-महाकाव्यो के विना संस्कृत-महाकाव्य के इतिहास को पूर्ण मानने का आग्रह नही किया जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि जैन संस्कृत-साहित्य का निष्पक्ष दृष्टि से मूल्यांकन किया जाये और जो उसमे आदेय है, उसे निस्संकोच ग्रहण किया जाये।

संदर्भ-ग्रंथ

१. अणुयोगद्दाराइम् : श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९६८
२. उत्तराध्ययनसूत्रम् : जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा, कलकत्ता, १९६७
४. दशवैकालिकसूत्रम् : व्याख्याकार, आत्मारामजी, लाहौर, १९४६
३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (पत्राकार), सीकंदरावाद
५. पद्मपुराण (भाग १-२) : रविषेण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८-५९
६. हरिवशपुराण : जिनसेन : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२
७. आदिपुराण (भाग १-२) : जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५१
८. उत्तरपुराण : गुणभद्र : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४
९. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित : हेमचन्द्र, जैन धर्मप्रचारसभा, भावनगर, १९०६-१३
१०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित : अंग्रेजी अनुवाद, गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज़, संख्या १३९, जिल्द ५
११. जिनरत्नकोश : एच. डी. वेलंकर, पूना, १९४४
१२. जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास : मो. द. देसाई, बम्बई, १९३३
१३. जैन सस्कृत साहित्य नो इतिहास, भाग-२ : हीरालाल कापड़िया, बडौदा, १९६८
१४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७३
१५. जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी, हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर, बंबई, १९५६
१६. भारतीय संस्कृति मे जैनधर्म का योगदान : हीरालाल जैन, भोपाल, १९६२
१७. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान : नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९७१
१८. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज : जगदीशचन्द्र जैन, वाराणसी, १९६५
१९. जैन प्रशस्तिसंग्रह : जुगलकिशोर मुख्तार, दिल्ली, १९५४
२०. ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह : अगरचन्द, भवरलाल नाहटा, कलकत्ता, स० १९९४
२१. बीकानेर जैन लेख संग्रह : अगरचन्द नाहटा, कलकत्ता, वी. सं. २४८२

२२. युगप्रधान जिनदत्तसूरि : अगरचन्द नाहटा, कलकत्ता, सं. २००३
२३. अतीत का अनावरण : आचार्य तुलसी, मुनि नथमल, भारतीय ज्ञानपीठ, १९६९
२४. जैन-धातु-प्रतिमा-लेख-संग्रह : बुद्धिसागर, अध्यात्म प्रसारक मंडल, पादरा
२५. भट्टारक संप्रदाय : विद्याधर जोहरापुरकर, शोलापुर, १९५८
२६. राजस्थान का जैन साहित्य, प्राकृत भारती, जयपुर, १९७७
२६. सूरीश्वर अने सम्राट्
२८. बाबू छोटेलाल जैन स्मृतिग्रन्थ, कलकत्ता, १९६७
२९. जैन-गोत्र-संग्रह
३०. प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १
३१. प्रबन्धकोश, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ६
३२. ऋग्वेद (भाग १-२) दयानन्द संस्थान, दिल्ली, १९७३,१९७५
३३. ए वैदिक रीडर : ए. ए. मैक्डानल, आक्सफोर्ड, १९५१
३४. ईशावास्योपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०२१
३५. महाभारत (मूल), भाग १-४, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि. सं., २०१३-२०१५
३६. मार्कण्डेयपुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई
३७. वायुपुराण : बिब्लोथिका इण्डिका संस्करण
३८. ब्रह्माण्डपुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई
३९. अग्निपुराण : आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावली, ग्रन्थांक ४१
४०. विष्णुधर्मोत्तरपुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
४१. भागवतपुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर
४२. काव्यालंकार : (भामह) : सं. देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना, १९८५
४३. काव्यादर्श (दण्डी) : सं. धर्मेन्द्रकुमार गुप्त, दिल्ली, १९७३
४४. ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन) : सं. आचार्य विश्वेश्वर, वाराणसी, १९६२
४५. काव्यप्रकाश (मम्मट), वामनी सहित, पूना, १९६५
४६. काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) : सं. रसिकलाल पारीख, वी. एम. कुलकर्णी, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९६४
४७. साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) : सं. शालिग्राम, लखनऊ, सम्वत् १९७८
४८. भारतकौमुदी (डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी अभिनन्दन-ग्रन्थ, भाग १-२); इलाहाबाद, १९४५
४९. लिट्रेरी सर्कल आफ महामात्य वस्तुपाल : भोगीलाल सांडेसरा, बम्बई, १९५३
५०. कान्ट्रीब्यूशन ऑफ जैनिज़्म टू इण्डियन कल्चर : सं. रामचन्द्र द्विवेदी,

दिल्ली, १९७५
५१. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर : ए. बी. कीथ, १९५३
५२. संस्कृत कवि दर्शन : भोलाशंकर व्यास, बनारस, १९५५
५३. अर्ली चौहान डाइनेस्टीज : दशरथ शर्मा, दिल्ली, १९५९
५४. चौलुक्य कुमारपाल : लक्ष्मीशंकर व्यास
५५. हम्मीरायण (भाण्ड उ व्यास) : सं० भंवरलाल नाहटा, बीकानेर, सं० २०१७
५६. आईने अकबरी
५७. अरस्तू का काव्यशास्त्र : सं० नगेन्द्र, महेन्द्र चतुर्वेदी, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २०२३
५८. सौन्दरनन्द : सं० इ. एच. जास्टन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७५
५९. मेघूदत : साहित्य अकादमी, दिल्ली, १९५७
६०. कुमारसम्भव . सं० एम. आर. काले, दिल्ली
६१. रघुवश : स० एच. डी. वेलकर, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४८
६२. अभिज्ञानशाकुन्तल : सं० एम. आर. काले, बम्बई, १९३४
६३. वैराग्यशतक : स० केशवदेव शास्त्री, मथुरा, १९५५
६४. शतकत्रयादिसुभाषितसग्रह . सं० दामोदर धर्मानन्द कौसबी, सिंघी जैन ग्रन्थमाला (२३), बम्बई, १९४८
६५. पुरुषार्थोपदेशः (भर्तृहरि) : स० के. वी. शर्मा, होशियारपुर, १९६९
६६. किरातार्जुनीय . सं० आदित्यनारायण पाडेय, वाराणसी, १९६८
६७. रामचरितम् (भट्टिकाव्य) . स० शिवदत्त, बम्बई, १९२८
६८. शिशुपालवध . सं० हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १९५५
६९. नैषधचरित : स० शिवदत्त शर्मा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३३
७०. मण्डनग्रन्थसग्रह (भाग १-२), पाटन, सम्वत् १९७४,१९७६
७१. धम्मिलकुमारचरित (जयशेखर) : हीरालाल हंसराज, जामनगर
७२. नेमिनिर्वाण (वाग्भट) : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८९६
७३. भानुचन्द्रचरित्र (सिद्धिचन्द्र) . सिंघी जैन ग्रन्थमाला (१५), बम्बई, स० १९९७
७४. कुमारपालचरित (जयसिंह), [पत्राकार] . हीरालाल हसराज, जामनगर, १९१५
७५. सुकृतसंकीर्तन : जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, सं० १९७४
७६. विजयदेवमाहात्म्य (श्रीवल्लभ) : जैन साहित्य सशोधक समिति,

अहमदावाद, १९२८
७७. वृत्तरत्नाकर (केदारभट्ट) : सं० रामचन्द्र शास्त्री, भारद्वाज पुस्तकालय लाहौर, १९३७
७८. विविधतीर्थकल्प (जिनप्रभसूरि) : हिन्दी अनुवाद, मेवानगर (राज०); १९७८
७९. जैनिज्म इन राजस्थान : के. सी. जैन, शोलापुर, १९६३
८०. तेरहवी-चौदहवी शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य : श्यामशंकर दीक्षित, जयपुर, १९६९
८१. भारतीय पुरातत्त्व (मुनि जिनविजय अभिनन्दन ग्रन्थ) : जयपुर, १९७१
८२. अगरचन्द नाहटा अभिनन्दनग्रन्थ (भाग २) : बीकानेर, १९७६
८३. भारतीभानम् : लाईट ऑफ इण्डोलोजी : होशियारपुर, १९८०
८४. आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट : हर्मन गोट्ज, आक्सफोर्ड; १९५०

शोध पत्रिकाएं

१. जैन सिद्धान्तभास्कर
२ जैन एण्टीक्वेरी (पूर्वोक्त का अंग्रेजी विभाग)
३. जैन सत्यप्रकाश
४. अनेकांत
५. स्वाध्याय (गुजराती)
६. जैन सदेश
७. महावीर-स्मारिका
८. अवगाहन, सरदारशहर
९. जर्नल आफ मध्यप्रदेश हिस्टारिकल सोसाइटी
१०. जर्नल आफ ओरियेण्टल इन्स्टीच्यूट, वड़ौदा
११. विश्वेश्वरानन्द इण्डॉलोजिकल जर्नल
१२. तुलसीप्रज्ञा

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	१५	यथा	तथा
१२	१५	महाकाव्यों	महाकवियों
२३	पा० टि० १३	पा० णि०	पा० टि०
३१	६	गतस्त	गतस्य
३४	पा० टि० ३४	मधूय	मवधूय
४२	पा० टि० ४५	उपासिष्टीष्टताम्	उपासिषीष्ट
५६	२४	अनुभवों	अनुभावों
५८	८	प्रभूतयो	प्रभृतयो
६०	२२	जजलागमः	जलदागमः
६७	११	सुवाधवो	सुवान्धवो
८०	१७	उत्तराध्ययनसूत्र	उत्तराध्ययनसूत्र
८०	२५	जितेन्द्र	जिनेन्द्र
८७	२१	ज	च
९५	२०	तोतोत्तू.... ततोन्ततुत्	तोतोत्तु... तातोन्तुत्
१००	शीर्षक	पदमसुन्दर	पद्मसुन्दर
१०९	शीर्षक	काव्यप्रतिमा	काव्यप्रतिभा
११४	१०	प्रभाव	अभाव
१३१	२५	से	के
१५४	६	इतिव्रत	इतिवृत्त
१८०	२२	नैंद्भिया	नैतद्भिया
१८३	२६	इतिवृत्ति	इतिवृत्त
२१८	२२	मम्ययु ॥६.८	मम्ययुः ॥६.९
२२६	११-१२	इसके लिये.... करते हैं	इस पंक्ति को निकाल दें
२४८	७	संप्राप्तितः	संप्रापितः

२५०	२६	कान्चन	काश्चन
२५५	१३	सग्धरा	स्रग्धरा
२७८	३	आचारां	आचारो
२७६	५	वृद्धा	वृद्ध
२७६	२६	घ्रुव	ध्रुवं
३२०	६	अधिकारी	उत्तराधिकारी
३२४	१	वीस वर्ष	वीस वर्ष की
३२४	२२	आचाय	आचार्य
३४१	१८	ओर	आदि
३४१	१६	ओर	ओर
३६४	२	चन्द्रमा	चन्द्रमणि
३७०	२३	मेहतुंगसूरि	मेरुतुंगसूरि
३७२	२७	कचनवर्णी	कंचनवर्णी
३८०	१४	नरमेघ के	नरमेघ से
३८८	५	ऽब्वन्यघू	ऽब्वन्यवघू
३६१	३३	आनन्दयत्रा	आनन्दयन्ना
४०६	३१	गभ	गर्भ
४३१	१६	गाण्डूषीकृत	गण्डूषीकृत
४४०	२८	आस्थिपंजर	अस्थिपंजर
४५५	१२	दिवकर	दिनकर
४५७	४	उसका	उसकी